भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

व्याख्याद्वयोपेतम्

[चतुर्थो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दी-व्याख्याकारः
सम्पादकश्च
डॉ० पारसनाथद्विवेदी

卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

व्याख्याद्वयोपेतम्

[चतुर्थो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीव्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्रो. पारसनाथद्विवेदी



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

वाराणसी


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
श्रुतम् मे गोपाय

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 14]

NĀṬYAŚĀSTRA

OF

ŚRĪ BHARATA MUNI

[PART-FOUR]

With the Commentary

ABHINAVABHĀRATĪ

By

ŚRĪ ABHINAVAGUPTĀCĀRYA

&

MANORAMĀ

(Hindi Commentary)

By

PROF. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ

FOREWORD BY

PROF. RAJENDRA MISHRA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

PROF. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ
Ex-Dean, Faculty of the Sahitya Sanskriti
Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi



VARANASI
2004

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-142-X (Vol. IV)
ISBN : 81-7270-040-7 (Set)



Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



First Edition, 1000 Copies

Price : Rs. 300.00



Printed by—
Vijay Press
Sarsauli, Bhojubeer
Varanasi.

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला
[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

[एकोनविंशत्यध्यायादारभ्य सप्तविंशत्यध्यायान्तश्चतुर्थो भागः]

श्रीमदभिनवगुप्तकृतया
'अभिनवभारती'-व्याख्यया
प्रो. पारसनाथद्विवेदिकृतया
'मनोरमा'-हिन्दीव्याख्यया च
विभूषितम्

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

सम्पादकः
प्रो. पारसनाथद्विवेदी
अध्यक्षचरः, साहित्यसंस्कृतिसङ्काये
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी



वाराणस्याम्
२०६१ तमे वैक्रमाब्दे १९२६ तमे शकाब्दे २००४ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

ISBN : 81-7270-142-X (Vol. IV)
ISBN : 81-7270-040-7 (Set)



प्रकाशकः—
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२



प्राप्ति-स्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२



प्रथमं संस्करणम् - १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् - ३००.०० रूप्यकाणि



मुद्रकः—
विजय-प्रेस
मरसौली, भोजूबीर
वाराणसी

नान्दीवाक्

आचार्य भरत-प्रणीत ३६ अध्यायात्मक नाट्यशास्त्र (ई० पू० चतुर्थ शती) विश्व का प्राचीनतम रंगमञ्चीय शास्त्रग्रन्थ है । इसे **'षट्त्रिंशकम्'** भी कहा जाता है । नाट्यशास्त्र कहने को तो मात्र मञ्चविज्ञान (stagecraft) है; परन्तु सच यह है कि वह विविध सूचनाओं का एक **विश्वकोष** (An Encyclopedia of various Informations) ही है । इसका एक विलक्षण अन्त:साक्ष्य भी उपलब्ध है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी । इसमें हम भारतीय नाट्यशास्त्र (Dramaturgy) काव्यशास्त्र (Rhetoric) एवं छन्द:शास्त्र (Prosody) का समन्वित तलस्पर्शी विवेचन पाते हैं । भारतवर्ष का सम्पूर्ण परवर्ती नाट्यवाङ्मय नाट्यशास्त्र की ही देशनाओं पर आश्रित है ।

नाट्यशास्त्रपूर्व एवं नाट्यशास्त्रोत्तर संस्कृतरंगपरम्परा के विश्वस्त साक्ष्य हमें भास एवं कालिदास की नाट्यकृतियों में उपलब्ध होते हैं । आचार्य भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र भारतराष्ट्र के अत्यन्त प्राचीन, साथ ही साथ प्रशस्त एवं समृद्ध नाट्यप्रयोग का परिचायक तो है ही, वह निर्विवाद रूप से सम्पूर्ण विश्व की प्राचीनतम रंगप्रतिष्ठा भी है । यही कारण है कि **डॉ० स्कॉट जेम्स** सरीखे पूर्वाग्रहमुक्त पाश्चात्य विद्वान् ने भी अपने **पेरी पोएटिक्स** नामक ग्रन्थ में, पाश्चात्यों की अहम्मन्यता की भर्त्सना करते हुए, नाट्यशास्त्र के गुरु-गम्भीर तथा अत्यन्त वैज्ञानिक रंगमञ्चीय प्रतिपाद्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । इस सन्दर्भ में नाट्य-शास्त्र का अन्त:साक्ष्य भी सार्थक ही प्रतीत होता है–

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।। (१.११६)

भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र के आलोक-वृत्त में सप्तद्वीपा पृथ्वी ही नहीं, समस्त अदृष्टलोक भी आ जाते हैं । वस्तुत: भरत के मत में नाट्य देवों, असुरों, राजाओं, गृहस्थों तथा संन्यस्तों (ब्रह्मर्षियों) का समवेतरूप से वृत्तान्तदर्शक है ।

दृष्ट (पृथ्वी) तथा अदृष्ट (स्वर्ग एवं पाताल आदि) लोकों का जो भी सुख-दुःख-समन्वित स्वभाव है, वही नाट्य है[१]। आचार्य भरत का यह नाट्यलक्षण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही अपने प्रभाव-क्षेत्र में आकृष्ट कर लेता है। भरत रंगपरम्परा को मनोविनोद का साधन नहीं, बल्कि पवित्र सारस्वत यज्ञ मानते हैं–

यज्ञेन सम्मितं ह्येतद् रङ्गदैवतपूजनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः॥ (१.१२५)

''देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्'' कहकर कविकुलगुरु कालिदास ने भी आचार्यश्री के ही मत का समर्थन किया है।

एक ओर जहाँ सार्ववर्णिक नाट्यवेद के स्रष्टा स्वयं प्रजापति ब्रह्मा हैं[२], वहीं ताण्डव तथा लास्य नृत्यों के उद्भावक भगवान् शिव एवं पार्वती[३]। इतना ही नहीं, भारती-सात्त्वती-कैशिकी एवं आरभटी वृत्तियों के जनक भी स्वयं भगवान् विष्णु हैं। मधुकैटभ के साथ हुए तुमुल संग्राम में उन्होंने जो वाक्य-भूयिष्ठ बातें कीं, शार्ङ्गधनुष के अतिदीप्त वल्गनों से जो सत्त्वाधिक्य प्रकट किया, युद्ध से पूर्व लीलाप्रवण विचित्र अंगहारों के साथ जो शिखापाश बाँधा तथा संरम्भ-आवेगवश जो युद्धमुद्राएँ प्रदर्शित कीं—वस्तुतः उन्हीं से नाट्य की चारों वृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। नाट्यशास्त्र के २०वें अध्याय में इस सन्दर्भ का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इस प्रकार भारतीय रंगपरम्परा त्रिदेवमूलक तथा मर्त्याऽमर्त्य-संस्कृति से जुड़ी सिद्ध होती है। इस तथ्य को विना स्वीकार किये हम भारतीय रंग-रहस्य को न आत्मसात् कर सकते हैं और न ही उसके साथ न्याय। आचार्य भरत तो रंगपरम्परा की फलश्रुति में यह भी कह देते हैं–

---

१. देवानामसुराणाञ्च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणाञ्च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्॥
योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥ (नाट्य. १.११८-११९)

२. द्रष्टव्य : नाट्यशास्त्र, १.१६-१८।

३. द्रष्टव्य : नाट्यशास्त्र, ४.२५८,२६६।
दक्षयज्ञे विनिहते सन्ध्याकाले महेश्वरः।
नानाङ्गहारैः प्रानृत्यल्लयतालवशाऽनुगम्॥
सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा।
तेनापि हि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः।
नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः॥

महेश्वरस्य चरितं य इदं सम्प्रयोजयेत् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शिवलोकं स गच्छति ।।

देव, दानव, गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर, अप्सरस्, पितर, नाग[१], ऋषि-महर्षि, भूपति, समाज के विविधवर्गीय जन तथा पशुओं, पक्षियों, वनस्पतियों तक में व्याप्त, आचार्य भरत द्वारा स्थापित यह रंगपरम्परा इतनी सायाम तथा सूक्ष्म है कि इसके शतांश का भी परिपालन परवर्ती नाट्यकृतियों में नहीं हो पाया । जैसे अगाध सागर से लिये गये दस-बीस लोटे जल का कोई महत्त्व नहीं, वैसे ही कालिदास, शूद्रक, भवभूति, भट्टनारायण आदि के नाटकों में नाट्य-शास्त्र की कुछेक देशनाओं की अन्विति भी नगण्य ही प्रतीत होती है । उसका कारण यह है कि **'नाट्यशास्त्र'** शीर्षक नाट्यमात्र से जुड़े होने का भ्रम पैदा करता है, जब कि वह केवल नाट्य का ही नहीं, प्रत्युत काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, संगीतशास्त्र, नृत्यशास्त्र तथा पुराणप्रोक्त भुवनकोशादि अनेक विषयों का नियामक है ।

रंगपीठ, रंगशीर्ष, कुतप, मत्तवारणी, प्रेक्षागृह के विकृष्ट, चतुरस्र एवं त्र्यस्र रूप, दारुकर्म, भित्तिकर्म, स्थापन, जर्जर एवं रंगपूजा, उत्थापन, आश्रवणा, ३२ अंगहार, १०८ करण, पादप्रचार, संयुतहस्त, नृत्तहस्त, ६ नासाकर्म, ६ गण्डकर्म, ९ तारा एवं पुटकर्म, १३ शिर:कर्म, ८ अधरकर्म, ३६ रसदृष्टियाँ, ८ दर्शनविधियाँ, ७ चिबुककर्म, ६ आस्यजकर्म, चतुर्विध मुखराग, ९ ग्रीवाकर्म, १३ हस्तकर्म, ५१ संयुत एवं नृत्तहस्त, चारी-करण-खण्ड तथा मण्डल, भौमी एवं आकाशिकी चारी के ३२ भेद, शस्त्रप्रयोग के ६ स्थान एवं चार न्याय, चतुर्विध अभिनय एवं उनके भेद-प्रभेद और अन्तत: विधि-निषेधों की सैकड़ों तालिकाओं से उपबृंहित आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र एक अद्भुत कलाकोष तथा सर्वविद्याधिगम-स्रोत प्रतीत होता है ।

इस महामहिम ग्रन्थ में प्रतिष्ठापित रंगपरम्परा का सर्वतोभावेन अनुकरण तथा परिपालन महाकवि कालिदास ने किया है; परन्तु इसी के साथ यह भी सत्य है कि कालिदास के पूर्ववर्ती तथा संस्कृत के प्रथम नाट्यकार (?) महाकवि भास ने नाट्यशास्त्र की देशनाओं की उपेक्षा की है—संभवत: नाट्य-शास्त्रकार का पूर्ववर्ती अथवा ज्येष्ठ समसामयिक होने के कारण । इसी स्थापना

१. द्रष्टव्य : नाट्यशास्त्र, १.६०-६२ तथा सम्पूर्ण तृतीय अध्याय (रंग-दैवतपूजनम्) ।

के साथ आचार्य **के० एल्० पोद्दार** की यह धारणा भी निरस्त हो जाती है कि "भास और कालिदास दोनों ही शुंगनरेश अग्निमित्र के सभासद थे तथा भास को न्यग्भूत करने के उद्देश्य से ही कालिदास ने राजा को रिझाने के लिए 'मालविकाग्निमित्रम्' की रचना की थी" ।

रंगमण्डप की पवित्रता एवं प्रभविष्णुता के प्रति आचार्य भरत पूर्णत: सचेष्ट हैं । फलत: प्रजापति के माध्यम से वह कहते हैं–

अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां प्रवर्तयेत् ।
अपूजयित्वा रङ्गं तु यः प्रेक्षां कल्पयिष्यति ।
तस्य तन्निष्फलं ज्ञानं तिर्यग्योनिञ्च यास्यति ।।

(नाट्य. १.१२३-१२४)

नाट्यगृह के निर्माणार्थ नाट्याचार्य को तीन रात्रियों तक उपवास करने के अनन्तर, अगले सूर्योदय-काल में रोहिणी अथवा श्रवण नक्षत्र में स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए[१] । पुण्याहवाचनादि अनेक मङ्गलकृत्यों के अनन्तर यह प्रार्थना करनी चाहिए–

यथाऽचलो गिरिर्मेरुर्हिमवाँश्च महाबलः ।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव ।। (नाट्य.२.६८)

सर्वलक्षणसम्पन्न नाट्यगृह बन जाने पर, उसमें एक सप्ताह तक गायों तथा जपतत्पर ब्राह्मणों के निवास का निर्देश भरत देते हैं[२] । उसके अनन्तर ही रात्रिवेला में मन्त्रपूत जल से अङ्गमार्जन करके, अनाहत (न फटे हुए) वस्त्र धारण करके प्रयत एवं शुचिभाव से नाट्याचार्य नाट्यशाला में सुनिश्चित स्थान पर बैठे—देवपूजन के लिए । इसके पूर्व भी उसे तीन रात तक उपोषित रहना चाहिए । उसके बाद नाट्याचार्य को क्रमशः सर्वलोकोद्भवोद्भव शिव, प्रजापति, विष्णु, इन्द्र, गुह, सरस्वती, लक्ष्मी, सिद्धि, मेधा, धृति, मति, सोम, सूर्य, मरुद्गण, लोकपाल, अश्विनीकुमार आदि देवसमूहों का पूजन सम्पन्न करना चाहिए । इस प्रसङ्ग में आचार्य भरत द्वारा गिनाये गये मूर्त एवं अमूर्त देवी-देवताओं के नाम भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं । इनमें अधिकांश समर्च्य देव-शक्तियाँ ऐसी हैं, जो विघ्न-बाधा के निवारण में समर्थ हैं । मृत्यु, नियति,

---

१. द्रष्टव्य : नाट्यशास्त्र, २.५१-५२ ।
२. गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैर्द्विजैः । (नाट्य. ३.१)

कालदण्ड, चक्र, वासुकि, यक्ष, गुह्यक तथा भूतसंघ आदि या तो बाधानिवारण में, या फिर बाधा उत्पन्न करने में समर्थ हैं । अत: मञ्चप्रयोग में इन सबका सहयोग अपेक्षित है, इस प्रार्थना के साथ कि,

भगवद्भिर्निशायां नः कर्तव्यः सपरिग्रहः ।
साहाय्यं चैव दातव्यमस्मिन्नाट्ये सहानुगैः ।। (नाट्य.३.१०)

इस देवपूजन के अनन्तर ही कुतप-सम्प्रयोग तथा जर्जर-पूजन सम्पन्न होना चाहिए । नाट्यप्रसिद्धि के लिए **जर्जरपूजा** होनी अनिवार्य है, इस प्रार्थना के साथ–

त्वं महेन्द्रप्रहरण सर्वदानवसूदन !
निर्मितस्त्वं सर्वदेवैः सर्वविघ्ननिबर्हण !!
नृपस्य विजयं शंस रिपूणाञ्च पराजयम् ।
गोब्राह्मणशिवञ्चैव नाट्यस्य च विवर्धनम् ।। (नाट्य.३.१२-१३)

रंगदैवत की यह पूजा सारी रात चलती है, यहाँ तक कि सबेरा हो जाता है, तब भी यह क्रम टूटता नहीं (**निशायां तु प्रभातायां पूजनं प्रक्रमेदिह**) । रंगपूजा आचार्य भरत के विचार से, आर्द्रा, मघा, आश्लेषा, मूल, याम्य (भरणी ?) अथवा तीनों पूर्वा (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपद, पूर्वाषाढ) नक्षत्रों में सम्पन्न होनी चाहिए ।

भरतप्रोक्त **प्रेक्षागृह** के चार प्रमुख भाग हैं । सबसे पीछे रंगशीर्ष, मध्य में नेपथ्यगृह, सबसे आगे रंगपीठ तथा रंगपीठ के दोनों पार्श्वभागों में अलिन्दस्वरूपा मत्तवारणी । रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह परस्पर दो प्रवेशद्वारों से जुड़े रहते हैं, जब कि रंगपीठ तथा नेपथ्य के बीच मात्र एक द्वार होता है—पात्रों के प्रवेश एवं निर्गम हेतु । आचार्य भरत ने प्रेक्षागृह, विशेषकर चतुरस्र अथवा मध्यम प्रेक्षागृह का जैसा सुनियोजित, भव्य एवं शुल्बशास्त्रीय दृष्टि से विज्ञानसम्मत स्वरूप प्रस्तुत किया है, निश्चय ही वह यूनान तथा रोम के नाट्यगृहों की तुलना में महनीय है । इस सन्दर्भ में आचार्य बलदेव उपाध्याय का यह कथन सर्वथा ग्राह्य प्रतीत होता है कि 'भारतीय रंगमंच की सर्वाङ्गीण व्यवस्था, रमणीय सज्जा तथा वैज्ञानिक निर्मिति के साथ यूनानी रंगमंच की अनगढ़, अव्यवस्थित तथा ग्रामीण रचना की कथमपि तुलना नहीं हो सकती । दोनों में जमीन आसमान का अन्तर बना हुआ है[१] ।

---

१. द्रष्टव्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४७८ । शारदानिकेतन, वाराणसी । १९९० संस्करण ।

वस्तुतः नाट्यशास्त्रोपदिष्ट समूची रंगपरम्परा का ज्ञान हमें भास, कालिदास एवं शूद्रक आदि की नाट्यकृतियों से नहीं हो पाता । वह हो भी नहीं सकता; क्योंकि प्रेक्षागृह की संरचना, मञ्चीय संविधानक तथा समूचे रंग की तकनीकी निर्मिति से नाट्यप्रयोग सर्वथा पृथक् है । नाट्यप्रयोग तो अभिनेय कथानक मात्र है । स्वप्नवासवदत्तम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा मृच्छकटिकम् आदि कृतियाँ नाट्यप्रयोग मात्र हैं । इन रचनाओं में भरतसम्मत रंगपरम्परा का केवल व्यावहारिक रूप साकार हुआ है । हाँ, इन नाटकों की प्रस्तावनाओं से रंगमण्डपविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ अवश्य मिल जाती है–जैसे, **'अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्', 'ननु इममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य'** तथा **'अहो रागलिखितचित्तवृत्तिः आलिखित इव सर्वतो रङ्गः'** आदि वाक्यों से शाकुन्तल के अभिनय का समय, दर्शकों की गुणवत्ता तथा नटी के गायन का सम्मोहक प्रभाव अभिव्यक्त होता है; परन्तु भास की कृतियों से तो इतना कुछ भी नहीं ज्ञात हो पाता—प्रस्तावना के अभाववश ।

आचार्य भरत **'पूर्वरङ्ग'** का जो संविधान प्रस्तुत करते हैं, उसके चार प्रमुख अंग हैं—उत्थापन, आश्रवणा, नान्दी तथा प्रस्तावना । भास पूर्वरङ्ग की इस बृहद् विधि से सर्वथा अपरिचित हैं । उनके नाटक तो सीधे सूत्रधार के प्रवेश से प्रारम्भ होते हैं, जिसकी चर्चा महाकवि बाणभट्ट ने भी हर्षचरित में की है[१] । परन्तु कालिदास, जो भरत की रंगपरम्परा के निष्ठावान् पोषक हैं, भी भरतसम्मत 'पूर्वरङ्ग' को साङ्गोपाङ्ग प्रस्तुत नहीं करते । वह उत्थापना तथा आश्रवणा को छोड़, मात्र नान्दी एवं प्रस्तावना को उपन्यस्त करते हैं । सम्भवतः इसका कारण है उत्थापन तथा आश्रवणा का नान्दी तथा प्रस्तावना से अभिन्न होना । भरत के अनुसार उत्थापन में मुख्यतः नान्दीपाठक 'प्रयोग' को उठाते हैं[२] । आश्रवणा तथा प्रस्तावना का भी उद्देश्य समान है–अभिनेय नाट्य तथा कवि का परिचय देना । बस दोनों में अन्तर यही है कि आश्रवणा नेपथ्य, गृह

---

१. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

२. अतः परं प्रवक्ष्यामि ह्युत्थापनविधिक्रियाम् ।
यस्मादुत्थापयन्त्यादौ प्रयोगं नान्दिपाठकाः ॥
पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम् ।
यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य चतुर्दिशम् ॥
वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च परिवर्तनम् ॥ (नाट्य.५.२२-२३)

(पर्दे के पीछे से) में प्रयुक्त होती है[१], जब कि प्रस्तावना नेपथ्य-गृह से बाहर, अर्थात् रंगमञ्च पर[२] । इस उद्वेजक पुनरावृत्ति को ध्यान में रखकर ही कालिदास नान्दी-प्रस्तावना से युक्त संक्षिप्त पूर्वरङ्ग का प्रयोग करते हैं ।

पूर्वरङ्ग समूचे नाट्य का प्राणतत्त्व है । वस्तुतः पूर्वरङ्ग के सुष्ठु प्रयोग से ही नाट्य की सफलता निश्चित होती है । अतएव आचार्य भरत अपप्रयोग के घोर विरुद्ध हैं और निस्संकोच कह भी देते हैं–

यश्चापि विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिञ्च गच्छति ।।
न तथाऽग्निः प्रदहति प्रभञ्जनसमीरितः ।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ।।

(नाट्य.५.१६६,१६८)

नाट्यशास्त्रीय रंगपरम्परा में भरत स्पष्टतः कहते हैं कि गीत, छन्द, वाद्य तथा नृत्य में एक ही वस्तु (भाव या कथानक) की प्रस्तुति होनी चाहिए ।

प्रथमं त्वभिनेयं स्याद्गीतके सर्ववस्तुकम् ।
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ।। (नाट्य.४.३००)

इसी सन्दर्भ में आचार्य **नृत्तप्रयोग** के अवसरों की भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अभ्युदयस्थान में, दम्पती के रतिप्रसङ्ग में तथा कान्त की उपस्थिति में ऋतुकालादि के दर्शन होने पर नृत्त-प्रयोग होना चाहिए; परन्तु प्रिय की अनुपस्थिति में वार्तालाप प्रसङ्ग के प्रवृत्त रहने में

---

१. देवपार्थिवरङ्गाणामाशीर्वचनसंयुताम् ।
कवेर्नामगुणोपेतां वस्तूपक्षेपरूपिकाम् ।।
लघुवर्णपदोपेतां वृत्तैश्चित्रैरलङ्कृताम् ।
अन्तर्जवनिकासंस्थः कुर्यादाश्रवणां ततः ।।
आश्रवणाऽवसाने च नान्दीं कृत्वा ससूत्रधृत् ।
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ।। (नाट्य.५.१६१,६८-६९)

२. सुवाक्यमधुरैः श्लोकैर्नानातालयान्वितैः ।
प्रसाद्य रङ्गं विधिवत्कवेर्नाम च कीर्तयेत् ।।
नानविधैरुपक्षेपैः काव्योपक्षेपणं भवेत् ।
प्रस्ताव्यैवं तु निष्क्रामेत्काव्यप्रस्तावकस्ततः ।।
एवमेष प्रयोक्तव्यः पूर्वरङ्गो यथाविधि ।। (नाट्य.५.१७२,७५-७६)

औत्सुक्य, चिन्ता के वातावरण में अथवा नायिका के खण्डित विप्रलब्ध अथवा कलहान्तरित होने पर नृत्य का प्रयोग कथमपि नहीं होना चाहिए[१]।

भरत की इस रंगपरम्परा का पालन भी कालिदास ने ही किया है– मालविकाग्निमित्र में मालविका का **छलिक नृत्य** प्रस्तुत करके। इस नृत्य की विशेषता यही है कि मालविका शर्मिष्ठा की (ययाति के प्रति) जिस दुर्वार उत्कण्ठा को गीत में व्यक्त करती है, उसी भाव को 'छलिक' जैसे कोमलनृत्य में भी प्रस्तुत करती है। इतना ही नहीं, मृदङ्गवाद्य की निर्ह्रादिनी मायूरी मार्जना भी सर्वथा नृत्य और गीत के अनुकूल है। इस प्रकार कालिदास आचार्य भरत के नृत्त-गीत-वाद्य के भावैक्यविषयक मन्तव्य का अनुपालन करते दीखते हैं।

परन्तु भासप्रणीत **बालचरितम्** में प्रस्तुत **'हल्लीसक'** नृत्य की ऐसी कोई पृष्ठभूमि अथवा औचित्य नहीं दिखाई पड़ता।

रंगपरम्परा का एक और गौरव बिन्दु है–**चारीविधान**[२]। भरत उसके भी दो प्रमुख भेद – भौमी तथा आकाशिकी करते हैं। कालिदास के तीनों नाटकों में इन चारियों के अनेक भेद अनुगत परिलक्षित होते हैं। हरिणीप्लुता नामक आकाशिकी चारी को परिभाषित करते हुए भरत लिखते हैं–

---

१. यस्यां यस्यामवस्थायां नृत्तं योज्यं प्रयोक्तृभिः।
तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि तच्च मे शृणुत द्विजाः॥
अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु यथा वर्णनिवृत्तिषु।
तथा चाभ्युदयस्थाने नृत्तं तज्ज्ञः प्रयोजयेत्॥
यत्र सन्दृश्यते किञ्चिद्दम्पत्योर्मदनाश्रयम्।
नृत्तं तत्र प्रयोक्तव्यं प्रहर्षार्थगुणोद्भवम्॥
यत्र सन्निहिते कान्ते ऋतुकालाभिदर्शनम्।
गीतकार्थाभिसम्बद्धं नृत्तं तत्रापि चेष्यते॥
खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरिताऽपि वा।
यस्मिन्नङ्गे तु युवतिर्न नृत्तं तत्र योजयेत्॥
सखीप्रवृत्ते संलापे तथाऽसन्निहिते प्रिये।
नहि नृत्तं प्रयोक्तव्यं यस्या वा प्रोषितः प्रियः॥ (नाट्य.४.३०९-३१४)

२. चारीभिः प्रस्तुतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा।
चारीभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्तिताः॥
यदेतत्प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव संस्थितम्।
नहि चार्यां विना किञ्चिन्नाट्येऽङ्गं सम्प्रवर्तते॥

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा चोत्प्लुत्य विनिपातयेत् ।
जङ्घाञ्चितोपरिक्षिप्ता सा ज्ञेया हरिणीप्लुता ।।
आकाशिक्यः स्मृता ह्येता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः ।
धनुर्वज्रादिशस्त्राणां योक्तव्याः शस्त्रमोक्षणे ।।

(नाट्य.१०.४२,४५)

अभिज्ञानशाकुन्तल में शरपतनभयवश शरीर के पश्चादर्धभाग को पूर्व-काय अर्थात् शरीर के अगले भाग में समेटता हुआ-सा वन्यमृग अपनी उदग्र-प्लुतता के कारण भरतसम्मत हरिणीप्लुताचारी को ही प्रस्तुत करता प्रतीत होता है। इसी प्रकार आविद्ध, प्रक्षिप्त, दोलापाद तथा भुजङ्गत्रासित आदि आकाशिकी चारियों का अनुसरण भी कालिदासीय नाट्यकृतियों में उपलब्ध है। **''यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव''** कहकर कालिदास शकुन्तला की जिस गमनविधि को संकेतित करते हैं, वह शत-प्रतिशत भरतवर्णित **'समपादा'** भौमी चारी के अनुकूल है–

पादैर्निरन्तरकृतैस्तथा समनखैरपि ।
समपादा स्मृता चारी विज्ञेया स्थानसंश्रया ।। (नाट्य. १०.१४)

नाट्यशास्त्रकार का निर्देश है कि वध का दृश्य मञ्च पर कत्तई न प्रस्तुत किया जाय। शस्त्रप्रयोग से सम्बद्ध चारियों के स्थान, न्याय एवं प्रविचार की व्याख्या करते हुए भरत कहते हैं कि अङ्गलीला अर्थात् अभिनय मात्र से शस्त्र-प्रहार प्रदर्शित करना चाहिए, न कि यथार्थ रूप में–

प्रविचाराः प्रयोक्तव्या ह्येवमेतेऽङ्गलीलया ।
धनुर्वज्राऽसिशस्त्राणां प्रयोक्तव्या विमोक्षणे ।।
न भेद्यं नापि च च्छेद्यं न चापि रुधिरस्तुतिः ।
रङ्गे प्रहरणं कार्यं न चापि व्यक्तघातनम् ।।
संज्ञामात्रेण कर्तव्यं शस्त्राणां मोक्षणं बुधैः ।
अथवाऽभिनयोपेतं कुर्याच्छेद्यं विधानतः ।।

(नाट्य. १०.८४-८६)

नाट्यशास्त्र की इस स्वस्थ रंगपरम्परा का पालन भी महाकवि कालिदास ने ही पूर्णतः किया। केशी नामक दानव को पराजित कर उर्वशी को मुक्त करने, दुष्यन्त द्वारा आश्रममृग का अनुधावन करने तथा अदृष्ट मातलि द्वारा पीड़ित माधव्य को मुक्त कराने के सन्दर्भों में कालिदास बड़ी युक्ति के साथ या तो

सन्धानित शर को उपसंहृत करा लेते हैं या फिर संकेतमात्र से शत्रुपराजय को सूचित कर देते हैं; परन्तु ठीक इसके विपरीत भास 'अभिषेक' नाटक में वाली का तथा 'ऊरुभङ्गम्' में दुर्योधन का वध रंगमञ्च पर ही प्रदर्शित करते हैं । भास के अन्यान्य रूपकों में भी मृत्यु के करुण दृश्य उपलब्ध हैं, जहाँ मृत्युशय्या पर पड़े व्यक्ति द्वारा आपस्तावत् कहकर पानी माँगने का उल्लेख है । निश्चय ही भास ने इन सन्दर्भों में भरत की रंगपरम्परा का पालन नहीं किया है । परवर्ती नाट्य-कारों में भवभूति भी शम्बूकवध की अप्रत्यक्ष अन्विति से भरत का अनुवर्तन करते हैं; परन्तु भट्टनारायण द्रोणवध की सांकेतिक सूचना देते हुए भी नाटक के अन्तिम दृश्य में भीम को दुश्शासन के रक्त से रञ्जित दिखाकर भरत के **'न चापि रुधिरस्रुतिः'** नियम का उल्लङ्घन करते हैं ।

भरतोपदिष्ट रंगपरम्परा में तीन प्रकृतियों का उल्लेख है—दिव्या, दिव्य-मानुषी तथा मानुषी । दिव्यप्रकृति देवताओं की, दिव्यमानुषी राजाओं की तथा मानुषी प्रकृति सामान्य मनुष्यों की होती है । चूँकि रंगमञ्च पर देवता का भी अभिनय कोई मनुष्य ही करता है, इसलिए आचार्य भरत देवविषयक गति (चारी) में हुई त्रुटि को भी क्षम्य मानते हैं, यह कहकर कि–

एवं देवानुकरणे दोषो ह्यत्र न विद्यते ।
सम्भ्रमोत्पातरोषेषु प्रमाणं न विधीयते ।।

परन्तु मानुषी प्रकृतियों के लिए निश्चित किया गया भरत का चारीविधान देखते ही बनता है । विभिन्न मनःस्थितियों तथा रसानुगुण प्रसङ्गों में आचार्य पृथक् चारी का निर्देश करता है, जिसका प्रत्यक्षर अनुपालन कालिदास तथा अन्य परवर्ती कवियों ने किया है । ज्वरार्त, क्षुधार्त, तपःश्रान्त, भयान्वित, विस्मय-अवहित्था-औत्सुक्य-युक्त, आवेग-हर्ष, अनिष्टश्रवण-क्षेप, अद्भुतदर्शन, अस्वस्थ, कामित, विभासित, अरिमार्गण, श्वापदानुसरण, गाढप्रहार, वर्षाभिहत तथा शीताभिभूत मनुष्यों के सन्दर्भ में जिस विलक्षण चारी-विधान को भरत ने उपन्यस्त किया है, वह अप्रतिम है ।

मालविकाग्निमित्र तथा शाकुन्तल में वर्णित अग्निमित्र एवं दुष्यन्त की कामयमान चारी दशायें तथा माधव्य की अङ्गभङ्गविकलता निश्चित रूप से भरत की रंगपरम्परा का पालन करती हैं । शृङ्गारिणी गति के सन्दर्भ में भरत कहते हैं–

गतिः श्रृङ्गारिणी कार्या स्वच्छकामितसम्भवा ।
दूतीदर्शितमार्गस्तु प्रविशेद्रङ्गमण्डलम् ।।
सूचयन् वाऽभिनयनं कुर्यादर्थसमाश्रयम् ।
हृद्यैर्वस्त्रैस्तथा गन्धैर्धूपैश्चूर्णैश्च भूषितः ।।
नानापुष्पसुगन्धाभिर्मालाभिः समलङ्कृतः ।
गच्छेत्सललितैः पादैरतिक्रान्तोत्थितस्तथा ।।
तथा सौष्ठवसंयुक्तैर्लयतालवशाऽनुगैः ।। (नाट्य.१२.३७-४०)

उपर्युक्त वर्णन 'मालविकाग्निमित्र' में पूर्णतः चरितार्थ होता है । अन्तर इतना ही है कि अग्निमित्र (तृतीय अङ्क में) दूती के स्थान पर विदूषक द्वारा 'दर्शितमार्ग' है (**तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय**) तथा प्रमदवन में वासन्ती सुषमा का साम्राज्य है (**उन्मत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानाम्,** आदि ३.४) । यहीं अकस्मात् मालविका से समागम होता है, नायक का ।

भास के नाटकों में घटनाचक्र की इतनी तीव्रता परिलक्षित होती है कि उसमें पात्रों की संवेदनाएँ मनोवैज्ञानिक स्तर पर विकसित ही नहीं हो पाई हैं । संवाद विद्युद्गति से प्रारम्भ एवं समाप्त होते हैं । जो कि घटनाओं की बहुलता तथा त्वरित गति के कारण 'रङ्गप्रसादन' का कौशल, भास में कालिदास से भी कहीं अधिक दीखता है; परन्तु भरत की रंगपरम्परा को समक्ष रखकर भास कोई नाट्यदृश्य नहीं उपन्यस्त करते ।

वार्धक्य का ही प्रसङ्ग ले लें । 'स्वप्नवासवदत्तम्' का कञ्चुकी प्रथमाङ्क में सीधे अपना संवाद बोलता है–**सम्भषक ! न खलु न खलु उत्सारणा कार्या** आदि । प्रत्येक दर्शक **'अन्तःपुरचरो वृद्धो'** के प्रामाण्य से कञ्चुकी के व्यक्तित्व को जानता है; परन्तु भास का कञ्चुकी, 'स्वप्नवासवदत्तम्' के अपने दोनों ही सन्दर्भों (प्रथम एवं षष्ठ अङ्क) में अपनी बातों से कहीं भी वार्धक्य की सूचना नहीं देता ।

परन्तु इसके विपरीत 'विक्रमोर्वशीय' का कञ्चुकी[१] (लातव्य) तथा 'शाकुन्तल' का कञ्चुकी[२] (वातायन) कुछ कहने से पूर्व अपने वार्धक्य को सूचित करते हैं । यह सूचना आचार्य भरत की रंगपरम्परा के इस विधान का अनुपालन करती है–

---

१. कञ्चुकी—(निःश्वस्य)
सर्वः कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान् कुटुम्बी
पश्चात्पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय ।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं साधयन्ती प्रतिष्ठां
सेवाकारा परिणतिरहो स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः ।। (विक्र०४.१)

२. कञ्चुकी–अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि । आचार इत्यवहितेन मया गृहीतादि ।

काञ्चुकीयस्य कर्तव्या वयोऽवस्थाविशेषतः ।
अवृद्धस्य प्रयोगतो गतिमेवं प्रयोजयेत् ।।
अर्धतालोत्थितैः पादैर्विष्कम्भैः ऋजुभिस्तथा ।
समुद्वहंस्तथाङ्गानि पङ्कलग्न इव व्रजेत् ।।
अथ वृद्धस्य कर्तव्या गतिः कम्पितदेहिका ।।

(नाट्य. १२.१०२-१०४)

दुष्यन्त के वियोग में डूबी शून्यहृदया शकुन्तला की चिन्ता-मुद्रा का वर्णन करती प्रियंवदा कहती है–**अनुसूये ! पश्य तावत् । वामहस्तोपहितवदना आलिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तया आत्मानमपि नैषा विभावयति, किम्पुनरागन्तुकम् ?** चिन्ता में डूबी शकुन्तला बायीं हथेली पर मुखमण्डल टिकाए बैठी है, वह आत्मानुभूति से भी शून्य हो उठी है ।

चिन्ता में डूबी यक्षिणी के लिए भी कालिदास **'हस्तन्यस्तं मुखमसकल-व्यक्तिलम्बालकत्वात्'** कहते हैं । इन सारी चिन्ता-मुद्राओं का आधार उन्हें भरत की रंगपरम्परा से ही मिला है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है[१] । नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्टतः कहा है–

पादः प्रसारितः किञ्चिदेकश्चैवासनाश्रयः ।
शिरःपार्श्वगतं चैव सचिन्त उपवेशने ।।
चिबुकोपाश्रितौ हस्तौ बाहुशीर्षाश्रितं शिरः ।
सम्प्रणष्टेन्द्रियमना भवेच्छोकोपवेशने ।।
प्रसार्य बाहू शिथिलौ तया चोपाश्रयाश्रितः ।
मूर्च्छामदश्रमग्लानिविषादेषूपवेशयेत् ।।

(नाट्य.१२.१५८-१६०)

यहाँ, प्रथम श्लोक में जिस सचिन्त उपवेशन का चित्रण है, उसका आंशिक आभास हम शकुन्तला के सन्दर्भ में **'शिलापट्टमधिशयाना तथा पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय'** शब्दावलियों से पाते हैं । हाँ, यक्षिणी के सन्दर्भ में तो उपर्युक्त वर्णन पूर्णतः सत्य घटित होता है–

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।।

---

१. द्रष्टव्य : निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः । (अभि.३.१०)

दूसरे श्लोक में प्रयुक्त शब्द **'सम्प्रणष्टेन्द्रियमनाः'** को ही कालिदास भी ग्रहण करते हैं, **'शून्यहृदया'** तथा **'आत्मानमपि नैषा विभावयति'** आदि शब्दान्तरों द्वारा। इसी प्रकार तीसरे श्लोक में मूर्च्छा-मद-श्रम तथा ग्लानि का जो रूप आचार्य भरत ने अंकित किया है, उसी को कालिदास भी प्रमाण मानते हैं, अनेक सन्दर्भों में। उदाहरणार्थ — वृक्षसेचन (श्रम) में शकुन्तला के लिए **'स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू'** का प्रयोग।

'शुद्धो विचित्रो मलिनस्त्रिविधो वेष उच्यते' (नाट्य. २२.११४) की स्थापना के साथ भरत बताते हैं कि **'व्यसनोपगतानां च मलिनो वेष इष्यते'** (२१.१२०)। एक अन्य सन्दर्भ में वह पुनः कहते हैं–

तथा प्रोषितकान्ता या व्यसनाभिहताश्च याः ।
वेषः स्यान्मलिनस्तासामेकवेणीधरं शिरः ।। (नाट्य. २१.७२)

यद्यपि उदयनविरहिता वासवदत्ता भी शकुन्तला के ही समान व्यसनाभिहता तथा प्रोषितपतिका है; परन्तु भास ने कहीं भी उसके मलिन वेष अथवा एकवेणीत्व की चर्चा नहीं की है, जबकि कालिदास भरत की रंगपरम्परा का पालन करते हुए कहते हैं–

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला)

राजा– (शकुन्तलां विलोक्य) अये ! (सहर्षखेदम्) सेयमत्र भवती शकुन्तला, यैषा–

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।।

(शाकु.७.२१)

महाकवि कालिदास द्वारा भरत की रंगपरम्परा के अनुवर्तन के उपर्युक्त सारे सन्दर्भ स्थूलकोटिक कहे जा सकते हैं; परन्तु इस अनुवर्तन के कतिपय सूक्ष्म सन्दर्भ तो सचमुच विलक्षण ही प्रतीत होते हैं। मात्र एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूँगा। अंकुराभिनय के यथाभावरसान्वित १२ भेदों की चर्चा करते हैं भरत— आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संल्लाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश तथा व्यपदेश (नाट्य. २२.४९-५१)। आलाप एवं प्रलाप की चर्चा करते हुए आचार्य ने कहा है–

आभाषणे तु यद्वाक्यमालापो नाम स स्मृतः ।
अनर्थकं वचो यत्र स प्रलापश्च कीर्तितः ।।

अब इन परिभाषाओं के आलोक में महाकवि कालिदास के दो प्रयोगों की समीक्षा करें, तो 'तत्कृत भरतानुवर्तन' की सार्थकता स्पष्ट हो जाय :

१. **राजा**–(कर्णं दत्वा) अये दक्षिणेन वृक्षवाटिका**मालाप** इव श्रूयते ।

२. **सेनापतिः**–(प्रकाशम्) **प्रलपत्वेष** वैधेयः । ननु प्रभुरेव निदर्शनम् ।

शाकुन्तल के इन दोनों सन्दर्भों में शकुन्तला और उसकी सखियों का 'आलाप' तथा माधव्य का 'प्रलाप' शतप्रतिशत भरत की रंगपरम्परा के आलोक में प्रयुक्त हुआ है ।

उर्वशी तथा शकुन्तला दोनों प्रथम दर्शन में ही क्रमशः पुरूरवा तथा दुष्यन्त के प्रेमपाश में बँध जाती हैं । काम की दश अवस्थाओं में प्रथम है–अभिलाष । उर्वशी तथा शकुन्तला में यह **'अभिलाष'** बद्धमूल हो उठता है । अभिलाष की व्याख्या करते हुए भरत कहते हैं–

व्यवसायात्समारब्धः सङ्कल्पेच्छासमुद्भवः ।
समागमोपायकृतः सोऽभिलाषः प्रकीर्तितः ।।
निर्याति विशति च मुहुः करोति चाकारमेव मदनस्य ।
तिष्ठति च दर्शनपथे प्रथमस्थाने स्थिता कामे ।।

(नाट्य. २२.१६४-१६५)

'निर्याति विशति च मुहुः करोति चाकारमेव मदनस्य' की यह अन्विति उर्वशी तथा शकुन्लता में देखते ही बनती है । बिदा होती उर्वशी की एकावली वैजयन्तिका वृक्षशाखा में उलझ जाती है, तो उसे पुरूरवा को जीभर देख लेने का नया अवसर मिल जाता है । उधर अनुराग में डूबा पुरूरवा भी वृक्षशाखा के प्रति आभार व्यक्त करता है, इस सुनहरे संयोग के लिये ।

उर्वशी–(उत्पतनभङ्गं रूपयित्वा) अहो लताविटपे एषैकावली वैजयन्तिका में लग्ना ।

(सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती)

सखि चित्रलेखे ! मोचय तावदेनाम् ।

राजा (स्वगतम्)

प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्याः ।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा ।।

यही स्थिति शकुन्तला और दुष्यन्त की भी है। शकुन्तला को भी कुरबकशाखा में उलझे वल्कल के बहाने दुष्यन्त को देर तक निहारने का अवसर मिलता है और दुष्यन्त भी इस घटना को अपने प्रणयभाव का साधक प्रमाण मानता है।

शकु.—अभिनवकुशसूचिपरिक्षतौ मे चरणौ कुरबकशाखापरिलग्नं च मे वल्कलम्। तत् प्रतिपालयत माम्। यावदेतन्मोचयामि।

(राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता)

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयापि काममाविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि,

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥ (अभि. २.१३)

इस संक्षिप्त चर्चा का निर्गलितार्थ केवल यह है कि यदि आचार्य भरत भारतीय रंगपरम्परा के आविष्कर्ता, संस्थापक अथवा प्रवचनकार हैं, तो कालिदास उन परम्पराओं के प्रथम नैष्ठिक प्रयोक्ता। आचार्य भरत के प्रति अपनी यह निष्ठा कालिदास 'विक्रमोर्वशीयम्' (२.१७) त्रोटक में प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त भी करते हैं।

आचार्य भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र निश्चय ही विश्ववाङ्मय का अप्रतिम गौरवग्रन्थ है। दशम शती ई० में काश्मीरक आचार्य महामाहेश्वर अभिनवगुप्त-पाद ने इस युगान्तरकारी कृति पर **'अभिनवभारती'** नामक टीका लिखी, जो स्वयं में किसी मूलग्रन्थ से कम नहीं है। ब्रिटिश शासनकाल में श्री रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ **गायकवाड प्राच्य-ग्रन्थमाला** के अन्तर्गत बड़ौदा से प्रकाशित हुआ। वहीं से नाट्यशास्त्र के विविध संस्करणों के प्रकाशन की परम्परा का उदय हुआ। सौभाग्यवश, आज हिन्दी-रूपान्तर-युक्त नाट्यशास्त्र के अनेक संस्करण सुधी पाठकों को उपलब्ध हैं।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का यशस्वी **प्रकाशन-संस्थान** भी नाट्यशास्त्र की सानुवाद-प्रस्तुति में दत्तचित्त है। यह कार्य इस दृष्टि से विशेष महनीय है कि इस योजना में न केवल नाट्यशास्त्र का, प्रत्युत उसकी

विद्वत्तोषिणी टीका **'अभिनवभारती'** का भी हिन्दी-रूपान्तर अन्तर्हित है । इस असम्भव कार्य को सम्भव बनाया पुराणविभाग के यशस्वी-पूर्व अध्यक्ष कीर्तिशेष **प्रो० पारसनाथ द्विवेदी जी** ने । प्रो० द्विवेदी विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान्, अकुतोभय व्याख्याकार एवं प्रामाणिक लेखक थे । उनके बहुमुखी कर्तृत्व से निश्चय ही संस्कृत-जगत् उपकृत हुआ है ।

प्रो० द्विवेदी द्वारा सम्पन्न यह सारस्वत कार्य पाँच खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है । ग्रन्थ के प्रथम तीन खण्ड विद्वान् लेखक के जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुके थे । चतुर्थ खण्ड (अध्याय १९-२७) सम्प्रति प्रकाशित किया जा रहा है । वस्तुत: यह ग्रन्थ **राष्ट्रपति-पुरस्कार** से श्रीमण्डित **आचार्य श्री पारसनाथ द्विवेदी** जी की पावनस्मृति में अर्पित सारस्वत-श्रद्धाञ्जलि-कल्प है । भगवान् भूतभावन नटराज शिव प्रो० द्विवेदी को सायुज्य प्रदान करें, यही कामना है ।

प्रकाशन-संस्थान के श्रुतकीर्ति निदेशक, नित्योद्यमी एवं स्वजनानुरागी **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** एवं उनके प्रकाशन-कुटुम्बियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, इस श्रेष्ठ प्रकाशन के लिये । आशा है, ग्रन्थ का अन्तिम पञ्चम खण्ड भी यथाशीघ्र प्रकाशित होगा, जिससे इस **चाक्षुष क्रतु** की पूर्ति होगी ।

वाराणसी
कार्तिक-पूर्णिमा,
वि० सं० २०६१
(२६ नवम्बर, २००४ ई०)

सहृदयाश्रव
अभिराजराजेन्द्र मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

विषयानुक्रमणिका

एकोनविंशोऽध्यायः

विंशोऽध्याय:

एकविंशोऽध्यायः

द्वाविंशोऽध्यायः

त्रयोविंशोऽध्याय:

चतुर्विंशोऽध्यायः

पञ्चविंशोऽध्यायः

षड्विंशोऽध्याय:

सप्तविंशोऽध्याय:

परिशिष्टम्

॥ श्रीः ॥

भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

एकोनविंशोऽध्यायः

अभिनव-भारती

देहे ससन्ध्यङ्गगणे नमस्ते यत्स्थापनं स्पर्शनवृत्तिकारि ।
तदिन्द्रियं यस्य वपुर्नमामि तमान्तरस्पर्शमयं महेशम् ॥ १९ ॥

"पुनरस्य शरीरविधाने" त्यादिना (१८-१२७) शरीरमितिवृत्तात्मकं विधानं च तस्य विधानरूपप्रकारात्मकं, सन्धयश्च मुखादयो विधयश्च सन्ध्यङ्गस्वभावा लक्षणीयत्वेन प्रतिज्ञाताः, तत्र शरीरभावो लक्षयितव्यमिति दर्शयति इतिवृत्तं त्विति ।

हिन्दी-व्याख्या

विगत अध्याय में इतिवृत्तात्मक शरीर और उसके विधानरूप प्रकारात्मक भेदस्वरूप अनुष्ठान की तथा मुखादि सन्धियाँ और विधियाँ सन्ध्यङ्ग स्वभाव विधियाँ लक्षणीयत्वरूप में जो प्रतिज्ञा की थी, उसमें पहिले नाटच-शरीर का लक्षण करना है, यह दिखाते हैं—

अभिनव—सन्धि-सन्ध्यङ्गो से युक्त सारे शरीर में जो स्पर्शन वृत्तिकारी स्थिति है, वह इन्द्रिय जिसका शरीर है, उस आन्तरस्पर्शमय महेश (शिव) को मैं (अभिनवगुप्त) प्रणाम करता हूँ ॥ १९ ॥

विशेष—अभिनवगुप्त का कथन है कि सन्धि-सन्ध्यङ्गों से युक्त शरीर में स्पर्शनकारी जो त्वगिन्द्रिय है, वह त्वगिन्द्रिय जिस शिव का शरीर है उस नटराज महेश की मैं वन्दना करता हूँ । यहाँ त्वगिन्द्रिय रूप तत्त्व की वन्दना की गई है ।

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य[1] शरीरं परिकीर्तितम् ।
पञ्चभिः सन्धिभिस्तस्य विभागः सम्प्रकल्पितः[2] ॥ १ ॥

तुशब्दो व्यतिरेके—काव्यमात्रस्यानभिनेयस्य तावद् वृत्तमात्रं शरीरं, नट-नीयस्य त्वभिनेयरूपस्य इति एवंप्रकारतया यदुपस्कृतं वृत्तं, अतएवेतिवृत्तशब्दवाच्यं तद्वस्तु शरीरं, रसाः पुनरात्मा शरीराविर्भावकाः, अतएवार्थनिर्मापकत्वात् अर्थतादात्म्यात् अर्थरूपताध्यासात् अर्थैकज्ञाननिवेशितत्वात् अर्थोपरञ्जकत्वात् अर्थनिमित्तत्वाद्वा, इतिवृत्तार्थैकयोगक्षेमत्वं वागात्मनां शब्दानामिति । तदाशयेन—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता । (१४-२)
इति पूर्वमुक्तम्, इह वृत्तं शरीरमिति वर्णितमित्यविरोधः ।

अनुवाद—इतिवृत्त को नाट्य का शरीर कहा गया है और पाँच सन्धियों में उसका विभाग किया गया है ॥ १ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'तु' शब्द व्यतिरेक अर्थ में है । काव्यमात्र का चाहे वह अभिनेय हो, अथवा अनभिनेय हो शरीर वृत्त है किन्तु जो अभिनेय है, नटनीय है उसका अर्थात् इस प्रकार से उपस्कृत जो वृत्त है, अथवा जो इतिवृत्त शब्द से वाच्य है वह वस्तु शरीर है और जिसमें रस आत्मा के रूप में शरीर का आविर्भाव है । अतएव अर्थ का निर्मापक होने से, अर्थ के साथ तादात्म्य होने से, अर्थरूप से अध्यास होने से, अर्थ के एक ज्ञान में निवेशित होने से, अर्थ का उपरञ्जक होने से अथवा अर्थ का निमित्त होने से इतिवृत्त के साथ वाणी रूप शब्द का काव्यरूप एक अर्थ में योगक्षेम है । इसी आशय से कहते हैं कि—

"वाणी के विषय में यत्न करना चाहिए, क्योंकि वाणी ही नाट्य का शरीर कहा गया है ।"

इस प्रकार पहिले कहा जा चुका है । यहाँ पर इतिवृत्त ही नाट्य का शरीर है, इस प्रकार इसमें अविरोध दिखाया है ।

---

१. ख. काव्यस्य ।
२. ख. विभागाः परिकीर्तिताः ।

स तु कथं प्रकारवैचित्र्य इत्याशंक्याह—पञ्चभिः सन्धिभिरिति। एतदुक्तं भवति—प्रकारवैचित्र्यकल्पनामया एव सन्धयः। तत्र पारम्यपरतया- (पारम्पर्यतया) पञ्चसंख्येति, तेन हीनसन्धित्वेऽपि न कश्चिदत्र विरोधः।

अन्ये तु सर्वत्र पञ्चैव सन्धयः, अपूर्णाङ्गत्वात्तु कस्यचित्सन्धेर्हीनसन्धित्व-मुच्यत इत्याहुः। एतच्च स्वस्थाने वितनिष्यामः।

एवमितिवृत्तशब्दे इतिभागस्य योऽर्थः सोऽप्रसिद्ध इति कृत्वा द्वितीयार्धेन पञ्चभिरित्यादिना व्याख्यातः, न तु सन्धिनिरूपणमेतदुद्देशक्रमस्तस्यानेक-विषयत्वात् ॥ १ ॥

अब प्रश्न होता है कि जब उसमें प्रकारवैचित्र्य है तो भेद होना स्वतः प्राप्त है तो अविरोध कैसे ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि पाँच सन्धियों से यह युक्त है, इससे यह कहते हैं कि प्रकार के वैचित्र्य की संख्या पाँच हैं। इसी से कभी-कभी पांच से कम सन्धियों के होने पर भी कोई विरोध नहीं।

अन्य आचार्य तो सर्वत्र पाँच ही सन्धियाँ मानते हैं, किन्तु किसी रूपक के अपूर्णाङ्ग होने से उसे हीन सन्धि भी कहते हैं। इसका निरूपण सन्धियों के विवेचन के अवसर पर करेंगे।

इस प्रकार इतिवृत्त शब्द में 'इति' भाग का जो अर्थ है वह अप्रसिद्ध है अतः 'पञ्चभिः सन्धिभिः' इत्यादि द्वितीयार्ध श्लोक के द्वारा उसकी व्याख्या कर दी है, किन्तु यह सन्धियों का निरूपण नहीं है, उसके अनेक प्रकार होने से क्रम से उसका निरूपण करेंगे ॥ १ ॥

विशेष—काव्य दो प्रकार का होता है, अनभिनेय अथवा अभिनेय। अभिनेय हो अथवा अनभिनेय हो (श्रव्य हो अथवा दृश्य) काव्यमात्र का शरीर 'वृत्त' है। किन्तु अभिनेय काव्य का शरीर इस प्रकार से उपस्कृत वृत्त इतिवृत्त शब्द से वाच्य है। रस विशेष रूप से शरीर का आविर्भावक आत्मा है। अत एव शब्द अर्थ का उपस्थापक है और शब्द अर्थ का उपस्थापक तभी होता है जब शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य है। किन्तु दोनों का तादात्म्य वास्तविक नहीं है। बल्कि उसका आरोप किया जाता है, क्योंकि शब्द और अर्थ एक ज्ञान के विषय होने से शब्द अर्थ का उपरञ्जक होता है, निमित्त है, बीजभूत है। अतः शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध है, पाँच सन्धियों से युक्त होने से उनमें प्रकार वैचित्र्य है और प्रकार के वैचित्र्य की कल्पना ही सन्धियाँ हैं, अर्थभेद तो काल्पनिक है।

इस प्रकार भरत ने इतिवृत्त को नाट्य का शरीर माना है। अग्निपुराणकार तथा शारदातनय नाट्यशरीर को ही इतिवृत्त कहते हैं। शिङ्गभूपाल ने रूपक की कथावस्तु तथा आरभवृत्त को इतिवृत्त के नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः इतिवृत्त नाट्य का शरीर है ॥१॥

इतिवृत्तं द्विधा चैव बुधस्तु परिकल्पयेत्[1] ।
अधिकारिकमेकं स्यात्[2] प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ २ ॥

एवं शरीरमभिधाय तस्य विधानशब्देनोद्दिष्टं प्रकारवैचित्र्यं दर्शयति इतिवृत्तं द्विधा चैवेति ।

इतिवृत्तं स्थितं सत्, बुधो विवेचकः कविर्द्विधैव परिकल्पयेत् । चकारात् प्रकरणादावितिवृत्तं च कल्पयेत् । तच्च द्विधा । एकमपरमित्यनेनेदमाह—न विसर्गतः किञ्चिदाधिकारिकम्, अन्यद्वा । कविधिया यदेतदाधिकारिकं कृतं तदापरस्य प्रासङ्गिकतास्तीति द्विधाशब्देन सूचितं, तदेवेदं दर्शितम् । "अधिकरण-विचाले च" (पा-५-३-४३) इति धाप्रत्ययः एकं राशिं द्विधा कुर्वति यथा तेनैक-मेवेतिवृत्तं द्विशाखमिति यावत् ।

इस प्रकार इतिवृत्तरूप शरीर का अभिधान करके अब उसके विधान शब्द से उद्दिष्ट प्रकार-वैचित्र्य को दिखाते हैं—

अनुवाद—विद्वान् लोग इतिवृत्त की दो प्रकार की कल्पना करें—एक आधिकारिक और दूसरा प्रासङ्गिक ॥ २ ॥

अभिनव—बुधजन अर्थात् विवेचक कवि 'सत्' रूप में स्थित इतिवृत्त की दो प्रकार से कल्पना करें । यहाँ 'द्विधा चैव' में 'च' पद से यह सूचित होता है कि प्रकरण आदि में भी इतिवृत्त की कल्पना करे । वह इतिवृत्त दो प्रकार का होता है । यहाँ 'एकम्' और 'अपरम्' पद से यह कहा गया है कि स्वभाव से कोई इतिवृत्त आधिकारिक नहीं होता अथवा अन्य नहीं होता । किन्तु कवि स्वबुद्धि से जिसको यह अधिकारिक है, ऐसा कह देता है तब दूसरा इतिवृत्त प्रासङ्गिक होता है, यह बात यहाँ 'द्विधा' पद से सूचित किया है, उसी को दिखला दिया है । 'द्विधा' पद में 'अधिकरण विचाले च' इस सूत्र से 'द्विधा' में 'धा' प्रत्यय हुआ है । जैसे एक राशि को द्विधा करो, यह कहा जाता है । उसी प्रकार एक ही इतिवृत्त की दो शाखाएँ हैं, यह समझना चाहिए ॥ २ ॥

---

१. ख. परिवर्जयेत् ।
२. ख. ग. तु ।

यत्कार्यं हि[1] फलप्राप्त्या [2]सामर्थ्यात्परिकल्प्यते ।
तदाधिकारिकं ज्ञेयमन्यत्प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ३ ॥
[3]कारणात्फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।
[4]तस्योपकरणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषङ्गिकम्[5] ॥ ४ ॥

तत्प्रकारद्वयं क्रमेण दर्शयति यत्कार्यं होति ।

प्रधानत्वेन सम्पाद्ये फले यो ज्ञानेच्छाप्रयत्नक्रियालक्षण आरम्भः तत्कार्यमिति वक्ष्यते 'यदाधिकारिकं वस्तु' (१९-२६) इति तथाभूतो य आरम्भो मुख्यफलप्राप्त्या परिकल्प्यते स आधिकारिकमितिवृत्तम् । हि यस्मात् तथैव ज्ञेयम् । निरुक्तेनाधिकारः सर्वत्रानुयायित्वं हृदयानुयायित्वं प्रयोजनमस्य । प्रासङ्गिकेऽपि हि तदन्तर्लीनमेव । यथा—आधिकारिके सहाप्तेनाविख्यासासाधनैषाफलजिहीर्षानिष्पत्तौ यथा न शक्त्यन्तरव्यापारणं, तद्वत्प्रासङ्गिकेऽपि सर्वत्र शक्त्यन्तरव्यापाराभाव एव । शक्त्यन्तरेऽपि पृथग्व्यापार्यमाणे तस्याप्याधिकारिकत्वमेव स्यात् । प्रतिज्ञानिर्वहणं जगत्कण्टकरावणोद्धरणं शरणागतविभीषणरक्षणमित्याद्यपि हि प्रधानफले सीताप्रत्यानयनलक्षणे विवक्षिते न शक्त्यन्तरव्यापारसाध्यं, अपि तु तदुपयोगिसामाद्युपायचतुष्टयतद्द्विकत्रिकादिभेदसम्पादननान्तरीयकोपनीतमेव ।

अब दोनों प्रकारों को क्रम से दिखाते हैं—

अनुवाद—किसी फल प्राप्ति को अनुरोध से कार्य के रूप में जिसकी कल्पना की जाती है, उसे 'अधिकारिक' इतिवृत्त समझना चाहिए और शेष अन्य को प्रासङ्गिक' समझे ॥ ३ ॥

अनुवाद—मुख्य फल के योग में जो करता है अर्थात् फल की प्राप्ति जो कारण है वह इतिवृत्त 'आधिकारिक' है और जिसे उसके उपकरण के लिए कहा जाता है वह इतिवृत्त 'प्रासङ्गिक' है ॥ ४ ॥

अभिनव—प्रधान रूप से सम्पाद्य फल में जो ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, और क्रिया रूप जो आरम्भ है वह कार्य है, जैसा कि आगे कहेंगे कि जो आधिकारिक वस्तु है तथाभूत उस प्रकार का जो आरम्भ है तथा मुख्य फल की प्राप्ति के लिए जिसकी कल्पना की जाती है उसे 'आधिकारिक' इतिवृत्त कहते हैं ।

१. ख. तु । २. क. सामर्थ्यं । ३. ख ग. कवेरित्यादि श्लोकानन्तरं पाठः ।
४. ख.ग. परोपकरणार्थं । ५. क. विष्णुपाश्रयाद् ।

तापसवत्सराजे राज्यप्रत्यापत्तेः प्रधानफलत्वे वासवदत्तासङ्गमपद्मावती-प्राप्त्यादौ क्रियान्तरानुपयोग एव मन्तव्यः। यदि ह्यस्य वासवदत्ताप्राप्त्युपायत्वं पद्मावतीपरिणयस्य नोच्येत न वत्सराजस्तत्र प्रवर्तेत, तदप्रवृत्तौ कुतः प्रधानफलमिति सर्वंप्रासङ्गिकमेकरूपमेव।

प्रसक्तिर्हि प्रसङ्गः तत आगतं प्रासङ्गिकं, प्रसज्यते वा प्रधानफलनिष्पत्तये इति प्रसङ्गस्तत आगतमिति। तेन शक्त्यन्तरयोगायोगाभ्यां च यत्प्रासङ्गिकस्या-नेकविधत्वं टीकाकृद्भिरभ्यधायि न तदुपाध्यायाः सम्मन्यन्ते।

क्योंकि ऐसा ही उसे समझना चाहिए। उपर्युक्त निर्वचन से अधिकार वह है जिसका प्रयोजन सर्वत्र अनुयायित्व (अनुस्यूत) या हृदयानुयायित्व (हृदया-नुगत) हो, वह आधिकारिक है तथा प्रासङ्गिक इतिवृत्त में भी वह प्रयोजन अन्तर्लीन है, और आधिकारिक इतिवृत्त में फल प्राप्त होने से अचिख्यासा, साधनैषा एवं फलजिहीर्षा इनकी निष्पत्ति होने पर जैसे शक्त्यन्तर (क्रियान्तर) का व्यापारण नहीं होता, उसी प्रकार प्रासङ्गिक में भी सर्वत्र शक्त्यन्तर के व्यापार का अभाव ही है। शक्त्यन्तर में भी पृथक् व्यापार्यभाषा होने पर वह भी 'अधिकारिक' हो जायगा। जैसे प्रधान रूप से सीता का शत्रु के घर से लौटा लेना रूप मुख्य फल के विवक्षित होने से प्रतिज्ञा का निर्वाह, जगत् के कण्टक रावण का उद्धार और शरणागत विभीषण का रक्षण इत्यादि अवान्तर फल भी सिद्ध हो जाते हैं। अतः उसकी सिद्धि के लिए शक्त्यन्तर के व्यापार की आवश्यकता नहीं है, अपितु प्रधान फल के उपयोगी सामादि (साम, दान, दण्ड, भेद) चार उपायों में से किसी एक या दो या तीन उपायों का सम्पादन बिना किसी बाधा के स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। उसके लिए शक्त्यन्तर के व्यापार की आवश्यकता नहीं है।

जैसे तापसवत्सराज नाटक में राज्य का प्रत्यावर्तन (लौटना) मुख्य फल है। अतः वह वासवदत्ता के साथ सङ्गम और पद्मावती की प्राप्ति आदि में क्रियान्तर का अनुपयोग ही मन्तव्य है। यदि वासवदत्ता की प्राप्ति में पद्मावती का परिणय उपाय नहीं कहेंगे तो वत्सराज की वहाँ प्रवृत्ति ही नहीं होगी और वत्सराज की प्रवृत्ति न होने पर राज्य की प्राप्ति रूप प्रधान फल की प्राप्ति कैसे होगी ? इसलिए सभी प्रासङ्गिक इतिवृत्त को एकरूप ही समझना चाहिए।

अतएवाह कारणात्फलयोगस्येति । अयमर्थः—आधिकारिकं नाम (अधिकारः) यस्त्वितिवृत्तं फलसंबन्धं करोति स कविना वर्णनोपायारोहमानीतः तत्समर्थाचरणेन प्रयुज्यते । एवमन्यस्यापीतिवृत्तमिति पूर्वपक्षमाशंक्य तत्रोत्तरमवान्तरेणाह तस्योपकरणार्थं त्विति । ह्यिरप्यर्थे भिन्नक्रमः आनुषङ्गिकमपि कीर्त्यत इति ।

प्रासङ्गिक पद की व्युत्पत्ति है—प्रसक्ति का अर्थ प्रसङ्ग है और उससे प्राप्त होने वाला इतिवृत्त 'प्रासङ्गिक' है अथवा प्रधान फल की निष्पत्ति के लिए की जाने वाली प्रसक्ति ही प्रसङ्ग है उससे प्राप्त होने वाला इतिवृत्त प्रासङ्गिक है। इसलिए टीकाकारों ने शक्त्यन्तर के योग और आयोग और आयोग के कारण प्रासङ्गिक इतिवृत्त को अनेक प्रकार का कहा है, उसे उपाध्याय जी नहीं मानते हैं।

इसलिए कहते हैं कि फल के योग में जो हेतु है उस इतिवृत्त को 'आधिकारिक' कहते हैं अर्थात् आधिकारिक वह इतिवृत्त है जो फल के साथ सम्बन्ध रखता है, जिसको कवि ने वर्णन रूपी उपाय पर पहुँचाया है और जो समर्थ के योग्य आचरणों द्वारा प्रयुक्त हो वह आधिकारिक इतिवृत्त है, इसी प्रकार अन्य इतिवृत्त भी होता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष की आशङ्का करके उसका उत्तर अवान्तर वाक्य द्वारा कहते हैं। 'तस्योपकरणार्थं तु' अर्थात् उसके उपकरण के लिए तो। यहाँ पर 'तु' पद का 'अपि' के अर्थ में प्रयोग है और इसका क्रम भिन्न है अर्थात् इसका अन्वय आनुषङ्गिक के साथ है। अतः आधिकारिक इतिवृत्त की सहायता के लिए प्रासङ्गिक (आनुषाङ्गिक) इतिवृत्त का कथन किया गया है ॥ ३-४ ॥

विशेष—नाट्याचार्यों ने रूपकों में इतिवृत्त के दो प्रकार बताये हैं—आधिकारिक और प्रासङ्गिक । इनमें मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक कहते हैं। क्योंकि मुख्य इतिवृत्त सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त रहता है अर्थात् आधिकारिक इतिवृत्त रूपक प्रबन्ध का व्यापक वृत्त होता है। जैसे रामायण में राम और सीता का वृत्तान्त। और उनके अङ्गभूत सहायक इतिवृत्त को प्रासङ्गिक कहते हैं अर्थात् जो आधिकारिक इतिवृत्त का उपकरणभूत सहायक इतिवृत्त है अर्थात् प्रधान नायक के कार्यसिद्धि में जो सहायक होता है वह प्रासंगिक इतिवृत्त कहलाता है। जैसे रामायण में सीता-प्राप्ति रूप मुख्य फल प्रधान इतिवृत्त में सुग्रीव की मित्रता, शरणागत विभीषण का रक्षण आदि प्रासंगिक इतिवृत्त हैं।

कवेः प्रयत्नान्नेतॄणां युक्तानां विध्यपाश्रयात् ।
कल्प्यते हि[1] फलप्राप्तिः [2]समुत्कर्षात्फलस्य च[3] ॥ ५ ॥

ननु फलप्राप्तिलक्षणेन प्रयोजनेन सप्रयोजनत्वमाधिकारिकस्य लक्षणत्व-मुक्तम्, फलप्राप्तिश्च प्रासङ्गिकेऽप्यस्ति सा प्रासङ्गिकीति चेत्, सिद्धे प्रासङ्गि-कस्याधिकारिकाद् भेदे भवेदेतत्, तत एव तत्सिद्धौ चक्रकान्योन्याश्रयदोषः, तस्मा-त्फलप्राप्तिरेव विशिष्य वक्तव्येत्यभिप्रायेणाह—कवेः प्रयत्नान्नेतॄणां युक्तानामिति ।

समुत्कर्षं प्राधान्यमवलम्ब्य फलप्राप्तिः कल्प्यते, प्रधानफलप्राप्तिप्रयोजनमा-धिकारिकमित्यर्थः ।

ननु फलप्राप्तेः कथं प्राधान्यमाधिकारिकं, निर्वर्त्यत्वाविति चेत् स एव दोष इत्याशङ्क्याह कवेः प्रयत्नादिति । कवियंत्फलमुत्कर्षेण विवक्षिता तत्प्रधानफलम् । ननु पुरुषेच्छा यत्ननियन्त्रिता, तदा पुनरपि स एव प्रयत्न इत्याह । नेतॄणां युक्तानां

अभिनव—फलप्राप्ति का रूप प्रयोजन से जो प्रयोजन वाला है, इस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त का लक्षण प्रयोजकत्व कहा है और फलप्राप्ति प्रासंगिक इतिवृत्त से भी होती है, अतः वह फलप्राप्ति प्रासंगिकी है। यह तभी सम्भव है जब प्रासंगिक इतिवृत्त का आधिकारिक भेद सिद्ध हो जाय, क्योंकि फल प्राप्तियों में ही भेद की सिद्धि होने पर चक्रक या अन्योन्याशय दोष आ जायेगा। इसलिए फलप्राप्ति को विशेष रूप से कहना चाहिए। इस अभिप्राय से कहते हैं।

अनुवाद—कवि के प्रयत्न से की गई विधि के आश्रय के कारण फल के समुत्कर्ष से इतिवृत्त के अनुरूप नायक-नायिकाओं को फल प्राप्ति की कल्पना होती है ॥ ५ ॥

अभिनव—समुत्कर्ष अर्थात् प्राधान्य का अवलम्बन करके फल प्राप्ति की कल्पना करते हैं अतः प्रधान फल की प्राप्ति रूप प्रयोजन आधिकारिक है।

अब प्रश्न होता है कि फल प्राप्ति की आधिकारिक प्रधानता कैसे होगी ? क्योंकि फल निर्वर्त्य (संपाद्य) होने से अन्योन्याश्रय या चक्रक दोष होगा। इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि कवि के प्रयत्न से अर्थात् कवि जिस फल को उत्कर्ष रूप (उत्कृष्ट रूप) से कहना चाहता है वह प्रधान फल है। यदि

१. ख. यत् । २. क. समुत्कर्षः । ३. ख. तु ।

विध्यपाश्रयाद् धीरोदात्तादिभेदानां नायकानां मध्ये यो यत्र नायको युक्त उचितः तस्य यो विधिः सम्पाद्यं वस्तु तदपाश्रयप्रयत्नाद्धेतोः कविफलं प्रधानमिति। यस्मिंश्च विधौ यो नायको युक्तः उचितस्तस्य मयैतत्कर्तव्यमित्यभिसन्धानाभावेऽपि तत्सन्निधौ फलं नायकत्वं विना कर्तव्यम्, यथा तापसवत्सराजे वत्सराजस्य राज्यप्रत्यापत्तिः कर्तव्यतायाममात्याभिसंहितायाम्, अतएव ह्यस्यासौ नेता फलस्य चाक्रष्टा अमात्यसम्पादिताभिसन्धिप्रत्युपायपरम्परार्जितस्यापि।

नन्वेवमपि रामस्य स्वदारप्रत्यानयनकण्टकोद्धरणभीताभयवितरणादौ सर्वत्र कर्तव्यतौचित्यमस्ति, तथापि न व्यवस्थितं लक्षणमित्याह फलस्य चेति। चकारेण समुत्कर्षादित्यस्यावृत्तिर्द्योत्यते। तेनायमर्थः—यदेतत्फलं तावत्यंशे अधिकमुत्कर्षमवलम्बते तत्रैव तस्यौचित्यं कविना कल्पनीयम्।

पुरुष की इच्छा अनियन्त्रित हुई तो फिर भी वही दोष कवि के प्रयत्न से आयेगा। इस पर कहते हैं कि कवि के प्रयत्न से युक्त (उचित) नेताओं के विधि के आश्रय से धीरोदात्तादि विभिन्न नायकों के मध्य जो नायक जहाँ उचित है, उसकी जो विधि अर्थात् नायक द्वारा सम्पाद्य वस्तु है उसका अपाश्रय करके किये गये कवि के प्रयत्न रूप कारण (हेतु) से वह फल प्रमुख है। जिस विधि में जो नायक उचित है उसका मुझे ऐसा करना चाहिए, इस प्रकार के अभिसन्धान के अभाव में भी उस नायक की सन्निधि में करणीय फल नायकत्व के विना कैसे होगा। जैसे, तापसवत्सराज में अमात्य के द्वारा अभिसंहित राज्यप्रत्यापत्ति वत्सराज को अवश्य करणीय है। अतः 'उसका यह नेता है' और अमात्य के द्वारा सम्पादित अभिसन्धि के प्रति उपाय परम्परा से अर्जित फल का आक्रष्टा भी है।

अब प्रश्न होता है कि इस प्रकार भी राम का अपनी दारा का प्रत्यानयन (लौटा लेना), कण्टक का उद्धरण, भीत (डरे हुए) को अभय प्रदान आदि सब जगह कर्त्तव्यों का औचित्य है, फिर भी लक्षण व्यवस्थित नहीं हुआ। इसलिए कहते हैं कि 'फलस्य च'। यहाँ चकार से 'समुत्कर्षात्' की आवृत्ति द्योतित होती है। इससे इसका यह अर्थ है कि जो यह फल है जितने अंश में अधिक उत्कर्ष का अवलम्बन होता है, अतः उतने अंश में ही कवि उसके औचित्य की कल्पना करे।

तथा हि—रावणोच्छेदावधि सीताप्रत्यानयनमेव समुत्कृष्टं भवति, तस्यैव सम्पादनायेतरप्रवृत्तिः, सचिवायत्तसिद्धिस्तु यतो वत्सराजस्ततो यौगन्धरायणाद्यमात्यवर्गस्तावानसाविति तदामात्याद्यभिसंहितराज्यप्राप्तिफलस्यैव-तत्रोत्कर्षः। सह्येवं मन्यते—राज्यभारचिन्ता एतैर्या कृता सा मयैवेति। एवमाधि-कारिकं हृदयविपरिवर्तमानं समुचितं च नायकस्य फलं यद्यदा कविप्रयत्नेन विवक्ष्यते सम्पाद्यतया तदा तस्यप्रधानफलत्वं, रामाभ्युदयादौ सीताप्रत्यानयनादेरिव, न हि तत्राश्वमेधयागादेर्नायकोचितस्य कविविवक्षितत्वमस्ति।

नन्वेवमपि कविविवक्षैव पुनरपि प्रधानीभूता तत्र चोक्तो नियमहेत्वभाव इति तत्राह विध्यपाश्रयाविति। विधीयत इति विधिः सम्युत्पत्तिः तस्यापाश्रयात्। एतदुक्तं भवति—यादृशि पुरुषार्थे व्युत्पत्तिः कर्तव्या। तदुचितनायकग्रहणेन कविः प्रवर्तमानो न स्वेच्छया प्रवृत्तो भवतीति। हि शब्देन समुच्चयाभिधायि-नैतत्सूचितं—विध्यपाश्रयाद्युक्ता ये नेतारस्तेषां यत्फलं तस्योत्कर्षार्थः कवेः प्रयत्नः ततः फलप्राप्तिः समुत्कर्षावलम्बिनी कल्प्यत इति तात्पर्यम्।

और भी रावण के उच्छेद (विनाश) पर्यन्त सीता का प्रत्यानयन (लौटाकर लाना) ही उत्कृष्ट वृत्त है। इसी के सम्पादन के लिए अन्य प्रवृत्ति होती है। सचिवायत्तसिद्धि तु जहाँ वत्सराज हो वहाँ यौगन्धरायण आदि अमात्यवर्ग है तो वहाँ यौगन्धरायण आदि अमात्यवर्ग द्वारा अभिसंहत राज्यप्राप्ति रूप फल का ही उत्कर्ष है, वह वत्सराज ऐसा मानते हैं, कि जो राज्य भार की चिन्ता इन अमात्यों ने की है, वह मैंने ही की है। इस प्रकार अधिकाधिक हृदयपरिवर्त्तन उचित है, ऐसा नाटक का फल जब कवि के द्वारा प्रयत्न से सम्पाद्य रूप से विवक्षित है, तो उसकी प्रधान फलता है जैसे रामा-भ्युदय में सीता का प्रत्यानयन आदि। यहाँ पर अश्वमेधादि यज्ञ नायक के लिए उचित है, तो भी कवि को विवक्षित है।

अब प्रश्न होता है कि इस प्रकार फिर भी यदि कवि की विवक्षा ही प्रधानभूत है। जहाँ पर नियम के हेतु का अभाव कहा गया है, उस पर कहते हैं कि वहाँ विधि के आश्रय से हेतु लाया जायेगा। जिसका विधान किया जाय

लौकिको[1] सुखदुःखाख्या यथावस्था रसोद्भवा ।
दशधा मन्मथावस्था व्यवस्था त्रिविधा मता ॥ ६ ॥

वह विधि है, यह इसकी व्युत्पत्ति है, उसके उस विधि के अपाश्रय से। यहाँ यह कहा गया है कि जिस प्रकार के पुरुषार्थ में व्युत्पत्ति करनी है उसी के योग्य नायक के ग्रहण करने से कवि प्रवृत्त होता है, अपनी इच्छा से प्रवृत्त नहीं होता। वहाँ पर समुच्चय को कहने वालों 'हि' शब्द से यह सूचित किया है विधि के अपाश्रय से युक्त जो नायक हैं और उनका जो फल है उसके उत्कर्ष के लिए जो कवि का प्रयत्न है, उससे समुत्कर्षावलम्बिनी फल की प्राप्ति की कल्पना की जाती है, यह अभिप्राय है ॥ ५-६ ॥

अनुवाद—जैसे लौकिक सुखःदुःख रूप अवस्थाएँ होती है उसी प्रकार श्रृङ्गार रस से उद्भूत काम की दश अवस्थाएँ होती हैं और उनकी व्यवस्था तीन प्रकार की होती है ॥ ६ ॥

विशेष—मन्मथावस्था-काम से मन्मथ, मदन, मार, कन्दर्प, अनङ्ग, पञ्चसायक आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इनमें 'मन्मथ' काम का हो एक नाम है। मन को मन्थन करने के कारण काम को मन्मथ भो कहते हैं।

काम—काम चार पुरुषार्थों में एक पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ हैं। त्रिवर्गों में एक वर्ग है। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग हैं। इनमें काम प्रमुख है। काम समस्त सृष्टि का बीज है। काम एक कला है। काम एक मानव व्यापार है, एक रागात्मिका वृत्ति है। नाट्यशास्त्र में काम-प्रवृत्तियों पर सूक्ष्म विचार किया गया है। प्रवृत्ति के अनुसार भरत ने काम को दस अवस्थाएँ बतायो हैं। काम को दस अवस्थाएँ है—(१) चक्षुःप्रीति, (२) मनःसङ्ग (३) संकल्प (४) निद्राच्छेद (५) तनुता (६) विषयव्यावृत्ति (७) लज्जाप्रणाश (८) उन्माद (९) मूर्च्छा (१०) मरण।

नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथसंकल्पः।
निद्रोच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता स्मरदशा दशैव स्युः ॥

---

१. ख. ग. लौकिकसुखदुःखाख्या।

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः [1]कारणस्य यः ।
तस्यानुपूर्व्या[2] विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥ ७ ॥
आरम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च पञ्चमः ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ ८ ॥

अथ कविप्रयत्नेन साध्ये व्यापारपरिस्पन्दो यो वाङ्मनसगस्तस्य या अवस्था आनुपूर्व्येति उद्देशक्रमेणैव प्रयोक्तृभिः कविभिर्निबन्धनीयतया ज्ञातव्याः ता उद्दिशति प्रारम्भश्चेति । चकारैस्तथाशब्देन चावश्यंभाविक्रमत्वमासामुच्यते । न हि प्रेक्षापूर्वकारिणोऽवस्थान्तरासम्भावनायां प्रारम्भ उचितो भवति, तत्प्रारम्भश्चेदुत्तरोत्तरावस्थाप्रसर एव । पञ्चम इत्यनेन क्रमो विवक्षित इति दर्शयति ।

अनुवाद—साध्य फल के योग में कारण (साधक) का जो व्यापार है। नाट्य-प्रयोक्ताओं को उसकी पाँच अवस्थाओं को क्रमशः समझनी चाहिए ॥ ७ ॥

अनुवाद—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति-सम्भव, नियतफलप्राप्ति पाँचवां फलयोग (फलागम) ये पाँच अवस्थाएँ है ॥ ८ ॥

अभिनव—कवि के प्रयत्न से साध्य फल के विषय में वाङ्मनोगोचर जो व्यापार परिस्पन्द होता है, उसकी जो अवस्थाएँ हैं उन्हें आनुपूर्वी उद्देशक्रम से काव्य-प्रयोक्ताओं कवियों को काव्य में निबन्धन करने के लिए उनका ज्ञान होना चाहिए। उन्हें उद्देश-क्रम से कहते हैं कि प्रारम्भश्चेत्यादि में कथित चकारों से और 'तथा' शब्द से इन अवस्थाओं को अवश्यभावि क्रम से कहते हैं कि प्रेक्षापूर्वक कार्य करने वालों को अन्य अवस्थाओं की सम्भावना न होने पर प्रारम्भ करना उचित नहीं है। यदि उसे प्रारम्भ करना है तो उत्तरोत्तर अवस्थाओं का प्रसार करना होगा। 'पञ्चमः' इस कथन से क्रम विवक्षित है, यह दिखाते हैं ॥ ७-८ ॥

---

१. ख. ग. साधकस्य ।
२. ख. तस्यानुपूर्व्याविज्ञेयाः ।
३. इतः पूर्वं ख. ग. पुस्तकयोरधोलिखितः श्लोकोऽधिको दृश्यते—

नाट्यप्रकरणा भावा अवस्थास्ता मता इह ।
धर्मार्थकामसम्बन्धः फलयोगस्तु कथ्यते ॥

औत्सुक्यमात्रबन्धस्तु[1] यद्बीजस्य निबध्यते ।
महतः फलयोगस्य स [2]फलारम्भ इष्यते ॥ ९ ॥

एताः क्रमेण दर्शयितुमाह—औत्सुक्यमात्रबन्धस्त्विति ।

महतः प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचितस्य यद्बीजमुपाय-सम्पत् तस्य यदौत्सुक्यमात्रं तद्विषयस्मरणोत्कण्ठानुरूपं, अनेनोपायेनैतत् सिद्ध्यतीति तस्य बन्धो हृदये निरूढिः प्रारम्भः, सा च नायकस्यामात्यस्य नायिकायाः प्रति-नायकस्य दैवस्य वा । तस्या हि तथैवानुमानाद् व्यवस्था । दैवसाध्यमपि च समुद्र-दत्ताभिमतप्राप्त्यादिकं[3] पुण्योपार्जनं प्रयत्नबहुमानसिद्धये दैवसाहाय्यस्य पुरुष-कारस्य फलवर्तिता तद्व्युत्पत्तिलाभाय प्रदर्श्यत इति ।

विशेष—नाटक में इतिवृत्त के विकास की पाँच अवस्थायें होती हैं—आरम्भ, प्रयत्न, प्रतिसम्भव, नियतफलप्राप्ति और फलयोग । ये पाँच अवस्थायें फलप्राप्ति के लिए नायक द्वारा किये जाने वाले व्यापार विशेष हैं । उनका साक्षात् सम्बन्ध नायक के इतिवृत्त विषयक वाङ्मनोगोचर व्यापार से है । धनञ्जय, शारदातनय, विश्वनाथ आदि व्यापक व्यापार की पाँच अवस्थायें और पाँच कार्यावस्थायें कहते हैं ॥ ७-८ ॥

अब इसे क्रम से दिखाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—बीज के प्रधान फलयोग या फल प्राप्ति के लिए जो औत्सुक्य मात्र का निबन्धन किया जाता है उसे 'आरम्भ' कहते हैं ॥ ९ ॥

अभिनव—प्रधानभूत फल के लिए प्रयुज्यमान उन-उन नायकों के उचित जो बीज अर्थात् उपाय सम्पत् है उसका जो औत्सुक्यमात्र उत्कण्ठा के अनुरूप स्मरण है, इस उपाय से सिद्ध होता है । उसका बन्ध अर्थात् हृदय में निरूढि 'आरम्भ' है । वह निरूढि नायक की, नायिका की, प्रतिनायक की अथवा दैव की है । उसी के अनुगत प्रमाण से व्यवस्था होती है । दैवसाध्य भी समुद्रदत्त को अभिमत फलप्राप्ति रूप जो पुण्यार्जन है । यहाँ प्रयत्न में बहुमान की सिद्धि के लिए दैव की सहायता से युक्त पुरुषार्थ के फल की वर्तिता प्राप्ति की व्युत्पत्ति लाभ के लिए दिखाते हैं ।

---

१. क. औत्सुक्यबन्धमात्रस्तु । ग. औत्सुक्यमात्रबन्धस्य ।

२. ख. घ. खल्वारम्भः । ग. सोऽत्र प्रारम्भ इष्यते ।

३. ब्रह्मयक्षस्वामिना कृते पुष्पदूषितके षष्ठेऽङ्केनन्दयन्तीसमुद्रदत्तयोः समागमः केवलं दैवसाधित एव न तु नीतिचक्षुषा पौरुषप्रभावेण ।

अपश्यतः फलप्राप्तिं व्यापारो यः फलं प्रति ।
[1]परं चौत्सुक्यगमनं स प्रयत्नः प्रकीर्तितः ॥ १० ॥

ईषत्प्राप्तिर्यदा[2] काचित्फलस्य[3] परिकल्प्यते ।
भावमात्रेण तं [4]प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्तिसम्भवम् ॥ ११ ॥

एवमपश्यत इति तदुपायव्यतिरेकेण फलप्राप्तिमपश्यतः फलदर्शनमसंभाव्यमानं विवेचयतः फलमुद्दिश्य यो व्यापारः उपायविषयपरमौत्सुक्यगमनलक्षणं, तेन विनेदं फलं न भवति तस्मात्त स एवोपायोऽन्वेष्यः इत्युपायविषयस्मरणेच्छासन्तानस्वभावः स प्रयत्नः ।

अनुवाद—फल की प्राप्ति को न देखते हुए फलप्राप्ति के प्रति परम उत्सुकतापूर्ण जो व्यापार है उसे प्रयत्न कहते हैं ॥ १० ॥

अभिनव—इस प्रकार फलप्राप्ति के उपाय के विना फलप्राप्ति को न देखने वालों को फल का वर्शन असम्भव है, इस प्रकार विवेचना करने वाले का फल को लक्ष्य कर जो व्यापार है अर्थात् उपाय विषयक परम औत्सुक्य है अर्थात् इस उपाय के विना यह फल नहीं होगा, अतः इसी उपाय का अन्वेषण करना चाहिए। अतः उपाय विषयक स्मरण और इच्छा का क्रमशः जो स्वभाव है, वह प्रयत्न है ॥ १० ॥

विशेष—फल प्राप्ति न होने पर अथवा फल प्राप्ति को असम्भव समझकर मुख्य फल-प्राप्ति के उपाय में परम उत्सुकता पूर्ण व्यापार को 'प्रयत्न' कहते हैं। धनञ्जय, विश्वनाथ तथा नाट्यदर्पणकार मुख्यफल प्राप्ति के उपाय में अतित्वरायुक्त व्यापार को 'प्रयत्न' कहते हैं। उनके अनुसार आरम्भ में केवल उत्सुकता रहती है और प्रयत्न नामक अवस्था में परम उत्सुकता रहती है। जैसा कि कहा गया है—

"औत्सुक्यमात्रमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्नः ।"

अनुवाद—जब भाव का उपाय के द्वारा फलों की ईषत्प्राप्ति की परिकल्पना करते हैं तो विधि के जानकार लोग उसे प्राप्ति सम्भव (प्राप्त्याशा) कहते हैं ॥११॥

---

१. घ. पदं ।   २. ख. प्राप्तिश्च या ।
३. ख. ग. अर्कस्य ।
४. ख. ग. संज्ञेयो विधिज्ञैः प्राप्तिसंभवः ।

नियतां तु[1] फलप्राप्तिं यदा[2] भावेन पश्यति ।
नियतां तां फलप्राप्तिं [3]सगुणां परिचक्षते ॥ १२ ॥

ईषत्प्राप्तिरित्यादि । भवत्यस्मादिति भावः उपायः, तस्य सहकार्यन्तरयोगः प्रतिबन्धकवारणं च मात्रपदेनावधारितम् । तदयमर्थः—उपायमात्रेण लब्धेन यदा कदाचिद् विशिष्ट फलप्राप्तिरीषत् कल्प्यते संभावनामात्रेण स्थाप्यते न तु निश्चीयते तदा प्राप्तेः सम्भवः । संभावनायोग्यत्वमसंभावनाविशिष्टत्वं नाम तृतीयाकर्तुरवस्था ।

अभिनव—जिससे कार्य होता है वह भाव है अर्थात् उपाय है उसके सहायक दूसरे सहकारी का योग तथा प्रतिबन्ध का वारण (दूर होना) मात्र पद से अवधारित है अर्थात् उपाय मात्र की प्राप्ति के द्वारा जब कभी अल्पमात्रा में विशिष्ट फल-प्राप्ति की कल्पना की जाती है, सम्भावना मात्र से स्थापना (स्थापित) करते हैं, निश्चय नहीं करते हैं तब यह सम्भावना फल-प्राप्ति सम्भव है। जिसमें सम्भावना की योग्यता तथा सम्भावना की विशिष्टता कर्त्ता की तृतीयावस्था है ॥ ११ ॥

विशेष—नाटचदर्पणकार का कथन है कि जहाँ पर उपाय के द्वारा किञ्चित् फल लाभ की सम्भावना रहती है, पूर्ण निश्चय नहीं हो पाता, उसे 'प्राप्त्याशा' या 'प्राप्तिसम्भव' कहते हैं । यह तीसरी अवस्था है ।

अनुवाद—जब भाव या उपाय के द्वारा नियत (निश्चित) फल प्राप्ति दिखाई देती है तो 'विद्वान् लोग उसे 'नियतफलप्राप्ति' कहते हैं ॥ ११ ॥

---

१. ख. च ।

२. ख. ग. यत्र ।

३. ख. सगुणं तु विनिर्दिशेत् । ग. सगुणाः ।

नियतां तु फलप्राप्तिं यदेति । फलस्य प्रकर्षेणाप्तिर्यतः सहकारिवर्गः प्रतिबन्धकविध्वंसनसहितता च सामग्रीरूपतः, तां सामग्रीं, यदा तेन भावेन पूर्वोपात्ततया मुख्योपायेन नियतां नियन्त्रितां फलाव्यभिचारिणीं पश्यति तदा नियतफलप्राप्तिर्नामावस्था ।

ननु कर्तरीत्याशङ्क्याह सगुणामिति गौरी उपचरिता तस्येयमवस्था । नियतफलकर्तृविषयत्वेन नियतफलप्राप्तिशब्दो विषयविषयिणोरभेदोपचाराद् युक्त इति यावत् । अत एव पश्यतीत्यनेन दर्शनमेवावस्थेति दर्शितम् । यदि वा सहगुणेन दर्शनेन वर्तते, नियतफलप्राप्तिदर्शनं तन्नामावस्थेत्यर्थः । ये त्वकारप्रश्लेषादभावेन नियतां सन्देहमयीमिति व्याचक्षते ते नियता फलप्राप्तिः संदिग्धा चेत् कथमेतद्विरुद्धं संगच्छतामिति प्रष्टव्याः ।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि जब फल की प्राप्ति निश्चित हो, तो विद्वान् लोग उसे 'नियतफलप्राप्ति की अवस्था कहते हैं । फल की प्रकर्ष रूप से प्राप्ति तभी होती है जब सहकारिवर्ग और प्रतिबन्ध-ध्वंसन सामग्री कारण रूप में अपेक्षित हों, उसी सामग्री को जब उस भाव के द्वारा अर्थात् पूर्वोपात्त होने से मुख्य उपाय के द्वारा नियत अर्थात् नियन्त्रित फल में अव्यभिचरित सामग्री को देखता है तब 'नियतफलप्राप्ति' रूप अवस्था होती है ।

अब प्रश्न होता है कि क्या यह अवस्था कर्त्ता में होती है ? इस पर कहते हैं कि सगुणाम् अर्थात् गौणी उपचारिता यह फल की अवस्था है । नियत फल करने वाले कर्त्ता के विषय में 'नियतफलप्राप्ति' शब्द विषय और विषयी में अभेदोपचार से प्रयुक्त हैं, अत एव 'पश्यति' इस कथन से यह दिखाया गया है कि दर्शन ही यह अवस्था है अथवा दर्शन रूप गुण के साथ रहता है। अतः नियतफलप्राप्ति दर्शन उसकी अवस्था है। जो लोग यहाँ 'यदाऽभावेत' में अकार का प्रश्लेष मानकर अभाव से नियत अर्थात् सन्देहमयी इस प्रकार व्याख्या करते हैं। किन्तु यदि नियतफलप्राप्ति सन्दिग्ध है तो उनसे पूछता है कैसे इसके विरुद्ध होगा ?

अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम् ।
[1]इतिवृत्ते भवेद्यस्मिन् फलयोगः प्रकीर्तितः ॥ १३ ॥

अभिप्रेतं समग्रं चेति। यस्मिन्नितिवृत्ते कर्त्रवस्थात्मनि नायकस्याभिप्रेतं तादृशम्, अपि च नानुचितं, अपि तु प्रतिरूपमुचितं संभवात् पूर्णं क्रियाफलमिति समनन्तरफलं, न च विधिफलमिव स्वर्गादि कालान्तरापेक्षि वर्ण्यते, सावस्था नायकस्य फलयोगः फलोत्पत्तिर्नाम। तत्र सचिवामात्यादेरपि यावस्था सा वस्तुतो नायकगामिन्येव भवतीति नाटकेषु नावश्यं सर्वा नायकस्य साक्षादेवोपनिबन्धनीयाः, अपि तु सचिवादिगतत्वेनापि फलयोगस्तु साक्षादेव तद्गत इत्यभिप्रेतमित्यनेन दर्शितम्। अवस्थान्तराणि सचिवादिगतान्यपि पर्यवस्यन्ति नायकादेरेवेत्येतदेव सुकविना रत्नावल्यां "प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनः सिद्धिहेतौ" (अ-१) इति श्लोकेन प्रतिपदमुक्त्वा अस्मदभिप्रायः समुच्छ्रितेन दर्शितः ॥ १३ ॥

विशेष--भाव यह कि जहाँ पर सहकारी वर्ग के द्वारा मुख्य फलसिद्धि को उपायों के प्रतिबन्धक बाधक बाधाओं का अभाव हो और मुख्य फलप्राप्ति नियत हो अर्थात् निश्चित हो तो वहाँ 'नियतफलप्राप्ति' नामक चौथी अवस्था होती है अर्थात् प्रतिबन्धक बाधाओं का सर्वथा विध्वंस अर्थात् प्रतिबन्धक तत्त्वों का अनुकूल हो जाना तथा सहकारी वर्ग का सहयोग नियत फल प्राप्ति अवस्था है ।

अनुवाद—जिस इतिवृत्त में नायक के अनुरूप समग्र अभिप्रेत (अभीष्ट) क्रियाफल की प्राप्ति होती है उसे 'फलयोग' या 'फलागम' नामक पञ्चम अवस्था होती है ॥ १३ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि, कर्त्ता के अवस्थारूप जिस इतिवृत्त में नायक को अभिप्रेत अर्थात् अभीष्ट होता हुआ जो अनुचित नहीं है अपितु अनुरूप है (उचित है) और सम्भवतः पूर्ण क्रियाफल है, अर्थात् यह क्रियाफल क्रिया के समनन्तर प्राप्त होने वाला फल है, न कि विधि के फल के समान अर्थात् कालान्तर में मिलने वाले स्वर्गादिरूपफल के समान नायक की यह अवस्था फलयोग (फलागम) है उसमें सचिव, अमात्य आदि की जो अवस्था है वह वस्तुतः नायक-गामिनी ही होती है। फिर भी नाटकों में यह आवश्यक नहीं है कि वे सभी अवस्थायें नायक से सम्बद्ध करके

१. ख. यद्दृश्यते निवृत्ते तु फलयोगः उच्यते ।

सर्वस्यैव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
[1]एतास्त्वनुक्रमेणैव पञ्चावस्था भवन्ति हि ॥ १४ ॥

ननु मानुषव्यापारे नायकस्य तत्सचिवादेर्वा भवन्त्येता अवस्थाः, प्रतिनायकेऽप्येवं तत्र परमसदुपायापेक्षया। यत्र तु दैवायत्तं फलं वर्ण्यते, तत्र कथम्? न च वर्ण्यं पुरुषकारमात्राभिमानिनां दैवमवजानानां चार्वाकादिमतमेयुषां, स दैवबहुमानव्युत्पत्तये हि पुरुषकारोऽप्यफलः, तदभावोऽपि सफलः प्रदर्शनीयः, अत एव दरिद्रचारुदत्तादिरूपकाणि तद्विषयाणि। तस्माद्दैवायत्तत्वे कथमेतदवस्थापञ्चकम्। तत्परिहर्तुमाह—सर्वस्यैव हीति।

दिखाई जाय। अपितु सचिव, अमात्य आदि में भी इन अवस्थाओं का उपनिबन्धन करना चाहिए, किन्तु फलयोग तो साक्षात् नायकगत ही होना चाहिए, यह बात 'अभिप्रेत' पद से दिखाई गई है। सचिव, अमात्य आदि की भिन्न-अवस्थाएँ नायकादि में पर्यवसित होती हैं, यह बात भी रत्नावली में 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनः सिद्धिहेतौ:' इस श्लोक में प्रतिपद कहकर हमारे अभिप्राय को समुन्नत रूप दिखाया है ॥ १३ ॥

अभिनव—यहाँ प्रश्न होता है कि ये अवस्थायें इस मानव व्यापार में नायक अथवा उनके सचिव आदि की होती हैं। इसी प्रकार प्रतिनायक में भी ये अवस्थाएँ होती हैं, उनमें परमसत् उपायों की अपेक्षा रहती है। किन्तु जहाँ पर दैवाधीन फल वर्ण्य है वहाँ अवस्था पञ्चक की स्थिति कैसे सम्भव होगी? क्योंकि केवल पुरुषार्थ के अभिमानी दैव (भाग्य) को न मानने वाले चार्वाकादि के मत के अनुयायी लोगों के लिए यह दैवाधीन फल वर्ण्य नहीं है। दैव (भाग्य) को ही बहुत मानने वाले लोगों के लिए तो पुरुषार्थ भी निष्फल है और पुरुषार्थ का अभाव सफल दिखाना चाहिए। अतः 'दरिद्रचारुदत्त' आदि रूपक इसी विषय के हैं। इसलिए दैवाधीन व्यवस्था होने पर ये अवस्था पञ्चक कैसे होंगे अर्थात् वहाँ ये पाँच अवस्थाएँ कैसे होंगी? इसके परिहार के लिए कहते हैं—

अनुवाद—फल की इच्छा वाले नायकादि के द्वारा प्रारम्भ किये गये समस्त कार्यों की ये पाँच अवस्थायें होती हैं ॥ १४ ॥

---

१. ख. यथानुक्रमणो ह्येताः। ग. एता अनु।

दैवादागच्छतोऽपीत्यर्थः। तत्रापि हि यद्यपि नायको न यतते तथापि यत्र फलं भवति तत्रावश्यमवस्थाविभिर्भाव्यम्। स एव च परं फलेन तदानीमर्थीभवति 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते' इति हि प्रयोजनलक्षणं वदन्ति। तथा हि सेवाद्यशेषोपाय-प्रारम्भं विनानन्दसंपादनहृदय एव, अपरथा परतः प्राप्तमपि फलं नाङ्गीकुर्यात्, अनङ्गीकरणेऽपि वास्य फलार्थित्वमेवाधिकफलान्तरसन्तोषमनुप्रसिद्ध्यादिफलान्त-राभिसन्धानादिति युक्तमुक्तं मुनिना सर्वस्यैव पञ्चावस्था इति॥ १४॥

नन्वासां तावत् स्वरूपभेदः कालभेदश्च कालाभिन्नानां चैककालत्वाभावात् 'संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य' च इति (१९-७) यदुक्तं तत् कथम्, किं च फलयोगे साध्ये च तत्रावस्था कारणस्येति पञ्चेतीहावस्था फलयोग एव, न तु सा कदाचिदन्येत्याशङ्क्याह—

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ 'सर्वस्य' पद से दैवागत कार्य की भी ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं यह बताया गया है। वहाँ पर यद्यपि नायक प्रयत्न नहीं करता, फिर भी वहाँ पर फल होता है। वहाँ भी पञ्च अवस्थाएँ अवश्य होंगी, इस समय वहाँ पर वही फल का अर्थी (फल का इच्छुक) होता है। क्योंकि 'जिस अर्थ के लिए प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है। इस प्रकार प्रयोजन का लक्षण कहते हैं। वह प्रयोजन भी सेवा आदि उपायों के प्रारम्भ के विना नहीं हो सकता, क्योंकि आनन्द-सम्पादन में हृदय ही वहाँ होता है, अन्यथा परतः प्राप्त फल को भी वह स्वीकार नहीं करेगा, अथवा अङ्गीकार न करने में उसका यह अङ्गीकार अभिप्राय हो कि फल अपूर्ण है। इससे अधिक फल प्राप्त होने पर सन्तोष होगा, क्योंकि प्रसिद्धि आदि अन्य फलों की प्राप्ति की भी कामना करते हैं, ऐसा जो भरतमुनि ने कहा है वह ठीक ही कहा है कि सभी की पाँच अवस्थाएँ होती हैं॥ १४॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि इन अवस्थाओं में स्वभाव स्वरूप का भेद और काल का भेद भी है, क्योंकि कालभेद होने पर एककालिकता इसमें नहीं होगी। ऐसी स्थिति में 'संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य यः' अर्थात् उसकी पाँच अवस्थायें होती है, यह जो कहा गया है, वह कैसे कहा गया है? क्योंकि यहाँ साध्य फल के योग में कारण की जो पाँच अवस्थायें कही है वह काल भेद ही है। वे कभी भी अन्यथा नहीं हो सकते। इस प्रकार शङ्का करके कहते हैं—

[1]आसां स्वभावभिन्नानां परस्परसमागमात् ।
[2]विन्यास एकभावेन फलहेतुः प्रकीर्तितः ॥ १५ ॥

आसां स्वभावभिन्नानामिति स्वभावभेदे तु कालभेदोऽप्युपलक्ष्यते, स्वभावभेदे दिक्काले दण्डचक्रादिभिरेकफलसंपादना, तेन कालभिन्नानामपि, आसां परस्परमन्योन्यं संगत्या नान्तरीयकत्वेन यदागमनं तदवलम्ब्य यो विन्यासो यत्फलभेदः[3] तत आद्यन्तावकर्षणं निश्चितोत्तरोत्तरकार्याणां कारणकारणानामपि हेतुत्वानपायाविति भावः ।

यच्चोक्तं फलयोगे कथं फलयोगान्तरमिति तत्राप्याह एकभावेन फलहेतुरिति । एकभावः संबन्धः । तेनायं भावः—फलस्योत्पत्त्यवस्था एका नायकेन सह संबद्धा, द्वितीया येयं संसाध्ये फलयोग इत्यत्र निर्दिष्टा, पूर्वा त्ववस्था मध्यत्रयेण युज्यमाना योग्यफलोत्पत्तिदर्शना पञ्चम्यवस्थेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अनुवाद—स्वभाव से भिन्न इन अवस्थाओं का परस्पर के समागम (सङ्गति) एकभाव से विन्यास है, उसे फल का हेतु कहा गया है ॥ १५ ॥

अभिनव—यहाँ स्वभाव भेद होने पर कालभेद भी उपलक्षित होता है। स्वभावभेद, दिग्भेद और कालभेद होने पर भी दण्ड, चक्र और चीवर आदि के द्वारा मृत्तिका में घटरूप एक फल का सम्पादन होता है। इससे स्वभाव के भेद होने से कालभेद भी मान लेना चाहिए। इन अवस्थाओं की परस्पर संगति से निश्चित रूप से जो एकभाव में आगमन है उसका अवलम्बन कर जो विन्यास है, जो फल का हेतु है। इससे आरम्भ और अन्तिम अवस्थाओं के अवकर्षण से निश्चित रूप से उत्तरोत्तर कार्यों के कारणों और उनके भी कारणों में (अर्थात् कारणों और कारणों के कारणों में) हेतुत्व का अनपाय अर्थात् हेतुत्व स्थित (वर्तमान) हैं।

---

१. ग. तासां ।

२. ख. विन्यासः फलभावेन फलाय परिकल्प्यते ।

३. क. हेतु ।

[1]यद्वृत्तं [2]यदाख्यातं [3]प्रत्यगेवाधिकारिकम् ।
[4]तदारम्भादि कर्तव्यं [5]फलान्तं च यथा भवेत् ॥ १६ ॥

एवमवस्थापञ्चकं प्रदर्श्य तदनुयायित्वेनेतिवृत्तस्याधिकारिकत्वं समर्थयितुमाह—

यद्यस्माद्यत् कर्तव्यं कार्यं वस्त्वारम्भादि फलान्तं च तदिति तस्मात्तदवस्थानुयायित्वेनाधिकृतत्वादाधिकारिकमुच्यते । चस्तुशब्दस्यार्थं यथा तु तदितिवृत्तशब्दवाच्यं भवेत् तथा प्राक् सम्यगाख्यातमितिशब्दार्थमिति निरूपणेन 'पञ्चभिः सन्धिभिस्तस्य विभागः' इत्यनेनैतच्च तद्गतवक्तव्यान्तरोपक्षेपाय पुनरभिहितम् ॥ १६ ॥

और जो कहा गया है कि एक फल के योग में दूसरे फल का योग कैसे ? इस सम्बन्ध में भी कहते हैं कि एक भाव से फल का हेतु है। यहाँ एकभाव का अर्थ सम्बन्ध है। इसका यह भाव है—फल की उत्पत्ति रूपा एक अवस्था नायक के साथ सम्बन्ध है, दूसरी अवस्था 'संसाध्ये फलयोगः' में निर्दिष्ट है। इनमें पहली अवस्था का मध्य की तीन अवस्थाओं से योग होने पर योगफलोत्पत्ति दर्शन रूप पाँचवीं अवस्था है ॥ १५ ॥

इस प्रकार अवस्थापञ्चक को दिखलाकर तदनुयायी रूप से इतिवृत्त की आधिकारिकता का समर्थन करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—जिस अधिकारिक इतिवृत्त का भले ही वर्णन किया जा चुका है उन आरम्भादि अवस्थाओं का इस प्रकार वर्णन करना चाहिए जिससे अन्त में फल की प्राप्ति हो जाय ॥ १६ ॥

अभिनव—क्योंकि आरम्भ से फलपर्यन्त जो वस्तु (इतिवृत्त) कर्त्तव्य (करणीय) है इसलिए वह इतिवृत्त उन-उन अवस्थाओं के अनुगामी के रूप में अधिकृत होने से 'आधिकारिक' इतिवृत्त कहा जाता है। यहाँ 'च' शब्द 'तु' के अर्थ में है। अतः जिस प्रकार वह वस्तु इतिवृत्त शब्द से वाच्य हो, उस प्रकार इति शब्दार्थ को निरूपण के द्वारा उसे पहिले ही सम्यक् प्रकार से कह दिया है। पाँच सन्धियों में उसका विभाग इससे तो तद्गत (उसमें रहने वाले) वक्तव्यान्तर का उपक्षेप करने के लिए फिर कह दिया है ॥ १६ ॥

---

१. ग. इतिवृत्ते । २. ख. यथाख्यातं । ग. समाख्यातं ।
३. ख. ग. पुरस्तादाधिकारिकम् । ४. क. कविना तत्र कर्तव्यं । ५. ख. फलाग्नि ।

[1]पूर्णसन्धि च कर्तव्यं हीनसन्ध्यपि वा पुनः ।
[2]नियमात् पूर्णसन्धि स्याद्धीनसन्ध्यथ कारणात् ॥ १७ ॥

ननु किं सर्वत्र पञ्चैव सन्धय इत्याह—

विकल्पः सर्वत्रेति कश्चिदाशङ्कते तं प्रत्याह नियमादिति । उत्सर्गेणेति केचित् । उपाध्यायास्त्वाहुः—सर्वत्रेतिवृत्तं पञ्चसन्ध्येव, न हि कश्चिदपि व्यापारो प्रारम्भाद्यवस्थापञ्चकं विना सिद्धयेत्, न शक्यमूनीकर्त्तुं वा । उक्तं च—

सर्वस्यैव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
एतास्त्वनुक्रमेणैव पञ्चावस्था भवन्ति हि ॥ इति (१९-१४)

अब प्रश्न होता है कि क्या सभी जगह पाँच ही सन्धियाँ होती हैं ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—रूपकों में इतिवृत्त में पूरी सन्धियों को करना चाहिए अथवा इसमें कुछ सन्धियाँ कम भी हो सकती हैं, उसमें नियमानुसार सभी सन्धियाँ होनी चाहिए, किन्तु विशेष कारण से कुछ सन्धियों की हीनता (कम) भी हो सकती है ॥ १७ ॥

अभिनव—यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सभी जगह पाँच ही सन्धियाँ होती है ? इस पर कहते हैं कि सन्धियाँ तो सर्वत्र पूरी पाँच ही होनी चाहिए, किन्तु कहीं कम भी हो सकती हैं ? तो क्या सभी जगह विकल्प भी हो सकता है ? तो इस प्रकार जो कोई आशङ्का करते हैं, उसके प्रति कहते हैं कि नियमतः तो पूरी पाँच सन्धियाँ होनी चाहिए, किन्तु कुछ लोग अपवाद से कहते हैं ।

हमारे उपाध्यायजी भट्टतौत का कहना है कि सर्वत्र इतिवृत्त पाँच सन्धियों से युक्त होता है, क्योंकि कोई भी व्यापार (कार्य) आरम्भ आदि पाँच अवस्थाओं के बिना सिद्ध नहीं हो सकता, अथवा कम करना भी शक्य नहीं होता है । जैसा कि कहा गया है कि—

"फल को चाहने वालों के द्वारा प्रारम्भ किये गये सभी कार्यों की क्रमशः पाँच अवस्थाएँ होती है ।" (१९।१४)

---

१. ख. पूर्णसन्ध्यपि यत्कार्यं । ग. तत्कार्यं ।
२. ग. सन्धिस्तु ।

[1]एकलोपे चतुर्थस्य द्विलोपे त्रिचतुर्थयोः ।
[2]द्वितीयत्रिचतुर्थानां त्रिलोपे लोप इष्यते ॥ १८ ॥

अवस्थापञ्चकानुयायिना सन्धिपञ्चकेनापि भाव्यमेव, तेन सर्वं नियमात्पञ्च सन्धि, हीनसन्धित्वं तु तत्र कारणादपूर्णाङ्गत्वलक्षणादुच्यते, अत एव पूर्णसन्धीति व्यपदिश्यते इत्यपिशब्देन चोक्तं 'हीनसन्ध्यपि वा पुनः' इति ॥ १७ ॥

'डिमः समवकारश्च चतुस्सन्धी' इति वक्ष्यते, तत्रावमर्शस्य लोपः । 'व्यायोगेहामृगौ चापि सदाकार्यौ त्रिसन्धिकौ' इत्यत्र गर्भविमर्शयोर्लोपः । 'द्विसन्धि तु प्रहसनं वीथ्यङ्को भाण एव च' तत्र प्रतिमुखगर्भविमर्शानां लोपः, त्रिशब्देन (द्वितीयत्रिचतुर्थानामित्यत्र) तृतीयो लक्ष्यते । तत्रोपक्रमोपसंहारौ तावत् सर्वत्रावश्यंभाविनौ । तत्र तु ये प्रेक्षापूर्वकारिणो विततं बहुफलं कर्तव्यमारभन्ते तेषां पञ्चैव सन्धयः ।

पाँच अवस्थाओं के अनुरूप पाँच सन्धियाँ होनी ही चाहिए। इसलिए सब नाटकों में नियमतः पाँच सन्धियाँ होती हैं, किन्तु किसी कारणवश अङ्गों की अपूर्णता के कारण हीनसन्धियाँ (कम सन्धियाँ) भी हो सकती हैं। इसलिए रूपकों को पूर्ण सन्धि कहते हैं, यह 'हीनसध्यपि' में कथित 'अपि' शब्द के द्वारा कहा गया है ॥ १७ ॥

अनुवाद—पाँच सन्धियों में एक सन्धि का लोप होने पर चतुर्थ (अवमर्श) सन्धि का, दो सन्धियों के लोप होने पर तीसरी (गर्भ) और चौथी (अवमर्श) सन्धि का, तीन सन्धियों के लोप होने पर द्वितीय (प्रतिमुख) तृतीय (गर्भ) और चतुर्थ (अवमर्श) सन्धि का लोप इष्ट है ॥ १८ ॥

अभिनव—डिम और समवकार चार सन्धियों वाला कहा गया है, इसमें अवमर्श (विमर्श) सन्धि का लोप होता है। इसी प्रकार व्यायोग और समवकार को तीन सन्धियों वाला कहा गया है, यहाँ गर्भ और अवमर्श सन्धि का लोप होता है। प्रहसन, वीथी, अङ्क तथा भाण में दो सन्धियाँ होती हैं, इनमें प्रतिमुख, गर्भ और अवमर्श सन्धियों का लोप होता है। यहाँ त्रि शब्द से तृतीय आक्षिप्त होता है। इन सन्धियों वाले रूपकों में उपक्रम और उपसंहार तो सर्व जगह अवश्य होंगे। उनमें जिन रूपकों में प्रेक्षापूर्वक विस्तृत और बहुफल वाले कर्त्तव्य का आरम्भ करते हैं वहाँ पाँच ही सन्धियाँ होती हैं।

---

१. ग. चतुर्थस्यैकलोपे तु । २. क. द्वितीयचतुर्थानां ।

प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न ह्येष नियमो भवेत् ।
यद्वृत्तं [1]सम्भवेत्तत्र तद्योज्यमविरोधतः ॥ १९ ॥

आर्तिसहिष्णुत्वेन शंक्यमानविरुद्धप्रत्ययस्यापाकरणे "द्वौ प्रतिषेधौ विधिं द्रढयतः" इति न्यायात् सुदृढो हि भवत्येषां फलयोगः। डिमादिनायकास्त्वत्युद्धतप्रायत्वान्नातीव विनिपातमाशङ्कन्ते । व्यायोगादिनायका अपि तारतम्येन फलयोगाङ्गीभावान्नाद्रियन्ते प्रहसनादिनायकास्त्वधर्मप्रायत्वात्तदितिवृत्तस्य चर्वितशरीरत्वादुपक्रमोपसंहारमात्रे विश्राम्यन्तीत्यपूर्णा अवमर्शादयः ॥ १८ ॥

एवं पञ्चभिरितीति वृत्तशब्दे यस्य होतिशब्दो व्याख्यातः सोऽनेन निर्वाहितार्थः, प्रासङ्गिके तु क इतिशब्दस्यार्थं इति वर्शयति प्रासङ्गिक इति।

अभिनव—आर्ति अर्थात् पीड़ा के सहिष्णु होने के कारण शंकनीय विषय के विरुद्ध प्रत्यय (ज्ञान) के अपाकरण करने पर 'दो प्रतिषेध विधि को दृढ़ करते हैं,' इस न्याय से इनके फलों का योग दृढ़ होता है। डिम आदि के नायक तो अत्यन्त उद्धत प्राय होने से थोड़े में ही विनिपात (विनाश) की आशङ्का करने लगते हैं। व्यायोग आदि के नायक भी तारतम्य से फलयोग में अङ्गीभाव का आदर नहीं कराते। प्रहसन आदि के नायक तो अधर्मप्राय होते हैं, इसलिए इतिवृत्त चर्वित शरीर होने से उपक्रम और उपसंहार मात्र विश्राम करते हैं। इस प्रकार अवमर्श आदि सन्धियों से रहित होने के कारण वे अपूर्ण होते हैं ॥ १८ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि इस प्रकार इतिवृत्त शब्द में 'इति' शब्द का अर्थ 'पञ्चभिः' इत्यादि के द्वारा व्याख्यात कर दिया है, उसी का इसके द्वारा निर्वाह किया गया है, किन्तु प्रासङ्गिक 'इति' शब्द का अर्थ दिखाते हैं—'प्रासङ्गिके इति' ।

अनुवाद—प्रासङ्गिक इतिवृत्त में यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि वह परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए होता है, जो वृत्त जहाँ सम्भव हो सके, वहाँ निर्विरोध उसकी योजना करनी चाहिए ॥ १९ ॥

१. ख. ग. तु भवेत् तत्र संयोज्यमविरोधतः ।

इतिवृत्ते [1]यथावस्थाः पञ्चारम्भादिकाः स्मृताः ।
अर्थप्रकृतयः [2]पञ्च तथा बीजादिका अपि ॥ २० ॥

नियमो य उक्तो नियमात्पूर्णसन्धि स्यादित्यादि स तत्र न भवेत्, विभीषण-प्रतिष्ठापनविषये रामस्य चेवौत्सुक्यबन्धादि योज्येत तर्हि तदेव यत्नसंपाद्यं भवेत्। परामृशति यद्वृत्तमिति तत्राविकारिके यदविरुद्धमत्र प्रासङ्गिके सम्भवि वृत्तं प्रारम्भेष्वन्यतमं च तदेव प्रासङ्गिके योजनार्हमिति ॥ १९ ॥

ननूक्तं 'औत्सुक्यमात्रबन्धस्तु यद्बीजस्य' इत्यादि तत्र चोपायतत्सहकारिवर्ग-प्रतिबन्धत्वं तद्विध्वंसनं चोपक्षिप्तं तत्र तत्स्वरूपं न ज्ञातमित्युपायसामग्रीस्वरूपं दर्शयितुमाह—इतिवृत्ते यथावस्था इति ।

अभिनव—नियमानुसार रूपकों में सम्पूर्ण सन्धियाँ होती हैं, ऐसा जो नियम कहा गया है, वह नियम प्रासङ्गिक इतिवृत्त में नहीं है। जैसे—विभीषण की प्रतिष्ठा के विषय में यदि राम के औत्सुक्य के बन्ध की योजना होगी तो वही प्रयत्न सम्पाद्य होगा। अब इसके विषय में परामर्श करते हैं, कि जिस इतिवृत्त का इस आधिकारिक इतिवृत्त के साथ विरोध नहीं है, इतिवृत्त इस प्रासंगिक इतिवृत्त को सम्भव हो तो प्रारम्भादि में से किसी एक की प्रासंगिक इतिवृत्त में योजना कर देनी चाहिए ॥ १९ ॥

अब प्रश्न होता है कि जो आपने कहा था कि 'बीज के औत्सुक्य रूप में जिसका निबन्ध करते हैं, इत्यादि वहाँ उपाय और उसके सहकारी वर्ग तथा उसका प्रतिबन्धक और विध्वंसन का उपक्षेप किया, किन्तु उसके स्वरूप को नहीं बताया, इस प्रकार उपाय सामग्री स्वरूप को दिखाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—इतिवृत्त में जिस प्रकार आरम्भ आदि पाँच अवस्थायें होतो हैं, उसी प्रकार बीज आदि पाँच अर्थप्रकृतियाँ भी होती हैं ॥ २० ॥

---

१. ख० घ. पदावस्थाः ।

२. ख. चासां पञ्च ।

इतिवृत्तविषये यथा येन प्रकारेणाधिकारिकस्य खण्डनलक्षणेन पञ्चावस्था उक्ताः तेनैव प्रकारेणार्थप्रकृतयोऽपि पञ्चैव पठ्यन्ते। तदनभिधाने उपायादिस्वरूपापरिज्ञानात् प्रारम्भाद्यवस्थानां परमार्थतोऽसंवेदने आधिकारिकस्वमविदितं स्यात्। यत्रार्थः फलं तस्य प्रकृतय उपायाः फलहेतव इत्यर्थः। तत्र जडचेतनतया द्विधाकरणं, जडश्च मुख्यकारणभूतः, गूढतरो वा, आद्यं बीजं द्वितीयं कार्यं करणीयं प्रयोक्तव्यमित्यर्थे। चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च, अन्त्योऽपि द्विधा स्वार्थसिद्धिसहिततया परार्थसिद्ध्या युक्तः शुद्ध्यापि च[1], तत्राद्यो बिन्दुः द्वितीयः पताका तृतीयः प्रकरी। तदेतैः पञ्चभिरुपायैः पूर्णफलं निष्पाद्यते ॥ २० ॥

अत एवाह—ज्ञात्वा योज्या यथाविधि इति तासामौद्देशिकोक्तिवदुपनिबन्धक्रमनियम इत्यर्थः।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि इतिवृत्त के विषय में जिस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त को अलंकृत करने के लिए पाँच अवस्थायें कही गई हैं उसी प्रकार यहाँ पाँच अर्थप्रकृतियाँ भी कही गई हैं। क्योंकि उनके विना उपायादि के स्वरूप का ज्ञान भी नहीं हो सकता और प्रारम्भ आदि अवस्थाओं का परमार्थतः ज्ञान न होने पर आधिकारिक इतिवृत्त का पूर्ण ज्ञान भी नहीं होगा। अतः जहाँ अर्थ (प्रयोजन) फल है और उसकी प्रकृति उपाय है, अर्थात् फल के हेतु हैं। वहाँ जड़ और चेतन रूप से दो प्रकार का होता है। इनमें जड़ उपाय दो प्रकार का होता है—एक मुख्यकारणभूत और दूसरा गूढ़तर होता है। इनमें प्रथम बीज और दूसरा कार्य अर्थात् करणीय प्रयोक्तव्य है। चेतन उपाय भी दो प्रकार का होता—(१) मुख्य और (२) उपकरणभूत। इनमें द्वितीय उपकरणभूत चेतन तीन प्रकार का होता—(१) स्वार्थसिद्धि से युक्त (२) स्वार्थ सिद्धि सहित परार्थसिद्धि से युक्त और (३) शुद्ध। इनमें पहला बिन्दु है, दूसरा पताका और तीसरा प्रकरी। इस प्रकार इन पाँच उपायों से पूर्ण फल निष्पन्न होता है ॥ २० ॥

इसलिए कहते हैं कि इनकी योजना यथाविधि समझकर करनी चाहिए। इनमें नाम मात्र से वस्तु संकीर्तन रूप उद्देश क्रम के समान नियमानुसार उपनिबन्धन में भी क्रम होना चाहिए।

१. क. शुद्धयेति केवलपरार्थसिद्धयेत्यर्थः।

[1]बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ॥ २१ ॥
[2]स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति[3]।
फलावसानं यच्चैव[4] बीजं तत्परिकीर्तितम्[5] ॥ २२ ॥

अन्ये त्वाहुः—अर्थस्य समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरणान्यवयवार्थखण्डा इत्यर्थप्रकृतयः—एतच्च व्याख्यानं नातीव प्रकृतं पोषयति। सन्ध्यादीनामपि चार्थप्रकृतित्वमत्र व्याख्याने स्यात्, इतिवृत्तमेव च समुदायरूपम्। अर्थे इतिवृत्ते प्रकृतय इति वक्तव्येऽर्थग्रहणमतिरिक्तं स्यात्, इत्यवस्थाभिश्च तुल्यतावर्णनं वर्णनमात्रं स्यादिति किमनेन।

तदेतत्पञ्चकमुद्देशक्रमेण लक्षयति स्वल्पमात्रमिति।

अन्य लोग तो कहते हैं कि अर्थ प्रकृति शब्द का अर्थ है समस्त रूपकों के वाच्यार्थ की प्रकृति, प्रकरण अर्थात् अवयव या खण्ड। किन्तु ऐसा व्याख्यान प्रकृत का अधिक पोषक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के व्याख्यान करने पर सन्धि आदि भी अर्थ प्रकृतियाँ हो जायगी अर्थात् सन्धि और अर्थप्रकृति का का स्वरूप स्पष्ट नहीं रहेगा। क्योंकि इतिवृत्त ही समुदाय रूप होता है अर्थात् सन्धियों का समुदाय ही इतिवृत्त है। अतः अर्थ इतिवृत्त है। में प्रकृतियाँ हैं, ऐसा कहने पर अर्थप्रकृति में 'अर्थ' पद का ग्रहण अतिरिक्त हो जायगा। इस प्रकार अवस्थाओं के साथ समानता का कथन (वर्णन) इतिवृत्त का वर्णनमात्र होगा, इससे क्या होगा ? ॥ २१ ॥

अनुवाद—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ हैं। रूपक में इनकी योजना यथाविधि (नियमानुसार) करनी चाहिए ॥ २१ ॥

अब उद्देश क्रम से पाँचों अर्थ प्रकृतियों का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—जो प्रारम्भ में स्वल्पमात्र में (सूक्ष्मरूप में) उपक्षिप्त होता हुआ जो उत्तरोत्तर बहुत प्रकार से विकसित होता है और जो मुख्य फल के रूप में पर्यवसित होता है, उसे 'बीज' कहते हैं ॥ २२ ॥

---

१. ख. बीजबिन्दुपताकाश्च।
२. ख. अल्पमात्रं। क. (टि॰) अल्पमात्र समुद्दिष्टं। क. (प.) अल्पमात्रमुपक्षिप्तं।
३. ख. प्रसर्पति।
४. ग. तच्चैव।
५. ख. अभिधीयते। ग. तदिह कीर्तितम्।

यद्वस्तु—सागरिकान्तःपुरनिवासेन वसन्तोत्सव समये गम्भीरप्रयोजन-संवेदनाभावात् स्वल्पमात्रमकिंचित्करप्रायं शंक्यते संवादेनोत्सृष्टं प्रक्षिप्तं यथावश्यं फलान्तं, यतो बहुभिः प्रकारैर्विसर्पत्येव, सर्वथा प्रसरति यत्तत् सिद्धिस्तत्फलमपि यदि निरुध्य फलत्वेन प्रवर्तते प्रथमप्रक्षेपेणैव देशकालौचित्यापेक्षैस्तद्बीजवन्न्यस्यार-घट्टपरिवर्तनन्यायेन बहुतरोपायपरम्परोपरि कार्यमेव यस्यापेक्ष्यं तद्बीजम्। यद्य-स्मात्परितः समन्तात्कीर्तितं प्रसिद्धम्। तच्च क्वचिदुपायमात्रं क्वचित्फलमात्रं क्वचिद्द्वयं फलं च क्वचिदुपादानं क्वचिद्धेयव्यसनविवर्तनं क्वचिदुभयमिति। तत्रापि क्वचिन्नायकोद्देशेन क्वचित्प्रतिनायकाश्रयेणेत्यादिभेदैर्बहुधा भिद्यते। तत्र चक्रवर्तिपुत्रलाभो मुनिजनाशीर्वचनद्वारेण फलस्वभावस्यैवाभिज्ञानशाकुन्तले। फलमपि च भविष्यदुपायाविनाभावाद् बीजमित्युच्यते। एवमन्यत्रापि यथायथ-मुदाहार्यम्। आनन्त्याद् ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रतिविशं लिखितम्।

अभिनव—बसन्तोत्सव के समय सागरिका का अन्तःपुर में निवास किसी गम्भीर प्रयोजन के संवेदन के अभाव के कारण स्वल्प मात्रा में अकिञ्चित्कर रूप में फलपर्यन्त शङ्क्यमान संवाद के द्वारा उत्सृष्ट कर दिया। क्योंकि बह बहुत प्रकारों से फैलता है, जो सर्वथा फैलता है, विकसित होता है, वह उसकी सिद्धि है। इस बीज का फल भी रुक रुक कर प्रवृत्त होता है। प्रथम प्रक्षेपण में देश, काल और औचित्य की अपेक्षा से उसे बीज की तरह विन्यास करके 'अरघट्ट (रहट) परिवर्त्तन' न्याय से बहुत सी उपाय परम्पराओं से करना ही है जो अवश्य अपेक्ष्य है वह बीज है, क्योंकि जो चारों ओर (सर्वत्र) कह दिया जाता है वह प्रसिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार बीज भी सर्वत्र प्रसृत होकर अङ्कुरित होता। वह कहीं उपाय मात्र है, कहीं फल मात्र और कहीं दोनों रूपों में है, उसी प्रकार फल भी कहीं उपादेय होता है, कहीं निवर्त्तनीय व्यसन के समान हेय होता है और कहीं पर दोनों प्रकार का होता है। वह उपाय और फल भी कभी नायक के उद्देश से, कहीं प्रतिनायक के आश्रय से इत्यादि प्रभेदों से अनेक प्रकार के भेदों वाला होता है, जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में मुनियों के आशीर्वाद से भरत नामक चक्रवर्ती पुत्र का लाभ! यह फल का स्वभाव है। और फल भी आगामी (भविष्यत्कालिक) उपायों के अविनाभाव सम्बन्ध से बीज कहलाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी उदाहरण देना चाहिए। आनन्त्य और ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं लिखा है॥ २२॥

प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्[1] ।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य[2] स बिन्दुः परिकीर्तितः[3] ॥ २२ ॥

अथ बिन्दं लक्षयति प्रयोजनानां विच्छेद इति ।

प्रयुज्यते फलं यैरुपायानुष्ठानैः तेषामितिवृत्तबशावश्यकर्तव्यतादिभिर्विच्छेदेऽपि सति यदनुसन्धानात्मकं प्रधाननायकगतं सन्धिद्रव्यज्ञानं बिन्दुः, ज्ञानविचारणं फल-लाभोपायत्वात् । यावदविच्छेदः प्रत्यनुसन्धानेन (न) कुतस्तावन्न किञ्चिदपि कार्यं निर्वहति ।

विशेष—बीज फलसिद्धि का मुख्य हेतु (उपाय) है । जो वृक्ष-बीज की तरह स्वल्प (सूक्ष्म) रूप में निक्षिप्त होकर अनेक प्रकार से अङ्कुरित एवं पल्लवित होकर विकसित होता हुआ फल रूप में परिणत होता है । बीज कार्य का मुख्य कारण होता है । जिस प्रकार फल प्राप्ति के लिए बोया हुआ बीज क्रमशः अङ्कुरित पल्लवित, पुष्पादि रूप में विस्तार को प्राप्त होकर महान् वृक्ष को धारण कर लेता है और अन्त में फल को प्राप्त करता है । उसी प्रकार नाटक में प्रारम्भ में निक्षिप्त बीज अनेक रूपों में विकसित होकर फल को प्राप्त होता है ।

इसके बाद बिन्दु का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—**प्रयोजन (कथानक) के विच्छेद हो जाने पर समाप्तिपर्यन्त (फलप्राप्तिपर्यन्त) उसे अविच्छिन्न बनाने का जो कारण होता है, उसे 'बिन्दु' कहते हैं ॥ २२ ॥**

अभिनव—जिन उपायों के अनुष्ठान से फल प्रयुक्त होता है उनका इतिवृत्त के कारण आवश्यकर्त्तव्यता आदि के साथ विच्छेद होने पर प्रधान नायकगत जो अनुसन्धानात्मक सन्धिगत द्रव्यों का ज्ञान है, उसे 'विन्दु' कहते हैं। क्योंकि ज्ञान होना फलप्राप्ति का उपाय है। जब तक अनुसन्धान के (प्रत्यनुसन्धान) के द्वारा अविच्छेद नहीं किया जाता तब तक कार्य का कुछ भी निर्वहन नहीं होता है ।

१. क. कारकम् ।
२. क. कार्यस्य ।
३. ख. इति संज्ञितः ।

ननु बीजं तावत् फलान्तमास्ते, बिन्दोस्तु कथं स्थितिरित्याह—यावत्समाप्तिरिति। यावत्स्वस्य बध्यमानस्य फलस्य सम्यगाप्तिस्तावत्। एतदुक्तं भवति—सकलोपायप्रतिजागरणनिमित्तं ह्यनुसन्धानं यावद्धि मुख्यनायकेन प्रत्यनुसन्धानेन (न) क्रियते तावत् जडाजडरूपः सर्वोऽप्युपायवर्गोऽनुपायकल्प एव। तथा हि—तापसवत्सराजे वासवदत्ताप्रेमानुसन्धानं राजमुखेन प्रत्यङ्कं दर्शितम्—

"तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमा समाप्तोत्सवः॥ (ता० व० १-१५)

इति यावत् [1]षष्ठेऽङ्के—

त्वत्संप्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः
तन्मत्वा त्यजतः शरीरकमिदं नैवास्ति निःस्नेहता।
आसन्नोऽवसरस्तवानुगमने जाता रतिः किं त्वयं
खेदो यच्छतधागतं न हृदयं तस्मिन् क्षणे दारुणे॥

अब प्रश्न होता है कि फल पर्यन्त बीज रहता है तो बिन्दु की स्थिति कैसी है? इस पर कहते हैं जब तक निबध्यमान फल की सम्यक् प्राप्ति न हो जाय तब तक उसकी स्थिति होती है। यहाँ पर यह कहा गया है कि सकल उपायों के प्रति जागरित रहना अनुसन्धान है, तब तक मुख्य नायक के द्वारा प्रत्यनुसन्धानों के साथ अनुसन्धान को नहीं किया जाता तब तक जड़ और अजड़ (अचेतन और चेतन) रूप सभी उपाय अनुपाय (उपाय रहित के समान है) जैसे—तापस वत्सराज नाटक में वासवदत्ता के विषय में प्रेमानुसन्धान को राजा के मुख से प्रत्येक अङ्क में दिखाया गया है—"उनके मुखचन्द्र के विलोकन के द्वारा दिन को बिता दिया और रात को भी"। छठे अङ्क में—

"सचिवों के द्वारा तुमसे मिला देने के प्रलोभन से मैंने प्राणों को धारण किया है, यह समझकर इस तुच्छ शरीर को छोड़ने में निःस्नेहता नहीं है। अवसर आसन्न है, तुम्हारे अनुसरण में प्रेम भी हो गया है, किन्तु खेद इस बात के हैं कि इस दारुण अवसर पर मेरा हृदय सौ टुकड़े क्यों नहीं हो गया"।

१. यावदिति। अत्र प्रत्यङ्कप्रदर्शितप्रेमानुसन्धानं ध्वन्यालोकलोचने वृत्तिकारेण तृतीयोद्योते विशदीकृतमेव।

तत्र प्रधानसिद्धिरायत्तसिद्धिरुभयसिद्धिः, प्रधानसिद्धावयं बिन्दुः, आयत्तसिद्धिस्तु राज्यप्राप्तिलक्षणा। तस्याममात्यवर्गकृतमेवानुसन्धानं बिन्दुः उभयसिद्धौ तूभयकृतः येन यत्प्राधान्येनाभिसंहितं स एव तदनुसंधत्ते। इत्येवं प्रधानानुसन्धानचेतनव्यापारः कारणानुग्राही स्वयं च परमकारणस्वभावस्तैलबिन्दुवत् सर्वव्यापकत्वादपि बिन्दुः। बीजं च मुखसन्धेरेव प्रवर्त्यात्मानमुन्मेषयति बिन्दुस्तदनन्तरमिति विशेषोऽनयोः द्वे अपि तु समस्तेतिवृत्तव्यापके।

यहाँ फलसिद्धि तीन प्रकार की होती है—प्रधानसिद्धि, सचिवायत्तसिद्धि, और उभयायत्तसिद्धि। इनमें यह बिन्दु प्रधानायत्त सिद्धि में होती है। सचिवायत्त सिद्धि तो वत्सराज को राज्यप्राप्तिरूपा है। उसमें अमात्य वर्ग द्वारा किया गया अनुसन्धान ही 'बिन्दु' है। उभयायत्तसिद्धि में तो दोनों के द्वारा अनुसन्धान किया जाता है, क्योंकि प्रधान के द्वारा जिसका अनुसन्धान किया जाता है उसी का अनुसन्धान अमात्य भी करता है। इस प्रकार प्रधान के द्वारा किया गया अनुसन्धान चेतन-व्यापार करणानुग्राही होता है और परम कारण स्वभाव वाला विन्दु तैल की बूँद की तरह सर्वव्यापक होने से 'बिन्दु' कहा जाता है। बीज तो मुख्य सन्धि में प्रवृत्त होकर उन्मेष करता है किन्तु बिन्दु तो उसके बाद भी उन्मेष करता है। यही दोनों में अन्तर है। ये दोनों (बीज और बिन्दु) समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहते हैं, अतः व्यापक हैं ॥२३॥

विशेष—धनञ्जय, विश्वनाथ आदि विद्वान् इस परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अवान्तर अर्थ (प्रयोजन) के विच्छेद के कारण इतिवृत्त के अविच्छेद का कारण 'बिन्दु' कहा जाता है। भाव यह है कि रूपक के अवान्तर कथा से विच्छिन्न हो जाने पर इतिवृत्त को जोड़ने और आगे बढ़ाने के कारण को 'बिन्दु' कहा जाता है। जिस प्रकार जल में तेल का बिन्दु सर्वत्र फैल जाता है उसी प्रकार बिन्दु भी मुख्य इतिवृत्त के फलपर्यन्त व्याप्त रहता है। इस प्रकार फलप्राप्ति पर्यन्त इतिवृत्त में अविच्छिन्नता बनाये रखने वाला तत्त्व 'बिन्दु' है।

[1]यद्वृत्तं [2]तु परार्थं स्यात् प्रधानस्योपकारकम् ।
प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता ॥ २४ ॥

यद्वृत्तं तु परार्थं स्यादिति । यस्य संबन्धि वृत्तं संविदनुसन्धानं परस्य प्रयोजनसंपत्तये भवदपि स्वप्रयोजनं संपादयति । अत एवाह–प्रधानवच्च कल्प्येतेति । सचेतनानुसन्धाना पताका सिद्धिप्रधानस्योपकारिणी । एवं सुग्रीवविभीषणप्रभृतिरपि रामादिनोपक्रियमाणे रामादेरात्मनश्चोपकाराय प्रभवमाने प्रसिद्धिप्राशस्त्ये संपादयतीति । एवमौचित्यानौचित्यज्ञानोपयोगिन्यानयात्र पताकावदुपयोगित्वादियं पताकेति चिरन्तनाः ॥ २४ ॥

अनुवाद—जो इतिवृत्त (पर प्रयोजन के लिये) होता हुआ प्रधान इतिवृत्त का उपकारक होकर भी प्रधान की तरह कल्पित किया जाता है, उसे 'पताका' कहते हैं ॥ २४ ॥

अभिनव—जिसके इतिवृत्त का संविद् के द्वारा अनुसन्धान किया गया और दूसरे के प्रयोजन की संपत्ति के लिए उपयुक्त होकर भी अपना प्रयोजन सम्पादित करता है (अर्थात् अपने उद्देश्य की पूर्त्ति करता हो)। इसीलिए कहा गया है कि 'प्रधानवच्च कल्प्येत्' अर्थात् प्रधान की तरह कल्पित किया जाय, इस प्रकार सचेतन के अनुसन्धान की गई यह पताका प्रधान के कार्य की सिद्धि के लिए उपकारिणी होती है। इस प्रकार, सुग्रीव विभीषण प्रभृति भी रामादि नायकों के द्वारा उपकृत रामादि के और अपने भी कार्यों के उपकार के लिए प्रभवमान प्रसिद्धि के प्राशस्त्य का सम्पादन करते हैं। इस प्रकार औचित्य-अनौचित्य के ज्ञान में उपयोगी इतिवृत्त पताका के समान उपयोगी होने से इसे पताका कहते हैं।

विशेष—जहाँ पर प्रधान नायक के प्रयोजन की सिद्धि के साथ-साथ कुछ अपना भी प्रयजन सिद्ध हो जाय, उसे 'पताका' कहते हैं। जैसे रामायण में सुग्रीव का राम की सहायता के साथ राज्यप्राप्ति रूप अपना प्रयोजन भी सिद्ध करना। पताका नायक स्वार्थ सिद्धि के साथ प्रधान नायक के कार्य की सिद्धि में सहायक होता है।

---

१. क. यस्या वृत्तं परार्थस्य ।
२. ख. हि ।

फलं [1]प्रकल्प्यते [2]यस्याः [3]परार्थायैव केवलम् ।
अनुबन्धविहीनत्वात्[4] प्रकरीति विनिर्दिशेत् ॥ २५ ॥

फलं प्रकल्प्यते यस्या इति यतश्च ततः परार्थमेव केवलं सर्वमनुतिष्ठति सा प्रकरी । यथा कृत्यारावणे कुलपतिः, वेणीसंहारे भगवान्वासुदेवः । प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति । 'सर्वधातुभ्य इन्' संविदपेक्षया च, स्त्रीलिङ्गत्वे कृदिकारादिति ङीष् । फलमिति फलतीति कृत्योपायानुष्ठानमुच्यते ॥ २५ ॥

अनुवाद—जिस इतिवृत्त के फल की कल्पना केवल परार्थ के लिये (दूसरे के लिये) की जाती है, और जो अनुबन्ध से विहीन हो, उसे 'प्रकरी' कहते हैं ॥ २५ ॥

अभिनव—जो केवल दूसरे के लिए ही सब कुछ करती हैं उसे 'प्रकरी' कहते हैं । जैसे कृत्यारावण में कुलपति, वेणीसंहार में भगवान् वासुदेव । जो इतिवृत्त अपने स्वार्थ की अपेक्षा न करके केवल प्रधान नायक के प्रयोजन के लिए होता है उसे 'प्रकरी' कहते हैं (प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षां करोतीति प्रकरी) 'प्रकरी' शब्द में 'सर्वधातुभ्य इन्' सूत्र से 'इन्' प्रत्यय होकर संवित् की अपेक्षा से स्त्रीलिङ्ग में 'कृदिकारान्त' प्रकरि (प्रकरिन्) शब्द से ङीष् प्रत्यय होकर 'प्रकरी' शब्द बनता है । जो फैलता है वह फल है, अतः कृत्य (कार्य) के उपाय का अनुष्ठान फल है ।

विशेष—सानुबन्ध दूर तक चलने वाली प्रासङ्गिक इतिवृत्त को 'पताका' कहते हैं अर्थात् परार्थ के लिए प्रवृत्त इतिवृत्त जिससे अपना भी कुछ स्वार्थ सिद्ध हो जाय, उसे 'पताका' कहते हैं । जैसे रामचरित में सुग्रीव का वृत्तान्त पताका है । जो इत्तिवृत्त प्रधान नायक के प्रयोजन के लिए होता है और उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं होता है, उसे 'प्रकरी' कहते हैं । जैसे, रामचरित में शबरी का वृत्तान्त । भाव यह कि प्रासङ्गिक इतिवृत्त में पताका का जहाँ अपना कुछ स्वार्थ होता है किन्तु प्रकरि में अपना कुछ स्वार्थ नहीं होता, वह केवल प्रधान नायक का उपकारक होता है, प्रकरी का इतिवृत स्वार्थ निरपेक्ष होता हुआ प्रधान नायक के प्रयोजनों का सम्पादन होता है ॥ २५ ॥

१. ख. सकल्प्यते । २. ग. सद्भिः ।
३. ग. परार्थं केवलं बुधैः, । ख. परार्थ यस्य केवलम् ।
४. ग. विहीनं स्यात् । ख. अनुबन्धेन हीनस्य प्रकरीं तां विनिर्दिशेत् ।

यदाधिकारिकं [1]वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते ।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम्[2] ॥ २६ ॥

यदाधिकारिकमिति— प्राज्ञैः प्रधाननायकपताकानायकप्रकरीनायकैश्चेतनरूपैः यद्वस्तु फलरूपं प्रयुज्यते संपाद्यते संपाद्यत्वेनानुसन्धीयते तत्फलप्रयोजनो यः संपूर्णतादायी पूर्वपरिगृहीतस्य प्रधानस्य बीजाख्योपायस्य फलम्, आरभत इत्यारम्भशब्दवाच्यो द्रव्यक्रियागुणप्रभृतिः सर्वोऽर्थः (यस्य) सहकारी (तत्) कार्यमित्युच्यते, चेतनैः कार्यते फलमिति व्युत्पत्त्या सम्यगिति प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तित्रयसंपन्नैरित्यर्थः। तेन जनपदकोशदुर्गादिकव्यापारवैचित्र्यं सामाद्युपायवर्गं इत्येतत्सर्वं कार्येऽन्तर्भवति । तत्र परं प्रथमपरिगृहीतः प्रधानभूतोऽभ्युपायो बीजत्वेनोक्तः ।

अनुवाद—जिस आधिकारिक इतिवृत्त का प्राज्ञ लोग सम्यक् प्रकार से प्रयोग करते हैं और उसके लिये जो समारम्भ बीज नामक अर्थप्रकृति में किया जाता है, उसे 'कार्य' कहते हैं ॥ २६ ॥

अभिनव—प्राज्ञ लोग अर्थात् चेतन रूप प्रधान नायक, पताका नायक और प्रकरी नायकों के द्वारा फलरूप जिस वस्तु का प्रयोग करते हैं या सम्पादन करते हैं या सम्पादनीय रूप में अनुसन्धान करते हैं उसके फल की प्राप्ति के लिए पूर्व में परिगृहीत बीज नामक प्रधान उपाय को सम्पूर्णता देने वाला जो आरम्भ है, आरम्भ शब्द से वाच्य द्रव्य, गुण, क्रिया प्रभृति समस्त अर्थ जिसका सहकारी है, वह कार्य है। 'चेतनैः कार्यते फलम्' व्युत्पत्ति के अनुसार चेतनों के द्वारा जो किया जाता है वह फल है। यहाँ पर 'सम्यक्' पद का अर्थ है—प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्तिरूप शक्तित्रय से सम्पन्न। इसके जनपद, कोश, दुर्ग आदि व्यापार और सामादि उपाय वर्ग ये सब कार्य में अन्तर्भूत होते हैं। इनमें भी पूर्व में परिगृहीता प्रधानभूत उपाय को भी 'बीज' रूप में बताया गया है।

---

१. ग वृत्तं । ख. यस्तु ।
२. ख. समुदाहृतम् । क. इति कीर्तितम् ।

एतेषां यस्य येनार्थो यतश्च गुण इष्यते ।
[1]तत् प्रधानं तु कर्तव्य गुणभूतान्यतः परम् ॥ २७ ॥

ननु प्रारम्भादिवदासामर्थप्रकृतीनां किं सर्वत्र सर्वासां सम्भवस्तथार्थप्रकृतिसन्ध्यवस्थाभिः सह किं यथासंख्यं नियमस्तथा किं स्वात्मन्यासां कर्तृक्रम इति शङ्कात्रयमपाकर्तुमाह—

पञ्चकवर्गत्रयं परामृश्यते एकैकस्य वर्गस्यैकशेषेण । तदयमर्थः—न सर्वत्र प्रारम्भादिवत् सर्वा अर्थप्रकृतयोऽपि । अपि तु यस्य नायकस्य येनार्थप्रकृतिविशेषेण प्रयोजनसंपत्तिरधिका तदेव प्रधानम्, अन्यत्तु भवदपि गुणभूतमसत्कल्पम्, यथा स्वपराक्रमबहुमानशालिनां पताकाप्रकर्यो विवक्षिते एव । बीजबिन्दुकार्याणि तु सर्वत्रानपायीनि । तत्रापि तु गुणप्रधानभावः तथा सन्ध्यवस्थार्थप्रकृतीनां यस्य येनोचितः संबन्धः प्रधानं नाटकादिकार्यमिति द्वितीयापि निरस्ता । यतश्च गुण उपकारो झटिति बाध्यते तदेवार्थप्रकृतिरूपं पञ्चानामन्यतमं प्रधानत्वेन बाहुल्येन निबन्धनीयम्, अन्यद् गुणभावेन ।

विशेष—बीज रूप में उपक्षिप्त नायक के उपाय से सम्बद्ध इतिवृत्त की पूर्णता 'कार्य' है, शिङ्गभूपाल के अनुसार धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग साधन समस्त नाटचव्यापार 'कार्य' है ।

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि प्रारम्भादि कार्यावस्थाओं के समान इन सभी अर्थप्रकृतियों का क्या सबका सर्वत्र रहना सम्भव है ? और क्या अर्थप्रकृतियों का सन्ध्यवस्थाओं के साथ यथासंख्य रहने का नियम है ? और क्या अपने आप में इनका कर्त्ता के आधार पर क्रम है ? इन तीनों शङ्काओं का निराकरण करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—इन पाँचों अर्थप्रकृतियों में जिनका जिनके साथ अधिक प्रयोजन सिद्ध होता हो जिसका जिसके साथ उचित सम्बन्ध सिद्ध होता हो, उसका उसके साथ गौण-प्रधान भाव रहता है अर्थात् जिसका जिसके लिये गुण इष्ट हो, उसे प्रधान करना चाहिए और अन्य को गौण (गुणभूत) करना चाहिए ॥ २७ ॥

१. ख. ग. प्रधानं तत्प्रकर्तव्यं ।

एकोऽनेकोऽपि वा सन्धिः [1]पताकायां तु यो भवेत् ।
प्रधानार्थानुयायित्वादनुसन्धिः[2] प्रकीर्त्यते ॥ २८ ॥

प्रधानायत्तसिद्धौ च निबध्यमानाया यो यत्रांशेऽप्यधिकोपकारी स तत्र प्रधानीकर्तव्यः। यथा वासवदत्तालाभे (तापसवत्सराजे) बिन्दुः प्रधानं, कौशाम्बीराज्यलाभे तु प्रकरी पताका च प्रधाना, अमात्यस्य राज्यसिद्धौ स्वार्थसिद्धिरिति पताकात्वं केचिदाहुः। एवं सुसङ्गतासांकृत्यायनी[3] बीजधर्मादिषु वाच्यम्। अपरे तु—प्रथमतरमेव नायकस्य तावद्रूपत्वान्नैव प्रमाणं पृथङ्नायकत्वं, सुग्रीवादयस्तु पृथग्भूता एव, सांप्रतिके कार्ये केवलमाश्रिता इति, एवं प्रमाणमिव पताकादिरूपत्वम्। येषां मते तापसवत्सराजे उभयत्रापि बिन्दुरेव

अभिनव—इन पाँचों अर्थप्रकृतियों में एक-एक वर्ग का एकशेष करके तीन वर्ग का परामर्श करते हैं। इसका यह भाव है कि प्रारम्भादि अवस्थाओं के समान सभी अर्थप्रकृतियों का सर्वत्र रहना सम्भव नहीं है। किन्तु जिस नायक का जिस अर्थप्रकृति विशेष के साथ अधिक प्रयोजन सिद्ध हो, उसे प्रधान और अन्य अर्थप्रकृति को गुणभूत (गौण) तथा असत्कल्प रखना चाहिए। जैसे—अपने पराक्रम से अधिक सम्मान प्राप्त करने वाले को पताका नायक तथा प्रकरी नायक विवक्षित ही हैं, किन्तु बीज, बिन्दु, और कार्य तो सर्व जगह रूपक में रहेंगे। वहाँ पर जिसके साथ उचित सम्बन्ध हो, उनमें भी गुण-प्रधान भाव तो रहेगा ही। किन्तु वहाँ पर नाटकादि का कार्य (फल) प्रधान है। इससे दूसरी शङ्का निरस्त हो गई। जहाँ किसी गुण विशेष उपकार को शीघ्र कहना हो। वहाँ उसी को पाँचों अर्थप्रकृतियों में किसी एक अर्थप्रकृति के रूप में प्राधान्य रूप में अधिक निबन्धन करना चाहिए और अन्य को गुणभाव से निबन्धन करना चाहिए ॥ २७ ॥

अनुवाद—पताका में एक अथवा अनेक जो सन्धियाँ होती हैं, वह यदि प्रधान (मुख्य) इतिवृत्त का अनुयायी हो तो उसे 'अनुसन्धि' (या अनुबन्ध पताका) कहते हैं ॥ २८ ॥

---

१. ख. पताकायाश्च योजयेत् ।
२. ख. अनुबन्धः स कीर्तितः ।
३. सुसङ्गता रत्नावल्यां, सांकृत्यायनो तापसवत्सराजे ।

प्रधानं, पञ्चानामप्यर्थप्रकृतीनामन्यतमस्य द्वयोस्तिसृणां चतसृणां सर्वासां वा प्राधान्यं यथास्वं विभजनीयम्। पताकाप्रवृत्तस्य प्रधानवदतिदेशात् पञ्चसन्धीत्यासां[1] भवेत् पृथग्गणना। अस्त्वित्यसौ परार्थत्वादेव। अत एव च कुतः सन्धिः सूच्यते वाभ्यूह्यते वा निबध्यते वा। यथा मायापुष्पके—

वाली यदा विनिहतः प्रथितप्रभावो
बध्वा यथैककपिना प्रसभं च लङ्का।
तीर्णो यथा जलनिधिर्गिरिसेतुना च
मन्ये तथा विलसितं चपलस्य धातुः॥

अभिनव—सिद्धि तीन प्रकार की होती है—प्रधानायत्त सिद्धि, सचिवायत्त सिद्धि और उभयायत्त सिद्धि। इनमें प्रधानायत्त सिद्धि में निबध्यमान होने पर जो जहाँ जिस अंश में अधिक उपकारी हो वहाँ उसे प्रधान करना चाहिए। जैसे—'तापसवत्सराज' में वासवदत्ता के लाभ में 'बिन्दु' प्रधान है। कौशाम्बी राज्य के लाभ में पताका और प्रकरी प्रधान हैं। कुछ लोग कहते हैं कि सचिवायत्त सिद्धि में कौशाम्बी राज्य की सिद्धि अमात्य की स्वार्थसिद्धि है, अतः पताकात्व है। इसी प्रकार रत्नावली में सुसङ्गता को तापसवत्सराज में सांकृत्यायनी को बीज का उपकारी कहना चाहिए। अन्य लोग तो कहते हैं कि प्रथमतः नायक के तद्रूप होने से उनमें पृथक् नायकत्व मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि सुग्रीव आदि पृथक् पात्र हैं। अतः केवल साम्प्रतिक कार्य में उनका आश्रय होता है। इस प्रकार पताकादि रूपकत्व प्रमाण सदृश हैं। उसके मन में तापसवत्सराज रत्नावली में दोनों स्थानों में बिन्दु ही प्रधान है, अतः योग्यतानुसार उनका विभाग करना चाहिए। 'पताका इतिवृत्त को प्रधान इतिवृत्त के समान मानना चाहिए। इस अतिदेश के अनुसार इनमें भी पाँच सन्धियाँ होती हैं, अतः इनकी पृथक् गणना होनी चाहिए। अस्तु, जब यह परार्थ है तो इसमें कैसे सन्धि की सूचना देते हैं अथवा अभ्यूहन करते हैं अथवा निबन्धन करते हैं। जैसा कि मायापुष्पक में—

१. स्यास्यात्।

पताकायां हि पूर्णवर्णने पताकान्तरं स्यादित्यनवस्था। तद्युक्तमुक्तमनुसन्धित्वान्न पृथग्गणनमस्येति।

तथा लोल्लटाद्यास्तु परार्थे साधयितव्ये पताकानायकस्येतिवृत्तरणा अनुसन्धयः। यथा कृत्यारावणे—

धन्यास्ते कृतिनः श्लाघ्या तेषां च जन्मनो वृत्तिः।
यैरुज्झितात्मकार्यैर्येषामर्थाः प्रसाध्यन्ते॥

इति मुखानुसन्धिः, "वालो यथे" ति प्रतिमुखस्यानुसन्धिः, शक्तिहते लक्ष्मणे ओषध्यानयने गर्भस्य, अङ्गदवौत्ये मन्दोदर्याक्षेपेऽवमर्शस्य, "आ! अशक्त, अनार्य तिष्ठ तिष्ठ, अतिरथस्त्वं सा न" इति निर्वहणस्य, इति। एतत्तु भवति सर्वस्येव हि पञ्चावस्था भवन्तीत्युक्तम्। किं तस्यानुसन्धिद्वित्वाभिधाने प्रयोजनं न पश्यामः।

"प्रख्यात प्रभाव वाले वालि को जैसे मार दिया गया, जैसे एक वानर ने बलात् लङ्का को जला दिया और जैसे पहाड़ों के सेतु (पुल) से समुद्र को पार कर लिया, ऐसा मैं मानता हूं कि यह सब चपल विधाता का विलास है, लीला है।"

क्योंकि पताका में पूर्णता के वर्णन में दूसरी पताका फिर तीसरी पताका का वर्णन होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। इसलिए ठीक कहा है कि अनुसन्धि होने से इसकी पृथक् गणना नहीं होगी।

जैसाकि भट्टलोल्लट आदि मानते हैं कि परार्थ के सिद्ध करने में पताका नायक का इतिवृत्त भाग अनुसन्धि होगी, जैसे कृत्यारावण में—

"वे कुशल विद्वान् धन्य हैं, उनका जन्म श्लाध्य है, उनकी वृत्ति है, जो अपने काम में छोड़ देते हैं और दूसरों के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।"

यहाँ पर मुख की अनुसन्धि है, 'वाली यथा' में प्रतिमुख की अनुसन्धि है, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर औषधि के आनयन में गर्भ की अनुसन्धि अङ्गद के दैत्य कार्य में और मन्दोदरी के आक्षेप में अवमर्श की अनुसन्धि, "अरे अशक्त अनार्य! ठहरो, ठहरो, तुम अतिरथ हो, वह नहीं है" इसमें निर्वहण की अनुसन्धि हैं। यह तो है ही कि सभी नाटकों में पाँच ही अवस्थाएँ होती हैं, यह कहा जा चुका है, किन्तु उसकी दो अनुसन्धियों के कथन में कोई प्रयोजन नहीं देख रहे हैं॥ २८॥

आगर्भाद्वाविमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ।
[1]कस्माद्यस्मान्निबन्धोऽस्याः परार्थः परिकीर्त्यते ॥ २९ ॥

स्वफलसिद्धये यतमानस्य तत्र तत्रावश्यं पृथग्गणना शङ्केति, तत्प्रशमनप्रयोजनम्, अस्मत्पक्षे कस्मिंस्तर्हि प्रधानसन्धौ तस्यानुयायित्वमिति वर्णयितुमाह—आगर्भाद्वाविमर्शाद्वेति प्रतिमुखे गर्भे यदि वा ।

यमर्थं व्याप्य निवर्तते पताकेतिवृत्तं तावत्येव पताकानायकस्य स्वफलसिद्धिरुपनिबन्धनीया, सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाण आसीनोऽपि भूतपूर्वगत्या पताका शब्दवाच्यो न मुख्यत्वेन। अत्राह कस्माद्यस्मादिति । कस्मादस्याभिप्रायः, प्रधानवच्च कल्प्येतेत्युक्तत्वात् निर्वाहादपि किं तद्भवति, अत्रोत्तरं यस्मादिति निर्वहणपर्यन्ते तत्फले क्रियमाणे तुल्यकालयोरुपकार्योपकारकत्वाभावात् तेन प्रधानोपकारो (कारभावोत्तरो) न भवेत् ।

अभिनव—अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयत्न करने वाले को उन-उन स्थानों पर अलग गणना करने की जो आशङ्का होगी, उसका प्रमशन जब प्रयोजन है तो इस पक्ष में किस प्रधान सन्धि में वह अनुयायी होगा ? इसको दिखाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—गर्भ सन्धि से लेकर विमर्श सन्धि पर्यन्त पताका का विनिवर्तन होता है । ऐसा क्यों ? क्योंकि उसका निबन्धन परार्थ कहा जाता है ॥ २९ ॥

अभिनव—प्रतिमुख अथवा गर्भ सन्धि में जिस अर्थ को व्याप्त करके पताका इतिवृत्त समाप्त हो जाता है तो उतने अर्थ (विषय) में पताका नायक की अपनी फलसिद्धि का उपनिवन्धन करना चाहिए । फल की सिद्धि होने पर भी वह प्रधान फल में ही व्याप्रियमाण होने पर भी भूतपूर्व गति का अनुसरण करके पताका नायक शब्द वाच्य होता है तथा मुख्य रूप से नहीं । इस पर कहते हैं कि कस्मादिति अर्थात् प्रधान की तरह इसकी कल्पना करनी चाहिए' ऐसा कहा गया है, अतः क्या निर्बाह करने पर भी होता है ? इसका उत्तर देते हैं यस्मादिति अर्थात् पताका नायक के फल के

---

१. ख. ग. तस्माद्यस्मात् बन्धोऽस्याः परार्थोपकल्प्यते[1]।

अभिविधावाङ् । ये तु मर्यादायां तं व्याचक्षते ते न सम्यगमंसत— विनिपातप्रतीकारः प्रधानविमर्शसन्धौ प्रस्तुतोपयोगः पताकायाः, यत्र कृतघ्नता दृष्टा तन्न नीत्योच्यते कृतज्ञस्तु प्राप्तफलो विनिपातान् प्रतिकुर्यादेवेति। तत्र पताका-नायको यथा स्वार्थे प्रवर्तते परार्थं च (संपद्यते), भृत्यस्यान्यस्य वा जडस्य वा स्थितिः—स्वार्थेऽपि सति परार्थे संपद्यते तत्पताकास्थानकं पताका तत्र जडस्य स्वार्थपरार्थप्रवृत्तौ तावदभिसन्धानाभावात् । अभिसन्धानवतः सुग्रीवादेः पताका-नायकाद्भेदः अजडस्यापि स्वार्थे यद्यप्यनुसन्धानमस्ति तत्रापि परार्थे नास्तीति विशेषः प्रधानवच्च कल्प्येतेति पताकालक्षणेऽभिधानाद् बहुतरेतिवृत्ते व्यापकता नायकस्य, अस्य तु परिमितेतिवृत्तव्यापकत्वमित्यपि विशेषः ॥ २९ ॥

निर्वहण सन्धि पर्यन्त करने पर मुख्य (अङ्गी) और अङ्ग दोनों का तुल्यकाल होने पर उनमें उपकार्य-उपकारकभाव (अङ्गाङ्गिभाव) न होने से पताका नायक का उपकार नहीं होगा।

यहाँ पर 'आङ्' अभिविधि अर्थ में है, जो मर्यादा अर्थ में (आङ् की) उसकी व्याख्या करते हैं वे सम्यक् (ठीक) नहीं समझते हैं। जैसे—विनिपातप्रतीकारः । विमर्श सन्धि में पताका का प्रधान के रूप में प्रस्तुत करने में उसका उपयोग होता है जहाँ पर कृतघ्नता देखी गई है वहाँ उसका नीति पूर्वक कथन नहीं करते। किन्तु कृतज्ञ तो फल प्राप्त कर लेने पर विनिपात का प्रतीकार कर देता है। इनमें पताका नायक जैसे अपने प्रयोजन में प्रवृत्त होता है और परार्थ का सम्पादन करता है। भृत्य तथा अन्य जड़ की भी यही स्थिति है कि वह स्वार्थ के लिए प्रवृत्त होने पर परार्थ का सम्पादन करता है । उसे 'पताका स्थानक' कहते हैं। पताका वहाँ होती है जहाँ जड़ की स्वार्थ और परार्थ की प्रवृत्ति का अनुसन्धान नहीं होता, और जहाँ अनुसन्धान करने वाले सुग्रीव आदि पताका नायक से उस जड़ का भेद होता है और अजड़ का भी स्वार्थ में (अपने विषय में) यद्यपि अनुसन्धान रहता है फिर भी परार्थ के लिए उसका अनुसन्धान नहीं रहता। यही दोनों में विशेषता है। प्रधान की तरह कल्पित किया जाता है' ऐसा पताका के लक्षण में अभिधान होने से प्रधान नायक के इतिवृत्त में बहुत व्यापकता पराजित होती है। यही दोनों में बिशेषता है ॥ २९ ॥

[1]यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन्स्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ३० ॥

तस्य पताकास्थानस्य वक्ष्यमाणभेदैर्भेदवत्त्वात् सामान्यलक्षणं तावदाह— अर्थः प्रयोजनं, उपायश्च, कर्मकरणव्युत्पत्त्या अन्यस्मिन्नुपाये प्रयोजने वा चिन्तिते अन्यः उपायान्तरप्रयोजनान्तरलक्षणः प्रकर्षेण युज्यते संबध्यते यत्रेति तत्पताकास्थानकम्, पताकाधारत्वादुपचारादितिवृत्तमपि पताकास्थानकम् ।

उपाध्यायास्त्वाहुः—पताकायाः स्थानमितिवृत्तता, तत्र चार्थः क्रियमाणोऽपि पूर्वपदार्थमुपसंक्रामति, राजवाहन इवायमुद्धरकन्धरः तिष्ठतीति, यथा तेन पताकास्थानकमितिवृत्तमेवोच्यते । तत्र वर्ण्यमानं तु जडाजडरूपं पताकासदृशमित्यर्थादुक्तं भवति । स चान्योऽर्थस्तल्लिङ्गस्तन्मुख्यमर्थं लिङ्गयति विचित्रयतीति ।

उस पताका स्थानक का वक्ष्यमाण भेदों से भेद होने के कारण सामान्य लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर किसी एक अन्य अर्थ (प्रयोजन) की चिन्ता की जाय और तत्सदृश अन्य अर्थ (प्रयोजन) आगन्तुक भाव से उपस्थित हो जाय, उसे 'पताका स्थानक' कहते हैं ॥ ३० ॥

अभिनव—यहाँ पर 'अर्थ' शब्द प्रयोजन और उपाय का वाचक है, क्योंकि 'अर्थ्यते यः' इस कर्मव्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ शब्द उपाय का बाचक होता है और 'अर्थ्यतेऽनेन' इस करणव्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ शब्द काप्रयोजन अर्थ होता है। भाव यह है कि जहाँ पर किसी अन्य प्रयोजन या उपाय की चिन्ता करने पर अन्य प्रयोजन या उपाय बीच में ही प्रकृष्ट रूप से सम्बद्ध हो जाता है, उसे पताका स्थानक कहते हैं पताका का आधार होने से उपचार अर्थात् लक्षणा से इतिवृत्त को भी 'पताका-स्थानक' होता है।

हमारे उपाध्याय जी तो कहते हैं कि पताका का स्थान इतिवृत्त है। अतः यहाँ क्रियमाण (वर्ण्यमान) अर्थ पूर्व पदार्थ का उपसङ्क्रमण करता है। जैसे वह व्यक्ति राजवाहन के समान कन्धरा (गरदन) को ऊपर उठाकर स्थित रहता है, वैसे ही इतिवृत्त को ही पताकास्थानक कहते हैं। वहाँ पर वर्ण्यमान जड़ाजड़ (जड़ और चेतन) रूप सभी पदार्थ पताका के समान हैं, ऐसा कहा जाता है और वह अर्थ तत्सदृश होता है, वह मुख्य अर्थ को विचित्र रूप में चित्रण करता है।

---

१. ख. ग. यत्रान्यस्मिन्युज्यमाने । ब. यत्रार्थे चिन्त्यमानेऽपि तल्लिङ्गार्थं प्रयुज्यते ।

ननु किं तत्र पताकासादृश्यमित्याह—आगन्तुकेन भावेनेति। भावनं भावः कारणत्वम्, तच्च द्विविधं स्वरूपकृतं सहकारिकृतं च। सहकारिकृतमागन्तुकमुच्यते। तेन सहकारित्वसामान्यात् तत्समर्थाचरणलक्षणात् पताकासादृश्यमिति यावत्। अन्याभिसन्धानेऽन्यसिद्धिश्चेत् भूषणभूतापि कैश्चिद्दूषणत्वेन गृहीता, तैरर्थशब्दः उपायवाच्योपाश्रितः । तल्लिङ्ग इति कारणत्वधर्माभावप्रवृत्तिनिमित्त उपायः। उदाहरणं सामान्यलक्षणस्य विशेषलक्षणव्याख्याने शक्ययोजनमिति तत्रैव दर्शयिष्यामः।

अब प्रश्न होता है कि आपने जो कहा है कि वर्ण्यमान जड़ाजड़ रूप सभी पदार्थ पताका सदृश हैं तो यहाँ पताका का सादृश्य कैसे है? इस पर कहते हैं कि 'आगन्तुकेन भावेनेत्यादि अर्थात् आगन्तुक भाव के द्वारा'। यहाँ भावपद का अर्थ भावान् अर्थात् कारणत्व है। यहाँ कारण (भावन) दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूपकृत और (२) सहकारिकृत। इनमें सहकारिकृत को आगन्तुक कहते हैं। मुख्यार्थ का समर्थन रूप सहकारित्व। सामान्य धर्म से पताका सादृश्य है। अन्य के अभिसन्धान में अन्य की सिद्धि हो तो वह पताका भूषण स्वरूपा होते हुए भी कुछ लोग इसका दूषण के रूप में ग्रहण करते हैं। उन लोगों ने अर्थ शब्द को उपायवाची रूप में आक्रमण किया है। तत्सदृश कहने से कारणत्व धर्माभाव प्रवृत्ति-निमित्त का उपाय है, सामान्य लक्षण का उदाहरण विशेष रूप में व्याख्यान करने पर शक्य प्रयोजन हम आगे दिखायेंगे।

विशेष—पताकास्थान एक प्रकार का इतिवृत्त है जो नाट्य में मुख्य इतिवृत्त में वैचित्र्याधान के लिए उपनिबद्ध होता है। नाट्य में कवि कभी-कभी भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का सङ्केत कर देता है। पताका के समान भावी अर्थ की सूचना देने के कारण इसे 'पताका-स्थानक' कहते हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि पताका-स्थानक द्वारा किसी ऐसी घटना को सूचित करता है जो प्रधान नायक को फल प्राप्त कराने में सहायक हो। पताका और पताका स्थानक में अन्तर बताते हुए कहते हैं कि पताका रूपक प्रबन्ध में मुख्य वृत्त का उपकारक एक होता है और एक निश्चित स्थान पर और पर्याप्त समय तक निरन्तर चलने वाला वृत्त होता है किन्तु पताकास्थानक कहीं कहीं उपनिबद्ध होता है और नाट्य में वैचित्र्य का आधान करना इसका मुख्य फल है।

सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपकारतः[1] ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम्[2] ॥ ३१ ॥

तद्भेदान् क्रमेण लक्षयति सहसैवार्थसंपत्तिरिति ।

यत्रोपकारकमपेक्ष्य गुणवती उत्कृष्टा अर्थस्य फलस्य सहसैवाचिन्तितोपनतत्वेन भवति संपत्तिः तत् प्रथममिति साध्यफलयोगात्प्रधानं पताकास्थानम् । यथा रत्नावल्यां सागरिकायां पाशावलम्बनप्रवृत्तायां वासवदत्तेयमिति मन्यमानो यदा राजा पाशं मुञ्चति तदा तदुक्त्या सागरिकां प्रत्यभिज्ञाय "हा कथं प्रिया मे सागरिका, अलमलमतिमात्र" मित्यादि । अत्रान्यत्प्रयोजनं चिन्तितं तद्वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं संपन्नम् । तत्र च दैवयोगः तथाभूतदेशकालयोगो नायकः स्वात्मैवान्याभिसन्धिबलात् कल्पितभेद सागरिकैव वा मरणमेवोचितमित्यन्याभिसन्धानेन वदतीति पताकानायकसदृशत्वं भजते । अन्यस्मिन्नुपाये चिन्तिते सहसोपायान्तरप्राप्तिः यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शङ्खचूडाप्राप्तवध्यपटस्य कञ्चुकिना वासोयुगलार्पणम् ।

अब क्रमशः पताका स्थान के भेदों का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर किसी उपकार की अपेक्षा से अकस्मात् अत्यन्त गुणवती अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तो उसे प्रथम पताकास्थानक कहते हैं ॥ ३१ ॥

अभिनव—जहाँ पर उपकारक की अपेक्षा से गुणवती अर्थात् उत्कृष्ट फल की सम्पत्ति अचानक अचिन्तित रूप में प्राप्त होती है वह साध्य फल के योग से प्रथम (प्रधान) पताका स्थानक है। जैसे रत्नावली नाटिका में—'सागरिका को अपने गले में फाँसी का फन्दा लगाते देखकर 'यह वासवदत्ता' है, ऐसा समझकर राजा जब उसके पाश को छुड़ाता है तो उसकी वाणी से 'यह तो सागरिका है' पहचान कर—"हाय ! क्या मेरी प्रिया सागरिका है, बस, बस, अधिक साहस मत करो।" इत्यादि यहाँ पर चिन्तित प्रयोजन कुछ और था, किन्तु वैचित्र्यकारी कुछ दूसरा प्रयोजन सम्पन्न हो जाता है। यहाँ दैव योग, तथा भूत देश-काल का योग और अन्याभिसन्धि के बल से कल्पित भेद वाला नायक अथवा सागरिका 'अब मरना ही उचित है' ऐसा विचार करके कहती हैं, इस प्रकार पताका नायक के सादृश्य को प्राप्त करता है किसी अन्य उपाय के चिन्तन से सहसा दूसरे

---

१. ब. चारत । २. ब. परिकीर्त्यते ।

[1]वचः सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ३२ ॥

अन्ये तु 'चतुष्पताकापरम्'मितिभाविसन्धिचतुष्टयाभिप्रायेण मन्यमानाः प्रथमद्वितीयादिशब्दान् मुखादिसन्धिविषयप्रयोगाभिप्रायेण व्याचक्षते। अत्र च युक्तिर्न लक्ष्यते, न वा चमत्कारं भजतीत्यसदेव। एतत्तुल्यतया गणनभूतेन्द्रियैः सह पताकापञ्चकगणनमप्यापादयेदिति च वदद्भिश्चिरन्तनैरेवायमुपहासपात्रीकृतः पक्ष इत्यास्ताम्।

काव्यस्य प्रकृतस्य वर्णनीयस्य यो बन्धः, अतिशयोक्त्याविना योजनं तन्निमित्तवशाद्यद्वचनं सातिशयश्लिष्टमप्रकृतं प्रत्युचितं जातं तद्वचनं तदर्थो वा तदुच्चारयिता वा यादृच्छिकं वा प्रकृतोपयोगित्वेन सहकारित्वेन गच्छद् द्वितीयं पताकास्थानमभिसन्धानापेक्षया। यथा रामाभ्युदये तृतीयेऽङ्के सीतां प्रति सुग्रीवस्य संदेशोक्तिः—

उपाय की प्राप्ति, जैसे—नागानन्द नाटक में शंखचूड़ से वध्यपट को प्राप्त करने वाले जीमूतवाहन को कञ्चूकी द्वारा युगलवस्त्र का अर्पण (प्रदान करना)।

अन्य लोग तो 'चतुष्पताकापरम्' इस भावी चार सन्धियों के अभिप्राय से कहा हुआ मानने वाले अन्य लोग प्रथम, द्वितीयादि शब्दों की मुखादि सन्धियों के प्रयोग के अभिप्राय से व्याख्या करते हैं। किन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं दिखाई देती और न कोई चमत्कार ही प्राप्त होता है, अतः यह असत् है। क्योंकि इस प्रकार की तुलना से गणन रूप इन्द्रियों के साथ पताका पञ्चक की गणना भी की जा सकती है। ऐसा कहने वाले चिरन्तन विद्वानों ने इस पक्ष को उपहास का पात्र बना दिया है, अतः रहने दिया जाय ॥ ३१ ॥

अनुवाद—जहाँ पर प्रकृत (प्रस्तुत) विषय के वर्णन में अतिशय युक्त क्लिष्ट वचन का विन्यास किया जाता है जो अप्रकृत अर्थ के भी उपयोगी हो जाता है, उसे द्वितीय 'पताका स्थानक' कहते है ॥ ३२ ॥

---

१. ख. वचसातिशय ।

अर्थोपक्षेपणं यत्र[1] लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते ॥ ३३ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन पारेऽपि जलधेः स्थिताम् ।
अचिरादेव देवि ? त्वामाहरिष्यति राघवः ॥

अत्रान्यप्रयोजनेनातिशयत्याशयेन प्रयुक्तेऽपि वचसि पारेऽपीत्यादि प्रकृतोपयोगातिशयात्पताकास्थानकम् ।

अर्थोपक्षेपणं यत्रेति । लीनमस्फुटरूपं उत्क्षिप्यमाणमर्थजातं, श्लिष्टेन संबन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेनापि प्रत्युत्तरेणोपेतं सद्यत्र, सविनयं विशेषेण नयनेन विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं संपद्यते तत् तृतीय पताकास्थानकम् ।

अभिनव—प्रकृत (प्रस्तुत) वर्णनीय काव्य का जो बन्ध अतिशयोक्ति आदि के द्वारा संयोजन है, उसके कारण जो अतिशययुक्त क्लिष्ट अपकृत के योग्य वचन-विन्यास, उस वचन का अथवा उसके अर्थ का उच्चारण करने वाला जब प्रकृत के उपयोगी सहज भाव से प्राप्त वचन, वह सहकारी भाव से अभिसन्धान की अपेक्षा से द्वितीय पताका स्थानक होता है। जैसा कि रामाभ्युदय नाटक के तृतीय अङ्क में सीता के प्रति सुग्रीव का सन्देश-वचन—

"अधिक कहने से क्या लाभ ? हे देवि ! समुद्र के उस पार में स्थित तुम्हें भगवान् राम शीघ्र ही ला देंगे।"

यहाँ अन्य प्रयोजन से अतिशयोक्ति के आशय से कहे गये वचन में 'पारेऽपि' इत्यादि प्रकृतोपयोगी होने से द्वितीय पताका स्थानक है।

अनुवाद—जहाँ पर श्लिष्ट (श्लेषमय) उत्तर-प्रत्युत्तर की योजना से युक्त अस्फुट और अभिप्रेत अर्थ का उपक्षेपण होता है, उसे तृतीय पताकास्थानक कहते हैं ॥ ३३ ॥

अभिनव—यहाँ लीन का अर्थ है अस्फुट अर्थात् अस्फुट रूप से उत्क्षिप्यमाण से अर्थजात को श्लिष्ट अर्थात् सम्बन्ध के योग्य अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त होने पर भी प्रत्युत्तर से युक्त जहाँ पर सविनय अर्थात् विशेष निश्चय की प्राप्ति के साथ सम्पन्न होता है, वहाँ तृतीय पताका स्थानक होता है।

---

१. ख. ब. यत्तु ।

[1]द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
[2]उपन्याससुयुक्तश्च [3]तच्चतुर्थमुदाहृतम् ।। ३४ ।।

यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—"अपि नाम राक्षसो दुरात्मा गृह्येत" । एवमस्फुटेऽर्थ उपक्षिप्ते, (प्रविश्य) सिद्धार्थकः - "अंश गण्हिदो"[4] । इत्येतत्प्रत्युत्तरं सन्देशाशयेन प्रयुक्तमौचित्याद्विशेषनिश्चयं करोति । तथा च पुनश्चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतं) "हन्त गृहीतो दुरात्मा राक्षस." इति । इदं च प्रकृतसाध्योपयोगाङ्गित्वात् पताकास्थानीयमिति वीथ्यङ्गाद् गण्डादस्य भेदः—"ऊरुयुग्मं च भग्नं तद्धि प्रत्युत दुर्योधननाशाशयश्च दुष्टः । कस्तस्योपयोगः, पाण्डवानुसारेण तु भवतु । इदं पाताकास्थानकं भिन्नविषयत्वं कृतं ह्येतद्रूपं न क्षतिमावहति ।

जैसे—मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य—

"क्या दुरात्मा (दुष्ट) राक्षस पकड़ा जा सकेगा ?" इस कथन के द्वारा अस्पष्ट रूप में अर्थ के उपक्षिप्त करने पर सिद्धार्थक रङ्गमञ्च पर आकर—"आर्य ! ग्रहण कर लिया, अर्थात् पकड़ लिया" इस प्रकार का प्रत्युत्तर सन्देश के आशय से प्रयुक्त होकर औचित्य के कारण विशेष निश्चय को करता है। इसके बाद चाणक्य फिर (हर्ष के साथ मन में कहता है) "क्या दुष्ट राक्षस पकड़ लिया गया ?" यह प्रकृत साध्य में उपयोगी अङ्ग होने के कारण पताका स्थानीय है। इसी कारण वीथ्यङ्ग गण्ड से इसका भेद है।

'उरुयुग्मं च भग्नं' अर्थात् उसका उरुयुगल टूट गया, वह वचन दुष्ट नहीं है प्रत्युत दुर्योधन का नाश विषयक होने से इसका आशय दुष्ट है, तो इसका यहाँ उपयोग क्या है ? हाँ पाण्डवों के आशय के अनुसार तो इसका उपयोग है। यह पताका-स्थानक भिन्न विषय को लेकर किया गया है। अतः यह स्वरूप क्षति का आवहन नहीं करता ।। ३३ ।।

अनुवाद—जहाँ पर काव्य को योजना में श्लेषमय (सुश्लिष्ट) द्व्यर्थक वचनों का विन्यास वस्त्वन्तर के उपन्यास से सुप्रयुक्त हो, उसे चतुर्थ पताका-स्थानक कहते हैं ।। ३४ ।।

१. क. व्यर्थो ।
२. ख. ग. उपन्यासः संयुतश्च ।
३. क. चतुर्थमितिकीर्तितम् ।
४. आर्यग्रहीतः ।

द्व्यर्थो वचनविन्यास इति यो वचनविन्यासः कथारूपं वा सालङ्कारत्व-संपत्त्याशयेन, शोभनः प्रसादयुक्तः, श्लेषवशात् द्व्यर्थे इति अनेकार्थसंप्रयुक्तः तादृशः सन्नुपन्यासे वस्त्वन्तरोपक्षेपे सुष्ठु संपद्यते, तच्चतुर्थम्। यथा—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने संपतन्।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पदांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते" ॥

(रत्नावली अ० १।२३)

इत्यत्र हि काव्यरूपताशयेन श्लेषः प्रयुक्तः प्रधानवस्त्वन्तरं सागरिका-गतमुत्क्षिपति—"अऊँ सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा—(अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता") (रत्नावली अध्याय प्रथम पृ० ४२) इति।

अभिनव—'द्व्यर्थो वचनविन्यासः' अर्थात् दो अर्थों वाले द्व्यर्थक वचनों का जहाँ विन्यास हो अथवा कथा रूप है, वह अलङ्कारत्व संपत्ति के आशय से शोभन प्रसाद गुण युक्त, श्लेष के कारण द्व्यर्थक अर्थात् अनेक अर्थों से युक्त होता है। इसी प्रकार किसी के उपन्यास करने में अर्थात् वस्त्वन्तर के उपक्षेप करने में जो सुष्ठु रूप से सम्पन्न हो जाता है, उसे चतुर्थ पताका-स्थानक कहते हैं। जैसे रत्नावली नाटिका में—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने संपतन्।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं,
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्ष्यते ॥ (रत्नावली १।२३)

अर्थात् "सन्ध्या के समय अस्ताचल की चोटियों पर अपनी आभा को विखेर देने वाले सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर एक साथ सभा-मण्डप ली ओर जाता हुआ राजसमूह चन्द्रमा के समान नेत्रों को प्रीति के उत्कर्ष को बढ़ाने बाले उदय के कमल की कान्ति को फीकी करने वाले चरणों (किरणों) की सेवा करने के लिए देख रहा हूं।"

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥
(रत्नावली—२।४)

इति तु नोदाहरणं, द्व्यर्थताप्रतिपत्तावपि हि नात्रार्थेन सहकारिता कुत्रचिदाचरिता। तस्मादेतद्वीथ्यङ्गस्य व्याहारस्यैवोदाहरणं युक्तम् ।

यहाँ काव्य में अलङ्कारत्व के सम्पत्ति की वृद्धि के आशय से प्रयुक्त राजा उदयन अथवा उदीयमान चन्द्र के पाद (चरण, किरण) रूप अर्थों का श्लेष सागरिका के विषय में वस्त्वन्तर का उत्क्षेपण करता है—

"अयं स राजा उदयनः यस्याहं तातेन दत्ता"

अर्थात् यह राजा उदयन है, जिसके लिए पिताजी ने मुझे दे दिया है। इत्यादि के रूप में सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त श्लेष सागरिका का उदयन के प्रति औत्सुक्य प्रदर्शित करता है और जो—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररूचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्भमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समरनां गौरीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्पहम् ॥

अर्थात् "क्षणभर में कलियों से लदी (दुर्दयनीय उत्कण्ठा युक्त), विकसित हुई (जम्भाई युक्त) निरन्तर रहने वाली बायु के झकोरों से (श्वांस प्रश्वास से) अपने (कामयुक्त) इस उद्यानलता (सागरिका) अन्य नारी के समान देखते हुए मैं वत्सराज आज देवी वासवदत्ता के मुख को क्रोध से लाल कर दूंगा।"

यह चतुर्थ पताका स्थानक का उदाहरण नहीं है। यद्यपि यहाँ मरन वृक्ष युक्त उद्यानलता और कामयुक्त नारी रूप दो अर्थों की प्रतिपत्ति होती है किन्तु इन अर्थों में कहीं भी सहकारिता नहीं है। इसलिए यह वीथी के अङ्ग व्यवहार का उदाहरण उचित है।

[1]यत्र सातिशयं वाक्यमर्थोपक्षेपणं भवेत् ।
विनाशिद्दृष्टमन्ते च पताकार्धं तु तद्भवेत् ॥ ३५ ॥
[2]चतुष्पताकापरमं नाटके [3]कार्यमिष्यते ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्त तांश्च वक्ष्याम्यतः परम्[4] ॥ ३६ ॥

एषामुत्कर्षं दर्शयितुमाह—

चतुष्पताकापरममिति । चतुष्पताकाशब्देन समनन्तरं पताकास्थानकमुक्तं तैश्चतुर्भिः कृतैः परममुत्कृष्टं नाटके नाट्यविषये कार्यमिष्यते तस्मात्तथा कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

पताकानायकेन हि यल्लेशतः कर्तव्यं तदेकेन क्रियते चतुष्टयेन वा । केचिदित्याहुः—चतर्षु सन्धिषु चत्वारः पताकानायकाः, तेषां यथाक्रमं सूचकानि पताका-

---

अनुवाद—जहाँ पर अतिशययुक्त वाक्य का अर्थोपक्षेपण हो और अन्त में विनाश दिखाई दे, वहाँ पताकार्ध होता है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार इनका उत्कर्ष दिखाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—नाटक में चार पताकाओं वाला तथा पाँच सन्धियों से युक्त कार्य इष्ट है जिनमें पताकाओं के निरूपण के बाद अब पाँच सन्धियों का वर्णन करूँगा ॥ ३६ ॥

अभिनव—यहाँ चतुष्पताका शब्द और परम शब्द से समनन्तर में पताका स्थानक कहा गया है । उन चार पताका-स्थानकों के सम्पन्न नाट्य परम उत्कृष्ट कार्य इष्ट है, इसलिए वैसा करना चाहिए अर्थात् नाट्य में चार पताका स्थानों से सम्पन्न उत्कृष्ट कार्य करना चाहिए ।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि पताका नायक द्वारा जो लेशतः कर्त्तव्य है, उसे क्या एक पताका-स्थानक के द्वारा किया जाता है अथवा चारों के

---

१. ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति एष श्लोकः ।
२. क. चतुष्पताकमेव हि ।
३. ख. ग. काव्यमिष्यते ।
४. ग. पुनः ।

स्थानकानि, प्रथमं मुखसन्धौ यावच्चतुर्थमवमर्शसन्धाविति— तच्चासत्, पताकाया इव प्रकरीकार्यविन्दुबीजानामपि सूचकान्तराणि वक्तव्यानि स्युः चत्वारश्च नियमेन पताकानायका भवेयुः, आगर्भाविति च पक्षे चतुष्पताकापरममित्यसङ्गतं स्यात्, मुख्यनायके चेतिवृत्तसूचकं न लक्षणतः कथ्यते पताकानायके तु कथ्यत इत्यधोत्तरभावितं स्यात्, न च मुख्यसन्धावाद्यं द्वितीयं प्रतिमुखसन्धावित्यादिक्रमो न्याये लक्ष्ये वा साक्ष्यमाक्षिपति—इत्यलमनेन ।

एवमितिवृत्तं व्याख्यातं, तस्य च भेदद्वयं निरूपितं, प्रसङ्गाधिकारिकत्वसिद्धये अनुवृत्तिस्थानभूता अवस्थाः पञ्च दर्शिता अर्थप्रकृतयश्च, तत्प्रसङ्गादेव पताकास्थानानि । अधुना इतिशब्दार्थं प्रयुक्तं पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तमिति । तत्र प्रतिज्ञा करोति तांश्च वक्ष्यामीति ॥ ३६ ॥

द्वारा ? इस पर कहते हैं कि चार सन्धियों में चार पताका नायक हैं उनको यथाक्रम सूचित करने वाले चार पताका-स्थानक हैं। उनमें प्रथम मुख सन्धि में, द्वितीय प्रतिमुख सन्धि में, तृतीय गर्भ सन्धि में और चतुर्थ अवमर्श सन्धि में रहता है, किन्तु यह सब असत् है। क्योंकि ऐसा मानने पर पताका के समान प्रकरी में भी बीज, विन्दु और कार्य को सूचक अन्य पताका स्थानकों को भी कहना पड़ेगा, तो फिर नियमतः चार पताका नायकों के समान चार प्रकरी नायक भी होंगे और गर्भसन्धि पर्यन्त इस पक्ष में 'चतुष्पताकापरमम्' यह कथन असङ्गत हो जायेगा। क्योंकि पताका नायक में इतिवृत्त सूचकों को लक्षणतः कहते हैं, किन्तु मुख्य नायक में इतिवृत्त सूचकों को लक्षण के द्वारा नहीं करते, इस प्रकार सब ऊपर से नीचे और नीचे का ऊपर हो जायेगा। और मुखसन्धि में पहला, प्रतिमुख सन्धि में दूसरा इत्यादि क्रम भी नाट्य में अथवा लक्ष्य में साक्ष्य का आक्षेप नहीं करता, अतः इसे रहने दिया जाय।

इस प्रकार इतिवृत्त की व्याख्या कर दी गई और उसके दो भेदों का भी निरूपण कर दिया है, उनमें प्रासङ्गिकत्व और आधिकारिकत्व की सिद्धि के लिए अनुवृत्ति स्थानभूत पाँच अवस्थाएँ और पाँच अर्थप्रकृतियाँ भी दिखाई गई हैं और इसी प्रसङ्ग में चार पताका स्थानकों को बतलाया गया है। अब इति शब्द के अर्थ का प्रयोग किया है कि पाँच सन्धियों से युक्त है। इसकी प्रतिज्ञा करते हैं, अब उन्हें कहूँगा ॥ ३६ ॥

मुखं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च[1]।
तथा निर्वहणं चेति[2] नाटके पञ्च सन्धयः ॥ ३७ ॥
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं प्रधानमनु कीर्त्यते ।
शेषा प्रधानसन्धीनामनु[3] ग्राह्यनुसन्धयः ॥ ३८ ॥

अथ निर्णिनीषुरुद्देशं तावदाह—मुखं प्रतिमुखं चैवेति ।

समुच्चयपदैः पञ्चानां सर्वत्रावश्यंभावित्वं द्योतितम् । नियमवाचिभिः क्रमनियमः । नाटक इत्यभिनेयरूपके इत्यर्थः । महावाक्यार्थरूपस्य रूपकार्थस्य पञ्चांशा अवस्थाभेदेन कल्प्यते ।

अब इनके निर्णय करने के उद्देश क्रम को कहते हैं—

अनुवाद—नाटक में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण ये पाँच सन्धियाँ होती हैं ॥ ३७ ॥

अनुवाद—जहाँ पर पाँच सन्धियों से युक्त प्रधान अर्थ का अनुकीर्त्तन होता है और शेष प्रधान का अनुग्रहण करने वाली अनुसन्धियाँ होती हैं ॥ ३८ ॥

अभिनव—यहाँ पर समुच्चय अर्थ के वाचक 'च' पदों से पाँचों सन्धियों की सर्वत्र अर्थात् सभी अभिनेयों में अवश्यंभाविता (अनिवार्यता) प्रकाशित की है और नियम के वाचक 'एव' शब्द से क्रम का नियम दिखाया है। यहाँ 'नाटके' पद का अर्थ 'अभिनेय रूपक' लिया गया है। महावाक्यार्थ रूप रूपाकार्थ के (अभिनेय रूपकों के अर्थ में) अवस्था भेद से पाँच अंशों में इसकी कल्पना की गई है।

यहाँ इतिवृत्त में समस्त प्रयोजनभूत प्रमुख स्वतन्त्र नायक के अपने मुख से अथवा दूसरे के द्वारा जो प्रथम प्रारम्भिक अवस्था का व्याख्यान किया है, तदुपयोगी जितनी भी अर्थराशि है वह मुखसन्धि है, उस अर्थराशि के उपक्षेपादि जो अवान्तर भाग हैं, वे सन्ध्यङ्ग है। इसी प्रकार अन्य सन्धियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इन अङ्गों का उन अवयवों के साथ परस्पर जो सन्धान है वह अनुसन्धि है। यह इसका सामान्य लक्षण है ॥ ३७-३८ ॥

---

१. ग. गर्भो विमर्शश्च तथैव हि । ख. गर्भोऽविमर्शस्तथा हि ।
२. ख. चैव सन्धयो नाटके स्मृताः ।
३. ख. ग. ग्राह्यास्तु सन्धयः ।

तत्र मुखस्य स्वतन्त्रस्येतिवृत्ते समस्त प्रयोजनस्यात एव नायकस्य स्वमुखेन परद्वारेण वा या प्रारम्भावस्था प्रथमा व्याख्याता तदुपयोगी यावानर्थराशिः स मुखसन्धिः। तस्यार्थराशेरवान्तरभागान्युपक्षेपाद्यानि सन्ध्यङ्गानि। एवमन्येषु सन्धिषु वाच्यम्। तेनार्थावयवा सन्धीयमानाः परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति समाख्या निरुक्ता। तदेषां सामान्यलक्षणम्॥ ३७-३८॥

विशेष—पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थप्रवृत्ति ये पाँच सन्धियों का सृजन होता है। भरत ने पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थप्रकृतियों के योग से पाँच सन्धियों की परिकल्पना की है। ये पाँचों सन्धियाँ इतिवृत्तरूप नाटच शरीर के अङ्ग है, इन सन्धियों से नाटच में वैचित्र्य आता है। अभिनवगुप्त ने प्रधान इतिवृत्त के अंश को उसके स्वरूप एवं अङ्ग से सम्बद्ध करनेवाले तत्त्व को सन्धि कहा है। धनञ्जय, शारदातनय, विश्वनाथ आदि आचार्य पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थ प्रकृतियों को जोड़ने वाले तत्त्व को सन्धि कहते हैं। सन्धि का सामान्यलक्षण बताते हुए वे कहते हैं—

'जहाँ किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित कथा भागों का अवान्तर किसी एक प्रयोजनों से सम्धद्ध किया जाय, उसे 'सन्धि' कहते हैं (**एक प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः**)। सन्धि में कथाभागों का सम्बन्ध एक ओर तो अर्थ प्रकृति के रूप में कार्य से होता है और दूसरी ओर अवस्था के रूप में फलागम से होता है, इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर 'सन्धि' होती है जैसे, बीज और आरम्भ मिलकर मुखसन्धि, बिन्दु और प्रयत्न मिलकर प्रतिमुखसन्धि, पताका और प्राप्याशा मिलकर गर्भ सन्धि, प्रकरी और नियताप्ति मिलकर विमर्श सन्धि, तथा कार्य और फलागम मिलकर विमर्श निर्वहण सन्धि होती है। जैसे—

अर्थप्रकृति		**अवस्था**		**मुखसन्धि**
बीज	+	प्रारम्भ	=	मुखसन्धि
बिन्दु	+	प्रयत्न	=	प्रतिमुखसन्धि
पताका	+	प्राप्त्याशा	=	गर्भसन्धि
प्रकरी	+	नियताप्ति	=	विमर्शसन्धि
कार्य	+	फलागम	=	निर्वहणसन्धि

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
काव्ये शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ ३९ ॥

तत्रैषां क्रमेण विशेषलक्षणमाह—यत्र बीज समुत्पत्तिरिति।

प्रागारम्भभावित्वान्मुखमिव मुखं यावत् क्रियावत्यर्थभागराशौ बीजस्य मुखोपायस्य सम्यगुत्पत्तिः शरीरेण प्रारम्भात्मना अनुगता भवति, नानाभूतोऽर्थवशात् प्रसङ्गायातो रससंभवो यः स्यात् । एतदुक्तं—प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्रास्वाद आपतितः तावान् मुखसन्धिः, तदभिधायी च रूपकैकदेशः । यथा रत्नावल्यां प्रथमोऽङ्कः तथा हि, अमात्यस्य वीरो, वत्सराजस्य श्रृङ्गाराद्भुतो ततः श्रृङ्गार इति इयानयं सागरिकाया राजदर्शनेऽमात्यप्रारम्भ-विषयीकृतेऽर्थराशिरुपयोगीति मुखसन्धिः । एवं प्रतिसन्धि वक्तव्यम् ।

अभिनव—सन्धियों के सामान्य लक्षण बताने के बाद अब इनके विशेष लक्षणबताते हुए प्रथमतः मुख सन्धि का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर बीज की समुत्पत्ति नाना प्रयोजनों से अनुस्यूत, रसों को उद्भूत करने वाली काव्य में इतिवृत्त रूप शरीर के अनुभूत होती है, उसे 'मुख' सन्धि कहते हैं ॥ ३९ ॥

अभिनव—प्राक् अर्थात् पहिले प्रारम्भावस्था होने के कारण मुख की तरह मुख है अर्थात् मुख के समान समस्त अवयवों में प्रधान होने से मुख की तरह मुख सन्धि भी है। जितना भी क्रियावान् अर्थभागराशि है उसमें मुख्य उपायभूत बीज की सम्यक् उत्पत्ति प्रारम्भावस्था विशिष्ट इतिवृत्त रूप शरीर के अनुगत होती है। अर्थवश प्रसंग से प्राप्त नाना प्रकार के रस की समुत्पत्ति जहाँ हो सकती है। वहाँ यह कहा गया है कि प्रारम्भावस्था के उपयोगी जितना भी अर्थ राशि प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्र आस्वाद आ जाता है उतना अर्थसमूह मुखसन्धि है और उसका अभिधायी अंश रूपक का एकदेश है। जैसे रत्नावली नाटिका के प्रथम अङ्क में "अमात्य में वीर रस, वत्सराज में पहिले श्रृङ्गार और अद्भुत रस, फिर बाद में भी शृङ्गार रस है। इस प्रकार यहाँ सागरिका के राजदर्शन के प्राप्ति में अमात्य के आरम्भ द्वारा इतना अर्थराशि के उपयोगी होने से यहाँ मुख सन्धि है। इसी प्रकार प्रतिमुखसन्धि भी समझना चाहिए ।

बीजस्योद्घाटनं यत्र[1] दृष्टनष्टमिव क्वचित् ।
[2]मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम्[3] ॥ ४० ॥

बीजस्योद्घाटनं यत्रेति । कार्यतया दृष्टं कारणतया नष्टमिति केचित्, उपादेये दृष्टं हेये नष्टमित्यन्ये, नायकवृत्ते दृष्टं प्रतिनायकेतिवृत्ते नष्टमित्यपरे । न चैतत्समञ्जसम्, एकविषयमन्तरेण सन्धानायोगात्, नाशस्यापि च हेयादिविषयस्य प्रारम्भवशेन दृष्टतयैव संग्रहसंपत्तेः । तस्मादयमत्रार्थः—बीजस्योद्घाटनं तावत् फलानुगुणो दशाविशेषः तद् इष्टमपि विरोधिसंनिधेर्नष्टमिव, पांसुना पिहितस्येव बीजस्याङ्कुररूपमुद्घाटनम् । तथा वेणीसंहारे कञ्चुकिवचनम्—

विशेष—जहाँ पर अनेक प्रकार के प्रयोजनों एवं रसों के योग से बीज की उत्पत्ति पाई जाती है उसे 'मुखसन्धि' कहते । जिस प्रकार शरीर के अवयवों में मुख की प्रधानता होती है उसी प्रकार आरम्भाद्यवस्था के साथ बीज की उत्पत्ति होने के कारण नाटच-शरीर में यह सन्धि मुख्य होने से 'मुखसन्धि' कही जाती है । जैसे रत्नावली के प्रथम अङ्क में मुखसन्धि है ॥ ३९ ॥

अनुवाद—मुखसन्धि मे न्यस्त बीज का कभी दृष्ट और नष्ट रूप से जहाँ उद्घाटन हाता है, उसे 'प्रतिमुख' सन्धि कहते हैं ॥ ४० ॥

अभिनव—कुछ आचार्य कहते हैं कि मुखसन्धि में न्यस्त बीज का कभी कार्यरूप में दिखाई दना दृष्ट और कारण रूप में अदृष्ट (नष्ट) है । कुछ अन्य लोग कहने हैं कि वह उपादेय अंश में दृष्ट है और हेय अंश में अदृष्ट है। दूसरे लोग कहते हैं कि वह नायक के इतिवृत्त में दृष्ट और प्रतिनायक के इतिवृत्त में नष्ट हाता है, अभिनवगुप्त का कथन है कि यह युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि विषय को आधार बनाये विना अनुसन्धान नहीं हो सकता और अनुसन्धान विषय का होता है । अतः हेयादिविषयक नाश भी प्रारम्भावस्था में दृष्ट रूप होने से संग्रह प्राप्त है । इसलिए इसका यह अर्थ है कि बीज का उद्घाटन तो फलानुरूप दशा विशेष है, वह दृष्ट होते हुए भी विरोधियों के सन्निधि से नष्ट की तरह है जैसे धूलि में पिहित (ढके हुए) बीज का अंकुर के रूप में उद्घाटन । जैसे—वेणीसंहार में कञ्चुकी का वचन ।

---

१. ख. ग. यत्तु । २. ख. मुखे न्यस्तस्य ।
३. ख. भवेत् ।

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥
(वेणीसंहार २।२)

अत्र पाण्डवाभ्युदयस्य मुखोपक्षिप्तस्योद्घाटनं भीष्मवधाद् दृष्टमभिन्युवधान्नष्टम्। अत्रापि वेदितमिति केचित्। तथा चार्थो न संगमितः स्यात्। दृष्टतैव प्रतिमुख उपयोगिनी नष्टता त्ववमर्शं एवेति केचिदुत्तरोत्तरविकासतारतम्य दृष्टनष्टत्व-माहुः। पूर्वावस्था हि दृष्टाप्युत्तरदृष्टविकासापेक्षया नष्टा। एवं संमृष्टोपम-विकास उत्तरापेक्षयेति मन्यते, अत्रापीवार्थो न सङ्गच्छत एव, न कार्यजननं शक्त्या।

"अब से शस्त्र को ग्रहण किया तब से लेकर जिसका परशु कभी कुण्ठित नहीं हुआ, उस परशुराम मुनि को भी जीतने वाले भीष्म पितामह को भी पाण्डुपुत्र अर्जुन ने वाणों से मार कर धराशायी कर दिया, वह दुर्योधन के लिए सन्ताप का विषय नहीं था। अनेक प्रौढ़ धनुर्धारियों को जीतकर थके हुए, शत्रुओं के द्वारा काटे जाने से धनुष-रहित अकेले बालक अभिमन्यु के वध से वह दुर्योधन प्रसन्न था।"

यहाँ पर मुख सन्धि में उपक्षिप्त पाण्डवों का अभ्युदय का उद्घाटन भीष्म के वध से दृष्ट है और अभिमन्यु के वध से नष्ट है। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ भी मुखसन्धि में उत्क्षिप्त अर्थ की जानकारी तो हुई किन्तु यहाँ अर्थसंगत तो नहीं हुआ। क्योंकि प्रतिमुख सन्धि में होती है। कुछ लोग कहते हैं कि उत्तरोत्तर विकास में जो तारतम्य है, उसे ही दृष्ट-नष्ट कहते हैं। क्योंकि पूर्वावस्था दृष्ट होने पर भी उत्तर दृष्ट विकास की अपेक्षा नष्ट है। इसी प्रकार उत्तर विकास की अपेक्षा से यह विकास घुल सा गया है। यहाँ पर भी 'दृष्टनष्टमिव' में 'इव' पद का अर्थ सङ्गत नहीं होता और न शक्ति के द्वारा कार्य को उत्पन्न करता है।

तस्मादयमत्रार्थः—इष्टं नष्टमिव कृत्वा तावन्मुखे न्यस्तं भूमाविव बीजं, अमात्येन सागरिकाचेष्टितं वसन्तोत्सवकामदेवपूजादिना तिरोहितं नष्टमिव सागरिकाचेष्टितस्य हि बीजस्येव तदाच्छादकमप्युत्सवादिरूपं भूमिरिव प्रत्युद्बोधकम्। तस्य दृष्टनष्टतुल्यं कृत्वा न्यस्तस्य, अत एव कुङ्कुमबीजस्य यदुद्घाटनं तत्कल्पं, यत्रोद्घाटनं सर्वत्रैव कथाभागसमूहे तत्प्रतिमुखं, प्रतिराभिमुख्येन यतोऽत्र वृत्तिः। पराङ्मुखता हि दृष्टनष्टकल्पनानिदर्शनम्।

रत्नावल्यां—परप्पेसत्तणदूसिदं वि मे शरीरं एतस्य संसणेण अज्ज मे बहुमदं संपण्णम् (परपेष्यत्वदूषितमपि मे शरीरमेतस्य दर्शनेनाद्य मे बहुमतं सम्पन्नम्) इत्यादिसागरिकोक्तेः नङ्काङ्कात् प्रथमाङ्कात् सुसङ्गतारचितराज समागमपर्यन्तं काव्यं द्वितीयाङ्कगतं प्रतिमुखसन्धिः। उद्घाटितत्वाद् बीजस्य स्तोकमात्रं तु शङ्कुकादिभिरुदाहृतं यत्तदेकदेशलक्षणमिति द्रष्टव्यम्।

इसलिए यहाँ यह अर्थ है कि भूमि में उत्क्षिप्त बीज के समान मुखसन्धि में न्यस्त (दृष्ट) अर्थराशि प्रतिमुख सन्धि में नष्ट के समान होता है। अमात्य ने सागरिका की चेष्टाओं को वसन्तोत्सव एवं कामदेव की पूजा आदि से तिरोहित कर दिया, अब नष्ट के समान प्रतीत होता है। किन्तु जैसे भूमि बीज का आच्छादक होते हुए भी उद्बोधक होता भी है, उसी प्रकार मदनोत्सव आदि सागरिका की चेष्टाओं का आच्छादक होते हुए भी उद्बोधक भी है। अतः सर्वत्र कथा समूह में बीज के दृष्ट नष्ट के समान प्रतिमुख सन्धि है, पराङ्मुखता दृष्ट-नष्ट कल्पना में निदर्शन है।

रत्नावली नाटिका में—'दूसरे की दासता से दूषित (तुच्छ) मेरा शरीर इनके दर्शन से आज धन्य हो गया, इत्यादि प्रथमाङ्कगत सागरिका के कथन से लेकर सुसङ्गता के द्वारा कराये गये राजसमागम पर्यन्त द्वितीयाङ्कगत काव्य प्रतिमुख सन्धि है। क्योंकि इसमें बीज का उद्घाटन है। शङ्कुक आदि आचार्यों ने थोड़ा सा उदाहृत किया है। वह उसका एकदेशीय लक्षण है ॥ ४० ॥

विशेष—प्रयत्नावस्था और विन्दु नायक अर्थ प्रकृति के योग से प्रतिमुख सन्धि होती है। इसमें बीज रूप इतिवृत्त का उद्घाटन होता है। मुखसन्धि में बीज का वपन होता है और प्रतिमुख सन्धि में प्रस्फुटित होने लगता है। जैसे धूलि से आच्छादित अङ्कुर रूप में प्रस्फुटित होता है उस प्रकार बीज भी कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में प्रस्फुटितके होता है। इस प्रकार लक्ष्यालक्ष्य रूप में बीज का उद्भेद प्रतिमुख सन्धि है ॥ ४० ॥

[1]उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भं इति संज्ञितः ॥ ४१ ॥

उद्भेद इति। तस्येति उत्पत्त्युद्घाटनवशाद्द्याविष्टस्य बीजस्य यस्तोद्भेदः फलजननाभिमुख्यस्त्वं स गर्भः। उद्भेदभेदं विवृणोति प्राप्तिरित्यादिना। प्राप्तिर्नायकविषया, अप्राप्तिः प्रतिनायकचरिते पुनश्चान्वेषणमित्युभयसाधारणम्। अन्ये तु वीररौद्रविषय एवैतस्यार्थस्य भावादव्यापित्वादेवमाहुः। प्राप्तिः, अप्राप्तिरन्वेषणमित्येवंभूताभिरवस्थाभिः पुनः पुनर्भवन्तीभिर्युक्तो गर्भसन्धिः, प्राप्तिसम्भवाख्ययावस्थया युक्तत्वेन फलस्य गर्भीभावात्। तथा हि–रत्नावल्यां द्वितीयाऽङ्के सुसङ्गता- अवक्खिणा दाणिं तुमं, जा एव्वं भट्टिणा हत्थेण गहीदा वि कोवं ण मुंचेति (अवक्षिणा इदानीं त्वं या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि) इत्यादौ प्राप्तिः।

अनुवाद—जहाँ मुखसन्धि में उपन्यस्त बीज की कभी प्राप्ति कभी अप्राप्ति और उसका अन्वेषण किया जाता है, उसे 'गर्भसन्धि' कहते हैं ॥ ४१ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार उत्पत्ति और उद्घाटन रूप दो दशाओं से आविष्ट बीज का जहाँ पर उद्भेद अर्थात् फलजननाभिमुखता होती है, वहाँ गर्भसन्धि होती हैं। 'प्राप्तिरप्राप्ति' इत्यादि के द्वारा उद्भेद की व्याख्या करते हैं। प्राप्ति नायकविषया और अप्राप्ति प्रतिनायक विषया होती है, फिर उसका अन्वेषण उभय साधारण होता है। अन्य लोग कहते हैं कि वीर और रौद्र रस के विषय में ही इस अर्थ का अस्तित्व होने से यह अव्यापी है, इसलिए ऐसा कहते हैं। अतः कभी प्राप्ति, कभी अप्राप्ति और फिर अन्वेषण इस प्रकार की बार-बार होने वाली अवस्थाओं से युक्त गर्भ सन्धि होती है। प्राप्तिसम्भव नायक अवस्था से युक्त होने के कारण इसमें फल का गर्भीभाव होता है। जैसे—रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क में सुसङ्गता कहती है कि हे सखि ! इस समय तुम अतिनिष्ठुर बन गई हो जो कि इस प्रकार स्वामी के द्वारा हाथ से पकड़ी जाने पर भी क्रोध को नहीं छोड़ रही हो।" इत्यादि

यहाँ पर प्राप्ति अवस्था है।

१. क. उद्भेदो यत्र।

पुनर्वासवदत्ताप्रवेशेऽप्राप्तिस्तृतीयेङ्ऽके । "तद्वृत्तान्वेषणाय गतश्चिरयति वसन्तकः" इत्यन्वेषणम् ।

विदूषकः—ही ही भोः कोसंबीरज्जलंभेणावि ण तारिसो पिअवअस्सस्स परितोसो जारिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि" [1]इत्यादौ प्राप्तिः ।

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किम् ?
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किं ।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे ॥

पुनः इति, विदूषकस्य—"भो वयस्स, किं अवरं"[2] इत्यत्र वासवदत्ताप्रत्यभिज्ञानादप्राप्तिः ।

पुनः रत्नावली के तृतीय अङ्क में वासवदत्ता के प्रवेश के समय अप्राप्ति अवस्था है फिर "उसका वृत्तान्त (समाचार) लाने के लिए गया वसन्तक देरी क्यों कर रहा है।" इत्यादि में अन्वेषण है।

फिर विदूषक कहता है कि "अहो, अहो, अरे ! कौशाम्बी का राज्य मिलने पर भी प्रियमित्र को उतना सन्तोष नहीं होगा जितना मेरे द्वारा प्रिय वचन को सुनकर होगा" इत्यादि में पुनः प्राप्ति अवस्था है।

पुनः नायक के द्वारा—"देवि" तुम्हारा मुखकमल क्या कमल की कान्ति को दूर नहीं करता ? क्या वह नयनों को आनन्दित नहीं करता ? क्या दर्शनमात्र से ही काम की वृद्धि नहीं करता ? तुम्हारा मुख चन्द्रसदृश है मानो दूसरा चन्द्रमा निकल आया है। यदि चन्द्रमा को अमृत का दर्प है तो वह तुम्हारे इस बिम्बाधार में है।" ऐसा कहने पर—और विदूषक के द्वारा "अरे मित्र ! और क्या ? यह हमारे जीवन का संशय बन गया है।"

यहाँ पर वासवदत्ता को पहचान लेने पर सागरिका की अप्राप्ति है।

१. ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषो यादृशो मत्सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति ।

२. भो वयस्य किमपरम् ।

[1]गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽथवा[2]।
[3]क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृतः ॥ ४२ ॥

पुनः सागरिकायाः सङ्केतस्थानागमने अन्वेषणम्। पुनर्लतापाशकरणे प्राप्तिरित्येवं गर्भः अप्राप्त्यंशश्चात्रावश्यंभावो, अन्यथा हि सम्भावनात्मा प्राप्तिसंभवः कथं निश्चय एव हि स्यात्। अवमर्शे त्वप्राप्तेरेव प्रधानतया प्राप्त्यंशस्य च न्यूनतेति विशेषः[4]।

पुनः सागरिका के सङ्केत स्थान पर न आने से अन्वेषण है, पुनः लतापाश के द्वारा आत्महत्या के लिए उद्यत सागरिका की प्राप्ति होने से यहाँ गर्भसन्धि है। यहाँ गर्भसन्धि में प्राप्त्यंश अवश्यंभावी हैं। अन्यथा सम्भावना रूप प्राप्तिसम्भव कैसे होगा? निश्चय ही होगा। अवमर्श सन्धि में तो प्राप्ति की ही प्रधानता है और प्राप्त्यंश की न्यूनता है। यही दोनों में विशेष है ॥ ४१ ॥

विशेष—प्राप्त्याशा नामक अवस्था और पताका नामक अर्थकृति के योग से 'गर्भ-सन्धि' बनती है। इस सन्धि में नायक विषयक प्राप्ति और प्रतिनायक विषयक अप्राप्ति के साथ अन्वेषण भी होता है। धनञ्जय के अनुसार प्रतिमुखसन्धि में लक्ष्यालक्ष्य रूप में किञ्चित् विकसित बीज का पुनः पुनः आविर्भाव, तिरोभाव और अन्वेषण गर्भसन्धि है। इसमें मुख्य फल की प्राप्ति और अप्राप्ति की स्थिति में बीज का बार-बार अनुसन्धान से फलोन्मुखता गर्भित रहती है। अतः इसे 'गर्भसन्धि' कहते हैं। जैसे, रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क में वत्सराज को फलप्राप्ति में वासवदत्ता के विघ्न उपस्थित करना और सागरिका द्वारा फलप्राप्त्याशा, पुनः विघ्न फिर प्राप्त्याशा, फिर विच्छेद और फलप्राप्ति के उपायों का बार-बार अन्वेषण होता है।

अनुवाद—जहाँ पर गर्भसन्धि में उद्भिन्न (प्रस्फुटित) बीजरूप अर्थ से सम्बद्ध विलोभन, क्रोध अथवा व्यसन के कारण फलप्राप्ति के विषय में विचार किया जाय, उसे विमर्श सन्धि कहते हैं ॥ ४२ ॥

१. ग. गर्भात्। २. ख. ग. अपि वा।
३. ग. किंचिदाश्लेषसंयुक्तो विमर्श इति कीर्तितः।
४. "अवमर्शे तु प्राप्तेरेव प्रधानता, अप्राप्त्यंशस्य च न्यूनता" इति पाठः स्यात्। यतः गर्भसन्धावप्राप्त्यंशः प्रधानं फलसंभावनात्मकत्वात्, अन्यथा स फलनिश्चयात्मक एव स्यादित्युक्तं, तद्व्यतिरेकेऽवमर्शे प्राप्तेरेव प्रधानता।

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थं इति । केचिद्विमश इति पठन्ति, अन्येऽवमर्शं इति। तत्र सन्देहात्मको विमर्शः । ननु पूर्वः सम्भावनाप्रत्ययः, ततः संशय इति। नेदमुचितम्, संशयनिर्णयान्तरालवर्तिनं हि तर्कं तार्किकाः प्राहुः । किं च विमर्शसन्धिर्नियतफलप्राप्त्यवस्थया व्याप्तः, तच्च नियतत्वं सन्देहश्चेति किमेतत् अत्राहुः—तर्कानन्तरमपि हेत्वन्तरवशाद् बाधच्छलरूपतापराकरणे संशयो भवेत्, किं न भवति । इहापि च निमित्तलाभात् कुतश्चित्संभावितमपि फलं यदा बलवता प्रत्यूह्यते कारणानि च फलवन्ति भवन्ति तदा जनकविघातकयोस्तुल्यबलत्वात् कथं न सन्देहः। तुल्यबलविरोधकविधीयमानवैधुर्यव्याधूननसन्धीयमानस्फारफलावलोकनायां च पुरुषकारः सुपरामृद्धुरकन्धरीभवतीति तर्कानन्तरमत्र संशयः ततो निर्णय इत्येतदेवोचिततरम् ।

तथा हि—पुरुषकारकालिन एव श्लाघ्यते, अद्भुतमद्भुतं प्राणसन्देहादप्यनेकात्मा समुत्तारितो यत्र संभावनाविना भवति, यत एवात्र प्रयत्नतो विधुरप्रयत्नतो य उपनिपातः, तत एव पुरुषकारोद्यतः पुनर्नाशमपि विजिगीषागर्भत्वेन प्रोद्यमं भजतीति तदाशयेन नियता फलप्राप्तिरुच्यते ।

अभिनव—इसे कोई 'विमर्श' कहते हैं और दूसरे लोग अवमर्श पढ़ते हैं, किन्तु अभिनवगुप्त विमर्श को सन्देहात्मक मानते हैं, अब प्रश्न होता है कि जब पहिले सम्भावना में प्रत्यक्ष होगा तो फिर संशय (सन्देह) कैसा ? यह उचित नहीं है। क्योंकि तार्किक लोग तर्क को संशय और निर्णय के अन्तरालवर्त्ती मानते हैं। किं च विमर्श सन्धि नियत फलप्राप्ति रूप अवस्था से व्याप्त रहती है। अतः नियतत्त्व (नियत होना) और सन्देह (सन्दिग्ध होना) यह क्या है ? इस पर कहते हैं कि तर्क के अनन्तर अन्य हेतुओं के कारण बाध और छल रूपता के पराकरण में संशय हो सकता है कि ऐसा क्यों नहीं होता ? यहाँ पर भी किसी निमित्त के कारण कहीं से सम्भावित फल जब किसी बलवान् विघ्न के द्वारा बाधित होता है। किन्तु कारण भी बलवान् होते हैं तो उत्पादक और विधातक दोनों के तुल्यबल होने पर सन्देह क्यों नहीं होगा ? तुल्यबल विरोधियों द्वारा विधीयमान विघ्न को दूर करने और सन्धीयमान विशाल फल के मिलने में उद्योगी का पुरुषार्थ अत्यन्त समुन्नत होता है। इसलिए यहाँ तर्क के बाद संशय और संशय के बाद निर्णय यही अधिक उचित हैं।

श्रेयांसि बहुविघ्नानीति पश्यता तदत्र मया विघ्नापसारणं कर्तव्यमिति साभिमानः स्वमुद्योगसूत्रं सहस्रगुणीकुरुते, तथा हि सागरिकाबन्धनेऽपि महामात्यप्रयुक्तमैन्द्रजालिकवृत्तं सुनिपुणमुपनिबद्धं तावत् ।

अन्ये त्ववमर्शो विघ्न इति वदन्ति । स च व्याख्याने बीजशब्देन तद्बीजफलं अर्थशब्देन निवृत्तिरुच्यते । तेन गर्भनिर्भिन्नप्रदर्शितमुखं यद्बीजफलं तस्य योऽर्थो निवृत्तिः पुनस्तत्रैव संपादनं निष्प्रत्यूहप्राणतया फलप्रसूतिः तच्छब्देन यत्रेत्याक्षिप्तम्, सा च निवृत्तिः क्रोधेन च निमित्तेन लोभेन वा व्यसनेन शापादिना वा । अपिशब्दाद् विघ्ननिमित्तान्तराणां प्रतिपदशक्यनिर्देशानां संग्रहः ।

पुरुषार्थी की ही प्रशंसा की जाती है। आश्चर्य है, आश्चर्य है कि प्राणों की सन्देहावस्था से भी इसने अपने को बचा लिया। इस प्रकार जहाँ सम्भावना का अविनाभाव होता है, इसलिए जहाँ प्रयत्न करता है, फिर विधुरता (वियोग) होती है, फिर प्रयत्न करता है, फिर समीपता (संयोग) होती है। इसी प्रकार पुरुषार्थ के लिए उद्यत पुरुष नाश को प्राप्त होता हुआभी बिजिगीषु होने के कारण पुनः प्रकृष्ट उद्यम करता है, इसलिए फलप्राप्ति को निश्चित कहते हैं।

'अच्छे कार्यों में बिघ्न बहुत पड़ते हैं।' यह समझकर 'मुझे यहाँ विघ्नों को दूर अवश्य करना चाहिए, इस अभिमान के साथ वह अपने उद्योग सूत्रों हजार गुना करता है। जैसे सागरिका को बन्धन बाँधने में भो महामात्य के द्वारा प्रयुक्त ऐन्द्रजालिक के वृत्तान्त बड़ी चतुराई से उपनिबद्ध किया है।

अन्य लोग तो अवमर्श का अर्थ बिघ्न है, ऐसा समझते हैं। उसकी व्याख्या बीज शब्द से बीज का फल और अर्थ शब्द से निवृत्ति कहते हैं। इसलिए गर्भ में निर्भिन्न (अस्फुटित) और प्रारम्भ में प्रदर्शित जो बीज का फल उसका जो अर्थ अर्थात् निवृत्ति, फिर वहीं पर सम्पादन अर्थात् निर्विघ्न फलप्रसूति। यहाँ तत् शब्द से यत्र का आक्षेप कर लिया गया है। और वह निवृत्ति भी कहीं पर क्रोध से कारण कहीं पर लोभ से कहीं पर व्यसन से और कहीं पर शापादि के कारण होता है। 'अपि' शब्द से विघ्न के भिन्न-भिन्न कारणों का संग्रह होता है, जिनमें प्रत्येक निर्देशों का संग्रह अशक्य है।

स च देव्या वासवदत्तया सागरिकायाः कारानिक्षेपात्प्रभृति येयं तुरीयेऽङ्के राज्ञ उक्तिः—

> कण्ठाश्लेषं समासाद्य तस्या प्रभ्रष्टयानया।
> तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम॥

अत्र विघ्ने वासवदत्ताक्रोधो निमित्तम्।

लोभस्तु निमित्तं, यथा तापसवत्सराजे—

> "त्वत्संप्राप्तिविलोभितेन सचिवैः प्राणा मया धारिताः
> तन्मत्वा त्यजतः शरीरकमिदं नैवास्ति निस्स्नेहता।
> आसन्नोऽवसरस्तवानुगमने जाता धृतिः किं त्वियान्
> खेदो यच्छतधा गतं न हृदयं तस्मिन् क्षणे दारुणे"[1]॥
> (तापसवत्सराज ६-३)

जैसे रत्नावली में हे 'देवी वासवदत्ता के द्वारा सागरिकाका कारागार में निक्षेप' यहाँ से लेकर चतुर्थ अङ्क में जो यह राजा की उक्ति है—

"उस प्रिया सागरिका के गले का आलिङ्गन करके उससे प्रभ्रष्ट हुई (अलग हुई) समान अवस्था वाली मेरी इस देह (शरीर) की सखी के समान आश्वासन दे रही है।"

यहाँ पर विघ्न में बासवदत्ता का क्रोध ही निर्मित है।

लोभ भी निमित्त होता है। जैसे, तापवत्सराज में—

"सचिवों के द्वारा तुम्हारी प्राप्ति के लोभ से लुभाये गये मैंने प्राणों को धारण किया है। ऐसा समझ कर इस तुच्छ शरीर को छोड़ते हुए मुझे भी कुछ स्नेह नहीं है। तुम्हारा अनुसरण करने का यह अवसर है, फिर भी इतनी धृति है, किन्तु यह भेद है कि इस दारुण क्षण में हृदय के सौ टुकड़े नहीं हो गये।"

किन्तु उसका दूसरे लोग सहन नहीं करते हैं। उनका कथन है कि वासवदत्ता की प्राप्ति का लोभ प्रकृत में विघ्नकारी नहीं है। यदि विघ्नकारी होता तो उदाहरण होता—वहीं पर पद्मावती के साथ विवाह कर लेने पर

१. अयं श्लोको भिन्नपाठत्वेन कुन्तकाभिनवगुप्तभट्टनायकहेमचन्द्रादिभिरुदाहृतः।

तदपरे न सहन्ते—न ह्यत्र वासवदत्ताप्राप्तिलोभः प्रकृते फले विघ्नकारीति, इदं तदोदाहरणं—तत्रैव परिणीतायामपि पद्मावत्यां वासवदत्तामलभमानस्य राज्ञो मरणाध्यवसायो मुमूर्षोः, तदलोभे मन्त्रिणां सुतरां राज्यप्राप्तिदीर्घलाभो निमित्तमिति।

तच्च व्यसनं त्ववमर्शनिमित्तमिति अभिज्ञानशाकुन्तले वर्णितम्। एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्। तथा हि—सपत्न्यां विद्याप्रभावो निमित्तमवमर्शे, क्वचिद्दैवं, क्वचित्समयः—यथा विक्रमोर्वश्यां पुत्रवदनावलोकनादूर्वश्याः स्वर्गगमनाध्यवसायः।

अन्ये त्वावृत्तिविमर्शशब्दं कल्पयन्त इत्थं व्याचक्षते—गर्भान्निर्भिन्नो बीजार्थफलं यस्मिन् विमर्शादिकारणत्वाद् विमर्शरूपे कथावयवे स विमर्शो नामेति। अत्र व्याख्याने मुख्यमस्य सन्धेर्यद्रूपं विदूरकारणसंपातात्मकत्वं नाम तदस्पृष्टमेव स्यात्।

वासवदत्ता को प्राप्त न कर पाने वाले राजा का मरने के लिए अध्यवसाय होता है। उसके न मिलने से मुमूर्षु राजा के दीर्घ जीवन के सम्बन्ध में मन्त्रियों को राज्यप्राप्ति का लोभ निमित्त है।

और व्यसन भी अवमर्श का निमित्त है, यह अभिज्ञानशाकुन्तल में दिखाया गया है। इस प्रकार अन्य निमित्तों की उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए। जैसे सौत में विद्या का प्रभाव अवमर्श सन्धि में निमित्त है और कहीं पर दैव अवमर्श में निमित्त है और कहीं पर समय निमित्त है। जैसे—विक्रमोर्वशीय में पुत्रमुख के अवलोकन की दशा में उर्वशी का स्वर्गगमन रूप अध्यवसाय निमित्त है।

अन्य लोग तो विमर्श शब्द की आवृत्ति की कल्पना करते हुए इस प्रकार व्याख्या करते हैं—जहाँ पर गर्भसन्धि से निर्भिन्न (प्रस्फुटित) बीजार्थ फल विमर्शादि का कारण होने से विमर्श रूप कथावथव में वह विमर्श कहा जाता है। इस व्याख्यान में इस सन्धि का मुख्य जो रूप है बह दूरी के कारण सम्पात रूप है वह अस्पृष्ट रह जाता है।

अन्ये तु लाभयोग्यत्वं, नाशावस्था, अन्वेषणावस्था च यथारुचि गर्भे यथारुचि निबन्धनीया, तत्र यदा लाभात्मिका प्राप्त्यवस्था प्रतिमुखेनैव बध्यते तदान्ये द्वे गर्भे सन्धौ, यदाप्यवमर्शे नाशावस्था तदा गर्भेऽन्वेषणमेव, गर्भे यदा नाशान्वेषणे तदा चावमर्शे विचारो निबन्धनीयः। कथं मया प्राप्तप्रायमप्यपहारितं, किमत्र विगुणोपायानुष्ठानं मया कृतं, उत प्राप्तियोग्यमेवैतन्न भवतीति, यदाहोद्भटः—यासामन्वेषणभूमिरवमृष्टिरवमर्श इति, तच्चेदं व्याख्यानं लक्ष्यविरुद्धं युक्त्या च पूर्वोदितप्रारम्भाद्यवस्थापञ्चकगतक्रमनियमसमर्थनप्रस्तावोक्तया विरुद्धमित्यास्ताम्।

अहमनेन विफलायां क्रियायां विलोभ्य प्रवर्तित इति यत्र कर्ता विमृशति स विलोभनकृत इति, क्रोधव्यसनादेस्तु व्यापद्यमाने फलव्यापत्तिविषयो यः कर्तृविचारः स क्रोधव्यसनजे विमर्श इत्येवं विमर्शनस्वभाव एव विमर्शः, कार्यविनिपातस्तूत्तरनिर्वहणसन्धिनिबध्यमानाद्भुतरसपरिपोषकत्वेन निबध्यते" इति श्रीशङ्कुकः। तन्मते विचारस्य सर्वसन्ध्यनुयायित्वात् पृथग्विमर्शसत्त्वेनाभिधानं स्यात्।

अन्य लोग तो कहते हैं कि लाभ की योग्यता, नाश की अवस्था और अन्वेषण की अवस्था अपनी रुचि के अनुसार गर्भसन्धि में निबन्धन करना चाहिए। वहाँ जब लाभात्मक प्राप्त्यवस्था प्रतिमुख सन्धि में निबन्धन नहीं करते हैं तो अन्य दो का गर्भसन्धि में निबन्धन करें। और जब अवमर्श सन्धि में निबन्धन हो तो गर्भसन्धि में अन्वेषण करना चाहिए और जब गर्भसन्धि में अन्वेषण किया जाय तो अवमर्श सन्धि में विचार का निबन्धन करना चाहिए। कैसे मैंने प्राप्त प्राय को भी छोड़ दिया। यहाँ मैंने किन विपरीत (निर्गुण) उपायों का अनुष्ठान किया है जिससे यह प्राप्त नहीं हुआ अथवा प्राप्ति के योग्य यह नहीं है। जैसा कि उद्भट ने कहा है कि जिनकी अन्वेषणा भूमि अवमृष्टि अवमर्श है। किन्तु यह व्याख्यान लक्ष्य विरुद्ध है और पूर्वोक्त प्रारम्भादि पाँच अवस्थाओं के क्रम विषयक नियम के समर्थन के प्रस्ताव की युक्ति के विरुद्ध हैं, अतः रहने दिया जाय।

व्यापत्तिविषयो विचार इति केचित्। पुनरप्यस्य सरणिरेव[1], सा च न व्याख्यानेन क्रमेण दर्शिता। विलोभनकृतोदाहरणं तु न व्यापत्तिविमर्श इति सर्वं त्वसमञ्जसं यथारुचि परिकल्पितमित्यलमनेन ॥ ४२ ॥

इसने मुझे लोभ देकर व्यर्थ के कामों में फँसा दिया, इस प्रकार जहाँ कर्त्ता विमर्श कहता है, वह अवमर्श विलोभनकृत है। क्रोध, व्यसन आदि से व्यापद्यमान होने पर फलाभाव विषयक जो कर्त्ता का विचार है वह क्रोध और व्यसन जन्य (उत्पन्न) विमर्श हैं, इस प्रकार विमर्शन स्वभाव वाला ही विमर्श सन्धि है। कार्य का विनिपात (विनाश) तो निर्वहण सन्धि में निबध्यमान अद्भुत रस का परिपोषक होने से निबद्ध होता है।" ऐसा शङ्कुक आचार्य का मत है। उनके मत में विचार के सभी सन्धियों में अनुगत होने से विमर्श की सत्ता का पृथक् से अभिधान होना चाहिए।

विशेष—जहाँ पर नियति रूप अवस्था और प्रकृति नायक अर्थप्रकृति का योग होता है, वहाँ 'विमर्श सन्धि' होती है अर्थात् जहाँ पर क्रोध, लोभ, एवं व्यसन से फलप्राप्ति के सम्बन्ध में विचार या पर्यालोचन किया जाय, तथा गर्भसन्धि में ही बीज का प्रस्फुटन हो, उसे 'अवमर्श' सन्धि कहते हैं। धनञ्जय आदि आचार्य इसी को स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त इस सम्मन्ध में अन्य आचार्यों का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि एक वर्ग के आचार्य गर्भसन्धि में प्रस्फुटित बीज का अधिक विकसित होना 'विमर्श-सन्धि' है। ऐसा कहते हैं। दूसरे वर्ग के आचार्य प्रकीर्ण कार्यों के विस्तारपूर्वक संवरण एवं शत्रुसामर्थ्य से वर्णन को 'विमर्शसन्धि' कहते हैं। अन्य आचार्यों का कथन है कि जहाँ कार्य पूर्णता की स्थिति में पहुँचकर सन्देहात्मक बना रहे, उसे 'विमर्श सन्धि' कहते हैं।

विचार व्यापत्ति (विफलता या शङ्का) के विषय में होता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। फिर भी इसको एक सरणि है, पद्धति है। उसका क्रमशः व्याख्यान नहीं दिखाया है। विलोभनकृत उदाहरण तो व्यापत्ति विषयक विमर्श रूप नहीं होता, इस प्रकार सब कुछ असमञ्जस रूप में परिकल्पित है। अतः रहने दिया जाय ॥ ४२ ॥

१. अस्मत्सरणिरेव।

[1]समानयनमर्थानां मुखाद्यानां सबीजिनाम् ।
[2]नानाभावोत्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं तु तत् ॥ ४३ ॥

समानयनमिति। मुखाद्यानां चतुर्णां सन्धीनां येऽर्थाः प्रारम्भाद्याः तेषां सहबीजिभिः बीजविकारैः क्रमेणावस्थाचतुष्टयेन भवद्भिः उत्पत्त्युद्घाटनोद्भेदगर्भनिर्भेदलक्षणैः वर्तमानानां नानाविधैः सुखदुःखात्मकैः हासशोकक्रोधादिभिर्भावैरुत्तराणां चमत्कारास्पदत्वे जातोत्कर्षाणां यत्समानयनं, यस्मिन्नर्थराशौ समानोयन्ते फलनिष्पत्तौ योज्यन्ते तन्निर्वहणं फलयोगावस्थया व्याप्तम्। अत्र केचिदमून् सर्वान् सन्धीनवस्थापञ्चकनिर्वहणे पृथग्वृत्त्या योज्यमानानिच्छन्ति।

अन्ये तु सन्धौ सन्ध्यन्तरानुप्रवेशमिच्छन्तोऽपि प्रागवस्थाया एकोत्तरावस्थापरिणामात्मकत्वे कारणं न पश्यन्त्यपि तु (ताः) कार्योभवन्तीति सांख्यदर्शनतच्छायाश्रयेणैकावस्थायाः फलसंबन्धसंगमनोपकरणभावप्राप्तं तदेकभावानामवस्थान्तराणां फलसंगमनमुचितमेवेति मन्यते।

अनुवाद—जहाँ पर मुखादि सन्धियों का और बीज सहित आरम्भादि अवस्थाओं (अर्थों) का और फलसङ्गति (फलागम) का एक साथ समानयन है, उसे 'निर्वहण' सन्धि कहते हैं ॥ ४३ ॥

अभिनव—मुख आदि चार सन्धियों की प्रारम्भ आदि जो अवस्थाएँ हैं उनका प्रारम्भादि चार अवस्थाओं से क्रमशः उत्पत्ति उद्घाटन, उद्भेद, गर्भनिर्भेद रूप बीजियों के बीज-विकारों के साथ वर्त्तमान, तथा नानाविध सुख-दुःख रूप हास, शोक, क्रोध आदि भावों से उत्तरवर्त्ती चमत्कारास्पद उत्कर्षयुक्त जो समानयन है और जिसकी अर्थराशि के रूप में (फलनिष्पत्ति के रूप में) योजना करते हैं वह फलयोग की अवस्था से व्याप्त निर्वहश सन्धि है। यहाँ कुछ लोग इन सभी सन्धियों का, पाँच अवस्थाओं से युक्त निर्वहण सन्धि में पृथक् रूप से योजना की इच्छा करते हैं।

---

१. ख. ग. समानञ्चसमयर्थानां मुख्यार्थानां।
२. ग. नानाभोन्तराणां। ख. फलोपसङ्गतानां च ज्ञेयं।

अन्ये तु मुखसन्धौ ये अवलम्ब्यमानतया आद्याः प्रधानभूताः अर्थाः उपायास्ते महौजसः फलसंपत्तौ साधकाः तेषां फलसंगत्या समानयनमिति व्याचक्षते। "महौजसां फलोपसंगतानां च" इति पाठें—यदा च सुखप्राप्तेः फलवत्त्वं तदा रतिहासादिबाहुल्यं प्रारम्भादीनां, दुःखहानेस्तु फलत्वे क्रोधशोकादिदुःखात्मकभावाद् बाहुल्यं, (उभयत्र) स्वोचितव्यभिचारिसहितं द्रष्टव्यम्। उदाहरणं रत्नावल्यामैन्द्रजालिकप्रवेशात्प्रभृत्यासमाप्तेः। एषामवस्था सन्ध्यादीनां नायकतदमात्यतत्परिवारनायिकादिमुखेनापि नियोजनं न त्वेकमुखेनैवेति नियम इत्युक्तं पूर्वमेव।

अन्य लोग तो एक सन्धि में दूसरी सन्धि का अनुप्रवेश चाहते हुए भी पूर्व अवस्था का उत्तर अवस्था के परिणाम के कारण को नहीं देखते हैं, किन्तु कार्य के रूप में देखते हैं। अतः सांख्य दर्शन की छाया का आश्रयण करके एक अवस्था का फल के साथ संगमन करने में उपकरण भाव को प्राप्त उन एक भाव वाली अन्य अवस्थाओं का फल के साथ संगमन उचित ही है, ऐसा मानते हैं।

अन्य लोग तो मुख सन्धि में अवलम्ब्यमान होने से जो प्रधानभूत उपाय हैं के महान् ओजस्वी फलसम्पत्ति के साधक हैं, उनका फलसंगति के साथ समानयन हैं, इस प्रकार व्याख्या करते हैं।

'महौजसां फलोसंगतानां च' इस प्रकार पाठ मानने पर जब सुखप्राप्ति ही फल है तब रतिहासादि सुखात्मक भावों का बाहुल्य है और जब दुःखहानि ही फल है तो क्रोध, शोकादि दुःखात्मक भावों का बाहुल्य है और जो उभयत्र व्याभिचारी के सहित है। जैसे रत्नावली नाटिका में ऐन्द्रजालिक के प्रवेश के लेकर समाप्तिपर्यन्त द्रष्टव्य है। प्रारम्भादि अवस्था से विशिष्टि सन्ध्यादि सन्धियों का नियोजन नायक उसके अभात्य, उसके परिवार एवं नायकादि द्वारा होता है, किसी एक के द्वारा नहीं होता है। यह नियम है, यह पहिले कहा जा चुका है ॥ ४३ ॥

विशेष—जहाँ पर फलागम नामक अवस्था और कार्य नामक अर्थप्रकृति का एक साथ योग होता है वहाँ 'निर्वहण सन्धि' होती है। जहाँ पर इतिवृत्त के बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुखादि सन्धियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए प्रारम्भादि अवस्थाओं का जब एक प्रधान प्रयोजन के लिए एक-एक समन्वित किये जाते हैं वह 'निर्वहण सन्धि' कहलाती है ॥ ४३ ॥

एते तु[1] सन्धयो ज्ञेया नाटकस्य[2] प्रयोक्तृभिः ।
तथा प्रकरणस्यापि शेषाणां च[3] निबोधत ।। ४४ ।।
डिमः समवकारश्च चतुःसन्धी प्रकीर्तितौ ।
न [4]तयोरवमर्शस्तु कर्तव्यः कविभिः सदा ।। ४५ ।।

एतेषां विनियोगं विभजति एते त्वित्यादिना "मुखनिर्वहणे तत्र कर्तव्ये कविभिः सदा" इत्यन्तेन । एतच्च पूर्वमेवनिर्णीतार्थं 'एकलोपे चतुर्थस्येत्यादि (१९-२७) व्याख्यानावसरे ।

कस्मात्तौ (डिमसमवकारौ) चतुःसन्धी इत्याह—न तयोरित्यादिना । तुर्हेतै-यतस्तयोरवमर्शं निबद्धुमशक्यमिति । एवमुत्तरत्रापि हेतुग्रन्थान्तरत्वेनेदं योज्यम्, न तु लोपस्थानित्वेन, तस्यैको लोप इत्यादिना पूर्वमेवोक्तत्वात् ।

अभिनव—अब इनके विनियोग का विभाजन करते हैं कि 'एते तु' इत्यादि से 'मुखनिर्वहणे तत्र कर्त्तव्ये कविभिःसदा' १६।४७ यहाँ तक । यह पहले ही इसी अध्याय के (एक लोपे चतुर्थस्य) १६।१८ इत्यादि के व्याख्या के अवसर पर दिखाया जा चुका है ।

अनुवाद—नाट्य प्रयोक्ताओं को नाटक और प्रकरण में इन सन्धियों को समझना चाहिए। अब शेष रूपकों में इन सन्धिओं की स्थिति को बतलाता हूँ। समझिये ।। ४४ ।।

अनुवाद—डिम और समवकार में चार सन्धियाँ कही गई है। कवियों को उनमें समवकार की योजना नहीं करनी चाहिए ।। ४५ ।।

अभिनव—यहाँ पर 'तु' हेतु अर्थ में है। क्योंकि इन रूपकों में अवमर्श सन्धि का निबन्धन करना अशक्य है ।। ४५ ।।

---

१. ख. हि ।
२. क. नाटकेषु ।
३. ग. विनिबोधत ।
४. ख. ग. घ. गर्भाविमर्शा न स्यातनं तयोर्वृत्तिश्च कैशिकी ।

व्यायोगेहामृगौ चापि सदा कार्यौ त्रिसन्धिकौ[1] ।
गर्भावशौं न स्यातां तयोर्वृत्तिश्च कैशिकी[2] ॥ ४६ ॥
द्विसन्धि तु प्रहसनं वीथ्यङ्को भाण एव च ।
मुखनिर्वहणे[3] तत्र कर्तव्ये कविभिः सदा ॥ ४७ ॥
[4]वीथी चैव हि भाणश्च तथा प्रहसनं पुनः ।
कौशिकीवृत्तिहीनानि कार्याणि कविभिः सदा ॥ ४८ ॥
एवं हि सन्धयः कार्या दशरूपे प्रयोक्तृभिः ।
[5]पुनरेषां तु सन्धीनामङ्गकल्पं निबोधत[6] ॥ ४९ ॥

ननु सन्धिपञ्चकात्मक इतिवृत्तशरीरारम्भे कथं दशरूपकादिभेद इत्याशंक्याह—एवं हीति ।

अनुवाद—व्यायोग और ईहामृग में तीन सन्धियाँ होनी चाहिए, इनमें गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ नहीं होती और इनमें वृत्ति कौशिकी होती है ॥ ४६ ॥

अनुवाद—वीथी, भाण प्रहसन और अङ्क में विद्वानों को मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ करनी चाहिए ॥ ४७ ॥

अनुवाद—वीथी, भाण और प्रहसन में कवियों को कौशिकी वृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥ ४८ ॥

अभिनव—सन्धिपञ्चकात्मक इतिवृत्त नाटय का शरीर है, यह प्रारम्भ में कहा है तो ऐसी स्थिति में दश रूपकों में भेद कैसे होगा, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—नाटयप्रयोक्ताओं को दशरूपकों में इन सन्धियों का प्रयोग करना चाहिए। अतः इन सन्धियों को अङ्गों की कल्पना समझें ॥ ४९ ॥

---

१. ख. ग. त्रिसन्धी परिकीर्तितौ ।
२. ख. ग. न च वृत्तिस्तु कैशिकी ।
३. ख. ग. स्यातां तेषां वृत्तिश्च भारती ।
४. अयं श्लोकः ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
५. ख. पुनः सन्ध्यन्तरं तेषां ।
६. ख. अतः परं "साम भेदः" इत्यादि श्लोकत्रयं वर्तते ।

सन्धीनां यानि वृत्तानि प्रदेशेष्वनुपूर्वशः ।
[1]स्वसम्पद्गुणयुक्तानि तान्यङ्गान्युपधारयेत् ॥ ५० ॥

हिर्यस्मात्, एवमुक्तेन विनियोगप्रकारेण सन्धयो भवन्ति ततो दशरूपभेद इति केचिदाशङ्कापूर्वकं व्याचक्षते, तच्चासत्, लक्ष्यभेदादेव दशरूपकभेदस्य दर्शितत्वात् । अवश्यं चेतत्, अन्यद्वा, डिमसमवकारयोश्चतुः सन्धिताविशेषात् कथं भेदः स्यात्, नाटकादीनां वा, तस्मादुपसंहारग्रन्थोऽयमिति हीति । अङ्गानां कल्पं कल्पनाप्रकारो वा तेनैवंप्रायमन्यदपीतिवृत्तोपयोगि भवति ।

अङ्गानां सामान्यस्वरूपं प्रयोजनद्वारेण दर्शयितुं प्रथमेन स्वरूपं द्वाभ्यां प्रयोजनमेकेन द्वयं द्वयेन प्रकाशयन्नाह श्लोकषट्कं "सन्धीनां यानि वृत्तानी" त्यादि "शोभामेति न संशयः" इत्यन्तम् ।

अभिनव—यहाँ पर 'हि' का अर्थ क्योंकि है। इस प्रकार कहे हुए विनियोग के प्रकार में सन्धियाँ होती हैं। इसलिए दश रूपकों में भेद होता है। इस प्रकार आशङ्का करके कुछ लोग व्याख्या करते हैं कि वह असत् है। लक्ष्य भेद से ही दश रूपक भेद दिखाया गया है। यह आवश्यक भी है। और भी डिम और समवकार में चार सन्धियाँ होने की समानता से भेद कैसे होगा ? इसी प्रकार नाटकादि रूपकों के भेद कैसे ? इसलिए एवं हीति उपसंहार ग्रन्थ है। अङ्कों की कल्पना अथवा कल्पना का प्रकार। इसलिए इसी प्रकार के अन्य तत्त्व भी इतिवृत्त के उपयोगी होते हैं।

अभिनव—अङ्गों के सामान्य स्वरूप को प्रयोजन द्वारा दिखलाने के लिए प्रथम श्लोक के द्वारा स्वरूप को श्लोकों के द्वारा प्रयोजन को एक के द्वारा स्परूप और प्रयोजन दोनों को फिर दो श्लोकों के द्वारा दोनों को प्रकाशित करते हुए 'सन्धोनां यानि वृत्तानि' इत्यादि से लेकर 'शोभामेति न संशयः' यहाँ तक छः श्लोकों द्वारा प्रकाशित करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—सन्धियों के जो वृत्त क्रमशः अपने-अपने प्रदेशों में (स्थानों पर) अपने सम्पद् गुणों से युक्त हैं, उन्हें अङ्गों के रूप में धारण करे ॥ ५० ॥

---

१. ग. संपद् गुण प्रयुक्तानि ।

इष्टस्यार्थस्य रचना [1]वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम् ॥ ५१ ॥
[2]आश्चर्यवदभिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम् ।
अङ्गानां षड्विधं [3]ह्येतद् दृष्टं शास्त्रे प्रयोजनम् ॥ ५२ ॥

अर्थभागराशिः सन्धिरित्युक्तं, तत्र सन्धीनां संबन्धनीयानि वृत्तानि संविधानखण्डानि । अनुपूर्वश इति मुख्यप्रयोजनसंपादनबलोपेतेन क्रमेण, न तु लक्षणनिरूपणप्रसङ्गपरिकल्पितेन, प्रदेशेष्वादिमध्यान्तभागेषु वर्तनेनाङ्गानि, कुत इत्याह स्वस्याङ्गिनः सन्धेर्या संपत्तेर्निष्पत्तिः तत्र गुणवत्वे शेषभावे यतो यतो युक्तान्युचितानि संबन्धसंपादकत्वादङ्गानीत्यर्थः ।

अन्ये त्वाहुः—स्वसंपदो बीजोत्पत्त्युद्घाटनादि गुणाश्च शब्दार्थवैचित्र्याणि, स्वसंपदां वा गुणाः तैरेव युक्तानीति ।

अभिनव—अर्थभाग की राशि सन्धि कहलाती है, यह पहिले कहा जा चुका है। उसमें सन्धियों के सम्बन्ध के योग्य जो संविधान के खण्ड है। 'अनुपूर्वशः' का अर्थ है कि मुख्य प्रयोजन के सम्पादन के बल से उपनत (प्राप्त) क्रम के द्वारा न कि लक्षण-निरूपण के प्रसङ्ग से परिकल्पित क्रम से प्रदेशों में आदि, मध्य और अन्त में रहने से वृत्त अङ्ग है। कैसे अङ्ग है, इस पर कहते हैं कि अपने अङ्गो सन्धि की जो सम्पत्ति की निष्पत्ति है, उसमें गुणवत्ता में अङ्गभाव में सम्बन्ध के सम्पादक होने से उचित अङ्ग ।

अन्य आचार्य कहते हैं कि यहाँ पर स्वसम्पद् बीज की उत्पत्ति या उद्घाटन आदि गुण शब्दार्थ की विचित्रताएँ हैं, उससे युक्त अथवा स्वसम्पत्ति के जो गुण है उनसे युक्त अङ्ग ॥ ५० ॥

इसके वाद अब सन्ध्यङ्गों के प्रयोजन को कहते हैं—

अनुवाद—अभीष्ट अर्थ की रचना, वृत्तान्त का अनुपक्षय (घटना का व्यतिक्रम न होना), प्रयोग में राग की प्राप्ति, गुह्य (गोपनीय) का गोपन, आश्चर्यजनक अर्थ का कथन और प्रकाशनीय वस्तु का प्रकाशन-अङ्गों के छः प्रयोजन नाट्यशास्त्र में देखे गये हैं ॥ ५१-५२ ॥

---

१. ग. वचनं । २. ख. ग. घ. आश्चर्यवदभिख्यातं ।
३. क. ह्येतद् दृष्टं ।

अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भे[1] क्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत् ॥ ५३ ॥

इष्टस्येत्यादिना प्रयोजनमाह अभीष्टस्य प्रयोजनस्य रसास्वादकृतो रचना विस्तारणा । वृत्तान्तस्यानुपक्षयः क्रमेण स्फुटत्वादयः शलाकाकल्पत्वाभावः, एतत्प्रयोजनं सर्वसाधारणम् । प्रयोगस्येतिवृत्तस्य स्वयं परस्परस्यापि रागप्राप्तिः रञ्जनायोग्यत्वलाभः व्युत्पत्त्यवस्थायोगात्, यदि वा पौनरुक्त्याद्याभासे गुह्याः संछादनीया अर्थाः तेषां संछादनम् । पुनः पुनः श्रुतमपि यदभिख्यानं इतिवृत्तं तत एव नाश्चर्यकारि तदपि अङ्गयोजनायामपूर्वतामिव बधवदभुततामेति, तदाह आश्चर्यवदिति । यच्च व्युत्पत्तौ सातिशयोपयोगि तत एव प्रकाश्यं तस्य प्रकाशनं विस्तारणम्, आद्यन्तु प्रयोजनं चमत्कारकृतं स्मृतिदृष्टमपि प्रत्यक्षविशेषसिद्धमेव, न तु सन्ध्योपासनादिवददृष्टं नापि पूर्वरङ्गाङ्गवदुभयरूपमित्यर्थः । शास्त्र इति नाट्यात्मके वेद इत्यर्थः ॥ ५१-५२ ॥

अभिनव—अभीष्ट प्रयोजन का रस के आस्वादन के लिए रचना (विस्तार) । वृत्तान्त का अनुपक्षय अर्थात् क्रमशः स्फुटता आदि का होना और शलाका कल्पत्व का अभाव, में प्रयोजन सर्वसाधारण अर्थात् सभी सन्धियों में साधारण है । प्रयोग अर्थात् यह इतिवृत्त को स्वयं परस्पर में अर्थात् व्युत्पत्ति की अवस्था के योग से रञ्जक योग्यता की प्राप्ति । अथवा पुनरुक्ति आदि के आभास होने पर गुह्य (गोपनीय) प्रयोजन का संच्छादन (आच्छादन), बार बार सुने हुए इतिवृत्त जो आश्चर्यजनक प्रतीत नहीं होता उसका भी अङ्गयोजन में अपूर्वता को धारण कर लेने से अद्भुत सा होना, तथा जो इतिवृत्त व्युत्पत्ति में अत्यन्त उपयोगी हो, उसका प्रकाश्य होने से प्रकाशन करना, इन छः प्रयोजनों ने पहला प्रयोजन चमत्कार-जनक और स्मृतिदृष्ट भी विशेष रूप से प्रत्यक्ष सिद्ध भी है । सन्ध्योपासना आदि के समान अदृष्ट नहीं है और न पूर्वरङ्ग के अङ्ग के समान उभयरूप ही है । शास्त्र अर्थात् नाट्यवेद भी नाट्य-शास्त्र में ॥ ५१-५२ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार अङ्गहीन मनुष्य कार्य के आरम्भ करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार अङ्गहीन काव्य को प्रयोग में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ५३ ॥

१. क. ख. ग. युद्धारम्भेक्षमो ।

[1]उदात्तमपि यत्काव्यं स्यादङ्गैः परिवर्जितम् ।
हीनत्वाद्धि[2] प्रयोगस्य न सतां रञ्जयेन्मनः ॥ ५४ ॥
काव्यं यदपि हीनार्थं सम्यगङ्गैः समन्वितम् ।
[3]दीप्तत्वात्तु प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः ॥ ५५ ॥

एषां प्रयोजनामङ्गलक्षणेषूदाहरणं वर्णयिष्यामः । अत एव दृष्टान्तेन द्रढयति । अङ्गकर्तव्यसंपादनं प्रयोगक्षममिति । ततः प्रयोजनस्यासंपत्तेर्दृष्टस्य वा प्रच्युतसंभावनात् ।

एतद् व्यतिरेकद्वारेण स्फुटयति ।

उदात्तमपीति लक्षणगुणालङ्कृतियुक्तमित्यर्थः । प्रयोगस्येति आपादान-मपि संबन्धित्वेन (षष्ठी), वृक्षस्य पर्णं पततीति यथात्र । तस्य प्रयोगस्य तस्य काव्यस्य यतो हीनत्वं यदयोग्यत्वं यस्मात्, सतां परोपकारप्रवृत्तानां कविनटानां साधुभूतानां वा सामाजिकानां मनो न रञ्जयतीति संभाव्यते ।

अन्वयद्वारेणोपसंहरति यदपि इति ।

अभिनव—इन प्रयोजनों के उदाहरण अङ्गों के लक्षण निरूपण के समय करेंगे। इसलिए दृष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते हैं। अङ्गों के नियत कर्त्तव्य का सम्पादन प्रयोग में समर्थ है। इसमें दृष्ट प्रयोजन के प्रच्युत होने की सम्भावना है ॥ ५३ ॥

इसको व्यतिरेक के द्वारा स्पष्ट करते हैं।

अनुवाद—जो काव्य उदात्त भी है किन्तु अङ्गों से परिवर्जित अर्थात् हीन है, अतएव अङ्गों से हीन होने के कारण प्रयोग सज्जनों का मनोरञ्जन नहीं करता ॥ ५४ ॥

अभिनव—उदात्तमपि अर्थात् लक्षण, गुण, अलङ्कार से युक्त काव्य है। प्रयोग का (प्रयोगस्य) में अपादान कारक षष्ठी विभक्ति के रूप प्रयोग है। जैसे 'वृक्षस्य पर्णं पतति' में। उस प्रयोग का काव्य का जिसके कारण हीनता है, अयोग्यता है। 'सताम्' अर्थात् परोपकार में प्रवृत्त कवि, नटों का अथवा साधुभूत सज्जनों का सामाजिकों के मनोरञ्जन की सम्भावना नहीं है ॥ ५४ ॥

अब अन्वय के द्वारा उपसंहार करते है—

---

१. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोकः काव्यं यदपि इतः परं दृश्यते।

२. ख. ग. तु । ३. ख. दीप्ताङ्गत्वात् ।

तस्मात् सन्धिप्रदेषु[1] यथायोग[2] यथारसम् ।
कविनाङ्गानि कार्याणि सम्यक्तानि निबोधत ॥ ५६ ॥

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ॥ ५७ ॥

उद्भेदः करणं भेद [3]एतान्यङ्गानि वै मुखे ।
तथा प्रतिमुखे चैव [4]शृणुताङ्गानि नामतः ॥ ५८ ॥

हीनार्थमिति स्वल्पमिपि प्रयोजनं प्रहसननिदर्शनकथाख्यायिकादि प्रयोगः प्रयुक्तिः तत्राङ्गं प्रयोजकं रञ्जनातिशयो व्युत्पत्त्यतिशयश्च तदुभयम् तत्र काव्ये दीप्तं स्फुटमित्यर्थः ।

अनुवाद—सम्यक् रूप से अङ्गों से समन्वित काव्य यद्यपि हीनार्थ (घटिया) है। प्रयोग की दीप्ति (प्रकाश) कारण शोभा को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ५५ ॥

अभिनव—हीनार्थ अर्थात् स्वल्प प्रयोजन वाले प्रहसन, निदर्शन, कथा, आख्यायिका आदि काव्य तथा उनका प्रयोग, उनमें अङ्ग मनोरञ्जन का अतिशय और व्युत्पत्ति का आशय दोनों है, वहाँ काव्य में दीप्ति स्फुट है ॥५५॥

अनुवाद—इसलिए सन्धि प्रदेश में युक्ति के द्वारा रसों के अनुसार अङ्गों का विन्यास कवि को करना चाहिये, अर्थात् काव्य में रसाभिव्यञ्जन के लिए सन्ध्यङ्गों की योजना अवश्य है। अब उन्हें सम्यक् प्रकार से समझे ॥ ५६ ॥

अनुवाद—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, करण और भेद ये बारह मुखसन्धि के अङ्ग हैं। अब प्रतिमुख सन्धि के अङ्गों के नाम सुनिये ॥ ५७-५८॥

विशेष—उपक्षेप से लेकर भेद तक मुखसन्धि के बारह अङ्ग हैं। इनमें से उपक्षेप परिकर की परिन्यास, समाधान, उद्भेद और करण ये छः अङ्ग केवल मुखसन्धि में होते हैं और विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, विधान, परिभावना और भेद ये छः सभी सन्धियों में होते हैं। ये अङ्गनाट्य में इतिवृत्त के चमत्कार के हेतु हैं।

---

१. ग. प्रयोगेषु ।
२. ग. यथादेशं ।
३. ग. द्वादशाङ्गानि ।
४. ग. वक्ष्याम्यङ्गानि ।

विलासः परिसर्पश्च विधूतं [1]तापनं तथा ।
नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा [2]प्रगयणं पुनः ॥ ५९ ॥
विरोधश्चैव विज्ञेयः पर्युपासनमेव च ।
[3]पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंसहार एव च ॥ ६० ॥
एतानि वै प्रतिमुखे गर्भेऽङ्गानि [4]निबोधत ।
अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ॥ ६१ ॥
संग्रहश्चानुमानं च [5]प्रार्थनाक्षिप्तमेव च ।
तोटकाधिवले चैव [6]ह्युद्वेगो विद्रवस्तथा ॥ ६२ ॥

अब प्रतिमुख सन्धि के अङ्गों का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—अब प्रतिमुख सन्धि के अङ्गों को सुनिये—विलास, परिसर्प, विधुत, तापन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन (प्रशमन), निरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास और बर्णसंहार ये तेरह प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग हैं ॥ ५९-६० ॥

अब गर्भसन्धि के अङ्गों का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—अभूताहरण, मार्ग, रूप उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, आक्षिप्त, तोटक, अधिवल, उद्‌भेद और विद्रव ये गर्भसन्धि के बारह अङ्ग हैं ॥ ६१-६२ ॥

---

१. क. शमनं ।
२. ख. ग. प्रशमनं ।
३. ख. ग. वज्रं पुष्पं ।
४. क. गर्भेऽङ्गानि ।
५. ग. प्रार्थनाक्षिप्तिरेव ।
६. ख. ग. चोद्‌भेदो ।

[1]एतान्यङ्गानि वै गर्भे [2]ह्यवमर्शे निबोधत ।
अपवादश्च [3]संफेटो विद्रवः शक्तिरेव च ॥ ६३ ॥

[4]व्यवसायः प्रसङ्गश्च द्युतिः खेदो निषेधनम् ।
विरोधनमथादानं छादनं च प्ररोचना ॥ ६४ ॥

[5]व्यवहारश्च युक्तिश्च विमर्शाङ्गान्यमूनि च ।
सन्धिर्निरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ६५ ॥

[6]द्युतिः प्रसाद आनन्दः समयो [7]ह्युपगूहनम् ।
भाषणं पूर्ववाक्यं च काव्यसंहार एव च ॥ ६६ ॥

प्रशस्तिरिति [8]संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ।
चतुष्षष्ठि बुधैर्ज्ञेयान्येतान्यङ्गानि सन्धिषु ॥ ६७ ॥

अनुवाद—अब अवमर्श सन्धि के अङ्गों को सुनिये—अपवाद, सम्फेट, विद्रव, शक्ति, व्यवसाय, प्रसंग, धुति, खेद, निषेधन, विरोधन, आदान, छादन और प्ररोचना ये तेरह अवमर्श सन्धि के अङ्ग हैं ॥ ६३-६४ ॥

अब निर्वहण सन्धि में अङ्कों का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, द्युति, प्रसाद, आनन्द, समय उपगूहन, भाषण, पूर्ववाक्य, काव्यसंहार, ये चौदह निर्वहण सन्धि के अङ्ग हैं ॥ ६५-६७ ॥

---

१. ख. ग. अङ्गान्येतानि वै गर्भे विमर्शे च निबोधव ।

२. ग. विमर्शे च; ३. ख. अथ ।

४. ग. प्रसङ्गो व्यवसायश्च ।

५. ख. ग. एतान्यवमृशेऽङ्गानि भूयो निर्वहणे शृणु ।

६. ग. धृतिः; ७. ग. श्चोप ।

८. ख. चाङ्गानि कुर्यान्निर्वहणे पुनः ।

संपादनार्थं बीजस्य सम्यक्[1] सिद्धिकराणि च ।
कार्याण्येतानि कविभिर्विभज्यार्थानि[2] नाटके ॥ ६८ ॥

अथाङ्गानामुद्देशमाह—उपक्षेपः परिकर इत्यादिना एतान्यङ्गानि सन्धिषु (६७) इत्यन्तेन । मुखे द्वादश, प्रतिमुखे गर्भे च त्रयोदश, अवमर्शे द्वादश, निर्वहणे चतुर्दशेति मिलित्वा चतुःषष्टिः ।

केचिन्मन्यन्ते—इह उपक्रम उपसंहारो मध्यमिति प्रत्यवस्थं स्थानभेदत्रयं, तत्र प्रत्येकं सूक्ष्मेणारम्भावस्थापञ्चकेन भाव्यमिति पञ्चदशयो दशाः क्रमभाविन्यः, तत्राद्यास्तावद्दशानामङ्गत्वेन वर्ण्यन्ते । अङ्गिबुद्ध्युदयात् तत्रेति चतुर्दश निर्वहणे फलयोगबलात् सर्वा एवोपपाद्यन्ते । अन्यत्र तु मुखादौ काश्चिल्लीनीक्रियन्ते, न द्वादशादिभेदानि तत्राङ्गानीति ।

अनुवाद—पाँचों सन्धियों के इन ६४ अङ्गों को विद्वान् लोगों को समझना चाहिए, ये सन्ध्यङ्ग बीज के सम्पादन के लिए सम्यक् रूप से सिद्धिकर हैं, कवियों को नाटक में इन अङ्गों का उपयोग अवश्य करना चाहिए ॥ ६७-६८ ॥

अभिनव—अब 'उपक्षेपः परिकरः' इत्यादि से लेकर 'एतान्यङ्गानि सन्धिषु' यहाँ तक सन्धियों के ६४ अङ्गों का उद्देशकम से कथन करते हैं। सन्ध्यङ्ग मुखसन्धि में बारह प्रतिमुख सन्धि और गर्भसन्धि में तेरह, अवमर्श सन्धि बारह और निर्वहण सन्धि में चौदह कुल मिलाकर चौसठ सन्धियाँ होती हैं।

कुछ आचार्य मानते हैं कि यहाँ उपक्रम, उपसंहार और मध्य इस प्रकार प्रत्येक अवस्था के तीन स्थान होते हैं। उनमें प्रत्येक स्थान में सूक्ष्म रूप से प्रारम्भादि पाँच अवस्थायें होती चाहिए, इस प्रकार पाँच सन्धियों में तीन दशाओं के होने से पन्द्रह दशाएँ क्रम से होती हैं। उनमें प्रथम दशा के अङ्ग रूप में वर्णन किया जाता हैं। क्योंकि उनमें अङ्ग बुद्धि का उदय होता है। इनमें भी निर्वहण के चौदह भेदों में फलयोग के कारण सभी का उपपादन किया जाता है। अन्यत्र मुखादि सन्यिों में कुछ को छिपा देते हैं। अतः वहाँ बारह अङ्गों का उपयोग नहीं होता।

---

१. ख. ग. सन्धिकराणि तु ।

२. ख. ग. विस्पष्टार्थानि ।

[1]पुनरेषां प्रवक्ष्यामि लक्षणानि यथाक्रमम् ।

तदेतदसत् । एवं हि वक्ष्यमाणेषु तेनैव क्रमेण भाव्यम् । न चासावस्ति प्रयोजनशङ्काषट्कं ततश्चानुपपन्नं स्यात्, अनुपक्षय इत्येकमेव हि प्रयोजनं भवेत् । बीजकरणेऽपि च नियमनिदानानुपपत्तौ द्वयोर्द्वादश द्वयोस्त्रयोदशेति कुतस्त्यो विभाग इत्यास्तामदः ।

पुनरेषामिति । पुनश्शब्दो विशेषद्योतकः, लक्षण एवायं क्रमो न निबन्धन इति यावत् । तेन यदुद्भटप्रभृतयोऽङ्गानां सन्धौ क्रमे च नियममाहुस्तद्युक्त्यागमविरुद्धमेव । तथा हि—'संप्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते' इति यन्मुखसन्धौ पञ्चममङ्गं वक्ष्यति तत्सर्वेषु सन्धिषु तावन्निबन्धनयोग्यं, न च तथा निवेश्यं बध्यमानमदृष्टकृतं विबध्यात् । न च लक्ष्येन दृश्यते ।

इस पर अभिनव कहते हैं कि यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार वक्ष्यमाण अङ्गों में उसी क्रम से होगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः प्रयोजन षट्क अनुपन्न हो जायेंगे। अनुपक्षय रूप केवल एक ही प्रयोजन होगा। बीज के सम्पादन में नियम के कारणों में अनुपपत्ति होने पर दो सन्धियों में बारह-बारह और दो सन्धियों के तेरह-तेरह अङ्ग होते हैं तो यह विभाग कैसे होगा? अतः रहने दिया जाय ॥ ६६-६८ ॥

अनुवाद—अब मैं क्रमशः इनके लक्षण को कहूँगा।

अभिनव—पुनरेषामिति—यहाँ पर 'पुनः' शब्द विशेष का द्योतक है। लक्षण में ही यह क्रम है, निबन्धन (रचना) में यह क्रम नहीं है। इसलिए उद्भट प्रभृति आचार्यों ने सन्ध्यङ्गों और क्रम में जो नियम कहा है वह युक्ति और आगम के विरुद्ध हैं। 'अर्थों के सम्प्रधारण को 'युक्ति' कहते हैं। इस प्रकार मुखसन्धि में पञ्चम अंग को कहेंगे, सभी सन्धियों में उनका निबन्धन उचित हैं, किन्तु उसका ऐसा निवेश न करें कि निबध्यमान वस्तु अदृष्ट के उपयुक्त हो जाय। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि लक्ष्य में दिखाई दे।

१. ग. एतेषां तु पुनर्वक्ष्ये ।

वेणीसंहारे हि तृतीयेऽङ्केगर्भसन्धौ दुर्योधनकर्णयोर्महति संप्रधारणे द्रोणवधे वृत्ते—

तेजस्वी रिपुहतबन्धुदुःखपारं
बाहुभ्यां तरति धृतायुधप्लवाभ्याम् ।
आचार्यः सुतनिधनं निशम्य संख्ये
किं शस्त्रग्रहसमये विशस्त्र आसीत् ॥

इत्यादि यावत्—

दत्त्वाभयं सोऽतिरथो हन्यमानं किरीटिना ।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चेत् कथमन्यथा ॥ इति ।

न चात्र प्रतीतिव्युत्पत्त्योः क्षतिः काचित् । यत्तु सन्धिनैयत्येनाभिधानं तत्र सन्धावश्यंभावित्वख्यापनार्थं युक्तिमुखे भवत्येव । सन्ध्यन्तरालानि तु नेत्यमिति पृथक् तानि वर्णयिष्यन्ते । कानिचित्त्वङ्गानि स्वरूपबलादेव नियमभाञ्जि, यथोपक्षेपो मुखसन्धावेव प्रथमे । एवं च न ह्यनुपक्षिप्ते वस्तुनि किञ्चिदपि शक्यक्रियम् । यत्तूच्यते (अ ११) 'चतुःषष्ठ्यङ्गसंयुत' मिति तेन संभवमात्रमेषामुक्तं, न तु नियमः । यथासन्धिकृतः कर्तव्यानीति वचनं प्रत्युत सन्ध्योचित्येनैषां निबन्धनमभिदधदस्मदभिहितनीतिपथोपदेश्येव, योग्यतार्थवृत्तिना हि यथाशब्देनायमव्ययीभावः ।

जैसा कि वेणीसंहार नाटक के तृतीय अङ्क में गर्भसन्धि में दुर्योधन और कर्ण के सम्प्रधारण में निश्चय करने मे द्रोणाचार्य के वध हो जाने पर—

"तेजस्वी द्रोणाचार्य आयुधरूपी नौका को धारण किये हुए भुजाओं से युद्ध में शत्रुओं के द्वारा मारे पुत्र के दु:खरूपी सागर को पार करने के लिए तैरना चाहते हैं । युद्ध में पुत्र के निधन को सुनकर शस्त्र ग्रहण के समय शस्त्र को छोड़ दिया ।"

यहाँ से लेकर—

"उस अतिरथ द्रोण ने अभय प्रदान करके अर्जुन के द्वारा मारे जाते हुए सिन्धुराज जयद्रथ की उपेक्षा कर दी, यदि ऐसी बात नहीं है तो अभयदान कर उपेक्षा कैसे !"

यहाँ तक ।

यत्तूक्तं शरीराङ्गनियमदर्शनात् कथमेतदिति, तत्रापि दृष्टान्ताद् व्यवस्थापि तु न संभवतः स चास्तीत्युक्तं, शाखावयवश्च वृक्षावयवा मध्येऽपि अन्तेऽप्यूर्ध्वेऽपि भवन्ति, न च शरीरे पादपादिवदुपक्षेपादिभिरवयवविकल्पः सन्धिरारभ्यते, यच्च प्रतिसन्ध्यभिधानं तद्बाहुल्येन तथा दर्शनात्। तथाप्युपक्षिप्तेऽर्थे विस्तारिते निश्चितगुणादभिलषिते संभावनीयमुपायादिविषयं संप्रधारणमित्युपक्षेपपरिकर-परिन्यासविलोभनहेतुत्वादन्याान्यभिधाय युक्तिवक्ता, न तु तत्रैव सद्भावात्। आनन्तर्यनियमश्च मुनेरनभिमतो लक्ष्यते। अन्यथा सन्ध्यन्तरालानि समादीनि मदान्तान्येकविंशतिः लास्याङ्गानि गेयपदादीनि दश यानि वक्ष्यन्ते, तेषां कुत्र निवेशः स्यात्। सन्धिपञ्चकमयं हि रूपकं क्रमनियतं, तदङ्गसंहारभावितश्च सन्धिरिति, न च क्रमेणानेनैव तानि प्रयोज्यानीति वचनमस्ति। सदपि वा न्यायापेतमन्यथा योज्येत। न चोद्देशक्रममनुच्यते निबन्धं[1], लक्षणालङ्कारगुण-वीथ्यङ्गसन्ध्यन्तराणि लास्याङ्गवृत्तिवदङ्गान्यपि तु असाधर्म्यदृष्टान्तः। तदेतत्प्रत्येकं लक्षणे स्फुटीभविष्यतीत्यास्तां तावत्।

यहाँ प्रतीति और व्युत्पत्ति की कोई क्षति दिखाई नहीं देती। जो कि सन्धियों के नियमतः कथन है उस सन्धि में अवश्य भावित्व के रूप में ख्यापन करने के लिए युक्ति होती ही है। किन्तु सन्धियों के अन्तराल (सन्ध्यन्तर) इस प्रकार के नहीं होते, अतः उनका पृथक् से वर्णन करेंगे। किन्तु कुछ अङ्ग तो अपने स्वरूप के वश से नियमतः किये जाते हैं जैसे उपक्षेप अङ्ग का मुखसन्धि में आरम्भ में ही (उपयोग किया जाता है)। क्योंकि अनु-पाक्षिप्त वस्तु अर्थात् विना वस्तु के उपक्षेप के विषय में कुछ भी नहीं किया जा सकता है। और जो कहते हैं कि 'यह चौंसठ अङ्गों से संयुत है' उससे यहाँ उनकी सम्भावना मात्र कहा गया है, नियम नहीं। जैसे 'सन्धिकृतः कर्त्तव्यानि' यह वचन तो सन्धियों के औचित्य के आधार पर इन अङ्गों का निबन्धन को कहते हुए हमारे द्वारा नीतिमार्ग का उपदेश करता है, क्योंकि यह योग्यता रूप अर्थ में रहने वाले यथा शब्द के साथ अव्ययीभाव समास है।

१ क्रम इत्युच्यते 'निबन्धः' इति स्यात्।

[1]काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ॥ ६९ ॥

जो कि यह कहा गया हैं कि कथारूप शरीर के अङ्गों का नियमतः होना देखा गया है, वहाँ पर भी दृष्टान्त के अनुसार व्यवस्था भी संभव नहीं है, वह (व्यवस्था) वहाँ हैं, ऐसा कहा है। जिस प्रकार शाखा आदि वृक्ष के अवयव मध्य में भी, नीचे भी और ऊपर भी होते हैं, उसी प्रकार वृक्ष के समान कथाशरीर में उपक्षेप आदि के द्वारा अवयवों के विकल्प रूप सन्धि का आरम्भ होता है और जो प्रतिसन्धियों का कथन है, वह बहुलता से वैसा देखा गया है। फिर भी उपक्षिप्त तथा बिस्तारित अर्थ में, निश्चित गुणों के कारण अभिलषित अर्थ में, उपायादि विषय का सम्प्रधारण सम्भव है, अतः उपक्षेप, परिकर, परिव्यास, विलोभन आदि हेतु के रूप से भिन्न अङ्गों को कहकर युक्ति कही है, किन्तु वैसी परिस्थिति नहीं है कि उसी स्थान पर उसका सद्भाव हो। और आनन्तर्य नियम मुनि को अभिमत नहीं दिखाई देता। अन्यथा मुनि को अनभिमत न होता तो भिन्न सामगादि से लेकर मदपर्यन्त इक्कीस सन्ध्यङ्गों और गेयपदादि दस लास्याङ्गों को कहेंगे, उनका निवेश कहाँ होगा? पाँच सन्धियों वाले रूपक में अङ्गों का क्रम नियत है और सन्धि भी उन अङ्गों के संहार से भावित हैं। 'इसी क्रम से उनका प्रयोग करना चाहिए, ऐसा कोई वचन नहीं है और हो भी तो न्यायसङ्गत नहीं है, उसकी अन्यथा योजना करनी चाहिए। उद्देश क्रम से लक्षण, गुण, अलङ्कार, वीथी के अङ्गों सन्ध्यतरों, लास्याङ्गों वृत्तियों और उनके अङ्गों का निबन्धन नहीं कहा है, अतः यह असाधर्म्य दृष्टान्त है अर्थात् साधर्म्य वाचक दृष्टान्त नहीं है। अतः ये प्रत्येक बात लक्षण निरूपण के अवसर पर स्पष्ट होगी, अतः यहाँ रहने दिया जाय।

१. उक्षेप—

अनुवाद—काव्यार्थ की समुत्पत्ति को 'उपक्षेप' कहते हैं ॥ ६९ ॥

---

१. ग. काव्यस्यार्थसमुत्पत्तिः ।

[1]यदुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरस्तु सः ।

---

१. उपक्षेपः—तत्र प्रस्तावना न तावद्रूपकाङ्गं नटवृत्तव्याप्ततयेतिवृत्तानमु-प्रवेशात् । इति तदनन्तरं पूर्वं, काव्यार्थं इतिवृत्तशरीरलक्षणोऽभिधेयः प्रधानरस-लक्षणं च प्रयोजनसंक्षेपेणोपक्षिप्यते । यथा वेणीसंहारे भीमः—

लाक्षागृहानलविषान्नगृहप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥ इति ॥

अभिनव—यहाँ प्रस्तावना रूपक का अङ्ग नहीं है, क्योंकि वह नट के वृत्त से व्याप्त होने से इतिवृत्त में उसका अनुप्रवेश नहीं हैं । 'इति स्मृतः' में इति शब्द का उल्लेख तदनन्तर पहिले काव्यार्थ इतिवृत्त शरीर लक्षण अभिधेय है और प्रधान रूप से निरूपणीय रस का प्रयोजन संक्षेप में उपक्षेप कराते हैं । जैसे वेणीसंहार में भीम का कथन—

"धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाक्षागृह में आग लगा देने और विष मिले अन्न (भोजन) खिलाने तथा द्यूत क्रीड़ा के लिए सभा में प्रवेश आदि कार्यों के द्वारा हमारे प्राणों और धन का अपहरण करने की चेष्टायें करके फिर सभा में पाण्डवों को बहू द्रौपदी के चीर का हरण और केशों का आकर्षण करके वे धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते स्वस्थ रहें, यह कैसे सम्भव है ?"

भाव यह कि मेरे जीते ही स्वस्थ अर्थात् स्वर्गस्थ हो जाँय । यहाँ वेणी-संहार रूप काव्यार्थ की समुत्पत्ति स्पष्ट हैं ।

२. परिकर—

अनुवाद—उत्पन्न काव्यार्थ (इतिवृत्त) का बाहुल्य अर्थात् विस्तार होना 'परिकर' है ।

---

१. ख-ग. समुत्पन्न ।

[1]तन्निष्पत्तिः परिन्यासो विज्ञेयः कविभिः सदा ॥ ७० ॥

---

२. परिकरः—तत ईषद् विस्तार्यते (परिकरः)। यथा भीमः—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरिव कुरुभि-
नं तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम्।
जरासन्धस्योरस्तलमिव विरूढं पुनरपि
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ॥ (अ० १-१०)

३. परिन्यासः—ततोऽपि निश्चयापत्तिरूपतया परितो हृदये सोऽर्थो-न्यस्ते--परिन्यासः।

यथा—चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥ (१-२१) इत्यादि।

अभिनव—उपक्षेप का थोड़ा और विस्तार होना 'परिकर' है। जैसे—भीम कहता है—

"बाल्यकाल से ही कौरवों के साथ जो मेरा वैर बढ़ गया है, उसमें न ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर कारण है, न अर्जुन कारण है और न तुम दोनों कारण हो, क्रुद्ध भीम जरासन्ध के विशाल वक्षःस्थल के समान इस सन्धि को तोड़ रहा है, अब तुम लोग जोड़ लो।"

३. परिन्यास—

अनुवाद—काव्यार्थ की निष्पत्ति (विशेष निश्चय) 'परिन्यास' है ॥ ७० ॥

अभिनव—परिकर की अपेक्षा निश्चयापत्ति रूप से हृदय में उसका परितः न्यास 'परिन्यास' है। जैसे—

"हे देवि। यह भीम इन चपल भुजाओं से घुमाये गये प्रचण्ड गदा के अभिघात से दुर्योधन के तोड़े गये दोनों जंघाओं के गाढ़े रक्त से रञ्जित हाथों से तुम्हारे केश पाश को सँवारेगा।"

यहाँ पर भावी ऊरुभङ्ग रूप कार्य निष्पन्न सा प्रतीत होने से 'परिन्यास' अलङ्कार है।

---

१. ख. तन्निष्पत्त्या तु कथनं परिन्यासः प्रकीर्तितः। ग. तन्निर्वृतिः परिन्यासो।

गुणनिर्वर्णनं चैव[1] विलोभनमिति स्मृतम् ।

४. विलोभनम्—ततस्तदेव गुणवदिति श्लाघ्यते, श्लाघैव विलोभनहेतुत्वा-द्विलोभनम् । यथा द्रौपदी—अणुगृह्लन्तु मए एदं वअणं देवदाओ (अनुगृह्णन्तु मे एतद्वचनं देवताः) इत्यादि । यथा वा विक्रमोर्वश्यां—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ इत्यादि ।

तदेतदुपक्षेपाद्यङ्गचतुष्कं प्रायशो मुखसन्धौ भवति । उक्तेनैव न पौर्वापर्येण भवति । आनन्तर्यनियमस्तु नास्ति, न सन्ध्यन्तराणां सामादीनां मध्येऽनु प्रवेशात् । तदेतदाह मुनिः काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरित्यादिना विलोभनमिति स्मृतमित्यन्तेन तत्र वृत्तान्तेनोपक्षयः सर्वेषां प्रयोजनमित्युक्तम् । परिकरस्य प्रयोजनमिष्टार्थस्य रचनापि ।

४. विलोभन—

अनुवाद—गुणों का अभिधान या वर्णन 'विलोभन' है ।

अभिनव—उसकी अपेक्षा वह गुणवान् है, इस प्रकार जिसकी प्रशंसा की जाती है, विलोभन का हेतु होने से वह श्लाघा ही 'विलोभन' है । जैसे—

"द्रौपदी—देवता लोग मेरे इस वचन पर अनुग्रह करें ।" इत्यादि

अथवा जैसे विक्रमोर्वशीय में—

"इस उर्वशी की सृष्टि में कान्तिदायक चन्द्रमा प्रजापति (ब्रह्मा) हो, या शृङ्गार रस के अवतार कामदेव स्वयं स्रष्टा हों अथवा वसन्त मास प्रजापति हो, अन्यथा वेदाभ्यास से जड़ बुद्धि और विषयों से निवृत्त कौतूहल वाले पुरातन मुनि इस सुन्दर रूप को निर्माण करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?"

इस प्रकार ये उपाक्षेपादि चारों सन्ध्यङ्ग प्रायः मुख सन्धियों में ही प्रायः होते हैं ? ये पहले कहे हुए विधि से होते हैं, पौर्वापर्य क्रम से नहीं । क्योंकि आनन्तर्य में नियम नहीं हैं । क्योंकि सामादि सन्ध्यन्तरों के मध्य में इनका प्रवेश नहीं हैं । इसी बात को मुनि ने 'काव्यार्थ की समुत्पत्ति' यहाँ से लेकर "विलोभनमिति स्मृतम्' यहाँ तक कहा है । वहाँ वृत्तान्त का उपक्षय सभी का प्रयोजन है, ऐसा कहा है । इनमें परिकर को प्रयोजन इष्टार्थ की रचना भी होता है ।

१. ख. यत्तु ।

संप्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते ॥ ७१ ॥
सुखार्थस्याभिगमनं प्राप्तिरित्यभिसंज्ञिता[1] ।

---

५. युक्तिर्यथा—'सहदेवः—आर्यं, किंचन महाराजसन्देशोऽयं आर्येणाव्युत्पन्न इव गृहीतः' इत्यतः प्रभृति यावद्भीमवचनम्—

युष्मान् ह्रेपयते क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम् ॥ (१-१७) इति।

अस्याः प्रयोजनं प्रकाश्यप्रकाशमपि।

६. प्राप्तिः—सुखार्थस्याभिगमनं प्राप्तिरिति। सुखयतीति सुखं तादृशस्य वस्तुनः। यथा (वेण्याम्)—"एष खलु भगवान् वासुदेवः पाण्डवपक्षपाता मर्षितेन सुयोधनेन संयमितुमारब्धः" इत्यादि "कुमारमविलम्बितं द्रष्टुमिच्छामीति" "अयं ह्यर्थो भीमस्य चेतः सुखय"तीति सन्धेर्विघटनात् (प्राप्तिः)।

---

५. युक्ति—

अनुवाद—अर्थों का सम्प्रधारण (निश्चय) 'युक्ति' कही जाती है ॥ ७१ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त युक्ति का उदाहरण देते हैं कि जैसे—वेणीसंहार में—सहदेव भीम के प्रति कहता है कि 'आर्य ! आपने महाराज के सन्देश को अच्छी तरह नहीं समझा" यहाँ से लेकर—"सहदेव ! तुम लोगों को क्रोध में आकर शत्रुकुल का संहार करने में लज्जा आती है किन्तु भरी राजसभा में द्रौपदी का केश कर्षण से तुम लोगों को लज्जा नहीं आती।" भीम के इस कथन तक। इसका प्रयोजन प्रकाश्य का प्रकाशित करना है ॥ ७१ ॥

६. प्राप्ति—

अनुवाद—सुखार्थ का अभिगमन (प्राप्ति) को 'प्राप्ति' समझना चाहिए।

अभिनव—सुखकारी अर्थ (वस्तु) का अभिगमन 'प्राप्ति' है। जो सुख देता है वह वस्तु। यहाँ सुख शब्द का अर्थ है। जैसे वेणीसंहार में—"पाण्डवों के पक्षपात से क्रुद्ध दुर्योधन भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) को बाँधने के लिए उपक्रम करता है।" यहाँ से लेकर "कुमार को शीघ्र देखना चाहता हूँ।" यहाँ तक इससे भीम के चित्त को सुखप्राप्ति होती है। वहाँ सन्धि के विघटन ये सुखप्राप्ति होने से 'प्राप्ति' है।

---

१. ख. भसंज्ञितज्ञ्, ग. धीयते।

बीजर्थस्योपगमनं [1]समाधानमिति स्मृतम् ॥ ७२ ॥
सुखदुःखकृतो[2] योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ।

---

७. समाधानम्—बीजार्थस्योपगमनमिति। यस्मिन् बीजं तदिदानीं प्रधान-नायकानुगतत्वेन सम्यगाहितं भवतीति (समाधानम्) ।

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं भगवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद् द्युतारणिसंभृतं नृपशुना केशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥ (१-२५)

"यौधिष्ठिर" मित्यनेन समाधानं दर्शितम् ।

---

७. समाधान—

अनुवाद—बीज के अर्थ के आगमन को 'समाधान' कहा गया है ॥ ७२ ॥

अभिनव—बीजभूत अर्थ का उपगमन 'समाधान' है। जिसमें बीज है वह इस समय प्रधान नायक के अनुगत होकर सम्यक् रूप से आहित होता है, इसलिए उसे समाधान कहते हैं। जैसे वेणीसंहार नाटक में—(नेपथ्य में कलकल निनाद के अनन्तर) अरे! विराट्, द्रुपद, सहदेव प्रभृति हमारे अक्षौहिणी सेनापतियों! और कौरव-सेना के प्रधान योद्धाओं? आप लोग सुने—

"जिसे सत्यपालन की प्रतिज्ञा टूटने के भय से प्रयत्न मन्द कर दिया था, जिसे कुल में शान्ति की भावना से भूल जाने की चेष्टा की थी, किन्तु जुए की अरणि से निकली हुई युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि अब द्रौपदी के केशा-कर्षण रूप हवा से इस कौरव वन में भड़क रही है?"

यहाँ पर समाधान की योजना स्पष्ट परिलक्षित हो रही है।

८. विधान—

अनुवाद—सुख और दुःख से किया गया गया जो अर्थ वह 'विधान' है।

अभिनव—सुख-दुःख से किया गया जो अर्थ वह 'विधान' है अर्थात् जहाँ पर मिश्रित रूप से सुख-दुःख का कथन होता है, उसे 'विधान' कहते हैं। जैसे वेणीसंहार नाटक में—

---

१. ख. समाधानमपीष्यते । ग. तत्समाधानमुच्यते ।

२. ख. ग. योऽर्थस्ताद्विधानमिहोच्यते ।

कुतूहलोत्तरावेगो[1] विज्ञेया[2] परिभावना ॥ ७३ ॥

---

८. विधानम्—सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति। व्यामिश्रतया सुखःदुखे अभिधीयते यत्रेति (विधानम्)। यथा—

भीमः—तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय।

द्रौपदी—णाह जं असुरसमराहिमुहस्स हरिणो मङ्गलं तं तुंहाण होवु— (नाथ, यदसुरसमराभिमुखस्य हरेमंङ्गलं तत्तव भवतु) इत्यादि (अ १) तथा— "मा अनवेक्खिदसरीरा संचरह, अप्पमत्त संचरिणिज्जाइं रिपुबलाइं - (मा अनपेक्षितशरीराः संचरथ, अप्रमत्तसंचरणीयानि रिपुबलानि)" इति। अत्र द्रौपद्याः प्रहर्षो भयं च मिश्रतया विहितमिति विचित्रत्वाद् रसवत्ता भवति। तेनेष्टस्यार्थस्य रचना तथा निगूह्यस्य नायिकाचित्तनिस्त्रिंशभावस्य निगूहनं प्रयोजनम्। एवमन्यत्रापि प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्यम्। युक्तिवच्चेदयन्यत्रापि संभवत्येवेत्यै- वमन्यत्राप्यूह्यम्।

९. परिभावना—कुतूहलेति कौतुकेन जिज्ञासातिशयेन व्यामिश्रो य आवेगः सा परिभावना किमेतदिति। यथा—संग्रामं संघटनया संशयमाना द्रौपदी तूर्यशब्दं श्रुत्वाह—"णाह किं दाणिं एसो पलअंतजलहरत्थणिवमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि—(नाथ किमिदानीमेष प्रलयान्तजलधरस्तनित- मांसलो क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते)" इति।

भीम—हे पाञ्चालि, हम लोग इस समय कुरुकुल के विनाश के लिये जा रहे हैं।

द्रौपदी—हे नाथ ! 'असुरों के साथ युद्ध में मारे जाने के लिए अभिमुख भगवान् विष्णु का जो मङ्गल हुआ था, वह मङ्गल आप का होवे।' यहाँ से लेकर "आप अपने शरीर का ध्यान रखकर युद्ध में जाँय। क्योंकि बड़ी सावधानी से शत्रु की सेना में सञ्चरण करना चाहिए, ऐसा सुना जाता है।" यहाँ तक।

यहाँ पर द्रौपदी के हर्ष और भय का मिश्रित रूप में अभिहित होने से वैचित्र्य के कारण रस बना है। इस प्रकार यहाँ इष्टार्थ की रचना तथा निगुह्य अर्थात् नायिका के चित्त में स्थित निस्त्रिंश भाव का निगूहन प्रयोजन है। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रयोजन की उत्प्रेक्षा करनी चाहिए।

९. परिभावना—

अनुवाद—कौतूहलपूर्ण अद्भुत वचन का विन्यास 'परिभावना' है ॥ ७३ ॥

---

१. ख. ग. कौतूहलोत्तरावेशो; २. ख. भवेत्तु।

बीजार्थस्य प्ररोहो यः स [1]उद्‌भेद इति स्मृतः ।

१०. उद्‌भेदः—बीजार्थस्य प्ररोह इति । यथा द्रौपदी—हा णाह पुणो वि तुए अहं समस्ससइदव्वा (हा नाथ, पुनरपि त्वयाहं समाश्वासयितव्या)

भीमः—भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनिश्शेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥ इति ।

न चेदमुद्‌घाटनं येन प्रतिमुखं भवेत् अपि तु शत्रुक्षयारम्भं बीजस्याङ्कुरः कुरुकुलोद्‌घाटनेन विनापि प्ररोहमात्रमनुस्थानानुगुण्यात् भूमिसंश्लेष इव बीजस्य ।

अभिनव—कौतूहल या कौतुक पूर्ण जिज्ञासातिशय से मिश्रित जो आवेश है वह 'परिभाषा' है । जैसे यह क्या है ? इत्यादि ।

जैसे वेणीसंहार में संग्राम की योजना से आशङ्कित द्रौपदी तूर्य के शब्द को सुनकर कहती हैं—

द्रौपदी—नाथ ! क्या इस समय यह प्रलयकालीन मेघ-गर्जन के समान मांसल क्षण-क्षण पर (रुक-रुक कर) यह समर दुन्दुभि का नाद सुनाई पड़ रहा है ।

यहाँ द्रौपदी की कौतूहल पूर्ण वचन से युद्ध की इच्छा मिश्रित होने से परिभावना है ।

१०. उद्‌भेद—

अनुवाद—बीजभूत अर्थ का प्ररोह अर्थात् बीजार्थ का अङ्कुरित होना अथवा छिपे हुए बीज का उद्‌भेदन 'उद्‌भेद' कहा जाता है ।

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार बीजार्थ का प्ररोह (अङ्कुरित होना) उद्‌भेद है । जैसे वेणीसंहार नाटक में—

द्रौपदी—नाथ फिर भी आपकी मुझे सान्त्वना देना होगा ।

भीम—देवि !

'परिभव (अपमान) की क्लान्ति एवं लज्जा से विधुरित (मलिन) मुख वाले भीम को तुम अब कौरवों के सर्वनाश के बाद ही देखोगी ।' यहाँ 'उद्‌भेद' नामक सन्ध्यङ्ग है ।

यह उद्‌घाटन नहीं है जिससे प्रकृत में प्रतिमुख सन्धि हो जाय अपितु यह शत्रुओं के क्षय (विनाश) को आरम्भ रूप होने से बीज का अंकुर है । क्योंकि कुरुवंश के उद्‌घाटन के विना भी यह बीज का प्ररोहमात्र है अर्थात् स्थान के आनुगुण्य से बीज का भूमि से संश्लेष की तरह है ।

---

१. ख. उद्‌भेदः स तु कीर्तितः ।

प्रकृतार्थसमारम्भः करणं [1]नाम तद्भवेत् ॥ ७४ ॥
संघातभेदानार्थो यः स भेद इति कीर्तितः[2]।
[3]एतानि तु मुखाङ्गानि वक्ष्ये प्रतिमुखे पुनः ॥ ७५ ॥

११. करणम्—प्रकृतार्थसमारम्भः करणमिति[4]। यथा—

सहदेवः—गच्छामो वयमिदानीं कुरुराजानुज्ञाताः विक्रमानुरूपमाचरितुम्, इत्यादि (वेणी-१)।

१२. भेदः—संघातभेदनार्थो यः स भेद इति। पात्रसंघातस्य यन्निज-प्रयोजनोपक्षेपेण निष्क्रमणसिद्धये भेदनं प्रकरणमिव स भेदः। सर्वत्राङ्केऽन्तर्भावी वस्तूपायात्मा भेदः, स सन्ध्यन्तरैकविंशतौ वक्ष्यते अस्योदाहरणं—(वेण्यां—

११. करण—

अनुवाद—प्रकृतार्थ अर्थात् प्रस्तुत कार्य का समारम्भ 'करण' कहा जाता है ॥ ७४ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार प्रकृत अर्थ का समारम्भ करण है। जैसे—सहदेव कहता है कि हमलोग अब गुरुजनों की आज्ञा से अनुज्ञात होकर पराक्रम के अनुरूप आचरण करने के लिए जा रहे हैं ॥ ७४ ॥

१२. भेद—

अनुवाद संघात के भेदनकारी कार्य को 'भेद' कहा गया है। ये मुख सन्धि के अङ्ग हैं। अब प्रति मुख सन्धि के भेदों को कहते है ॥ ७५ ॥

अभिनव—जहाँ संघात का भेदनकारी कार्य हो 'भेद' है। जैसे—नाटकीय पात्र-संघात का जो अपने-अपने प्रयोजन के उपक्षेप के द्वारा रङ्गभूमि से निष्क्रमण की सिद्धि के लिए भेदन है, वही 'भेद' है। सभी अङ्गों में अन्तर्भावी वस्तु का उपाय स्वरूप भेद है, इसे २१ सन्ध्यन्तरों में कहेंगे। इसका उदाहरण वेणीसंहार में भीम का कथन है—

१. ख. करणं परिचक्षते ; २. ख. संज्ञितः।
३. क. अन्ये तु विपदां शमनं करणमाहुः।
४. ग. पुस्तके श्लोकार्धोऽयं नास्ति।

समीहा रतिभोगार्था विलास इति संज्ञितः[1]।

ब-१-भीमवाक्यम्)।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
संग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥

"अन्योन्यास्फालभिन्न" इयादि यावत् पाण्डुपुत्रा इति।

अथ प्रतिमुखोद्दिष्टानामङ्गानामुद्देशक्रमेण लक्षणमाह—

१३. विलासः—समीहा रतिभोगार्था विलास इति। रतिलक्षणस्य भावस्य हेतुभूतो यो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्था या समीहा स विलासः। कामफलेषु रूपकेषु प्रतिमुख एव ह्यास्थाफलत्वेन रतिरूपेण भाव्यम्। यथा-भिज्ञानशाकुन्तले—

"जिस संग्राम-सागर के अगाध जल में परस्पर लड़ने (टकराने) से हाथियों के फूटे हुए मस्तक से निकलने वाले रक्त, माँस, चर्बी और मस्तिष्क के सान्द्र की धड़ में धँसे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर पैदल सैनिक पार हो रहे हैं और जिस संग्राम-सागर में खूब रक्तपान करके अमङ्गल शब्द करने वाली सियारिने शब्दरूपी तुरही के ताल पर कबन्ध नाच रहे हैं, ऐसे संग्राम रूपी सागर के जल के भीतर विचरण करने में पाण्डुपुत्र पाण्डव दक्ष हैं।"

इस प्रकार द्रौपदी का क्रोध और उत्साह बीज के अनुरूप प्रोत्साह होने से 'भेद' नामक सन्ध्यङ्ग हैं।

अब मैं प्रतिमुख सन्धि के अङ्गों का उद्देश क्रम से लक्षण कहता हूँ।

१. विलास सन्धि—

अनुवाद—रतिभोग के योग्य पदार्थ की अभिलाषा करना 'विलास' है।

अभिनव—रतिभोग के लिए अभिलाषा करना 'विलास' है। रतिस्वरूप रतिभाव का हेतुभूत जो भोग है प्रमदा अथवा पुरुष, उसके लिए जो चेष्टा है वह विलास है। कामफल वाले रूपकों में प्रतिमुख सन्धि में आस्था भाव के रूप में रति होनी चाहिए। जैसे, अभिज्ञानशाकुन्तल में—

---

१. ख, ग, कीर्तितः।

तापसः—कस्येदमुशीरानुलेपनमित्यादि। तथा राजा—

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।

आकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते॥ इत्यादि।

यस्तु वेणीसंहारे भानुमत्या सह दुर्योधनस्य दर्शितो विलासः, स नायकस्य तादृशेऽवसरेऽत्यनुचित इति चिरन्तनैरेवोक्तम्। यथा सहृदयालोककारः—

सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसबन्धव्यपेक्षया।

न तु केवलशास्त्रार्थस्थितिसंपादनेच्छया॥ (ध्वन्या ३)

एतच्च विवरण एवास्माभिर्वितत्य दर्शितम्।

इह च रतिग्रहणं पुमर्थोपयोगि रसगतस्थायिभावोपलक्षणं तेन वीरप्रधानेषु रूपकेषु प्रतिमुख एव ह्यास्था रतिरूपेण उत्साहः। सम्यग्विषया समीहा चेष्टा विलास इति मन्तव्यम्। युक्तचैतस्य एव हि रसो मुख उपक्षिप्तः। तस्यैव स्वयं प्रतिमुखस्योचितारम्भसंभाविताः कर्तव्यः लस श्लेषणेऽपि हि पठ्यते।

तापस—प्रियम्वदे! किसके लिए यह उशीरानुलेसन (खस का लेप) ले जा रही हो।

और राजा—(मन में)—

'यद्यपि शकुन्तला की प्राप्ति सुलभ नहीं है किन्तु मेरा मन उसके भावों को देखने से पूर्ण आश्वस्त है। कामदेव के सफल मनोरथ न होने पर भी हम दोनों की एक दूसरे के प्रति कामना प्रेम को उत्पन्न करती हैं।'

यहाँ पर राजा दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति चेष्टा या अभिलाष होने से 'विलास' नामक अङ्ग है। जो कि वेणीसंहार में भानुमती के साथ दुर्योधन का विलास दिखाया गया है, वह उस अवसर पर नायक का अनुचित कार्य है, ऐसा चिरन्तन आचार्यों ने कहा है। जैसाकि सहृदयालोककार का कथन है—

"सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का संघटन (संयोजन) रसबन्ध (रसाभिव्यक्ति) की अपेक्षा से करना चाहिए, न कि केवल शास्त्रीय अर्थ की मर्यादा का सम्पादन करने की इच्छा से करना चाहिए।"

इस बात को विवरण में हमने विस्तार से दिखाया है।

दृष्टनष्टानुसरणं परिसर्प इति[1] स्मृतः ॥ ७६ ॥

१४. परिसर्पः—दृष्टनष्टानुसरणं परिसर्प इति। यथा (वेण्यां) कञ्चुकी—

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरियं भीष्मः शरैः शायितः।
प्रौढ़ानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥

इत्यादि दृष्टनष्टप्रायो हि कार्यान्तरव्यासङ्गात्। कुरुकुलक्षयो भीष्मवधेन स्थानपरितोषसूचितेन च दुर्योधनस्यायुक्तचेष्टितत्वेनानुसृत इति प्रकृतस्यार्थस्य परिसर्पणात् प्रसरणात् परिसर्पः। यथा चाभिज्ञानशाकुन्तले भवितव्यमात्रतया। तथा हि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यते हि न वा ॥ (३५) इति।

यहाँ पर रति शब्द का ग्रहण पुरुषार्थ के उपयोगी रसगत स्थायीभाव का उपलक्षण हैं। अतः वीर रस प्रधान रूपकों में आस्था रूप से उत्साह को कहना चाहिए। समीहा अर्थात् सम्यक् विषयों वाली चेष्टा 'विलास' है। ऐसा मानना चाहिए। इसलिए युक्त चैतन्य ही रस का ही मुख ने उपक्षेप किया है। उसी का प्रतिमुख सन्धि में अपने अनुकूल सम्भावित आरम्भ करना चाहिए। 'लस' धातु श्लेषण अर्थ में पढ़ा जाता है।

२. परिसर्प—

अनुवाद—दृष्ट फिर नष्ट वस्तु का अन्वेषण करना 'परिसर्प' है ॥ ७६ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार दृष्ट फिर नष्ट का अनुसरण करना 'परिसर्प' है। जैसे वेणीसंहार नाटक में कञ्चुकी कहता है—

"जब से शस्त्र को ग्रहण किया तब से लेकर जिसका परशु कभी कुण्ठित नहीं हुआ, उस परशुराम मुनि को भी जीतने वाले भीष्म को भी पाण्डुपुत्र अर्जुन ने बाणों से मारकर भूमि पर सुला दिया, वह दुर्योधन के लिए उतना कष्टकारी नहीं था, जितना अनेक धनुधारियों को जीतकर थके हुए और शत्रुओं के द्वारा काटे जाने से धनुषरहित अकेले बालक अभिमन्यु के वध से वह दुर्योधन प्रसन्न था।"

१. ख. तु वर्ण्यंते।

कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतं[1] ह्यपरिग्रहः ।

१५. [2]विधूतम्—कृतस्यानुनयस्येति । आदौ प्रथमतः, कृतस्यानुनयस्य साम-वचसी नाङ्गीकरणं विधूतं, पश्चात् पुनरङ्गीकरणमिति । आदिशब्दात् (उपरोधः) । यथा—तत्रैव—शकुन्तला—अइ किं अंतेउरविरहपय्युसिएण राएसिणा अवरुद्धेण—इत्यादि ।

यहाँ पर भीष्म के वध से पाण्डवों का अभ्युदय दृष्ट है और अभिमन्यु के वध से नष्ट है। भीष्म के वध एवं दुर्योधन के अनुचित अवसर पर परितोष से सूचित अनुचित चेष्टा से कुरुकुल का क्षय अनुस्यूत है, इस प्रकार प्रकृत अर्थ के परिसर्पण के कारण यह 'परिसर्प' है, जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में—

"यहाँ पर लतामण्डप में वह होगी ? क्योंकि इस लतामण्डप के द्वार पर उज्ज्वल रेत पर पड़े आगे की ओर उठी हुई और पीछे की ओर नितम्बों के भार से नीचे धँसी हुई पदपंक्ति (पैरों के चिह्न) दिखाई दे रहे हैं।"

यहाँ पूर्व दृष्ट शकुन्तला का अन्वेषण 'परिसर्प' है।

३. विधूतम्—

अनुवाद—पूर्वकृत अनुनय का अपरिग्रहण अर्थात् स्वीकार न करना 'विधूत' है।

अभिनव—आदौ अर्थात् पहिले (आरम्भ) किये गये अनुनय का सान्त्वना पूर्ण वचन से स्वीकार न करना और बाद में स्वीकार कर लेना 'विधूत' है। यहाँ पर 'आदि' शब्द से उपरोध का ग्रहण है। जैसे—अभिज्ञान-शाकुन्तल में शकुन्तला कहती हैं कि 'अन्तःपुर की रानियों के वियोग में व्याकुल राजा को रोक रखने से क्या लाभ ?"

"यहाँ पर राजा को रोक रखने के लिए शकुन्तला का पूर्वकृत अनुनय का परित्याग का वर्णन 'विधूत' है।

१. ख. ग. विधूतमपरिग्रहः ।

२. विधूतमरतिं प्राहुः । केचित् तत्रारतिरित्यभीष्टानवाप्तितो दुःखम् ॥

अपायदर्शनं यत्तु तापनं[1] नाम तद्भवेत् ॥ ७७ ॥
क्रीडार्थं विहितं[2] यत्तु हास्यं नर्मेति[3] तत्स्मृतम् ।

---

१६. तापनम्[4]—अपायदर्शनं यत्तु तापनमिति । यथा रत्नावल्याम्—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जागुरुई परवसो अप्पा ।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णु वरमेक्कं ॥ (२-७)
दुर्लभजनानुरागः लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरण शरणं नु वरमेकम् ॥

१७. नर्म—क्रीडार्थ विहितं यत्तु हास्यं नर्मेति । यथा (रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के) विदूषकः—

भो मा पांडिच्चगव्वं उव्वह, अहं एताआ मुहादो सुणिअ वक्खाणइस्सं—(भो मा पाण्डित्यगर्वमुद्वह । अहं एतस्या मुखात् श्रुत्वा व्याख्यास्यामि) इत्यादि ।

---

४. तापन—

अनुवाद—अपाय अर्थात् विनाश या अनिष्ट का दर्शन (देखना) 'तापन' कहा गया है ॥ ७७ ॥

अभिनव—अपाय का दर्शन 'तापन' है । जैसे—रत्नावली में—

सागरिका—हे सखि ! दुर्लभ प्रेमो से मैंने प्रेम किया, यह बहुत बड़े लाज की बात है और मेरी आत्मा पराधीन है । हे प्रिय सखि ! प्रेम करना विषम है, अब तो केवल मरना ही एकमात्र सरण है ।

यहाँ अनिष्ट की चिन्ता का करण 'तापन' है ।

विशेष—दशरूपक में 'तापन' के स्थान पर 'शम' प्रतिमुख सन्धि का अङ्क बताया गया है जिसका लक्षण है—'आरति का शमन शम है ।

५. नर्म—

अनुवाद—क्रीड़ा के लिए किये गये हास्य को 'नर्म' कहा जाता है ।

अभिनव—अभिनवगुप्त ने क्रीड़ा के लिए विहित हास्य को 'नर्म' कहा है । जैसे रत्नावली में द्वितीय अङ्क में विदूषक कहता है कि "अरे ! पाण्डित्य का अभिमान मत करो । मैं उसके मुख से सुनकर व्याख्या करूँगा ।

---

१. ग. यत्तत्तापनं । २. ग. यत्र ; ३. ख. तु संज्ञितम् ।
४. केचित्तु तापनस्थाने शमनं पठन्ति, अरतेः शमनमथवानुनयग्रहणादरतेर्निग्रहः **शमनम् ।**

दोषप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मद्युतिः स्मृता[1] ॥ ७८ ॥

१८. नर्मद्युतिः—दोषप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मद्युतिरिति। दोषो येनोक्तेन प्रच्छादयितुमिष्यते तस्यापि हास्यजननत्वेन नर्म च सुतरां द्योतितं भवतीति नर्मद्युतिः। यथा च (रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के विदूषकः) चउव्वेई विअ बम्हणो रिअइं पट्ठिदं प्रवृत्ता। (चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता। इत्यभिहिते।

राजा—नावधारितं मया—

ततो विदूषकः—दुल्लहजणाणुराओ लज्जागुरुइ परवशो अप्पा।
पियं सहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णु वरमेक्कं॥

इति पठति। अत्र हि मौर्ख्यदोषं छादयितुं यद्विदूषकेणोच्यते तद्राज्ञो हास्यजननमिति नर्मैव द्योतितं भवति। तथा हि राजा—महाब्राह्मण कोऽन्य एवमृचानभिज्ञः—इति।

६. नर्मद्युति—

अनुवाद—दोष को छिपाने के लिए जो हास्य होता है उसे 'नर्मद्युति' कहते हैं॥ ७८॥

विशेष—विश्वनाथ के अनुसार परिहास में धैर्यधारणा करना 'नर्मद्युति' है।

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार दोष को छिपाने के लिए किया गया 'हास्य' नर्मद्युति है। दोष को जिस कथन से छिपाना चाहते हैं वह भी हास्य का कारण होने से नर्भ में घोषित करता है, अतः वह 'नर्मद्युति' है। जैसे—रत्नावली के द्वितीय अङ्क में।

विदूषक—यह सारिका चतुर्वेदी ब्राह्मणों के समान ऋचाओं को पढ़ने में प्रवृत्त हो गयी। ऐसा कहने पर—

राजा—मैं नहीं समझा।

तब विदूषक—"दुर्लभजन से मैंने प्रेम किया, वह लज्जा अधिक है और आत्मा पराधीन है। हे प्रिय सखि! प्रेम करना विषम है अब केवल मरण ही शरण है।"

इस प्रकार पढ़ता है। यहाँ पर मूर्खता का दोष छिपाने के लिए जो विदूषक कहता है वह राजा के लिए हास्य जनक है, अतः रससे नर्म घोषित होता है। वह राजा कहता है कि—'हे महाब्राह्मण! यह तुमसे भिन्न और कौन ऋचाओं का ज्ञाता है?' ॥ ७८ ॥

१. ख. ग. नर्मद्युति स्मृतम्॥

उत्तरोत्तरवाक्यं तु भवेत्प्रगयणं[1] पुनः ।
या तु व्यसनसंप्राप्तिः स निरोधः प्रकीर्तितः[2] ॥ ७९ ॥

---

१९. प्रगयणम्—उत्तरोत्तरवाक्यन्तु भवेत्प्रगयणमिति । (यथा—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के) विदूषकः—किं णु खु दाणिं गाहेयम् (किं नु खलु इदानीं गायेयम्) ।

राजा—कयापि श्लाघ्यनवयौवनया प्रियतममनासादयन्त्या जीवितनिरपेक्षयेदमुक्तम् । विदूषकः—भो किं एदे हिं णं…… (भोः किमेतैः न) इत्यादि । प्रगयणमिति रूढिशब्दः ।

प्रागयणमित्यन्ये पठन्ति—प्रागिति पूर्ववचनं ततोऽयनं प्राप्तिः यस्योत्तरवचनस्येति ।

---

७. प्रगयण—

अनुवाद—उत्तरोत्तर वाक्य प्रगयण होता है ।

अभिनव—अभिनव के अनुसार उत्तरोत्तर वचन-विन्नास प्रगयण होता है । जैसे, रत्नावली नाटिका में द्वितीय अङ्क में—

विदूषक— इस समय मैं क्या गाऊँ ?

राजा— किसी श्लाध्य नवयौवन युवति ने प्रियतम को न पाकर जीवन से निराश होकर यह कहा है ।

विदूषक—इससे हमलोगों को क्या लाभ ?

प्रगयण यह शब्द रूढ़ि है । अन्य लोग तो प्रागयण पाठ मानते हैं । 'प्राग्' यह पूर्व का वाचक है । उससे अयन प्राप्ति जिस उत्तर बचन की होती है वह प्रागयण है । (प्रा गुपपदात् अयने प्राप्तिः यस्य तत् प्रागयणम्) ।

८. निरोध—

अनुवाद—जो कि व्यसन की सम्प्राप्ति है उसे 'निरोध' कहते हैं ॥ ७९ ॥

---

१. ख. ग. प्रशमनं बुधाः ।
२. ख. निरोधः सः प्रकीर्तितः । ग. निरोधः स तु कीर्तितः ।

क्रुद्धस्यानुनयो यस्तु भवेत्तत्पर्युपासनम् ।

---

२०. निरोधः—या तु व्यसनसंप्राप्तिः स निरोध[1] इति । (यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के)—

राजा "उच्चैर्हसता त्वयेयं त्रासिता" (इति),

व्यसनमत्र खेदमात्रमभीष्टोपरोधान्निरोधः ।

२१. पर्युपासनम्—क्रुद्धस्यानुनयो यस्त्विति । यथा—(तत्रैव)—

विदूषकः –भो मा कुप्प एसा खु कदलीघरन्ते ··· एहि[2] । भो मा कुप्य, एषा खलु कदलीगृहान्तरे(वर्तते) , एहि । इत्यादि ।

राजा अनुनीतः सन्नाह—

दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या
कामिन्या यदभिहितं पुनः सखीनाम् ।
तद्भूयः शुकशिशुसारिकाभिरुक्तं
धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥ इत्यादि ।

अभिनव—जो व्यसन की प्राप्ति है वह 'निरोध' है। जैसे, रत्नावली के द्वितीय अङ्क में—

राजा—'जोर से हँसते हुए तुमने इसे डरा दिया' ।

यहाँ पर व्यसन का अर्थ खेद माना है, अभीष्ट की प्राप्ति में उपरोध होने से इसे 'निरोध' कहते हैं। कुछ लोग यहाँ निरोध के स्थान पर विरोध पाठ मानते हैं।

९. पर्युपासन—

अनुवाद—कुपित व्यक्ति के अनुनय-विनय की प्रक्रिया 'पर्युपासन' है।

अभिनव—क्रुद्ध व्यक्ति का जो अनुनय वह 'पर्युपासन' है । जैसे, रत्नावली में—

विदूषक—अरे ! क्रोध मत करो, वह तो कदली गृह के भीतर चली गई।

राजा—अनुनीत होकर कहता है—

"दुःसह काम की पीड़ा को वहन करती हुई कामिनी ने सखियों के समक्ष जो कहा और वह फिर शुक-सारिकाओं द्वारा दोहराया जाता हुआ भाग्यशाली पुरुषों के श्रवण पथ का अतिथि होता है ।"

---

१. अन्ये तु प्रगमनमिति प्रशमनमिति च पठन्ति ।

२. केचिद्विरोध इति । अन्ये रोध इति च पठन्ति ।

विशेषवचनं यत्तु तत्पुष्पमिति संज्ञितम् ॥ ८० ॥

---

२२. पुष्पम्—विशेषवचनं यत्तु पुष्पमिति। यथा (तत्रैव)

विदूषकः—एसो को वि चित्तफलहओ (एष कोऽपि चित्रफलकः)—इत्यादि।

विदूषकोक्तेः प्रभृति यावत्—

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् किं शोषमायासि मृणालहार।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥

इत्यादि। यथा हि प्रेमविकासि पुष्पं भवत्येवमत्रापि राज्ञ उत्तरोत्तरानुराग-विशेषसूचकं वचो विकासमस्यानुरागस्य दर्शयति। तथा हि—

सुसङ्गता—सहि गरुआणुरागविक्खित्तहिअओ असंबद्धं भट्टा मन्तेदुं पवुत्तो (सखि गुर्वनुरागविक्षिप्तहृदयोऽसंबद्धं भर्ता मन्त्रितुं प्रवृत्तः) इत्यादि ॥८० ॥

---

१०. पुष्प—

अनुवाद—विशेष वचनों का जो विन्यास है, उसे 'पुष्प' कहते हैं ॥ ८० ॥

अभिनव—जो विशेष वचन है वह पुष्प है। जैसे रत्नावली नाटिका में—

"यह कोई चित्रफल है" इस विदूषक के कथन से लेकर—

"हे मृणालहार! तुम कुचरूपी कलशों के मध्य से गिरकर क्यों सूखे जा रहे हो? क्या उन कुच-कुम्भों के मध्य सूक्ष्म तन्तुओं के जाने तक का भी अवकाश (स्थान) नहीं है?"

यहाँ तक। जैसे प्रेम का विकासी पुष्प होता है उसी प्रकार यहाँ भी राजा के उत्तरोत्तर अनुराग विशेष के सूचक राजा का वचन-विन्यास उसके अनुराग को दिखाता है। और जैसा कि—

सुसङ्गता—"सखि! अत्यधिक अनुराग से विक्षिप्त हृदय महाराज असम्बद्ध मन्त्रणा करने के लिए प्रवृत्त हो गये हैं।" इत्यादि ॥ ८० ॥

प्रत्यक्षरुक्षं यद्वाक्यं[1] वज्रं तदभिधीयते ।
उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासश्च[2] स स्मृतः ॥ ८१ ॥

---

२३. वज्रम्—प्रत्यक्षरूक्षं यद्वाक्यं वज्रमिति । यथा (तत्रैव)—"कथमिहस्थोऽहं भवत्या ज्ञात" इति राजन्युक्तवति सुसङ्गता—ण केवलं तुमं, चित्त फलहेण । ता जाव गदुअ देवीए णिवेदेमि । (न केवलं त्वं, चित्रफलकेन । तद्यावद्गत्वा देव्यै निवेदयामि ।

२४. उपन्यासः—उपपत्तिकृतो योऽर्थं उपन्यास इति । यथा (तत्रैव) विदूषकः (ससाध्वसं)—अतिमुहरा खु एसा गब्भदासी (अतिमुखरा खल्वेषा गर्भदासी)। अत्र मौखर्यातिमकोपपत्तिरुपन्यस्ता[3] ।

---

११. वज्र—

अनुवाद—वज्र के समान कठोर वचनों का विन्यास 'वज्र' नामक अङ्ग कहलाता है ।

अभिनव—जो वाक्य प्रत्यक्ष निष्ठुर है, उसे 'वज्र' कहते हैं। जैसे रत्नावली नाटिका में—"मैं यही पर हूँ, यह कैसे आप ने जान लिया ?" इस प्रकार राजा के कहने पर सुसङ्गता कहती हैं कि 'केवल आप को ही नहीं, बल्कि इस चित्र फलक के साथ आपको। अच्छा, तो अब रनिवास में जाकर देवीजी से निवेदन करती हूँ ।

यहाँ पर सुसङ्गता का कठोर वचन-विन्यास निष्ठुर होने से 'वज्र' है।

१२. उपन्यास—

अनुवाद—उपपत्ति से किया गया जो अर्थ उसे 'उपन्यास' कहा जाता है ॥ ८१ ॥

अभिनव—जो अर्थ उपपत्ति से किया गया है वह 'उपन्यास' है। जैसे, रत्नावली नाटिका में—

विदूषक—("भय के साथ) अरे ! यह गर्भदासो बड़ी वाचाल है।"

यहाँ पर मुखरता की उपपत्ति का उपन्यास है, अतः यहाँ 'उपन्यास' सन्धि हैं।

---

१. ख-ग. तद्वज्रमिति ; २. ख-ग. तु ।
३. केचिदुपन्यासः प्रसादनमित्याहुः । भोजेन तूपन्यासाङ्गं परिहृतम् ।

[1]चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ।

---

२५. वर्णसंहारः—चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इति । चातुर्वर्ण्यशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते । तेन यत्र पात्राणि पृथक् स्थितान्यपि ढौक्यन्ते स वर्णसंहारः।

उपाध्यायास्त्वाहुः—इह वीरप्रधाने तावन्नायकप्रतिनायकौ तत्सचिवौ च प्रधानत्वेन वर्ण्यन्त इति वर्णाः, कामप्रधानेऽपि नायको नायिका तत्सचिवौ चेति । तथा हि रत्नावल्यां (द्वितीयेऽङ्के)—

सुसङ्गताया वचनात्—"आदो मे अअं गरुओ पसाओ

(अतो ममायं गुरुः प्रसादः)" इत्यारभ्य,

राजा—क्वासौ ।

सुसङ्गताः—हत्थे गेह्णिअ सहिं पसाएहि णं (हस्ते गृहीत्वा सखीं प्रसादयैनाम्)—इत्यादि ।

---

१४. वर्णसंहार—

अनुवाद—चारों वर्णों के पात्रों का एकत्र समागम को 'वर्णसंहार' कहते हैं ।

अभिनव—चातुर्वर्ण्य का एकत्र उपगमन वर्णसंहार है। यहाँ चातुर्वर्ण्य शब्द से पात्रों का उपलक्षण है। इसलिए जहाँ पर पृथक्-पृथक् स्थित पात्र एक जगह पर लाये जाँय वहाँ 'उपसंहार' है । वर्णसंज्ञक शब्द का अर्थ हैं चारों वर्णों के नाटकीय पात्रों का एकत्र सम्मेलन ।

हमारे आचार्य (उपाध्याय) भट्टतौत कहते हैं कि—यहाँ वीर रस प्रधान रूपकों में नायक, प्रतिनायक और उनके सचिवों का प्रमुख रूप से वर्णन किया जाता है, इसलिए वे 'वर्ण' हैं, इसी प्रकार कामप्रधान रूपकों में भी नायक, नायिका और उनके सचिबों का वर्णन किया जाता है। जैसा कि रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क में—

सुसङ्गता के वचन से 'अतः मेरा तो यह महान् प्रसाद (पुरस्कार) है' यहाँ से लेकर ।

राजा—(घबड़ाहट से उठकर) वह कहाँ है, कहाँ है ?

सुसङ्गता—महाराज ! यह अतिकोपना है। अतः हाथों से पकड़कर, इसे सखी को प्रसन्न कर लें, मना लें । यहाँ तक ।

---

१. ग. चातुर्वर्ण्यभिगमनं ।

'एतानि तु प्रतिमुखे गर्भे चापि निबोधत[2] ॥ ८२ ॥
[3]कपटापाश्रयं वाक्यमभूताहरणं विदुः ।

अत्र चतुर्णामेकोभावः प्रयोगस्य, इष्टस्य रचना, प्रकाश्ये प्रकाशनमित्यपि प्रयोजनानि । यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदफलत्वादनादृत्यमेव ।

२६. अभूताहरणम्—कपटापाश्रयं वाक्यमभूताहरणमिति । यथा वासवदत्तया चित्रफलके दृष्टे विदूषकवचनं—अप्पा किल दुक्खेण आलिहिदुत्ति मम सुणिज पिअवयस्सेण विण्णाणं दंसिअं (आत्मा किल दुःखेनालिखितुमिति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येन विज्ञानं दर्शितम्) - इत्यादि ।

यहाँ पर चारों का एकीभाव है। १. इष्ट अर्थ की रचना २. वृत्तान्त का अनुपक्षय ३. प्रयोग में राग की प्राप्ति और ४. प्रकाश्य का प्रकाशन ये चार प्रयोजन हैं। जो कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों के सम्मेलन को वर्णसंहार मानते हैं, वह अनादरणीय हैं।

अनुवाद—ये तरह अङ्ग प्रतिमुख सन्धि में कहे गये हैं। अब गर्भसन्धि के अङ्गों का लक्षण सुनिये ॥ ८२ ॥

विशेष—(१) अभूताहरण, (२) मार्ग, (३) रूप, (४) उदाहरण, (५) क्रम, (६) सङ्ग्रह, (७) अनुमान, (८) प्रार्थना, (९) आक्षिप्त, (१०) भोटक, (११) अधिवल, (१२) उद्वेग, (१३) विद्रव ।

१. अभूताहरण—

अनुवाद—कपट या छल पर आश्रित वचन-विन्यास को 'अभूताहरण' कहते हैं ॥ ८२ ॥

अभिनव—कपट का आश्रयभूत वाक्य 'अभूताहरण' है। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के द्वारा चित्रफलक के देख लेने पर बिदूषक का यह कथन—महारानो जी 'अपना चित्र बड़ी कठिनाई से (कष्ट से) बनाया जा सकता है'। इस मेरे वचन को सुनकर प्रियमित्र से अपना चित्र कौशल दिखलाया है।

यहाँ पर कपटाश्रित वचन के प्रयोग के कारण 'अभूताहरण' है।

२. ख. एतानिप्रतिमुखेऽङ्गानि ।
३. ग. कपटाद्याश्रयं । ४. क. तत्त्वार्थवचनं ख. यत्तत् ।

[1]तत्त्वार्थवचनं चैव मार्ग इत्यभिधीयते ॥ ८३ ॥
[2]चित्रार्थसमवाये तु वितर्को रूपमिष्यते ।

---

२७. मार्गः—तत्त्वार्थवचनं मार्ग इति । (तत्रैव) "भट्टिणि कदा वि घुणक्खरं वि संभावीयादि (भर्त्रि कदापि घुणाक्षरमपि संभाव्यते)"

इति काञ्चनमालयोक्ते वासवदत्ता समयानुसारि परमार्थोचितं वचनमाह—

अइ उज्जुए वसन्दओ खु एसो (अयि ऋजुके वसन्तक खल्वसौ)—इत्यादि-मार्गवच्च प्रसिद्धत्वात् परमार्थे मार्ग इति व्यपदेशः ।

२८. रूपम्—[3]चित्रार्थसमवाये तु वितर्को रूपमिति । यथा (रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के)—

---

२. मार्ग—

अनुवाद—तत्त्वार्थ कथन को मार्ग कहते हैं ।

अभिनव—तत्त्वार्थ अर्थात् परमार्थ वचन 'मार्ग है' जैसे—रत्नावली में काञ्चनमाला कहती हैं—"स्वामिनि ! कभी-कभी घुणाक्षर न्याय से भी यह हो जाता है ।"

इस प्रकार काञ्चनमाला के कहे जाने पर वासवदत्ता समयानुसार परमार्थयुक्त वचन को कहा—

वासवदत्ता—"अपि ऋजुके ! यह वसन्तक है ।" इत्यादि ।

यहाँ पर मार्ग की तरह प्रसिद्ध होने से परमार्थ में यह 'मार्ग' है ।

३. रूप—

अनुवाद—विचित्र अर्थों के समवाय में वितर्कयुक्त वचन को 'रूप' कहते हैं ॥ ८३ ॥

---

१. 'वर्णितार्थतिरस्कारो वर्णसंहार' इत्यपि पाठः । अत्रोक्तार्थस्य विषयान्तरप्रसक्त्या प्रच्छादनम् ।

२. ग. चित्रार्थसमवायो यस्तद्रूपमिति कीर्तितम् ।

३. चित्रार्थो वाक्यसंयोगो रूपकमिति पाठे रूपकं संशयस्य तर्केण च्छेदनमिति केचित् । अन्ये तु चित्रार्थमेव वचो रूपकमिति मन्यन्ते ।

[1] यत्सातिशयद्वाक्यं तदुदाहरणं स्मृतम् ।

राजा—प्रसीदेति ब्रूयामिदमति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥

इत्यादि विचित्रार्थानां समवाये संभावने सर्वविषय एव वितर्कस्तर्कः, इदं नोचितमिदं नोचितमिति प्रतियुक्तिपर्यन्तः । युक्तिस्तु नियतप्रतिपत्तिपर्यन्तेति विशेष', रूपमिति चानियता आकृतिरुच्यते । तत्र विशेषप्रतिपत्तिरिहापि तथोपचाराद् व्यपदेशः ।

२९. उदाहरणम् – यत्सातिशयवद्वाक्यं तदुदाहरणमिति । लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यत् सातिशयमुच्यते उत्कर्षमाहरतीत्युदाहरणम् । यथा (तत्रैव) तृतीयेऽङ्के)—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥ इति ।

अभिनव—विचित्रार्थ के समवाय में वितर्क 'रूप' कहलाता है । जैसे—रत्नावली के द्वितीय अङ्क में—

राजा—देवि ! यदि मैं कहूँ कि 'आप प्रसन्न हो जाय' तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आप क्रुद्ध नहीं है । इत्यादि विचित्र अर्थों के समवाय में (संभावन में) सभी विषयों में यितर्क करना भी उचित नहीं है । क्योंकि यह प्रतियुक्ति पर्यन्त होता है और युक्ति नियत प्रतिपत्तिपर्यन्त होती है । वही दोनों में अन्तर है । रूप में अनियत रहती हैं । उनमें विशेष प्रतिपत्ति यहाँ भी उपचार से होती हैं ।

४. उदाहरण—

अनुवाद—सातिशय अर्थात् उत्कर्षयुक्त वचन-विन्यास को 'उदाहरण' कहते हैं ।

१. ख. यत्तु सातिशयं वाक्यं तदाहरणमिष्यते ।

भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रम इत्यभिधीयते ॥ ८४ ॥

तथा च—

वाणाः पञ्च मनोभवस्य नियतास्तेषामसंख्यो जनः
प्रायोऽस्मद्विध एव लक्ष्य इति यल्लोके प्रसिद्धं गतम् ।
दृष्टं तत्त्वयि विप्रतीपमधुना यस्मादसंख्यैरयं
विद्धः कामिजनः शरैरशरणो नीतस्त्वया पञ्चताम् ॥ इत्यादि ।

३०. क्रमः—भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रम इति । भावस्य भाव्यमानस्य वस्तुनो भावनातिशये सत्यूहं प्रति भावनाविबलात् स्यात् या परमार्थोपलब्धिः सा क्रमः । बुद्धिर्हि तत्र क्रमते न प्रतिहन्यते । यथा (तत्रैव)—

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरम् ॥ इत्यादि ।

अभिनव—अभिनव के अनुसार अतिशय अर्थात् उत्कर्षयुक्त वचन-विन्यास 'उदाहरण' है। लोकप्रसिद्ध वस्तु की अपेक्षा जो सातिशय कहा जाता है अर्थात् जो उत्कर्ष का आहरण करता है वह उदाहरण है। जैसे—रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क में—

"मन: स्वभाव से ही चञ्चल एवं दुर्लक्ष्य होता है, फिर भी कामदेव ने सभी बाणों से एक साथ कैसे वेध दिया ?"

और भी—

"कामदेव के पाँच ही बाण नियत (निश्चित) है और उनके लक्ष्य हमारे जैसे असंख्य लोग हैं, यह बात लोक में प्रसिद्ध है। किन्तु वह तुम्हारे विषय में विपरीत दिखाई देती है। क्योंकि तुमने इस असहाय कामीजन को असंख्य बाणों से वेध दिया और मार डाला।" इत्यादि।

९. क्रम—

अनुवाद—भावतत्त्व की उपलब्धि अथवा भाव्यमान अर्थ की प्राप्ति को क्रम नामक सन्ध्यङ्ग कहते हैं ॥ ८४ ॥

[1]सामदानादिसंपन्नः संग्रहः परिकीर्तितः ।
रूपानुरूपगमनमनुमानमिति स्मृतम् ॥ ८५ ॥

---

३१. संग्रहः—सामदानादिसंपन्नः सङ्ग्रह इति। साम्ना सङ्केतादिवार्ताः श्रुत्वा (राज्ञा विदूषकाय) कटकस्य दानम्। एवमन्यदपि।

२२. अनुमानम्—रूपानुरूपगमनमिति । रूप्यमानेन प्रत्यक्षाद्युपलभ्यमानेन रूपस्य व्यापकस्याविनाभाविनो गमनं ज्ञानमनुमानं निश्चयात्मकत्यादूहः, उपायायुक्तेरन्यत्वात्। यथा (तत्रैव)—

अभिनव—भावतत्त्व की उपलब्धि को 'क्रम' कहते हैं। भाव अर्थात् भाव्यमान वस्तु की अतिशय भावना के कारण जो तर्कना के प्रति जो परमार्थ की उपलब्धि होती है, वह 'क्रम' है। क्योंकि उसमें बुद्धि क्रमण ही करती है प्रतिहत नहीं होती है। जैसे रत्नावली नाटिका में—

"मैं विदित हो गई हूँ अर्थात् मेरे विषय में सब लोगों ने जान लिया है, इसलिए लज्जा के कारण वह सबसे अपना मुँह छिपाये रहती है, किन्हीं दो लोगों को बात-चीत करते देखकर वह अपने ही विषय की बात-चीत समझ लेती है, सखियों के हँसी-मजाक में वह अधिक लज्जित होती है। इस प्रकार प्रिया प्रायः अपने हृदय के आतङ्क से व्याकुल रहती हैं।"

६. संग्रह—

अनुवाद—साम, दान आदि से सम्पन्न उक्ति को 'संग्रह' कहते हैं।

अभिनव—संग्रह साम-दानादि से सम्पन्न होता है, इस प्रकार साम के द्वारा सङ्केत आदि की बातों को सुनकर राजा विदूषक को अपना कटक (कंगन) देता है। इस प्रकार अन्य भी।

७. अनुमान—

अनुवाद—रूप के अनुरूप ज्ञान प्राप्त करना 'अनुमान' है ॥ ८५ ॥

---

१. ख. सामदानार्थसंयोगः संग्रहः स तु कीर्तितः ।
ग. सामदानार्थसंयुक्तः संग्रहः परिकीर्तितः ।

[1]रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थना भवेत् ।

पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः ।
सान्द्रा वीथी तथेयं वकुलविटपिनां पाटलापङ्क्तिरेषा ॥
आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन् ।
व्यक्तिं पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्नुतोऽप्येष चिह्नैः ॥

इत्यादि । अत्र ह्याघ्रायाघ्राय गन्धमिति गन्धानि (तु ?) कुसुमानि तेभ्यः पादपाः, तेभ्योऽपि मार्गमनुमापितमिति राज्ञा विदूषकस्योक्तेः ।

३३. प्रार्थना—रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थना प्रार्थनेति । एतत् साध्यफलोचितभावलक्षणं, तत्र साध्यफले यः प्राधान्येन समुचितो भावस्तद्विषया या प्रकर्षेणाभ्यर्थना सा प्रार्थनाख्यमङ्गम् । यथा (तत्रैव)—संकेतस्थः प्रतिपालयन् राजा—

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि हि तरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥ इति ।

अभिनव—रूप का अनुगमन 'अनुमान' है। रूप्यमान अर्थात् प्रत्यक्षतः दृष्ट पदार्थ के द्वारा रूप का अर्थात् व्यापक अविनाभावी पदार्थ का ज्ञान 'अनुमान' है। वह उपाय अर्थात् युक्ति से भिन्न होने के कारण निश्चयात्मक भाव ऊह है। जैसे, रत्नावली नाटिका में—

"यह चम्पा की क्यारी है, यह निश्चय ही सुन्दर सिन्दुवार का वृक्ष है, यह बकुल अर्थात् मौलसिरी वृक्षों की घनी पंक्ति है, यह पाटलों की पंक्ति है, इस प्रकार गाढ़ अन्धकार से छिपा हुआ यह मार्ग अनेक प्रकार के गन्धों को सूँघ-सूँघ कर जाने गये वृक्षरूपी चिह्नों से स्पष्ट हो रहा है।"

यहाँ पर गन्धों को सूँघ-सूँघ कर चलने से गन्ध से फूलों का, फूलों से वृक्ष की, वृक्षों से मार्ग का अनुमान किया गया है, इस प्रकार राजा विदूषक से कहा ॥ ८५ ॥

१. ख. रतिहर्षोत्सवाद्यर्थंप्रार्थना । ग. रतिहर्षोत्सवार्थिनां प्रार्थना ।

गर्भस्योद्भेदनं [1]यत्साक्षिप्तिरित्यभिधीयते ॥ ८६ ॥

३४. आक्षिप्तिः—गर्भस्योद्भेदनाक्षिप्तिरिति । हृदयान्तः स्थितं (तस्य) पुनः प्रतिष्ठापितस्यापि यतः कुतश्चिन्निमित्तादुद्भेदनमनपह्नवनीया या स्फुटतापत्तिः सा आक्षिप्तिः, अभिप्रायस्य हि तत्राक्षेपी बहिः कर्षणं। वासवदत्तायामेव सागरिकेति राज्ञा विदूषकेण च परिगृहीतायां तदुक्तिषु सागरिके—

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्गमा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥

इत्यादिषु ।

८. प्रार्थना—

अनुवाद—रतिजनित हर्ष और उत्सवों को 'प्रार्थना' कहते है ।

अभिनव—रतिजन्य हर्ष से उत्पन्न उत्सवों की अभ्यर्थना 'प्रार्थना' है। यह साध्य फल के उचित भाव है। इसमें साध्य फल के विषय में प्रधान रूप से जो समुचित भाव है और उसके सम्बन्ध में जो प्रहर्ष अभ्यर्थना है वह 'प्रार्थना' नामक सन्ध्यङ्ग है। जैसे रत्नावली नाटिका में सङ्केतस्थान पर जाकर प्रतीक्षा करता हुआ राजा कहता है—

"तीव्र काम का सन्ताप प्रारम्भ में उतना कष्टदायक नहीं होता जितना प्रिया के समागम के निकट होने पर कष्ट देता है। जैसे वर्षाकाल में पानी बरसने का निकट का दिन अधिक तपता है।"

९. आक्षिप्ति—

अनुवाद—गर्भस्थ बीज का जो उद्भेदन है उसे 'आक्षिप्ति' कहते हैं ॥ ८६ ॥

अभिनव—गर्भस्थ बीज का जो उद्भेदन अर्थात् प्रकाशन है वह 'आक्षिप्ति' है। अभिनवगुप्त का कथन है कि हृदय में स्थित वस्तु का जिस किसी रूप में उद्भेदन है, न छिपाने के कारण स्फुट रूप में जो प्रकाशन है वह 'आक्षिप्ति' है। जैसे रत्नावली नाटिका में जब राजा और विदूषक ने वासवदत्ता को ही सागरिका समझकर कहता है कि "प्रिये सागरिके ! तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, तुम्हारे नेत्र नीलकमल है, तुम्हारे हाथ कमल हैं, उरुयुगल कदलीस्तम्भ है

१. ख. यत्तु तदाक्षिप्तमिति स्मृतम् । ग. यत्स्यात् क्षिप्तिरित्यभिधीयते ।

संरम्भवचनं [1]चैव तोटकं [2]त्विति संज्ञितम् ।
[3]कपटेनातिसन्धानं [4]ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ॥ ८७ ॥

३५. तोटकम्—संरम्भवचनं चैव तोटकमिति। आवेगगर्भं यद्वचनं तत्तोटकम्। स चावेगो हर्षात्, क्रोधात्, अन्यतोऽपि वा। भिनत्ति यतो हृदयं ततस्तोटकम्। यथा (तत्रैव) विदूषकः—अज्ज बि दाव से देवीये णिच्चरुट्ठाए वासवदत्ताए वअणेहिं कडुइदे कण्णे सुहावेअदु (अद्यापि तावत्तस्या देव्या नित्यरुष्टाया वासवदत्ताया वचनैः कटूकृते कर्णे सुखय) इत्यादि।

३६. अधिबलम्—कपटेनातिसन्धानमधिबलमिति। परस्परवचनप्रवृत्तयोर्यस्यैवाधिकं (कर्म) सहायबुद्ध्याद्यवलम्बयति स एव तमतिसन्धातुं वञ्चयितुं समर्थं इति तदिद कर्माधिबलम्। यथा—सागरिकावेष धारयन्ती वासवदत्ता विदूषकबुद्धिदौर्बल्याद्राजानमतिसंधत्ते "किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति"[5] इत्यादि श्लोकान्तमधिबलम्।

और भुजाएँ कमलनाल सदृश हैं, इस प्रकार अह्लादकारी अङ्गों वाली तू आकर निःशङ्क होकर मेरा आलिङ्गन कर मुझे शान्ति प्रदान करो।"

इत्यादि में हृदय का भाव बाहर प्रकट होने से 'आक्षिप्ति' है।

१०. तोटक—

अनुवाद—क्रोध से युक्त वचन-विन्यास 'तोटक' कहा जाता है।

अभिनव—संरम्भ वचन अर्थात् आवेग (आवेश) से युक्त जो वचन-विन्यास है, वह तोटक है। यह आवेग हर्ष से, क्रोध से तथा अन्य करणों से भी होता। जिससे हृदय का उद्भेदन हो जाता है, वह तोटक या त्रोटक कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में कहता है कि—

"आज भी नित्य रुष्ट रहने वाली देवी वासवदत्ता के दुष्ट वचनों से कटु बनाये गये कानों को सुख पहुँचाओ।"

यहाँ विदूषक की क्रोधायुक्त वचनों के कारण 'तोटक' है।

११. अधिबल—

अनुवाद—कपट या किसी व्याज से अन्य के अभिप्राय को जानने को विद्वान् लोग 'अधिबल' कहते हैं ॥ ८७ ॥

१. ग. प्रायं; २. ख. तोटकं नाम।
३. ग. कपटेनाभिसन्धानं; ४. ख. ज्ञेयं त्वधिबलं।
५. गर्भसन्धिलक्षणेऽयं श्लोक उदाहृतः।

भयं नृपारिदस्यूत्थमुद्वेगः परिकीर्तितः ।
[1]शङ्का भयत्रासकृतो विद्रवः समुदाहृतः ॥ ८८ ॥

३७. उद्वेगः—भयं नृपारिदस्यूत्थमुद्वेग इति । अरिशब्दान्नाचिकादि । यथा (तत्रैव) राजा—कथं देवी वासवदत्ता, वयस्य किमेतत् । विदूषकः—णं अंहाणं जीविअसंशओ (ननु अस्माकं जीवितसंशयः)—इत्यादि ।

३८. विद्रवः—शङ्का भयत्रासकृतो विद्रव इति । भयत्रासकारिणो वस्तुतो या शङ्का यदाशङ्कनं स विद्रवः, विद्रवति विलीयते हृदयं येनेति । यथा (तत्रैव)—

अभिनव—कपट से अतिसन्धान करना 'अधिबल' है। परस्पर एक दूसरे को वञ्चना करते में प्रवृत्त दो व्यक्तियों में एक अधिक सामर्थ्ययुक्त सहायकों की बुद्धि का आलम्बन करता है वही दूसरे को वञ्चित करने में समर्थ होता है। इसलिए वह कर्म 'अधिबल' कहलाता है।

जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका का वेष धारण करने वाली वासवदत्ता ने विदूषक की बुद्धि की दुर्बलता से राजा को छल लेती है। अतः 'किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति' श्लोक तक अधिबल है।

१२. उद्वेग--

अनुवाद—राजा, शत्रु एवं डाकुओं आदि से उत्पन्न होने वाले भय को 'उद्वेग' कहते हैं।

अभिनव—राजा, शत्रु और डाकुओं से उत्पन्न होने वाला 'भय' उद्वेग है। यहाँ 'अरि' शब्द से नाचिका आदि का ग्रहण होता है।

जैसे—रत्नावली नाटिका में राजा कहता है—

राजा—क्या देवी वासवदत्ता है ? मित्र ! यह क्या है ?

विदूषक—अरे ! यह हमारे प्राणों का संशय बन गया है।

यहाँ पर भय का होना उद्वेग है।

१३. विद्रव—

अनुवाद—भय और त्रास से उत्पन्न शङ्का को 'विद्रव' कहते हैं ॥ ८८ ॥

१. ख-ग. नृपाग्निभयसंयुक्तः संभ्रमो विद्रवः स्मृतः ।
एतान्यङ्गानि गर्भे तु वक्ष्येऽवमर्शते पुनः ।

पूर्वाधं समारूढ़ा प्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं ।
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया॥
प्रिया मुञ्चत्यद्य ध्रुवमसहना जीवितमसौ।
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥ इति।

अन्ये तु शङ्काभयत्रासैः कृतोः यः स विद्रव इति । तत्र च विशेष्यपदमन्वेष्यम् । समुदाय एव विशेष्य इति श्रीशङ्कुकः, उदाहरति च कृत्यारावणे षष्ठेङ्के गर्भसन्धौ, (नेपथ्ये) (मन्दोदरी)—हा अय्यउत्त परित्ताआहि परित्ताआहि (हा आर्यपुत्र परित्रायस्व परित्रायस्व)। प्रतीहारी (श्रुत्वा आत्मगतं)—अहो भट्टिणी विअ आक्कंददि। (अहो भर्त्रीवाक्रन्दति) (प्रकाशं) भट्ठा भवदो अन्तेउरे महन्दो कलकलो सुणीअदि। (भर्तः भवतोऽन्तःपुरे महान् कलकलः श्रूयते)।

राजा—ज्ञायतां किमेतदिति ।

अत्र रावणस्याशङ्का प्रतिहार्यास्त्रासभये ।

अभिनव—भय और त्रास से उत्पन्न शङ्का 'विद्रव' है। भय और त्रास को उत्पन्न करने वाली वस्तु को जो शङ्का है वह विद्रव है जिससे हृदय विदीर्ण हो जाय, वह 'विद्रव' है। जैसे रत्नावली वाटिका में—

"प्रणय के अतिशय सम्मान के कारण स्नेह (प्रेम) प्रतिदिन बढ़ता ही गया। पहले कभी किया गया यह अपराध आज मेरे द्वारा किया गया देखकर सहन न कर सकने वाली प्रिया आज निश्चय ही प्राण त्याग देगी। क्योंकि प्रकृष्ट प्रेम का टूटना असह्य हो जाता है।"

अन्य लोग तो शङ्का, भय और त्रास से जो उत्पन्न होता है उसे विद्रव कहते हैं। यहाँ विशेष्य पद खोजना चाहिए। श्री शङ्कुक कहते हैं कि समुदाय ही विशेष्य है। कृत्यारावण के छठे अङ्क में गर्भ सन्धि में उसका उदाहरण देते हैं।

(नेपथ्य में) मन्दोदरी कहती है—आर्यपुत्र! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।

प्रतीहारी—(सुनकर मन में) अरे यह तो रानी की तरह चिल्ला रही है। (प्रकट में) स्वामिन्! आपके अन्तःपुर में महान् कलकल सुनाई दे रहा है।

राजा—देखो, कैसा कलकल है ?

यहाँ रावण के कारण आशङ्का है और प्रतीहारी त्रास और भय है।

[1]एतान्यङ्गानि गर्भे स्युः अवमर्शे निबोधत ।
दोषप्रख्यापनं [2]यत्तु सोऽपवाद इति स्मृतः ।

अथावमर्शसन्धावङ्गानां लक्षणमाह—

३९. अपवादः—दोषप्रख्यापनं यत्तु सोऽपवाद इति। यथा (तत्रैव) सागरिकोक्तेरनन्तरं—

सागरिका—अय्यउत्त किं अलीअदक्खिणदाए जोविदादो वि वल्लहदाराए देवीए अत्ताणअं अवराहिणं करोसि (आर्यपुत्र, किमलीकदक्षिणतया जोविताद्वल्लभाया देव्या आत्मानमपराधिनं करोषि)।

राजा—अयि मिथ्यावादिनी खल्वसि—

श्वासोत्कम्पिनि कम्पितं स्तनयुगे मौने प्रियं भाषितं
वक्त्रेऽस्याः कुटिलीकृतभ्रुणि रुवा यातं मया पादयोः।
इत्थं नः सहजाभिजात्यजनिता सेवैव देव्याः परं
प्रेमाबद्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिस्तु या सा त्वयि॥ इति।

अत्र देवीगुणानां सातिशयकोपनत्वेनापवदनं कृतम्।

अब अवमर्शसन्धि के अङ्गों का लक्षण कहते हैं—

१. अपवाद—

अनुवाद—दोष का जो प्रख्यापन है, उसे 'अपवाद' कहते हैं।

अभिनव—जो दोषों का प्रख्यापन है, वह 'अपवाद' है। जैसे—रत्नावली नाटिका में सागरिका के कथन के अनन्तर राजा कहता है कि—तुम झूठ बोल रही हो—

"श्वास-प्रश्वास के कारण जिसके स्तनयुगल के काँपने पर मैं काँप गया मौन हो जाने पर प्रिय बचन कहा, टेढ़ी भौंह वाले मुख होने पर पैरों पर गिर गया, इस प्रकार महारानी के प्रति सहज कुलीनता के कारण की गई हमारी सेवा मात्र थी। किन्तु प्रेम के दृढ़ सम्बन्ध से विवर्धित प्रीति तो तुम पर ही है।

यहाँ पर देवी के गुणों का अतिशय कोप के कारण 'अपवाद' है।

---

१. ख-ग. स्यात्सोऽपवादः प्रकीर्तितः।
२. क. गर्भेऽङ्गलक्षणं प्रोक्तं विमर्शे च निबोधत।

रोषग्रथितवाक्यं तु संफेटः परिकीर्तितः[1] ॥ ८९ ॥
[2]गुरुव्यतिक्रमो यस्तु स द्रवः परिकीर्तितः[3] ।

४०. संफेटः—रोषग्रथितवाक्यन्तु संफेट इति। केचित्तु स्फोट अनादर इति धातुं मनस्कृत्य संस्फोट इति पठन्ति। यथा (तत्रैव)=वासवदत्ता (सरोषं सहसोपसृत्य) अय्यउत्त, जुत्तं···सरिसं (आर्यपुत्र युक्तं, सदृशम्) ·· इत्यादि।

४१. द्रव—गुरुव्यतिक्रमो यस्तु स द्रव इति। यथा (तत्रैव)—भर्तुसंनिधानेऽपि विदूषकस्य सागरिकायाश्च वासवदत्तया बन्धनम्। यथा वा—तापसवत्सराजे षष्ठेऽङ्के वासवदत्ताया यौगन्धरायणवचनातिक्रमेण मरणाध्यवसायः। द्रवणं चलनं मार्गादिति द्रवः।

२. सम्फेट—

अनुवाद—रोष से ग्रथित (पूर्ण) वाक्य को 'संफेट' कहा गया है।

अभिनव—अभिनव के अनुसार रोष से ग्रथित वाक्य सम्फेट है। कुछ आचार्य तो 'स्फोट अनादरे' धातु को मन में रखकर 'संस्फोट' ऐसा पाठ मानते हैं। जैसे—रत्वाली नाटिका में—

वासवदत्ता—(सहसा पास में जाकर क्रोध के साथ) आर्यपुत्र! क्या यह उचित है? क्या यह आपके अनुरूप है। इत्यादि।

यहाँ पर 'सम्फेट' सन्ध्यङ्ग है।

३. द्रव्य—

अनुवाद—गुरुजनों के वाक्य का व्यतिक्रम अर्थात् अनादर करना 'द्रव्य' कहा जाता है।

अभिनव—अभिनव के अनुसार गुरुजनों के वाक्य का अतिक्रम 'द्रव' है। जैसे—रत्तावली नाटिका में—

"पति उदयन के सान्निध्य में भी विदूषक और सागरिका को बँधवा अथवा तापस वत्सराज में छठे अङ्क में वासवदत्ता का यौगन्धरायण के वचन का उल्लंघन कर मरने के लिए उद्यत होना। मार्ग से विचलित होना ही 'द्रव' (विद्रव) है।

१. ख. स उदाहृतः।
२. क. (भ.) ताड़नं वधबन्धो वा विद्रव समुदाहृतः।
क. (भ.) द्रवस्त्नाबोद्धव्यो गुणानां च व्यतिक्रमः।
३. ख-ग. विज्ञेयोऽभिद्रवस्तु सः।

[1]विरोधिप्रशमो यश्च सा शक्तिः परिकीर्तिता ॥ ९० ॥
व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः[2] ।

४२. शक्तिः—विरोधिप्रशमः शक्तिरिति । विरोधिनः कुपितस्य प्रशमः प्रसादनं शक्तिः बुद्धिविभवादिशक्तिकार्यत्वात् । यथा (तत्रैव)—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्या भृशं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यापत्तिमुपागता मम तथा देवी रुदत्या तथा
प्रक्षाल्यैव तथैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥ इत्यादि ।

४३. व्यवसायः—व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभव इति । प्रतिज्ञातस्याङ्गीकृतस्यार्थस्य हेतवो ये तेषां संभवः प्राप्तिर्व्यवसायः । यथा (तत्रैव)—ऐन्द्रजालिकप्रवेशादितो यावत् "एक्को उण खेडओ अवस्सं पेक्खितव्वो"[3] इति तावत् यौगन्धरायणेन यत्कर्तुमङ्गीकृतं तस्यैव हेतुः (तस्य) प्राप्तिः ।

४. शक्ति—

अनुवाद—विरोधियों का प्रशमन अर्थात् शान्त होना 'शक्ति' कहा जाता है ॥ ९० ॥

अभिनव—विरोधियों का शमन करना 'शक्ति' है अर्थात् कुपित विरोधियों का शमन करना और प्रसन्न कर देना बुद्धि और वैभव का कार्य होने से 'शक्ति' है । जैसे, रत्नावली नाटिका में—

"छलपूर्ण शपथों से, प्रिय वचनों से, अनुकूल चित्तवृत्ति के अनुवर्त्तन से, अतीव लज्जा से, पैरों पर गिरने से तथा सखियों के बार-बार कहे गये वचनों से महारानी वासवदत्ता उतना प्रसन्न नहीं हुई जितना कि रोती हुई उन्होंने स्वयं रोती हुई अश्रुजल से धोकर क्रोध को दूर कर दिया ।"

यहाँ पर 'शक्ति' नामक सन्ध्यङ्ग हैं ।

५. व्यवसाय—

अनुवाद– प्रतिज्ञा किये हुए हेतु का निर्देश 'व्यवसाय' समझना चाहिए ।

१. ख विरोधोपशमो यस्तु । ग. विरोधप्रशमो यश्च ।
२. ख. प्रतिज्ञा दोषसंभवः । ग. प्रतिज्ञादोषसंश्रयः ।
३. क. एकं पुनः खेलनमवश्यं प्रेक्षितव्यम् ।

प्रसङ्गश्चैव विज्ञेयो गुरूणां[1] परिकीर्तनम् ॥ ९१ ॥
वाक्यमाधर्षसंयुक्तं[2] द्युतिस्तज्ज्ञैरुदाहृता ।

---

४४. प्रसङ्गः—प्रसङ्गश्चापि (श्चैव १) विज्ञेयो गुरूणां परिकीर्तनमिति । यथा (तत्रैव) वासवदत्ता—उज्जअणोदो आअदोत्ति अत्थि मे तस्मि इन्दआलिए पक्खवादो (उज्जयिन्या आगत इति अस्ति मे तस्मिन्निन्द्रजालिके पक्षपातः)—इत्यादि । अत्र हि बन्धुकुलादागमोऽस्य बहुमानकारणम् ।

४५. द्युतिः—वाक्यमाधर्षसंयुक्तं द्युतिरिति । आधर्षो न्यक्कारः तेन संयुक्तम् । यथा विदूषकः—हा दासीए उत्त इन्दआलिअ (आः दास्याः पुत्र इन्द्रजालिक)—इत्यादि ।

अभिनव—प्रतिज्ञात हेतुओं का सम्भव 'व्यवसाय है अर्थात् प्रतिज्ञात अर्थ के लिए हेतुओं का सम्भव अर्थात् प्राप्त होना 'व्यवसाय' है ।जैसे—रत्नावली नाटिका में ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर मेरा यह खेल अवश्य देख लेना चाहिए' यहाँ तक यौगन्धरायण ने जो कुछ करने के लिए स्वीकार किया था, उसकी प्राप्ति हो गई । अतः यहाँ 'व्यसाय' नामक सन्ध्यङ्ग है ।

६. प्रसंग—

अनुवाद—गुरुजनों का परिकीर्त्तन करना 'प्रसंग' समझना चाहिए ॥ ९१ ॥

अभिनव—गुरुजनों का परिकीर्त्तन करना 'प्रसङ्ग' है । जैसे—रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता कहती है कि 'यह ऐन्द्रजालिक उज्जयिनी से आया है अतः इसके प्रति मेरा पक्षपात है ।' यहाँ पर बन्धुकुल से आना इसके सम्मान का कारण है ।

७. द्युति—

अनुवाद—आघर्ष अर्थात् तिरस्कार से युक्त वचन का कहना 'द्युति' है ।

अभिनव—आघर्ष युक्त वचन द्युति है । यहाँ आघर्ष का अर्थ न्यक्कार उससे युक्त वाक्य द्युति है । जैसे—विदूषक कहता है कि अरे दासी के पुत्र ! ऐन्द्रजालिक ! इत्यादि ।

---

१. ग. गुरूणां ।
२. ख-ग. वाक्यमाघर्षणकृतं द्युतिस्तज्ज्ञैरुदाहृतम् ।

मनश्चेष्टाविनिष्पन्नः[1] श्रमः खेद उदाहृतः ॥ ९२ ॥

---

३६. खेदः—मनश्चेष्टाविनिष्पन्नः श्रमः खेद इति मानसः कायीयश्चेत्युभयोऽपि यावत् । आद्यो यथा—सिंहलेश्वरस्य कुशलप्रश्ने यथा वसुभूतिनिश्वयस्य "देव न जाने किं कथयामि" इत्यत आरभ्य रत्नावल्याः समुद्रपतनाकर्णनोदितवासवदत्ताविलापपर्यन्तम् । शारीरस्तु खेदः (विक्रमोर्वश्याम्) पुरूरवसा "अहो श्रान्तोऽस्मि यावत्तस्या गिरिनद्यास्तीर" इत्यादि ।

यद्यपि श्रमोद्वेगवितर्कलज्जाप्रभृतयो व्यभिचारिवर्गे पूर्वमुक्तास्तथाप्येते सत्यवसरेऽवश्यप्रयोज्याः प्रागुक्तप्रयोजनार्थसिद्धये, ते पृथक्प्रयोजनत्वात् सन्ध्यङ्गत्वेनोक्ता मन्तव्याः ।

---

८. खेद—

अनुवाद—मन और चेष्टाओं से निष्पन्न होने वाला श्रम 'खेद' कहा गया है ॥ ९२ ॥

अभिनव—मन और चेष्टा से सम्पन्न श्रम 'खेद' है। यहाँ पर मानसिक और कायिक दोनों प्रकार का श्रम है। पहला जैसे—सिंहलेश्वर के कुशल-प्रश्न पूछे जाने पर जैसे वसुभूति (खेद के साथ श्वाँस लेकर) 'देव मैं नहीं जानता कि क्या कहूँ' यहाँ से लेकर 'रत्नावली के समुद्र में पतन के सुनने से उत्पन्न वासवदत्ता के विलाप पर्यन्त'। दूसरा जैसे विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा कहता है कि 'अहो ! मैं थक गया हूँ। तब तक उस पहाड़ी नदी के तट पर' इत्यादि ।

यद्यपि श्रम, उद्वेग, वितर्क, लज्जा आदि को व्यभिचारियों के वर्ग में पहिले कहा जा चुका है, तथापि अवसर आने पर प्रागुक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए इसका प्रयोग अवश्य करना चाहिए और इसीलिए उन्हीं का पृथक् प्रयोजन के लिए सन्धि के अङ्गों के रूप में कथन किया गया है, ऐसा मानना चाहिए ॥ ९२ ॥

---

१. समुत्पन्नः ।

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेधः प्रकीर्तितः[1] ।
[2]कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ॥ ९३ ॥

---

४७. प्रतिषेधः—ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इति । यथा रत्नावलीवृत्तान्तवर्णने ईप्सितार्थप्रतीघाते बाभ्रव्येण प्रस्तुते तस्य प्रतिघातोऽन्तःपुरदाहेन ।

४८. विरोधनम्—कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति । यथा राजा—"कथमन्तः पुरेऽग्निः । हा हा धिक्कष्टं दग्धा देवी वासवदत्ता" इत्यादि यावत् सागरिकोत्सादनपर्यन्तम् । हि कार्ये वासवदत्ता सागरिकाप्रेमविस्रम्भस्यात्ययो विनाशमुपगतः प्राप्तः ।

---

९. प्रतिषेध—

अनुवाद—ईप्सित (अभीष्ट) अर्थ की प्राप्ति में विघ्न-बाधा का आना 'प्रतिषेध' कहलाता है ।

अभिनव—ईप्सित अर्थ का प्रतीघात 'प्रतिषेध' है । जैसे—रत्नावली नाटिका में रत्नावली के वृत्तान्त वर्णन के प्रसङ्ग में बाभ्रव्य के द्वारा प्रस्तुत ईप्सितार्थ के प्रतीघात का अन्तःपुर दाह से हो गया ।

१०. विरोधन—

अनुवाद—कार्य के विनाश का उपगमन 'विरोधन' कहलाता है ॥ ९३ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त के अनुसार कार्य के विनाश का उपगमन 'विरोधन' है, जैसे, रत्नावली नाटिका में—

राजा—"अन्तःपुर में आग कैसे लग गई ? हाय दुःख है कि देवी वासवदत्ता जल गई ।" यहाँ से लेकर सागरिका के उत्सादन (विनाश) पर्यन्त । यहाँ पर कार्य में वासवदत्ता को सागरिका के प्रेम विषयक विश्वास का विनाश हो गया ।

---

१. ख. ग. निषेधः स तु कीर्तितः ।

२. ख. ग. विरोधनं तु संरम्भादुत्तरोत्तरभाषणम् ।

बीजकार्योपगमनमादानमिति संज्ञितम् ।
[1]अपमानकृतं वाक्यं कार्यार्थंच्छादनं भवेत् ॥ ९४ ॥

४९ आदानम्—बीजकार्योपगमनमादानमिति बीजफलस्य समीपताभवनमित्यर्थः। यथा सागरिका राजानं दृष्ट्वा (स्वगतं) 'अय्यउत्त' इत्यादि, अत्र हि बन्धुकुलादागमो यावद्राज्ञ उक्तिः—

व्यक्तं लग्नोऽपि भवतीं न धक्ष्यति हुताशनः ।
यतः सन्तापमेवायं स्पर्शस्ते हरति प्रिये ॥

इत्यन्तम् ।

५०. छादनम्—अपमानकृतं वाक्यं छादनमिति । वाक्यमिति तदार्थो लक्ष्यते। करोति बहुमाने वर्तने, तेन दुष्टोऽप्यर्थोऽपमानेन बहुमतीकृतः। तदपमानकलङ्कापवारणाच्छादनमिति । यथा सागरिका—दिट्ठिआ पज्जलिदो भअवं हुवासणो, अज्ज करइस्सदि मे सअलदुक्खावसाणम्। (दिष्टया प्रज्वलितो भगवान् हुताशनः, अद्य करिष्यति मे सकलदुःखावसानम्।) इति।

---

११. आदानम्—

अनुवाद--बीज से उत्पन्न कार्य का उपगमन 'आदान' कहलाता है।

अभिनव—अभिनव के अनुसार बीजभूत कार्य का 'उपगमन' आदान है अर्थात् बोज के फल की प्राप्ति आदान है। जैसे, रत्नावली नाटिका में—

सागरिका—(राजा को देखकर, अपने मन में) 'आर्यपुत्र !' यहाँ से लेकर बान्धव कुल से ऐन्द्रजालिक के आगमन तक राजा की यह उक्ति—

"हे प्रिये ! यह स्पष्ट है कि आप के शरीर में लगी हुई आग आप को नहीं जला रही है, क्योंकि तुम्हारा यह स्पर्श सन्ताप को ही दूर कर रहा है।'

१२. छादन—

अनुवाद—किसी कार्य की सिद्धि के लिए अपमान आदि का सहन करना 'छादन' है॥ ९४ ॥

---

१. ख. ग. अवमानात् ।

प्ररोचना च विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी[1] ।

५१. प्ररोचना—प्ररोचना च विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी इति । संह्रियमाणस्य निर्वाह्यमाणस्यार्थस्य दर्शिका प्रकर्षेण रोचत इति प्ररोचना । यथा—

क्वासौ ज्वलन् हुतवहस्तदवस्थमेत-
दन्तःपुरं कथमवन्तिनृपात्मजेयम् ।
बाभ्रव्य एष वसुभूतिरयं वयस्यः
स्वप्नो मतिभ्रम इदं तु किमिन्द्रजालम्[2] ॥

अभिनव—अपमानजनक वाक्य का सहन करना 'छादन' है। यहाँ पर 'वाक्य' से वाक्यार्थ का ग्रहण है। 'करोति' बहुमान अर्थ में है, इसलिए दुष्ट भी अर्थ अपमान से बहुमत कर दिया है। अतः अपमान रूप कलङ्क को सहन करने या दूर करने के कारण 'छादन' है। जैसे रत्नावली नाटिका में—

सागरिका—"मेरे सौभाग्य से भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित हो गये हैं। आज मेरे दुःख का अवसान (अन्त) हो जायेगा।" ॥ ९४ ॥

१३. प्ररोचना—

अनुवाद—संहार के अर्थ को प्रदर्शित करने वाली अर्थात् भावी अर्थ के उपसंहार की प्रदर्शिका 'प्ररोचना' कहलाती है।

अभिनव—संहारार्थ को प्रदर्शित करने वाली को 'प्ररोचना' कहते हैं। संह्रियमाण अर्थात् निर्वाह किये गये अर्थ की प्रदर्शिका को अधिक रुचिकर होने से उसे 'प्ररोचना' कहते हैं। जैसे, रत्नावली नाटिका में—

"यह जलने वाली अग्नि कहाँ चली गई, और यह अन्तःपुर (राजमहल) उस दशा को प्राप्त हो गया और क्या यह अवन्तिनरेश की पुत्री (अवन्ति-राजकुमारी) वासवदत्ता है? यह बाभ्रव्य है और यह वसुभूति तथा यह प्रिय वयस्य वसन्तक भी है। क्या स्वप्न में मेरी बुद्धि भ्रमित हो गई है? अथवा क्या यह इन्द्रजाल (जादूगरी) है?"

यहाँ प्ररोचना है।

---

१. ख-ग. सम्भारार्थप्रकाशिनी ;

२. स्वप्ने मतिर्भ्रमति किं त्विदमिन्द्रजालम्—इति पाठान्तरम् ।

[1]प्रत्यक्षवचनं यत्तु स व्याहार इति स्मृतः ॥ ९५ ॥
सविच्छेदं वचो यत्र सा युक्तिरिति संज्ञिता ।
ज्ञेया विचलना तज्ज्ञैरवमानार्थसंयुता ॥ ९६ ॥
[2]एतान्यवमृशेऽङ्गानि संहारे तु निबोधत ।

युक्तिरित्यन्ये इदमङ्गं व्यवहारन्ति । अत्रोद्देशक्रमत्यागे यत्केषांचिदङ्गानां लक्षणं तत्क्रमानियमसूचनार्थः। अनेन पाठविपर्यासेन यत्कैश्चिदुद्देशस्यान्यथापठनं तद्ग्रन्थकाराशयापरिज्ञानकृतम् । केचिदत्रान्यतममङ्गं नाधीयते, द्वादशाङ्गमेवैतत्सन्धिमाहुः । अन्ये तु त्रयोदशाङ्गत्वेऽप्यस्य निर्वहणसन्धावपि प्रसक्तेरितिवृत्तान्तर्भूतत्वेन गणनमन्याय्यमिति त्रयोदशाङ्गत्वात् चतुःषष्टिसंख्यां समर्थयन्ते ।

अनुवाद--जो प्रत्यक्ष वचन है, उसे 'व्याहार' कहा जाता है ॥ ९५ ॥

विशेष—बड़ौदा आदि कुछ संस्कारणों में यह अधिक पाठ मिलता है ।

अनुवाद—जहाँ पर विच्छेद के सहित वाक्य होता है, उसे 'युक्ति' कहते हैं । नाट्यवेत्ता लोग अवमानार्थ से युक्त उसे 'विचलना' कहते हैं ॥ ९६ ॥

अभिनव—कुछ आचार्य इस अङ्ग को 'युक्ति' नाम से व्यवहार करते हैं । यहाँ पर मुनि ने उद्देशक्रम को छोड़कर कुछ अङ्गों का लक्षण दिखलाया है, यह क्रम का कोई नियम नहीं है, यह सूचित करता है। इस पाठ विपर्यास से कुछ लोगों ने उद्देशक्रम का अन्यथा पठन किया है वह ग्रन्थकार के आशय को न समझने के कारण किया है। कुछ लोग तो यहाँ अन्यतम नियम का आधान नहीं करते हैं और कहते हैं कि इसमें बारह अङ्ग ही होते हैं। अन्य कुछ आचार्य तो इस सन्धि के तेरह अङ्गों वाली होने पर निर्वहण सन्धि में प्रसक्ति होने से इतिवृत्त के अन्तर्भूत गणना करना अनुचित है, न्यायसंगत नहीं है, अब तेरह अङ्गों के होने से चौसठ अङ्गों की संख्या का समर्थन करते हैं ॥ ९६ ॥

१. ख-ग. श्लोकद्वयं नास्ति ।
२. ख-ग. एतान्यवमृशाङ्गानि ।

[1]मुखबीजोपगमनं सन्धिरित्यभिधीयते ॥ ९७ ॥
[2]कार्यस्यान्वेषणं युक्त्या निरोध[3] इति कीर्तितः ।

अथ निर्वहणसन्धावुद्देशक्रमेणाङ्गानि लक्षयितुं प्रक्रमते ।

५२. सन्धिः--मुखबीजोपगमनं सन्धिरिति । यथा वसुभूतिः—बाभ्रव्य, सदृशीयं राजपुत्र्याः--इत्यादि मुखे यदुक्तं तदिह निकटीभूतं सन्धानं सन्धिः ।

५३. निरोधः—कार्यस्यान्वेषणं युक्त्या निरोध इति । यथा वसुभूतिः—कुत इयं कन्यकेत्यादि ।

अनुवाद—ये अवमर्श (विमर्श) सन्धि के अङ्ग हैं, अतः 'निर्वहण' सन्धि के अङ्गों को समझिये ।

१. सन्धि—

अनुवाद—मुख सन्धि में निक्षिप्त बीज का उपगमन 'सन्धि' नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है ॥ ९७ ॥

अभिनव—मुखसन्धि में निक्षिप्त बीज का उपगमन 'सन्धि' है, जैसे रत्नावली नाटिका में—

वसुभूति—बाभ्रव्य ! 'यह राजकुमारी के समान ही है' इत्यादि जो मुखसन्धि में कहा गया है वह यहाँ निकटवर्ती सन्धान होने से 'सन्धि' है ।

२. निरोध—

अनुवाद—युक्तिपूर्वक कार्य का अनुसन्धान करना 'निरोध' कहलाता है ।

अभिनव—अभिनव के अनुसार कार्य का अन्वेषण 'निरोध' है । जैसे, रत्नावली में वसुभूति कहता है कि 'यह कन्या कहाँ से लाई गई है ?

यहाँ निरोध नामक सन्ध्यङ्ग है ।

---

१. ख. सुखवीजोपगमनं । क. (भ.) मुखबीजोपनयनं ।
२. ख. अन्वेषणं तु कार्याणां निरोधः समुदाहृतः ।
३. ख. विरोध :

[1]उपक्षेपस्तु कार्याणां ग्रथनं [2]परिकीर्तितम् ॥ ९८ ॥
[3]अनुभूतार्थकथनं निर्णयः समुदाहृतः ।

५४. ग्रथनम्--उपक्षेपस्तु कार्याणां ग्रथनमिति । यथा (यौगन्धरायणः—देव क्षम्यतां यन्मयाऽनिवेद्य कृतम्--इत्यादि । अत्र रत्नावलीलाभरूपकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ।)

५४. निर्णयः—अनुभूतार्थकथनं निर्णय इति । प्रमाणसिद्धस्य वस्तुनः कथनमित्यर्थः । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वसुभूतिः--अपि रत्नावली, ननु त्वमीदृशीमवस्थां प्राप्तासि ।

सागरिका--(सप्रत्यभिज्ञं) तुमं पि किं अमच्चवसुभूदी

वसुभूतिः--स एवाहं मन्दभाग्यः । इति प्रभृति यावद् विदूषकवाक्यं "सविहवो होदु" इति ।

३. ग्रथन—

अनुवाद कार्यों के उपक्षेप (उपस्थापन) को 'ग्रथन' कहा गया है ॥ ९८ ॥

अभिनव—कार्यों का उपक्षेपण ग्रथन कहा गया है। जैसे कि रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण कहता है—"महाराज ! क्षमा करें, क्षमा करें, जो आपको बिना बताये ही मैंने कार्य कर डाला।" इत्यादि।

यहाँ पर रत्नावली की प्राप्ति (लाभ) रूप कार्य के उपक्षेपण के कारण 'ग्रथन' है।

४. निर्णय—

अनुवाद—अनुभूत अर्थ के कथन को 'निर्णय' कहते हैं।

अभिनव—अभिनव के अनुसार अनुभूत अर्थ के कथन को 'निर्णय' कहते हैं अर्थात् प्रमाणभूत वस्तु का कथन करना 'निर्णय' है ? जैसे रत्नावली नाटिका चतुर्थ अङ्क में वसुभूति कहता है कि—

वसुभूति—क्या तुम राजकुमारी रत्नावली हो, ऐसी अवस्था को तुम पहुँच चुकी हो ?

सागरिका—(पहचानती हुई) क्या तुम अमात्य वसुभूति हो ?

वसुभूति—'हाँ' मैं वही मन्दभाग्य (अभागा) हूँ ? 'यहाँ से लेकर विदूषक के कथन 'विभव सहित आप हो जाँय' इस वाक्य तक।

१. क. (टि०) अपक्षेपस्तु । २. क. प्रणवं नाम तद्भवेत् ।
३. ख. अनुभूतस्य कथनं ।

¹परिवादकृतं यत्स्यात्तदाहुः परिभाषणम् ॥ ९९ ॥

५६. परिभाषणम्—परिवादकृतं यत् तत् परिभाषणमिति।

यथा सागरिका—किदापराहा खु अहं देवीए ता ण सक्खुणोमि मुहं दंसेदुं (कृतापराधा खल्वहं देव्या, तत् न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्)। वासवदत्ता अपवार्य)—अय्यउत्त लज्जामि खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता अवणेहि से बन्धणं। (आर्यपुत्र, लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन, तदपनयास्या बन्धनम्।)

एतदुभयोरप्यन्योन्यापराधोद्घट्टनं वचनम्। यौगन्धरायणोऽपि प्रविश्यैवमेवापराधमुद्घट्टयति। तथा—

देव्या यद्वचनाद्यदाभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा चाप्यन्यकलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति, जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया॥
इत्यादि।

५. परिभाषण—

अनुवाद—जो परिवादकृत अर्थात् जो निन्दा का सूचक कथन है उसे 'परिभाषण' कहते हैं ॥ ९९ ॥

अभिनव—जो परिवादकृत वचन है उसे 'परिभाषण' कहते हैं। जैसे, रत्नावली नाटिका में—

सागरिका—मैंने तो महारानी जी का अपराध किया है, अतः मैं मुख नहीं दिखा सकती?

वासवदत्ता—(मुख फेरकर) आर्यपुत्र! इसके प्रति किये गये क्रूर व्यवहार से मैं लज्जित हूँ, अतः इसके बन्धन को खोल दीजिये।

इस प्रकार इन दोनों के एक दूसरे के अपराधों के घोषणा करने का वचन को सुनकर यौगन्धरायण भी वहाँ पहुँचकर इस प्रकार अपने अपराधों का उद्घाटन करता है। जैसे—

"मेरे कहने से जब देवी ने पहिले पति के वियोग को स्वीकार कर लिया था। तब भी मैंने महाराज का अन्य स्त्री से सम्बन्ध (विवाह) करवाकर महारानी वासवदत्ता को दुःख ही दिया था। महाराज का यह समस्त जगत् का सम्राट् होने का लाभ उसे सुख देगा, फिर भी मैं लज्जा के कारण अपना मुख दिखाने में समर्थ नहीं हूँ।"

यहाँ परिभाषण नामक सन्ध्यङ्ग है।

१. क. (टि०) परिवादात्मकं यत्तु।

लब्धस्यार्थस्य शमनं [1]द्युतिमाचक्षते पुनः ।
[2]समागमस्तथार्थानामानन्दः परिकीर्तितः ॥ १०० ॥

---

५७. द्युतिः--लब्धस्यार्थस्य शमनं द्युतिरिति । सामर्थ्यात्प्रशमनीयस्य क्रोधादेरर्थस्य प्राप्तस्यापि यत्प्रशमनं सा द्युतिः । (यथा तत्रैव) देव श्रूयतामिदम् । सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धैरादिष्टा" इत्यादि यावद्देव्या उक्तिः, अय्य अमच्च फुडं एव्व किं ण भणासि पडिवादेहि रअणावलित्ति । (आर्य अमात्य, स्फुटमेव किं न भणसि प्रतिपादय तस्य रत्नावलीमिति ।)

५८. आनन्दः--समागमस्तथार्थानामानन्द इति । अर्थितस्य तथेति प्रकारशतैः प्रार्थितस्य सम्यग्पुनर्वियोगवद्यदागमनं तदानन्तहेतुत्वादानन्दः । यथा (तत्रैव) राजा--को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते--इत्यादि ।

---

६. द्युति—

अनुवाद—लब्ध अर्थ अर्थात् प्राप्त हुए अर्थ का शमन 'द्युति' नामक सन्ध्यङ्ग है।

अभिनव—अभिनव के अनुसार लब्ध अर्थ का शमन 'द्युति' है अर्थात् सामर्थ्य (शक्ति) से प्रशमनीय क्रोधादि अर्थ का शमन 'द्युति' है। जैसे रत्नावली में--

यौगन्धरायण--'देव ! सुनिये' सिंहलेश्वर की दुहिता रत्नावली के सम्बन्ध में किसी सिद्ध पुरुष ने आदेश दिया था। यहाँ से लेकर 'आर्य ! स्पष्ट क्यों नहीं करते कि रत्नावली इनको अर्थात् महाराज उदयन को समर्पित कर दी गई।" यहाँ देवी के कथन पर्यन्त 'द्युति' नामक सन्ध्यङ्ग है।

७. आनन्द--

अनुवाद—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति को 'आनन्द' कहते हैं ॥ १०० ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार अभीष्ट अर्थों का समागम 'आनन्द' है। अर्थित अर्थात् अनेक उपायों से प्रार्थित अर्थ का पुनः सम्यक् रूप से वियोग की तरह आ जाना अनन्त सुख का हेतु होने से 'आनन्द' है। जैसे, रत्नावली नाटिका में—

राजा—कौन ऐसा है कि जो देवी के प्रसाद (कृपा) का अधिक सम्मान नहीं करेगा इत्यादि।

---

१. ख. द्युतिरित्यभिधीयते ।

२. ग. द्युतिमाचक्षते पुनः । ख. समागमस्तु योऽर्थानामानन्दः स तु कीर्तितः ।

दुःखस्यापगमो[1] यस्तु समयः[2] स निगद्यते ।
शुश्रूषाद्युपसंपन्नः प्रसादः प्रतिरुच्यते ॥ १०१ ॥

---

५९. समयः--दुःखस्यापगमो यस्तु समय इति । अपगमनमपगमः । यथा--अय्यउत्त दूरे खु एदाए णादिउलं ता तह अणुचिठ्ठ जहा बन्धुजणं ण सुमरेति (वासवदत्ता--आर्यपुत्र, दूरे खलु अस्या ज्ञातिकुलं, तत्तथानुतिष्ठ यथा बन्धुजनं न स्मरति)

६०. प्रसादः--शुश्रूषाद्युपसंपन्नः प्रसाद इति । यथा वासवदत्ता--"एत्तिअं दाव मम बहिणिआ अणुरूवं होदु" इति स्वैराभरणैरलङ्करोतीति । (एतावता तावन्मे भगिन्यनुरूपं भवतु) ।

केचिद् द्युतेरनन्तरमिदमङ्गं पठन्ति ।

---

८. समय—

अनुवाद—जो दुःख का अपगमन (समापन, दूर होना) है, उसे 'समय' कहते हैं ।

अभिनव—अभिनव के अनुसार जो दुःख का अपगम है, वह 'समय' है। अपगमन का अर्थ अपगम है। जैसे, रत्नावली में—

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! इसके ज्ञातिकुल के लोग दूर हैं। इसलिए ऐसा करो कि जिससे वह बन्धुजनों को याद न करें।

यहाँ 'समय' नामक सन्ध्यङ्ग हैं।

९. प्रसाद—

अनुवाद—सेवा आदि के द्वारा प्रसादन (प्रसन्न करना) 'प्रसाद' है ॥ १०१ ॥

अभिनव--शुश्रूषा आदि के द्वारा प्रसन्न करना 'प्रसाद' है। जैसे, रत्नावली में—

वासवदत्ता--इतना कार्य मेरी बहिन के अनुरूप हो। ऐसा कहकर अपने आभूषणों से अलंकृत करती है।

कुछ लोग धुति के बाद इस अंग का पाठ मानते हैं।

---

१. ग. दुःखस्यापगमश्चैव ; २. ख. स शमः ।

अद्भुतस्य तु[1] संप्राप्तिरुपगूहनमिष्यते[2]।
सामदानादिसंपन्नं[3] भाषणं समुदाहृतम् ॥ १०२ ॥

---

६१. उपगूहनम्--अद्भुतस्य तु संप्राप्तिरुपगूहनमिति। यथा विदूषकः--हो-ही भो कहं संपुण्ण मणोरहा संउत्तह्य (इत्युत्थाय नृत्यति) (ही ही भोः कथं कथं संपूर्णमनोरथाः संवृत्ताः स्मः)

६२. भाषणम्--सामदानादिसंपन्न भाषणमिति। यद्यपि तदार्थेऽपि संग्रहाख्यमिदमङ्गमुक्तं तथाप्यत्र स्थानेऽवश्यं प्रयोक्तव्यता ख्यापयितुं पुनरुपादनं शब्दान्तरेण च। यथा वसुभूतिः--देवि स्थाने देवोशब्दमुद्वहसि--इति। सामदानं तु यथा भगवतो जोमूतवाहनस्य वरं ददाति--

हंसांसाहतहैमपङ्कजरजः संपर्कपङ्कोक्षितै-
रुत्पन्नैर्मम मानसादुपनतैस्तोयैर्महापावनैः।
स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैरेवाभिषिच्य स्वयं
त्वां विद्याधरचक्रवर्तिनमहं प्रीत्या करोमि क्षणात् ॥ इत्यादि।

(नागानन्दे अध्याय--५)

---

१०. उपगूहन--

अनुवाद--अद्भुत अर्थ की सम्प्राप्ति को 'उपगूहन' कहते हैं।

अभिनव--अद्भुत वस्तु को प्राप्ति 'उपगूहन' है। जैसे, रत्नावली में--

विदूषक--ही ही भोः ! कैसे-कैसे हमलोग पूर्ण मनोरथ वाले हो गये हैं ? (इस प्रकार उठकर नाचता है)।

११. भाषण--

अनुवाद--साम, दान आदि से युक्त वचन को 'भाषण कहते हैं ॥ १०२ ॥

अभिनव--अभिनव के अनुसार सामदानादि युक्त वचन 'भाषण' है। यद्यपि संग्रह नाम से इस अङ्ग को पूर्व में कह दिया है तथापि इस स्थान पर इसकी अवश्य योजना करनी चाहिए, इसको बतलाने के लिए शब्दान्तर के द्वारा इसका पुनः उपपादन किया है। जैसे, रत्नावलो में--

वसुभूति--देवि ! तुम ठीक हो देवो शब्द को धारण करती हो।

साम, दान तो जैसे भगवता जोमूतवाहन को वरदान देती है--"मैं तुझे क्षण भर में प्रेम से विद्याधरों का चक्रवर्ती बनाती हूँ" इत्यादि।

---

१. ग. च। २. ख-ग. भवेत् तदुपगूहनम् ;

३. ख-ग. समदानादि संयुक्तं भाषणं तूच्यते बुधैः।

[1]पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थप्रदर्शनम्[2] ।
[3]वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ॥ १०३ ॥

अन्ये मन्यन्ते—आदिशब्देन भेददण्डादेरुपायान्तरस्य संग्राह्यत्वं, तस्य वेग (चेह ?) स्थाने स्पष्टेन पथानौचित्यात्, गर्भसन्धियुक्तसामाद्युपायानुवदनमात्रमत्र यत्क्रियते इत्थमिदं प्राप्तमित्येवंप्रायं तदिदं भाषणाख्यमङ्गमिति ।

६३. पूर्ववाक्यं—पूर्ववाक्यं यथोक्तार्थप्रकाशनमिति । यथा बाभ्रव्यः—इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि संपन्न—इति ।

६४. काव्यसंहारः—वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इति । यथा यौगन्धरायणः—देव तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपहरामीत्यादि यावत् ।

अन्य आचार्य मानते हैं कि—सामदानादि में 'आदि' शब्द से भेद, दण्ड आदि उपायान्तर का भी संग्रह करना चाहिए। किन्तु उसका यहाँ पर स्पष्ट रीति से संग्रह करना अनुचित है। क्योंकि गर्भ सन्धि में उक्त सामदानादि उपायों का यहाँ अनुवाद मात्र जो करते हैं। इस प्रकार वह 'इस प्रकार प्राप्त है' इस प्रकार यह 'भाषण' नामक अङ्ग है ॥ १०२ ॥

१२. पूर्ववाक्य—

अनुवाद—पूर्वोक्त विषय अथवा पूर्वोक्त वचन का पुनः प्रदर्शन (कथन) 'पूर्ववाक्य' समझना चाहिए।

अभिनव—यथोक्त अर्थ का प्रकाशन 'पूर्ववाक्य' है। जैसे रत्नावली में—

वाभ्रव्य—अब हमारा परिश्रम सफल हो गया।

यहाँ पूर्वभाव नामक सन्ध्यङ्ग है।

१३. काव्यसंहार—

अनुवाद—अभीष्ट वरदान की संप्राप्ति 'काव्यसंहार' कहलाता है ॥ १०३ ॥

अभिनव—वरदान की संप्राप्ति काव्यसंहार है। जैसे, रत्नावली में—

यौगन्धरायण—देव ! कहिए, पुनः अब आपका और क्या प्रिय उपकार करूँ ? इत्यादि।

---

१. क. पूर्वभावश्च विज्ञेयः कार्योपक्षेप दर्शकः ।

२. क. दानमानविनिष्पन्नमाभाषणमुदाहृतम् ।

३. ख. वरप्रदानं ।

'नृपदेशप्रशान्तिश्च'[1] प्रशस्तिरभिधीयते।

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनिलाभाज्जिताः कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मिन् करोमि स्पृहाम्॥

इत्यादि।

६५. प्रशस्तिः—नृपदेशप्रशान्तिश्च प्रशस्तिरिति। (यथा रत्नावल्यां)—

उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टां
इष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः।
आकल्पान्तं क्रियया: क्रमसमुपचितं संगमं सज्जनानां
निर्विश्लेषावकाशं पिशुनजनवचोवर्जनाद्वज्रलेपः॥

"अपने पृथ्वी पर विक्रमबाहु को अपने समान आत्मीय बना लिया। पृथ्वी पर सारभूत तथा सागर समेत पृथ्वी की प्राप्ति में एक मात्र हेतु यह सागरिका प्राप्त हुई। अपनी बहन से मिल जाने से वासवदत्ता—अत्यन्त प्रसन्न हुई और कोशल देश को जीत लिया, आप जैसे श्रेष्ठ मन्त्री के होते हुए और क्या अभीष्ट वस्तु है जिसकी मैं स्पृहा करूँ?"

१४. प्रशस्ति—

अनुवाद—राजा के प्रदेश में शान्ति की कामना 'प्रशस्ति' कहते है।

अभिनव—राजा के प्रदेश की शान्ति प्रशस्ति है। जैसे, रत्नावली में—

"इन्द्र अभीष्ट वृष्टि को करते हुए पृथ्वी को, उत्कृष्ट धान्य (फसल) से परिपूर्ण कर दें। श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग विधिपूर्वक किये गये यज्ञों से देवताओं को प्रसन्न कर दें, सुख की वृद्धि करने वाला सज्जनों का समागम कल्पपर्यन्त बना रहे और वज्र लेप की तरह कठोर एवं दुर्जय दुष्ट पुरुषों की वाणी निरन्तर शान्त हो जाय"।

यहाँ पर प्रशस्ति नामक सन्ध्यङ्ग है।

---

१. ख. नृपदेवप्रशान्तिश्च प्रशस्तिरभिधीयते।
ग. नृपदेवप्रशस्तिश्च प्रशस्तिरभिधीयते।

२. ग. देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः स्यात् प्रशंसनम्।

[1]यथासन्धि तु कर्तव्यान्येतान्यङ्गानि नाटके ॥ १०४ ॥

कविभिः [2]काव्यकुशलैः [3]रसभावमपेक्ष्य तु ।

[4]संमिश्राणि कदाचित्तु द्वित्रियोगेन वा पुनः ॥ १०५ ॥

यथासन्धि त्विति यो यस्मिन् सन्धौ योग्य इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

योग्यतां च कविरेव जानाति, न च मुक्तककविः, किन्तु प्रबन्धयोजनासमर्थः । तदाह कविभिरित्यादि ।

ननु कवेः कीदृशं तत्प्रबन्धनिर्माणकौशलमित्याह रसभावमपेक्ष्येति ।

अनुवाद—नाटक में सन्धियों के अनुसार इन अङ्गों की योजना करनी चाहिए ॥ १०४ ॥

अभिनव—यथासन्धि अर्थात् जो अङ्ग जिस सन्धि के योग्य हो, उस अङ्ग का उस सन्धि में विन्यास करना चाहिए ॥ १०४ ॥

अभिनव—किस सन्धि में कौन अङ्ग योग्य है ? इस योग्यता को कवि ही जानता है, मुक्तक कवि नहीं जानता है। किन्तु कवि भी वही जानता है जो प्रबन्ध काव्य को योजना में समर्थ है, इसी को 'कविभिः' इत्यादि के द्वारा कहते हैं—

अनुवाद—काव्यनिर्माण में कुशल कवियों द्वारा रस और भाव की उपेक्षा करके कभी कभी दो या तीन सन्ध्यगों के योग से मिश्रित योजना करनी चाहिए ॥ १०५ ॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि प्रबन्ध काव्य के निर्माण में कवि का कौन सा कौशल है ? इस पर कहते हैं कि—

---

१. ख. इत्येतानि यथासन्धि कार्याण्यङ्गानि रूपके ।

२. क. (टि०) कार्यकुशलैः ।

३. ख-ग. रसभावानवेक्ष्य ।

४. ख. ग. सर्वाङ्गानि ।

तदपेक्षाः च कौशलमित्यर्थः। रस एव हि प्रीत्या व्युत्पत्तिप्रदं नाट्यात्मकं शास्त्रमित्युक्तम्। ततश्च यद्यथा यद्यस्यानुपयोगि तदरोचकिनो रुचितदधिशर्करापयः—प्रभृतिरसान्तरमध्ययोजितं तद्द्वारेणान्तः प्रविष्टं सत् पुष्टिं व्याधिनिवृत्तिं च विधत्ते, तथैव पुमर्थोपायो हृदयमनुप्रवेष्टुमसमर्थं सुन्दरतदुचितरससङ्क्रमणया प्राप्तान्तः—प्रवेशो विनेयजनस्य संपाद्ये वस्तुनि कल्पपादपकल्पनायै कल्पते। रससंक्रान्तिश्च विभावादिरूपतयैव नान्यथेत्युक्तं षष्ठे। एतानीति। तान्यङ्गानि लिखितानि विवक्षितरसभावादिसंपूर्णभावभाञ्जि भवन्ति यानि स्वेकरसावहितमनसो यत्रान्तरनिरपेक्षतयैवाहमहमिकया समुचिताभावेन बन्धशय्यामनुवर्तन्ते। इतिवृत्ताविच्छेदोऽपि हि रसस्यैव पोषकः, अन्यथा विच्छेदे स्थाय्यादेस्त्रुटितत्वात् क्व रसवार्ता। तेन रसस्यैवायं विभावादिपरिकरो यदङ्गचक्रमिति।

अभिनव—रस-भाव की कुशलता की अपेक्षा करके अर्थात् उसकी अपेक्षा से किया जाने वाला कौशल है। रस ही प्रीति से व्युत्पत्तिप्रद नाटचात्मक शास्त्र है। अतः जो जैसा, जिसके उपयोगी है वह उसके योग्य दधिशर्करादुग्ध प्रभृति भिन्न रसों को डालकर पेय रस तैयार किया जाता है। जैसे उस पेय के द्वारा वह रस अन्तःप्रविष्ट होकर पुष्टि को करता है और व्याधि को दूर करता है। उसी प्रकार पुरुष के द्वारा अर्थोपाय हृदय में अनुप्रवेश के लिए समर्थ बह सुन्दर और उसके योग्य रस के सङ्क्रमण से अन्तःकरण में प्रवेश को प्राप्त विनेय जन के द्वारा सम्पाद्य वस्तु में कल्पवृक्ष की कल्पना के लिए समर्थ हो जाता है और रस का सङ्क्रमण भी विभावादि रूप से ही होता है अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है, यह छठें अध्याय में कहा जा चुका है। वे अङ्ग विवक्षित रस और भाव आदि सम्पूर्ण भावों के भाति होते हैं। जो एक रस के विषय में सावधान मन से अन्य उपायों की निरपेक्षता से 'अहमहमिका' समुचित भाव से बन्धशय्या का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार इतिवृत्त का अविच्छेद भी रस का ही पोषक है। अन्यथा विच्छेद होने पर स्थायी आदि के त्रुटित होने से रसविषयक वार्त्ता कहाँ हो सकती है? इससे सिद्ध होता है यह जो अङ्गचक्र ही है कि वह विभावादि का उपकरण है।

तथा हि "लाक्षागृहानले" त्युपक्षेपो वीररौद्रयोर्विभावांशपूरकः, "प्रवृद्धं यद्वैर" मिति क्रोधस्य वीरे व्यभिचारिणो रौद्रे स्थायिनः स्वरूपं प्रत्युज्जीवकः परिकरः, "चञ्चद्भुज" इति च परिन्यासोऽनुभावांशं पुष्णाति, "अणुगल्लन्तु एवं ववसिदं देवदाओ" (द्रौपदी—अनुगृह्णन्त्वेतद्व्यवसितं देवताः) (वेण्या—अङ्क ?[1]) इत्यादि विलोभनम् । अतो निवृत्त्यौत्सुक्यहर्षमतिस्मृतिप्रभृति व्यभिचारि, स चायं सन्धानधुर्यः, एवमन्यदपि योज्यम् ।

ननु सन्धिपरतन्त्रैरङ्गैर्भवितव्यम्, तद्रसपारतन्त्र्यमेषां कुतस्त्यम्, उच्यते—सन्धयो ह्यवस्थापरतन्त्राः प्रारम्भाभिधानदशाविशेषोपयोगिकथाखण्डलकं मुखसन्धिरित्युक्तम्, एवमन्यत्र । अवस्था अप्यन्यकृतिविशेषमनूच्यन्ते ।

नन्वतः किम्, इदमतो भवतीत्याह—रसभावापेक्षया तु कार्यं स्थितं तस्यापेक्षया अवस्थानं ज्ञात्वेति, कार्यमपि रसप्रवाहजननपर्यन्तत्वेन कृतार्थता संपद्यते इति यावत् ।

जैसे 'लाक्षागृहानल' इस प्रकार का उपक्षेप वीर और रौद्र रस के विभावांश का पूरक है, 'प्रवृद्धं यद्वैरम्' वह वीर के व्यभिचारीभाव और रौद्र के स्थायीभाव क्रोध के स्वरूप का प्रत्युज्जीवक 'परिकर' है। 'चञ्चद्भुजभ्रमित' यह परिन्यास अनुभवांश को पुष्ट करता है। 'द्रौपदी—अनुगृह्णन्तु एतद्व्यवसितं देवताः' (अर्थात् देवता लोग इस व्यवसित को अनुगृहीत करें) इत्यादि विलोभन है। अतः निवृत्ति, औत्सुक्य, हर्ष, मति, स्मृति प्रभृति व्यभिचारिवर्ग है। यह अनुसन्धान में प्रधान है। इस प्रकार अन्यत्र भी योजना करनी चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि अङ्ग तो सन्धियों के परतन्त्र होते हैं तो रस की परतन्त्रता इनकी कैसे और कहाँ से आ गई ? इस पर कहते हैं कि सन्धियाँ अवस्था के परतन्त्र होती है। प्रारम्भ के अभिधान दशाविशेष के उपयोगी कथा खण्ड मुख सन्धि है, यह पहिले कहा जा चुका है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। अवस्था भी अन्य कृति विशेष का अनुवचन है।

अब पुनः प्रश्न होता है कि इससे क्या लाभ ? इस पर कहते हैं कि रस-भाव की अपेक्षा से कार्य (नाटक का फल) सिद्ध होता है और उसकी कार्य की अपेक्षा से अवस्थापञ्चक सिद्ध होता है तथा कार्य का भी कृतार्थता रस-प्रवाह के जनन पर्यन्त सम्पन्न होतो है।

१. वेणीसंहारे।

संमिश्राणीति सन्ध्यन्तरोक्तं सन्ध्यन्तरेऽपीत्यर्थः। यथा युक्तिमुखेऽप्युक्ता गर्भेऽप्युपनिबद्धा वितर्कव्यभिचार्यंशपोषकभावेन वेणीसंहारे, यथोदाहृतं प्राक् "तेजस्वी रिपुहतबन्धुदुःखभार" मित्यादि।

द्वित्रीति द्वित्वत्रित्वयोगेनेत्यर्थः। तेनैकमपि सन्ध्यङ्गं तत्रैव सन्धौ द्विस्त्रिर्वा कर्तव्यम्। यथा रत्नावल्यां प्रतिमुखे विलासः सागरिकायां राज्ञि वाऽसकृदुपनिबद्धः प्रधानं शृङ्गारं समुद्दीपयति। वेणीसंहारे संफेटविद्रवौ पुनः प्रदर्शितौ वीररौद्रोद्दीपनौ भवतः। अतिशयेन तु पौनः पुन्ये वैरस्यं स्यादिति द्वित्रिग्रहणम्। तथा द्वयोर्योगो द्वाभ्यामङ्गाभ्यां संपाद्यं तदेकेनैव चेद्घटते तत्किमपरेण। एवं त्रियोगः। द्वियोगो यथा प्रतिमानिरुद्धे भीमसूनोर्वसुनागस्य कृते—उपेक्षानन्तरमेवं न परिकरः, साद्येनैव कृते परिन्यासदर्शनम्।

'संमिश्राणि' अर्थात् दूसरो सन्धि कहे हुए अङ्ग सन्धि में भी करे। जैसे, युक्ति को मुख सन्धि में भी कहा, गर्भसन्धि में भी उपनिबद्ध किया और वितर्क व्यभिचारोभाव के पोषक भाव से वेणोसंहार में जैसा कि पहले उदाहरण दिया जा चुका है 'तेजस्वी शत्रुओं को मारकर बन्धुओं के दुःख को दूर कर दिया' इत्यादि।

'द्वित्रीति' अर्थात् दो या तीन के योग से। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही सन्ध्यङ्ग का उसी सन्धि में दो, तीन बार प्रयोग करना चाहिए। जैसे—रत्नावली नाटिका प्रतिमुख सन्धि में सागरिका के विषय में अथवा राजा के सम्बन्ध में उपनिबद्ध विलास प्रधानभूत शृङ्गार को बार-बार समुद्दीप्त करता है। जैसे वेणीसंहार नाटक में संफेट और विद्रव पुनः प्रदर्शित होकर वोर और रौद्र को उद्दीप्त करते हैं। किन्तु अतिशय के कारण बार-बार प्रयोग से विरसता आ सकती है। इसलिए दो या तीन का ग्रहण किया गया है। क्योंकि दो अङ्गों से सम्पाद्य प्रयोजन एक ही अङ्ग से घटित हो जाता है तो दूसरे को क्या आवश्यकता है? यही त्रियोग की स्थिति है। द्वियोग जैसे—'प्रतिमाऽनिरुद्ध' नाटक में भीम के पुत्र वसुनाग के लिए उपक्षेप के अनन्तर परिकर को नहीं किया। प्रथम उपक्षेप से ही परिकर का कार्य हो जाने से परिन्यास को दिखाया है।

[1]ज्ञात्वा कार्यमवस्थां च [2]कार्याण्यङ्गानि सन्धिषु।
[3]एतेषामेव चाङ्गानां सबद्धान्यर्थयुक्तितः ॥ १०६ ॥
सन्ध्यन्तराणि[4] सन्धीनां विशेषास्त्वेकविंशतिः ।

एवं त्रियोगः, यथा भेज्जलविरचिते राधाविप्रलम्भे रासकाङ्के उपक्षेपेणैव हि "लिअल्लोस्सा" इत्यादि परिकरपरिन्यासकार्यगुरुभूते पालिते एकोद्देशेन (?) विलोभननिरूपणम् । एवं चतुरङ्गं यावत् सन्धिर्भवतीति ॥ १०५ ॥

अथ सन्ध्यन्तराणि दर्शयितुमाह—एतेषामेव चाङ्गानामित्यादि । तत्र केचिदाहुः—अन्तरं छिद्रं सन्धिरिति । तदङ्गमात्रं—तारस्थाच्च तत्स्थान्यं तेन सन्ध्यङ्गच्छिद्रवर्तित्वात् सन्ध्यन्तराणि, अत एव चाङ्गानां संबद्धानि कार्याणी-त्युच्यन्ते ॥ १०६ ॥

ननु किं शेषमात्रेण, नेत्याह, किं त्वर्थस्य प्रयोजनस्य योगेन, अत एव सन्ध्यङ्गानां विशेषकः, तदर्थविशेषसंबद्धं हि तदङ्गं भवति (इति) ॥ १०७ ॥

इसी प्रकार त्रियोग को समझे। जैसे भेज्जल रचित राधाविप्रलम्भ नामक राक्षस के अङ्ग में उपक्षेप से ही 'लिअल्लोसा' इत्यादि में महत्त्वपूर्ण कार्य परिकर और परिन्यास से सञ्चालित हो रहा है वहाँ एक कार्य के उद्देश से तृतीय अङ्ग विलोभन का निरूपण किया है। इसी प्रकार चतुरङ्ग तक सन्धि होती है ॥ १०५ ॥

अनुवाद—कार्य और अवस्था को समझकर सन्धियों में अङ्गों की योजना करनी चाहिए। इन्हीं सन्धियों के अङ्गों से सम्बद्ध योजना के अनुसार सन्ध्यन्तर इक्कीस होते हैं ॥ १०६-१०७ ॥

अभिनव—सन्ध्यन्तरों के अङ्गों को दिखाने के लिए कहते हैं कि इन अङ्गों से सन्धान इक्कीस सन्ध्यन्तर होते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि आन्तर अर्थात् छिद्र का सन्धान सन्धि है। सन्ध्यङ्गों के छिद्र में रहने के कारण सन्ध्यन्तर होते हैं। अतएव अङ्गों से सम्बन्ध कार्य होते हैं।

अब प्रश्न होता है कि क्या पूर्णरूप से अङ्गों से सम्बद्ध कार्य होते हैं। इस पर कहते हैं कि नहीं, किन्तु प्रयोजन के अनुसार सम्बद्ध होते हैं। अत एव सन्ध्यङ्गों के विशेषण अर्थात् प्रयोजन विशेष से सम्बद्ध ही वह अङ्ग होता है।

---

१. क. (न०) कार्यकालमवस्थां च ज्ञात्या कार्याणि सन्धिषु ।
२. ख. ग. योज्यानि ।
३. ग. वक्ष्यामि त्वर्थोपक्षेपकाणि च ।

साम भेदस्तथा दण्डः प्रदानं वध एव च ॥ १०७ ॥
प्रत्युत्पन्नमतित्वं च गोत्रस्खलितमेव च ।
साहसं च भयं चैव ह्रीर्माया क्रोध एव च ॥ १०८ ॥
ओजः संवरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्ववधारणम्[1] ।
दूतो लेखस्तथा स्वप्नश्चित्रं मद इति स्मृतम् ॥ १०९ ॥

अन्ये मन्यन्ते—य एवोपक्षेपाद्या सामान्या उक्ताः तेषामेवैतद्विशेषा अवान्तरभेदा । उपक्षेपो हि सामादिविशेषभिन्नः, तथा हि "लाक्षागृहानल" (वेणी-१) इति क्रोधात्मोपक्षेपः, रामाभ्युदये भयात्मोपक्षेप प्रतिगानिरुद्धे स्वप्नरूपः उदात्तराघवे हेत्ववधारणात्मा । एवमन्यदनुसरणोयम् इति । एते च विभावानुभावव्यभिचारिरूपा एव । न तु तदतिरिक्तं जगति किंचिदस्ति प्रयोगे । प्रयोगोज्ज्वलत्वोपयोगाय तूपलक्षणत्वेनैकविंशतिरित्युक्तं कवेर्मार्गं प्रदर्शयितुम् ॥ १०७ ॥

अभिनव—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जो सामान्य रूप से उपक्षेप आदि अङ्ग कहे गये हैं उनके ही ये विशेष अवान्तर भेद हैं। उपक्षेप सामादि विशेष उपायों से भिन्न हैं। जैसे—'लाक्षागृहानल' इत्यादि में क्रोध का उपक्षेप है, रामाभ्युदय नाटक में भय का उपक्षेप है, 'प्रतिभानिरुद्ध' में स्वप्नरूप उपक्षेप है, उदात्तराघव नाटक में हेत्वनवधारण रूप उपक्षेप है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अनुसरण करना चाहिए। ये विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव रूप ही है, इनके अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है। प्रयोग में उज्ज्वलता के उपयोग के लिए उपलक्षण रूप से इक्कीस भेद कहे गये हैं जो कवि को मार्ग दिखाने के लिए है ॥ १०७ ॥

अनुवाद—साम, भेद, दण्ड, प्रदान, वध, प्रत्युत्पन्नमतित्व, गोत्रस्खलन, साहस, भय, ह्री (लज्जा), माया, क्रोध, ओज, संवरण, भ्रान्ति, हेत्ववधारण, दूत, लेख, स्व न, चित्र, मद ये सन्धियों में विशेष रूप से रहने वाले इक्कीस सन्ध्यन्तर हैं ॥ १०७-१०९ ॥

---

१. ख. अपधारणम् ।

तत्र सामादयो वीरे, उज्ज्वलत्वहेतवः, वधो रौद्रे, प्रत्युत्पन्नमतित्वं मति-लक्षणं व्यभिचारिरूपं, सर्वत्र गोत्रस्खलनमीर्ष्याविप्रलम्भे, साहसं (शृङ्गारवीरादौ), चापलं हास्यादौ। एवमन्यत्र ॥ १०६ ॥

ओज इति तेजः, सामान्याभिनये (अ-२२।४१) लक्षयिष्यते—"अधिक्षेपा वमानादेः" (इत्यत्र), संवरणमवहित्थं चित्रं विस्मयः शिल्पविशेषश्च। एते सर्वेषु नाटकादिरूपकेषु सुलभाः स्वयं च सुज्ञाना इति तदुदाहरणपरिवर्तनेन ग्रन्थो न विस्तारितः ॥ १०९ ॥

एवमितिवृत्तनिरूपणनान्तरीयकत्वेन सन्धयः सन्ध्यङ्गानि सन्ध्यन्तराणि चात्मभूतरसोपयोगीन्यपि प्राधान्येनेतिवृत्तात्मकं शरीरांशमभिनिविशमानानि, तत एव वृत्तिचतुष्कसाधारणे निर्दशितानि।

इनमें सामादि उपाय वीर रस में उज्ज्वलता के हेतु हैं, बध रौद्र रस में प्रत्युत्पन्नमतित्व मति नामक व्यभिचारीभाव में, गोत्रस्खलन सर्वत्र ईर्ष्या-विप्रलम्भ में, साहस शृङ्गार, वीर आदि में और चपलता हास्यादि में है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

ओज यह तेज का पर्याय है, सामान्याभिनय (२२।४१) में 'अधिक्षेपाय-मानादि' में इसका लक्षण करेंगे। संवरण अवहित्त्या है, चित्र विस्मय है और शिल्प विशेष भी है। ये सभी नाटक आदि दस रूपकों में सुलभ है और सुख से ज्ञेय हैं, इसलिए उदाहरणों के परिवर्त्तन से ग्रन्थ का विस्तार नहीं किया है ॥ १०७-१०९ ॥

अभिनव—इस प्रकार इतिवृत्त निरूपण में आवश्यक होने से सन्धियाँ, सन्धियों के अङ्ग और सन्ध्यन्तरों के आत्मभूत रस के उपयोगी होते हुए भी प्रधानरूप से इतिवृत्त रूप शरीर के अंशरूप में इनका सन्निवेश है, इसलिए कौशिक्यादि चारों वृत्तियों में साधारण रूप में निर्दिष्ट है।

[1]विष्कम्भश्चूलिकाश्चैव तथा चैव प्रवेशकः ।
अङ्कावतारोऽङ्कमुखमर्थोपक्षेपपञ्चकम् ॥ ११० ॥
मध्यमपुरुषनियोज्यो नाटकमुखसन्धिमात्रसंचारः ।
विष्कम्भकस्तु[2] कार्यः पुरोहितामात्यकञ्चुकिभिः ॥ १११ ॥
शुद्धः संकीर्णो वा द्विविधो विष्कम्भकस्तु विज्ञेयः ।
मध्यमपात्रैः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्य[3]कृतः ॥ ११२ ॥

अर्थोपक्षेपक—

अनुवाद—विष्कम्भ, चूलिका, प्रवेशक, अङ्कावतार और अङ्कमुख ये पाँच अर्थोपक्षेपक हैं ॥ ११० ॥

१—विष्कम्भक—

अनुवाद—मध्यम श्रेणी के पुरुषों द्वारा विनियोज्य केवल नाटक की मुख-सन्धि में सञ्चरणशील विष्कम्भक को पुरोहित, अमात्य और कञ्चुकी द्वारा करना चाहिए। विष्कम्भक शुद्ध और सङ्कीर्ण भेद से दो प्रकार का समझना चाहिए। इनमें मध्यमश्रेणी के पात्रों द्वारा प्रयोज्य विष्कम्भक शुद्ध और नीच एवं मध्यम पात्रों द्वारा प्रयोजक विकम्भक सङ्कीर्ण कहलाता है ॥ १११-११२ ॥

---

१. अत्र वडौदासंस्करणस्य संस्कर्त्रा पण्डितवर्येण रामकृष्णकविना लिखितं यत्—अर्थोपक्षेपपञ्चकोद्देशलक्षणविधायिन एते सप्त श्लोकाः प्रक्षिप्ता एव, यतः पूर्वाध्यायेऽङ्कलक्षणावसरे यत्रार्थस्य समाप्तिरित्यत्र (१६-२६) तल्लक्षणानि सूचितानि मुनिना व्याख्यात्रा च कोहलमतानुसारेण वा संग्रहकारमतेन वा श्लोकाश्चैते कैश्चद्विनिवेशिताः। एतेषां सप्तमः कौहलस्यैव, द्वितीयस्तु कोहलश्लोकाच्चतुर्थपादे भिद्यते, तृतीयपञ्चमौ भरतस्यैवाष्टादशाद्गृहीतौ।

२. ख. ग. संस्कृतपुरोहिता··· ।

३. ख. मध्यमैः ।

अन्तर्यवनिकासंस्थैः [1]सूतादिभिरनेकधा ।
अर्थोपक्षेपणं यत्तु क्रियते सा हि चूलिका ॥ ११३ ॥
[2]अङ्कान्तरानुसारी संक्षेपार्थमधिकृत्य विन्दूनाम् ।
प्रकरणनाटकविषये प्रवेशको नाम विज्ञेयः ॥ ११४ ॥

विशेष—भूत और भविष्य की घटनाओं को सूचित करने वाला कथा का संक्षेप करने वाला अङ्क विष्कम्भक कहा जाता है। यह एक अङ्क की घटना को दूसरे अङ्क की घटना से जोड़ता है, मिलाता है इसलिए इसे 'विष्कभक' कहते हैं (**विष्कम्नाति वृत्तमुपष्टम्भयति भूतभाविकथाभागं योजयति इति विष्कम्भकः**)। यह विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण। नाटचशास्त्र नाटक की मुखसन्धि के अन्तर्गत मध्यम पात्र द्वारा दी गई सूचना को विष्कम्भक कहता है वह शुद्ध विष्कम्भक होता है इसकी भाषा संस्कृत होती है और जब उसमें मायम और अधम दो प्रकार के पात्र होते हैं तो उसे सङ्कीर्ण या मिश्र विष्कम्भक कहते हैं। इसकी भाषा संस्कृत और प्राकृत मिश्रित होती है। विष्कम्भक की योजना अङ्क के प्रारम्भ में उन्मुख के बाद अथवा दो अङ्कों के मध्य में होती है। कोहल के मतानुसार प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में इसका प्रयोग उचित माना जाता है।

२. चूलिका—

अनुवाद—यवनिका (परदे) के अन्दर स्थित सूत, मागध आदि पात्रों के द्वारा अनेक प्रकार से अर्थों का जो उपक्षेपण किया जाता है, उसे 'चूलिका' कहते हैं ॥ ११३ ॥

विशेष—अब यह कि नेपथ्य के भीतर से सूत, मागध आदि के द्वारा दी जाने वाली सूचना 'चूलिका' कही जाती है। चूलिका का प्रयोग अङ्क के मध्य में होता है।

३. प्रवेशक—

अनुवाद—प्रकरण और नाटक में विन्दु के प्रयोजन के सम्बन्ध में दो अङ्क के मध्य में संक्षेप में जो सूचना दी जाती है उसे 'प्रवेशक' कहते हैं ॥ ११४ ॥

विशेष—प्रवेशक भी विष्कम्भक के समान भूत और भविष्य की घटनाओं का सूचक होता है, किन्तु विष्कम्भक से भिन्न होता है, क्योंकि इसके सभी पात्र अधम प्रकृति के होते हैं जो प्राकृत भाषा बोलते हैं। इसका प्रयोग एक दो अङ्कों के मध्य में होता है तथा इसमें उदात्त वचनों का अभाव होतां है।

---

१. शून्यादिभिरनेकधा। ख. उत्तमाधममध्यमैः।
२. ख. अङ्कान्तराधिकारी।

अङ्कान्त[1] एव चाङ्को निपतति यस्मिन्[2] प्रयोगमासाद्य ।
बीजार्थयुक्तियुक्तो ज्ञेयो[3] ह्यङ्कावतारोऽसौ ॥ ११५ ॥
विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
[4]यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते[5] ॥ ११६ ॥

४. अङ्कावतार—

अनुवाद—जहाँ पर अङ्क के अन्त में ही प्रयोग के अनुसार बीज भूत अर्थ की युक्ति से युक्त अङ्क का निपतन होता है उसे अङ्कावतार समझना चाहिए ॥ ११५ ॥

विशेष—भाव यह कि जहाँ पर अङ्क के अन्त में उस अङ्क की कथावस्तु का विच्छेद किये विना उसी अङ्क के पात्रों द्वारा अगले अङ्क की कथावस्तु की सूचना 'अङ्कावतार' है ॥ ११५ ॥

५. अङ्कमुख—

अनुवाद—जहाँ पर स्त्री या पुरुष पात्रों द्वारा पूर्व में अङ्क के विश्लिष्ट मुख का जो उपक्षेपण किया जाता है उसे अङ्कमुख कहते हैं ॥ ११६ ॥

विशेष—भाव यह कि जब अङ्क के प्रारम्भ में किसी स्त्री या पुरुष पात्र द्वारा उस अङ्क की कथा का संक्षेप में सूचना दिया जाता वहाँ 'अङ्कमुख' होता है। विश्वनाथ के अनुसार जहाँ एक अङ्क में दूसरे अङ्क की कथा वस्तु की सूचना दी जाय, उसे 'अङ्कमुख' कहते। कुछ आचार्य इसे 'अङ्कास्य' कहते हैं किन्तु धनञ्जय अङ्कास्य का दूसरा लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जहाँ एक अङ्क की समाप्ति के समय उस अङ्क के पात्रों द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाय, उसे 'अङ्कास्य' कहते हैं। अङ्क के अन्त में अङ्कास्य होता है जिसके द्वारा अगले अङ्क की कथा वस्तु की सूचना दी जाती है। जैसे महावीर चरित के द्वितीय अङ्क के अन्त में सुमन्त्र द्वारा जनक और राजा नन्द की कथा का विच्छेद करके अगले अङ्क की कथा के आरम्भ की सूचना होने से 'अङ्कास्य' है।

१. ख. ग. अङ्कान्तरेऽथवाङ्के ; २. ख. यस्मात् ।
३. ख. विज्ञेयो अङ्कावतार··· । ४. ख. ग. यत्र संक्षिप्यते ।
५. ख. ग. इष्यते ।

अन्यान्यपि लास्यविधावङ्गानि तु नाटकोपयोगीनि ।
अस्माद्विनिःसृतानि तु भाण इवैकप्रयोज्यानि ॥ ११७ ॥

अधुना तु यस्याः प्रसादेन शास्त्रेति हासादिभ्योऽभ्युद्धरकन्धरीभूतं सर्व-जनाहरणीयतास्पदत्वं तु नाट्यं, यामुद्दिश्य प्रथमेऽध्याये "कैशिकीमपि योजय यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं" इत्यादि बहुतरमुक्तं तदाविर्भावकानि, अत एवात्म-भूतरसभावभागाभिनिवेशशालीन्येव नास्याङ्गान्यपि कविप्रयोक्तृभिरभिनेतव्य-काव्यविषये सर्वथैव योज्यानीति दर्शयितुमाह—

अन्यान्यपि लास्यविधावङ्गानीत्यादि । नाटकमित्यभिनेयमात्रम् । इतः परमध्या-यान्तमुक्तेभ्योऽङ्गेभ्यो लास्यविधौ यान्यङ्गानि वक्ष्यन्ते तानि नाटकोपयोगीन्यपि भवन्ति । नन्वेवमङ्गानामभेदादङ्गिनोऽपि लास्यस्य नाटके को भेद इत्याशङ्कां शमयति (अस्मादिति) । अस्मान्नाटकादनुकाराभिनेयलक्षणात् विनिस्सृतानि बहिर्भूतानि, एकपात्रहार्याणि ।

अभिनव—अब तो जिसकी कृपा से नाटचशास्त्र एवं इतिहास से अभ्युन्नत एवं सभी लोगों को ग्राह्यता का आस्पद है और जिसके उद्देश्य से प्रथम अध्याय में "कौशिकी को भी और जो उसके योग्य द्रव्य हो उसकी भी योजना करो" इत्यादि बहुत कुछ कहा है। अत एव आत्मभूत रस एवं भाव के अभिनिवेश से युक्त लास्याङ्गों को भी नाटच प्रयोक्ताओं को अभिनेय काव्य में अवश्य योजना करे, इसको दिखाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—इन्हीं अङ्गों से विनिःसृत भाण की तरह एक पात्र से प्रयोज्य लास्य विधि में नाटकोपयोगी अन्य अङ्ग भी होते हैं ॥ ११७ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'नाटकोपयोगी' पद से सभी अभिनेय दश रूपकों का ग्रहण होता है। इसके बाद अध्याय की समाप्ति पर्यन्त उक्त अङ्गों के अतिरिक्त लास्यविधि में जिन अङ्गों को कहेंगे, वे सब नाटकोपयोगी भो होते हैं। अब प्रश्न होता है कि इस प्रकार अङ्गों में अभेद होने से अङ्गी लास्य का नाटक से क्या भेद होता है। इस आशङ्का का शमन करते हैं कि अनुकरणात्मक अभिनेय नाटकों से विनिःसृत भाण के समान एक पात्र से प्रयोज्य होते हैं ॥ ११७ ॥

भाणाकृतिवल्लास्यं विज्ञेयं त्वेकपात्रहार्यं वा ।
प्रकरणवदूह्यं कार्यासंस्तवयुक्तं विविधभावम् ॥ ११८ ॥
गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकं त्रिमूढं च सैन्धवाख्यं द्विमूढकम् ॥ ११९ ॥
उत्तमोत्तमकं चैवमुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशलक्षणम् ॥ १२० ॥

भाण इति इवशब्देन नाटकमाह, भाणे नाट्यरूपता समस्ति, न तु लास्ये कथंचिदपि तस्य नाट्यरूपवैलक्षण्यात् । तच्चोपपादितं वितत्य तुर्येऽध्याये ।

ननु कानि लास्याङ्गानि नाट्ये वक्ष्यन्त इत्याह गेयपदमित्यादि दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशलणमित्यन्तम् ।

एतस्य अङ्गनिर्देशस्याङ्गोद्देशस्य दशविधं, यद्विशेषलक्षणं तालाध्याये (अ-३१) लास्यनिरूपणावसरे वक्ष्यते, तथा चोपसंहरिष्यति "एतेषां लास्यविधौ विज्ञेयं लक्षणं" मिति (अ-१९)। तत्रैव हि संपूर्णमङ्गानां रूपं, इह तर्हि कथमुपयोग इति नाट्योपयोगितां गमयितुं आसनेषूपविष्टेयं इत्यादिग्रन्थः । तेनेदं तात्पर्यम्—यानि लास्याङ्गानि वक्ष्यन्ते तेभ्यः कश्चिद्वैचित्र्यांशो लोकापरिदृष्टोऽपि रञ्जनावैचित्र्याय कविप्रयोक्तृभिर्नाट्ये निबन्धनीयः ।

अनुवाद—भाण की आकृति के समान एक पात्र के द्वारा प्रयोज्य लास्य को समझना चाहिए और प्रकरण की तरह विचार करके विविधभावों को संस्तव से युक्त करना चाहिए ॥ ११८ ॥

अभिनव—यहाँ इव शब्द से नाटकादि का ग्रहण होता है। भाण में तो नाटचरूपता है किन्तु लास्य में तो किसी प्रकार नहीं है। यही नाटचरूप से लास्य की विलक्षणता है। यह बात चतुर्थ अध्याय में विस्तार को कह दिया है ॥ ११८ ॥

अब प्रश्न कहते हैं कि नाटच में लास्याङ्ग कौन से हैं, इसको आगे नाटच में 'गेयपद' से लेकर 'दश प्रकार के अङ्गनिर्देश लक्षण है' यहाँ कहेंगे—

अनुवाद—गेयपद, स्थित, पाठच, आसोन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिमूढ़, सोधव, द्विमूढ़, उत्तमोत्तमक, उक्तप्रयुक्त—ये लास्य के दश प्रकार के अङ्गों का निर्देश कर दिया है। अब इसके लक्षणों को कहूँगा ॥ ११९-१२० ॥

अन्ये तु व्याचक्षते—तथाविधलास्याङ्गयोजनैवात्र क्रियते, तथा हि गेयपदे निदर्शनं दर्शयति "ततः प्रविशति वीणां वादयन्ती मलयवती चेटी च। मलयवती "उत्फुल्लकमलकेसर' इत्यादि गायति" (नागा-१) इति। तच्चैवमसत्। अत्र ह्यन्यव्यापारवद् देवतापरितोषः, किंचिद्गेयं जप्यसहस्रतुल्यं तन्मिश्रं जप्यं कोटि-फलसाधनमित्यादिपुराणवाक्यबलात्, कर्तव्यत्वेनाभिसंहितो मलयवत्याः। "सा च प्रयोज्येति" न लास्यार्थोऽत्र किञ्चित्, न लास्याङ्गतापि। यत्रापि, ततः प्रविशतो

अभिनव—इस अङ्गनिर्देश का दश प्रकार का जो विशेष लक्षण तालाध्याय (इकतीसवें अध्याय) लास्य निरू.ग के अवसर पर कहेंगे और 'लास्यविधि में इनके लक्षण समझने चाहिए' इस प्रकार उपसंहार भी करेंगे। उसी समय अङ्गों का सम्पूर्ण रूप भी बतलाया जायगा। तो फिर वहाँ उसका उपयोग कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तर में नाटचोपयोगिता को समझाने के लिए आसन पर बैठे हुए जो लोग, इत्यादि ग्रन्थ को कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है—जिन लास्याङ्गों को कहेंगे, उनको अपेक्षा कोई वैचित्र्यांश लोक में अपरिदृष्ट (न दिखाई देने पर भी) रञ्जना वैचित्र्य के लिए कवि एवं नाटच प्रयोक्ताओं द्वारा नाटच में उनका निबन्धन करना चाहिए।

अन्य आचार्य तो व्याख्या करते हैं कि—उस प्रकार लास्याङ्गों की योजना भी यहाँ करते हैं और उनके द्वारा ही गेयपद में दृष्टान्त को दिखाते हैं, "उसके बाद वीणा को बजाती हुई मलयवती और चेटी प्रवेश करती है। तथा मलयवती 'उत्फुल्लकमलकेसर' इत्यादि गाती हैं" (नागानन्द-१) इति। यह सब असत्। यहाँ अन्य व्यापारों के समान देवता परितोष भी एक व्यापार है। कुछ गेय पद हजार जप के तुल्य हैं और कुछ गेय से मिश्रित जप है जो करोड़ों जप के फल के साधन है, इत्यादि पुराण के वाक्य के बल से मलयवती के कर्त्तव्य के रूप में अभिसंहित है। 'वह प्रयोज्य है' यहाँ पर कुछ भी 'लास्य अर्थ नहीं है और न लास्याङ्गता हो है। और जहाँ है भी; जैसे—'कुसुमायुध-प्रियदूतको मुकुलायितबहुचूतकः इत्यादि गाती हुई चेटियाँ प्रवेश करती हैं, वहाँ पर भी परिभ्रमणादि के समान बसन्तोत्सव के प्रमोद के अभ्युदय अवसर

आसनेषूपविष्टैर्यत्तन्त्रीभाण्डोपबृंहितम् ।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद्गेयपदमुच्यते ॥ १२१ ॥

गायन्त्यौ चेट्यौ, "कुसुमाउहपिअदू अउपे" (रत्ना-२) इत्यादि तत्रापि परिभ्रमणादिवदेव लौकिकवृत्तं वसन्तोत्सवप्रमोदाभ्युदयावसरकृतं । प्रयोजने चेद्यावत् क्रियते तत्र यद्यप्यनुकार्यस्य तथापि नाट्यङ्गत्वे पृथगनुपदेश्यतापत्तिः, यथा (यदा) ह्यश्वमेधयाज्ञाद्यनुकारः कर्तव्यस्तदोपयुज्यते यज्ञाङ्गज्ञानमिति यज्ञाङ्गान्युपदेश्यानि भवेयुः। न हि तादृग्वस्तुमात्रमप्यस्ति यन्नाट्ये नोपयुज्यते च। तस्माल्लास्ये यान्यङ्गानि तत उपजीव्ये लौकिक एवांशो रञ्जनोपयोगी लास्याङ्गत्वेन मुनेरिह विवक्षितः। अन्यथा "आसनेषूपविष्टैय" मित्यादि किमिहोक्त्या, "एतेषां लक्षणं व्याख्यास्ये" इत्येतदिहैव तु नैवोक्तमित्येतद् विशृङ्खलं स्यात्, "ततश्च परिधानक" मित्यादि (३१-३५०) (यत्पूर्वरङ्गविधौ (अ-३१) लास्याङ्गलक्षणमुक्तं तदप्यत्राभिनेयभागे प्रयोक्तव्यं स्यात्।) ॥ ११९-१२० ॥

ततो यावानंशो नाट्योपयोगी तं दर्शयितुमाह—आसनेषूपविष्टैर्यदिति।

पर किया लौकिक वृत्त है। यदि कहें भि प्रयोजन के अनुसार करते हैं तो वहाँ पर भी यद्यपि अनुकार्य के प्रयोजन की वस्तु है, तथापि गेयपदादि का नाटच के अङ्क के रूप में पृथक् से उपदेश करने की आवश्यकता नहीं है, इस प्रकार की आपत्ति होगी। जैसे—जब अश्वमेधादि यज्ञों के अनुकरण करते हैं तब यज्ञ के अङ्गों का ज्ञान करना उपयुक्त है। अतः यज्ञ के अङ्ग भी उपदेश्य हो सकते हैं। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसका नाटच में उपयोग न होता हो, इसलिए लास्य के जो अङ्ग है और उनमें भी रञ्जनोपयोगी जितना लौकिक अंश है वही लास्य के अङ्ग के रूप में मुनि को विवक्षित है। अन्यथा 'आसनेषूपविष्टैः' इत्यादि को यहाँ कहने की क्या आवश्यकता है। 'एतेषां लक्षणं व्याख्यास्ये' वहीं पर क्यों नहीं कह दिया? इस प्रकार सव विशृङ्खलित हो जायगा। जैसे—'ततश्च परिधानकम्' इत्यादि पूर्वरङ्गविधि में जिस लास्याङ्ग के लक्षण को कहा है वह भी यहाँ अभिनेय भाग में प्रयोक्तव्य हो जायगा।

१. गेयपद—

इसलिए जितना अंश नाटचोपयोगी है, उसे दिखलाने के लिए कहते हैं—

या नृत्यत्यासना नारो गेयं प्रियगुणान्वितम् ।
साङ्गोपाङ्गविधानेन तद्गेयपदमुच्यते ।। १२२ ।।

निपातो यस्मिन्नित्यत्रार्थे, तेन यत्र काव्ये प्रयोगे वा शुष्कमित्यनुकरणीयतया शून्यं गायनैरिति न तु पात्रैः, आसनोपविष्टैरिति स्वस्थैः, न तु नेपथ्ये गीयत इत्यादिवत्, कविप्रयोगायातमावेशविशेयं जृम्भद्भिर्गीयते यत् । तन्त्रीभाण्डान्वितमिति सर्वातोद्ययुतं, न तु भाव्यासीनपाठ्यवत्तद्विहीनं तद्गेयस्य पदं स्थानमिति कृत्वा गेयपदम्, तेन ध्रुवागानपञ्चकमन्तरालापस्वररहितं यत्र प्रयोगयोग्यं भवति स काव्यप्रयोगो गेयपदमित्युक्तं भवति, यत्र हि प्रयोगे तत्त्राभिनिविष्टं सामाजिकरञ्जकं भवतोति यावानंशोऽसौ लास्याङ्गादिहोपजोवितः ।

अनुवाद—तन्त्रीभाण्ड अर्थात् वोणा-वाद्य से उपबृंहित (विशिष्ट) आसनों पर बैठे हुए गायक जो शुष्क गान करते हैं, उसे 'गेयपद' कहते हैं ।। १२१ ।।

अनुवाद आसन पर बैठो हुई जो नारी साङ्गोपाङ्ग विधान के साथ प्रिय के गुणों से युक्त गोत का गायन करती है, उसे 'गेयपद' कहत हैं ।। १२२ ।।

अभिनव—'आसनेषु' इत्यादि श्लोक में 'यत्' यह शब्द 'यस्मिन्' (जिसमें) इस अर्थ में प्रयुक्त है । इसलिए जिस काव्य अथवा प्रयोग में जो शुष्कगान अर्थात् अनुकरणीय होने से जो गायन से शून्य है, न कि पात्रों से शून्य है । 'आसनेषूपविष्टैः' इसका अभिप्राय है अपने स्थान पर स्वस्थ भाव से स्थित, होकर न कि नेपथ्य में बैठकर गायन करते हैं, इत्यादि के समान कवि के प्रयोग से प्राप्त आवेश विशेष का फूंक मारते हुए, जो गायन करते हैं । 'तन्त्रीभाण्डान्वितम्' का अभिप्राय है सभी प्रकार के वाद्यों से युक्त, न कि आगे कहे जाने वाले आसीन पाठ्य की तरह वाद्यों से विहीन गेय का स्थान है, अतः गेयपद है, इसलिए जहाँ पर अन्तरालाप स्वर-रहित ध्रुवागान पञ्चक प्रयोग के योग्य होता है । वह काव्य प्रयोग गेयपद है, ऐसा कहा जाता है और जहाँ पर प्रयोग में सामाजिको का रञ्जक जितना अंश अभिनिविष्ट है उतना अंश लास्याङ्ग से यहाँ उपजीव्य है ।

प्राकृतं यद्वियुक्ता तु पठेदात्तरसं स्थिता ।
मदनानलतप्ताङ्गी स्थितपाठ्यं तदुच्यते ॥ १२३ ॥
बहुचारीसमायुक्तं पञ्चपाणिकलानुगम् ।
चञ्चत्पुटेन वा युक्तं स्थितपाठ्यं विधीयते ॥ १२४ ॥

यत्तु गायनैः पात्रैः शुष्कमित्यर्थात् छेकाश्रितं गेयं निर्गीतमपि वा, एतत् त्र्यश्रं चतुरश्रं वेत्येवंभूतं गीयमानं गेयानि पदानि यत्र गेयपदमिति व्याचक्षते, तत्पूर्वमेवापास्तम् ॥ १२१-१२२ ॥

अथ स्थितपाठ्यमपि यल्लास्याङ्गं भविष्यति तदुपजीवितुमाह—

लास्येऽपि तावद् देवतानरपतिरञ्जनप्रधानं पाठ्यमस्ति तच्चित्तग्रहणं हि तत्र तेनैव मध्ये वैचित्र्याय पाठ्ये नापि क्रियते, तत्र स्थिते च पठत्यासीनेवेति पाठ्यगतं तदलौकिकं रञ्जनाङ्गं चित्रत्वं तस्मादङ्गादुपजीव्यते। तथा हि—यद्वियुक्ता आतप्तापि सती प्राकृतभाषालक्षणयुक्तं तथात्तरसमिति रसोपयोगि स्थायिरसंग्रहणपूर्वकं पठेत्। एतल्लौकिकं यल्लास्याङ्गादुपजीव्यमानं स्थितपाठ्यम्। एतच्चावेशोपलक्षणं तेन क्रोधाविष्टोऽपि संस्कृतेन पठतीत्याद्यपि मन्तव्यम्।

और जो गायनों से शुष्क है न कि पात्रों से रहित है वह अंश विदग्धजनों के आश्रित है। चाहे गेय पद हो अथवा निर्गीत हो, वह त्र्यस्र अथवा चतुरस्र हो, इस प्रकार का गीयमान गेयपद जहाँ हो, वह गेयपद है, ऐसी व्याख्या करते हैं, वह पहले ही अपास्त हो गया ॥ १२१-१२२ ॥

२. स्थित पाठ्य—

अब स्थितपाठ्य भी जो लास्याङ्ग होगा उसके उपजीवन का सहारा देने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर प्रिय से वियुक्त और कामाग्नि से संतप्त नारी आसन पर बैठी हुई रस से पूर्ण प्राकृत का पाठ करती है, उसे 'स्थितपाठ्य' कहते हैं ॥ १२३ ॥

अनुवाद—अथवा अनेक चारियों से संयुक्त, हाथ की पञ्चपाणि कला से अनुगत चञ्चत्पुट से युक्त होता है उसे 'स्थित पाठ्य' कहते हैं ॥ १२४ ॥

अन्ये तु बहुचारीयुतेन चञ्चत्पुटेनौत्तरेण यत् स्थितपाठ्यमिति लक्षणं कुर्वन्ति, उदाहरन्ति, रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के राजा—"उद्दामोत्कलिका" मित्यादोति, तत्पूर्वमेव निरस्तम्। न च पाठ्ये चावसरोऽत्र तालस्त्र्यश्रश्चतुरश्रो वा यथा तु लास्याङ्गत्वे। तत्सर्वं तालाध्याय एव वक्ष्यामः।

अभिनव—लास्य में भी मुख्यरूप से देवता एवं राजा को रञ्जन करने वाला पाठ्य होता है। उसी से बीच में विचित्रता लाने के लिए पाठ्य भी करते हैं। वही बैठी हुई न्ययिका पढ़ती है, इसलिए पाठ्य में अलौकिक रञ्जक अङ्ग वैचित्र्य का उस लास्याङ्ग से उपजीवन करते हैं। तथा जो प्रिय से वियुक्त संतप्त हुई नायिका रसोपयोगी प्राकृत भाषा के लक्षण से युक्त पाठ्य पढ़े। यह अलौकिक लास्याङ्ग से उपजीव्यमान स्थित पाठ्य है। यह आवेश का उपलक्षण है, इसलिए क्रोध से आविष्ट होकर भी संस्कृत पढ़ती है, यह भी समझना चाहिए।

अन्य लोग तो बहुत चारियों से युक्त और चञ्चत्पुट से युक्त जो स्थित-पाठ्य, इस प्रकार जो लक्षण करते हैं और उदाहरण देते हैं। जैसे, रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क में—

राजा—'क्षणभर में कलियों से लदी, विकसित होने वाली, (जम्भाई युक्त) पाण्डुरवर्ण वाली, निरन्तर बहने वाली वायु के झकोरों से (श्वास-प्रश्वास से) संचार-जन्य खेद प्रकट करती हुई मदन नामक वृक्ष से युक्त (काम से युक्त) इस उद्यानलता (सागरिका) को अन्य नारी के समान देखता हुआ मैं आज देवी के मुख को क्रोध से लाल कर दूंगा।'

इत्यादि श्लोक का पठन। यह पहिले ही निरस्त हो गया है। यहाँ पाठ्य में कोई अवसर नहीं है कि यहाँ पर ताल त्र्यस्र अथवा चतुरस्र हो और वह लास्य का अङ्ग हो इन सबका निरूपण तालाध्याय में कहेंगे॥ १२३-१२४॥

आसीनमास्यते यत्र सर्वातोद्यविवर्जितम् ।
अप्रसारितगात्रं च चिन्ताशोकसमन्वितम् ॥ १२५ ॥

अथासीनपाठ्यादुपजीवनीयमंशमाह—आसीनमास्यते यत्रेति ।

अत्यन्तशोकावेशेऽभिनयादिशून्यत्वेन यत्र आस्ते सोंऽश उपरञ्जकगुणश्चतुर्विधातोद्यवर्जितोऽतिसुकुमारकाकलीप्रायप्रमदागीतमात्रावशेषो यश्चित्तग्राही (स लौकिकः) लौकिकादपि च तत्र हि साम्यमात्रार्थस्य तस्याश्रयमाणा च स्थितिः, तदासीनम्नामाङ्गं, आसीनपाठ्यादुपजीवितेनासनांशेन योगतश्च सर्वत्र करुणादौ रञ्जनोपयोगि । तदाह—चिन्ताशोकसमन्वितमिति । अधःशय (नध्यानाधोमुखादनुभावयुतम् । सर्वेति ध्यानविलापादिचिन्ताशोकानुभावेषु तदादेरप्रयोज्यतया तद्राहित्यमुक्तम्), निःशब्दमिति भावः । तदनु अप्रसारितगात्रमित्यभिनयशून्यमित्यर्थः । सुप्रसारितगात्रमित्यन्ये पठन्ति, तत्रापि (सौष्ठवाङ्गप्रदर्शनपृथग्यत्नराहित्येन) स्रस्तगात्रतयाभिनयशून्यतैव ॥ १२५ ॥

३. आसीन—

इसके बाद आसीन पाठ्य से ग्राह्य अंश का कथन करते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर चिन्ता और शोक से समन्वित नायिका का समस्त आतोद्यों से रहित, शरीर को बिना फैलाये रङ्गमञ्च पर बैठना 'आसीन' कहा जाता है ॥ १२५ ॥

अभिनव—अत्यन्त शोकावेग में जहाँ पर अभिनयादि से शून्य रूप में रहता है वह अंश उपरञ्जक गुणों से युक्त चारों प्रकार के आतोद्य (वाद्यों) से रहित, अतिसुकुमार काकलोप्राय प्रमदागीतमात्र अवशिष्ट जो चित्तग्राही है वह लौकिक है। लौकिक से भी वहाँ साम्यमात्र अर्थ की स्थिति है वह आसीन है और जो आसीन पाठ्य से उपजीवित आसनांश के सम्बन्ध से करुण आदि में सर्वत्र रञ्जन का उपयोगी है। इसलिए कहते हैं—'चिन्ता-शोक समन्वितम्' अधः शयन, ध्यान, अधोमुखत्व आदि अनुभावों से युक्त हैं। चिन्ता के अनुभाव ध्यान तथा शोक के अनुभाव विलापादि में तदादि वाद्यों के अप्रयोज्य होने से उससे रहित अर्थात् निःशब्द तथा तदनुकूल अभिनय से रहित हो । अन्य लोग 'सुप्रसारितमात्रम्' ऐसा पढ़ते हैं । वहाँ पर भी सुप्रसारित मात्र होने से अभिनय शून्यता ही लक्षित होती है।

वृत्तानि विविधानि स्युर्गेयं गाने च संश्रितम् ।
चेष्टाभिश्चाश्रयः पुंसां यत्र सा पुष्पगण्डिका ॥ १२६ ॥

यत्र स्त्री नरवेषेण ललितं संस्कृतं पठेत् ।
सखीनां तु विनोदाय सा ज्ञेया पुष्पगण्डिका ॥ १२७ ॥

नृत्तं तु विविधं यत्र गीतं चातोद्यसंयुतम् ।
स्त्रियः पुंवच्च चेष्टन्ते सा ज्ञेया पुष्पगण्डिका ॥ १२८ ॥

पुष्पगण्डिकाख्यलास्याङ्गावुपजीव्यांशमाह—वृत्तानीति ।

गान इति ततेन मध्ये सुषिरेण मध्येऽवनद्धेन मिश्रणाकृतो विचित्रभावः पात्राणां सुकुमारप्रयोगोऽभिनेयेऽपि रञ्जक एव यद्यप्यलौकिकं यद्वैचित्र्यम् । मालासादृश्यात्पुष्पगण्डिका गाननृत्तगीतगतवैचित्र्ययोगात् स्त्रीलिङ्गविवक्षया च स्त्रीपात्राणां पुष्पगण्डिकोक्ता । पुंसामिति) । सा च चेष्टाश्रयशब्दाभ्यां पर्यायेण योज्या ।

---

४. पुष्पगण्डिका—

अब पुष्पगण्डिका नामक लास्याङ्ग से ग्राह्य अंश को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर विविध नृत्य और आतोद्य (वाद्य) के साथ गान हो और चेष्टाओं से पुरुषों का आश्रय हो, उसे 'पुष्पगण्डिका' कहते हैं ॥ १२६ ॥

अनुवाद—जहाँ पर स्त्री सखियों के विनोद के लिए पुरुष का वेष धारण करके ललित संस्कृत का पाठ करती हो, उसे 'पुष्पगण्डिका' कहते हैं ॥ १२७ ॥

अनुवाद—जहाँ पर अनेकविध नृत्त हो और आतोद्य (भाण्डवाद्य) के गीत (गायन) हो और स्त्रियाँ पुरुष की तरह चेष्टा करें, वहाँ 'पुष्पगण्डिका' लास्याङ्ग होता है ॥ १२८ ॥

अभिनव—अभिनव के अनुसार जहाँ पर कभी बीच में तत अर्थात् वीणा आदि तन्त्री वाद्य से, कभी बीच में सुषिर आदि वंशीवाद्य से और कभी बीच-बीच में मृदङ्ग आदि अवनद्ध वाद्यों से और कभी-कभी ताल आदि तत वाद्यों से मिश्रित विचित्र भाव होता है और पात्रों का सुकुमार प्रयोग अभिनेय में भी रञ्जक होने से यद्यपि अलौकिक विचित्रता नृत्त, गान आदि की वैचित्र्य के योग से माला के सदृश होने में 'पुष्पगण्डिका' होती है। स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा से स्त्रीपात्रों द्वारा यह अभिनेय कहा गया है। दोनों अर्थात् स्त्री पुरुष दोनों प्रकार के पात्रों की चेष्टायें और शब्दों का क्रमशः प्रयोग करना चाहिए ॥ १२६-१२८ ॥

प्रच्छेदकः स विज्ञेयो यत्र चन्द्रातपाहतः ।
स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ॥ १२९ ॥

अथ प्रच्छेदकाङ्गकृतं वैचित्र्यं योजयितुमाह—(प्रच्छेदक इति लास्यविधाने-(अ-३१) वक्ष्यते "ज्योत्स्नायां मदिरायां वा दर्पणे सलिलेऽथवा। छायासादृश्य-कान्तस्य प्रहर्षार्थविभूषित" मिति (३१-अ) (त्रिधा प्रच्छेदकस्य लक्षणमुक्तम् । तत्र जलक्रीडायां जले प्रसाधने दर्पणे पानगोष्ठ्यां पान) ईषत्प्रतिफलिततत्तदाकृति-दर्शने सति कान्तायाः, प्रहर्ष इति त्रिधा प्रच्छेदं प्रति विमल (फलन ?) मिति पर्यायात् (काव्येषु कविभिः प्रतिबिम्बदर्शनजातहर्षस्य स्त्रीणां प्रणयकोपप्रसादन-सामर्थ्यं वर्णितम् ।) यथा—

पणमह पणयप्पकुविअगोरोचलणग्गलग्गपडिबिंबं ।
तंसु णहदप्पणेसु अ एआअअ तणुअरं रुद्दं ॥
पणमत पणअप्पकुपिअकोरोचलणक्कलक्कपटिविपम् ।
तंसु नखतप्पनेसुंठ्य एकातस तनुतर रुत्तम् ॥ इत्यादि ।
[प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिबिम्बम् ।
तेषु नखदर्पणेषु एकादशतनुतरं रुद्रम् ॥] इति छाया

५. प्रच्छेदक—

अनुवाद—जहाँ पर चन्द्रमा के आतप (ताप) से आहत नारियाँ प्रिय के अपराध करने पर उससे मिलने के लिए तैयार हो जाये तो उसे 'प्रच्छेदक' कहते हैं ॥ १२९ ॥

अभिनव—प्रच्छेदक नामक लास्याङ्गकृत विचित्रता लाने के लिए कहते हैं। 'प्रच्छेदक' यह लास्य के विधान में कहेंगे। 'चन्द्रमा की चाँदनी के समय जल में, अथवा प्रसाधन के समय दर्पण में अथवा पानगोष्ठी के समय मदिरा में प्रिय के प्रतिबिम्ब (छाया) का सादृश्य प्रहर्ष से विभूषित होता है। इस प्रकार प्रच्छेदक नामक अङ्ग तीन प्रकार का कहा गया है। उनमें जलक्रीड़ा के समय जल में प्रसाधन के समय दर्पण में और मद्यपान की गोष्ठो में मदिरा में कान्त की प्रतिबिम्बित आकृतियों के दर्शन से प्रिया को प्रहर्ष होने से यह प्रच्छेदक तीन प्रकार का होता है। जैसे—

इस प्रकार काव्यों में कवियों ने प्रतिबिम्ब दर्शन में उत्पन्न हर्ष के फलस्वरूप प्रणयकलह में कुपित स्त्रियों के प्रसादन का सामर्थ्य वर्णित किया है।

"प्रणयकलह में कुपित गौरी के पैरों के अनुभाग में नखरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित एकादश शरोर धारो शिव (रुद्र) को प्रणाम करो।"

तत्र च त्रिविधेऽपि ज्योत्स्नैवोपयोगिनी, विशेषलीलाधायिनी स्वाधीनभर्तृकोचितसंभोगविशेषोपलम्भेन । एतदुक्तं भवति – लोकवृत्ते तावन्न सर्वदा संपूर्णचन्द्रोदयो भवति प्रयोगे तु संभावनागर्भतया रसोपयोगी तथाविधः कालविशेषो गृहीतव्यः । तथा च रत्नावल्यां भूयसा चन्द्रोदयो वर्णितः, "संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुष" (१-२३) इति, "उदयतटान्तरित" मिति (१-२४), "वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गत" (३-१३) इति । एवं रसोपयोग्यलौकिककालविशेषग्रहणं प्रच्छेदकादुपजीवितम् । यदाहुरुपाध्यायपादाः—

यद्यत्रास्ति न तत्रास्य कविर्वर्णनमर्हति ।
यन्नासंभवि तत्रास्य तद्वर्ण्यं सौमनस्यदम् ॥
देशोऽद्रिवन्तुरो द्यौर्वा तडित्कुण्डलमण्डिता ।
ईदृक्स्यादथवा न स्यात् किं कदाचन कुत्रचित् ॥ इत्यादि ।

इस प्रकार प्रच्छेदक में त्रिविध स्वाधीनभर्तृका के समुचित सम्भोग विशेष के उपालम्भ से विशेष लीलाधायिनी चाँदनी ही उपयोगिनी है। भाव यह कि लौकिक व्यवहार में तो सर्वदा सम्पूर्ण चन्द्र भी उदय नहीं होता, प्रयोग में तो सम्भावनामय रसोपयोगी तथाविध कालविशेष का ग्रहण करना चाहिए। जैसे—रत्नावली नाटिका में बहुलता से चन्द्रोदय वर्णन किया गया है। जैसे—'सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः' (१।२३) इत्यादि तथा 'उदयतटान्तरितामिवि प्राचीम्' (१।२४) इत्यादि तथा 'वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीताशुरभ्युद्गतः' (३।१३) इत्यादि। इस प्रकार रसोपयोगी अलौकिक काल विशेष का ग्रहण 'प्रच्छेदक' का उपजीव्य है। जैसा कि उपाध्याय जी कहते हैं—

"जो यहाँ पर नहीं है उसका वहाँ पर कवियों को वर्णन करना उचित है। जो सम्भव नहीं है उसका भी यहाँ पर वर्णन सौमनस्य प्रद है। अद्रि अर्थात् पर्वत श्रेणी से समुन्नत प्रवेश हो, अथवा न हो, अथवा विद्युत् कुण्डल से मण्डित आकाश हो अथवा न हो, किन्तु कदाचित् कहीं पर हो भी"

इस प्रकार सम्भाव्य वर्णन उचित है।

अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलङ्कृतम् ।
नाट्यं स्त्रीपुरुषभावाढ्यं त्रिमूढकमिति स्मृतम् ॥ १३० ॥

अथ त्रिमूढलक्षणादुपयोगिनं भागं निरूपयितुमाह—अनिष्ठुरमिति ।

त्रिमूढके तावल्लास्याङ्गे नायकस्य व्यलीकवशादेकस्या द्वेष्यतोऽभिनवायाः प्रथमप्रणयबद्धलज्जाविनेति मोहस्त्रयाणाम् । तत्र नायकस्यावश्यमनिष्ठुराण्येवोदयन-विषयाणोव वचांसि भवन्ति । तत्र हि वचसि रसपयोगो गुणालङ्कारांशः स्वी-कर्तव्यः । न हि लोके यदृते माधुर्यौजःप्रभृतिगुणगणोऽस्ति सर्वो ह्येवमाविष्टो यत् किंचिद्वदति तत्काव्यमेव स्यात् । छायामात्रेण त्वंशतः स एवापूर्णत्वादनुपयोग्येव । तस्मादलौकिकमेवैतद्वैचित्र्यं रसोपयोगे सर्वं तद्गुणग्रामकृतम् । समवृत्तैरित्यनेन वृत्तकृतवैचित्र्यं, स्त्रीपुरुषभावाढ्यमित्यनेन पात्रकृतमपि हेलाभावादि, एवं विशेषकृतं वैचित्र्यं यत्र नाट्ये सौन्दर्यमस्तीति दर्शयन् गुणानामेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्र प्रभावं दर्शयति ॥ १३० ॥

---

६. त्रिमूढ़क—

अब त्रिमूढ़क लक्षण के उपयोगो भाग को निरूपण करते है—

अनुवाद - जहाँ पर कोमल (अनिष्ठुर) तथा स्नेह भाव से पूर्ण (श्लक्षण) समवृत्तों से अलंकृत, स्त्री वेषधारी (पुंभाव) पुरुषों के भावों सम्पन्न अभिनय को 'त्रिमूढ़क' कहत हैं ॥ १३० ॥

अभिनव – त्रिमूढ़क नामक लास्याङ्ग में नायक के अपराधवश एक नायिका के द्वेषवश और अभिनव नायिका के प्रथम प्रणय (अनुराग) में बद्ध होने से लज्जा आदि के कारण तोनों (नायक तथा दोनों नायिका) को मोह हो जाता है। उनमें चन्द्रोदय विषयक नायक अवश्य ही मृदुल वचन होते हैं। तब इस वाक्य में रसोपयोगी गुणालङ्कार के अंश को स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि लोक में भो रस के विना माधुर्य, ओज आदि गुणों का अस्तित्व नहीं होता। अतः इसो प्रकार सभी लोग रसाविष्ट होकर जो कुछ कहते हैं वह सब 'काव्य' है। किन्तु छाया मात्र होने से अंशतः वह अपूर्ण होने से अनुपयोगी ही है। इसलिए यह सब अलौक्रिक वैचित्र्य रस के उपयोग में उसके गुणों के कारण होता है। 'समवृत्तैः' इत्यादि के कथन के द्वारा वृत्तकृतवैचित्र्य का ग्रहण होता है और 'स्त्रीपुंसभावाढचम्' इसके द्वारा हेलाभावादे पात्रों के द्वारा करणीय है, यह भाव दिखाते हैं। इस प्रकार विशेषकृत वैचित्र्यकृत वैचित्र्य नाटच में सौन्दर्य है, वह दिखाते हुए यहाँ गुणों का ही अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वहाँ प्रभाव दिखाते हैं ॥ १३० ॥

पात्रं विभ्रष्टसङ्केतं सुव्यक्तकरणान्वितम् ।
प्राकृतैर्वचनैर्युक्तं विदुः सैन्धवकं बुधाः ॥ १३१ ॥
रूपवाद्यादिसंयुक्तं पाठ्येन च विवर्जितम् ।
नाट्यं हि तत्तु विज्ञेयं सैन्धवं नाट्यकोविदैः ॥ १३२ ॥

अथ सैन्धवकादुपजीव्यमंशं स्वीकर्त्तुमाह—पात्रं विभ्रष्टसङ्केतमिति ।
"सैन्धवीमाश्रिता भाषा ज्ञेयं तत्सैन्धवं बुधैः ।
रूपवाद्यादिसंयुक्तं"

इति च लास्याङ्गविधाने (अ-३१) वक्ष्यते। तत्र यदा नान्यप्राकृतादिभाषोपकरणत्वेन सैन्धवीप्राया भाषीयते तद्रसोपयोगि रञ्जनाधिक्यात्, अलौकिकोऽप्यमर्थो रञ्जनोपयोगी लास्याङ्गात् स्वीकृतो भवति। तथा हि शृङ्गाररसे सातिशयोपयोगिनी प्राकृतभाषेति सट्टकः कर्पूरमञ्जर्याख्यो राजशेखरेण तन्मय एव निबद्धः भेज्जलेन राधाविप्रलम्भाख्यो रासकाङ्गः सैन्धवभाषाबाहुल्येन, चन्द्रकेन स्वानि रूपकाणि वीररौद्राधिकोपयोगीनि संस्कृतभाषयैव[1] । अत एव च तत्तद्रसोपयोगतारतम्यादेवैकतमस्यातोऽन्यस्यात्र प्राधान्यं कल्प्यते ।

७. सैन्धव—

अब सैन्धवक के उपजीव्य अंश को स्वीकार करने के लिए कहते है—

अनुवाद—विस्मृत सङ्केत स्थल और सुव्यक्त करणों से अन्वित तथा प्राकृत भाषा के वचनों से युक्त पात्र हों, उसे 'सैन्धवक' कहते हैं ॥ १३१ ॥

अनुवाद—जहाँ पर गीत वाद्य आदि से **युक्त तथा पाठ्य से विवर्जित नाट्य हों, उसे नाट्यवेत्ता सैन्धव समझें ॥ १३२ ॥**

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि "जहाँ पर लास्याङ्ग को भाषा सैन्धवी भाषा हो तथा जिसका स्वरूप वाद्य आदि से युक्त हो, उसे विद्वान् लोग 'सैन्धवक' समझें ऐसा लास्याङ्ग विधान में कहेंगे।" जहाँ पर जब अन्य प्राकृतादि भाषाओं को उपकरण सैन्धवी भाषा का आश्रयण करते हैं तो रञ्जनाधिक्य के कारण वह रसोपयोगी होता है और अलौकिक रञ्जनोपयोगी यह अर्थ लास्याङ्ग से स्वीकृत होता है। जैसे, प्राकृत भाषा शृङ्गार में अतिशय उपयोगिनी होती है, इसलिए राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी सट्टक की रचना प्राकृत भाषा में की है। भेज्जल कवि ने राधाविप्रलम्भ नामक रासक की रचना सैन्धवी भाषा बहुल की है। चन्द्रक कवि ने अपने रूपकों को वीर और रौद्र रसों के अधिक उपयोगी संस्कृत भाषा में ही रचित किया है। इसलिए उन रसों के उपयोग के तारतम्य से ही किसी एक का दूसरे से प्राधान्य कल्पित किया है।

१. भासकृतमिति मुद्रापितं भारतकथावस्तुकं पञ्चरात्रादिनाटकसट्टकं चन्द्रकस्यैवेति रामकृष्णकविना स्वीकृतम् ।

तदेतदाह—पात्रमित्यादिना। जातावेकवचनं, तेन यत्र पात्राणि प्राकृतैर्वचनैर्युक्तानि, अत एव विभ्रष्टः संकेतविशेषः रसोचितः काक्वध्याये कथितपूर्वः, स एव भ्रष्टात्मा भ्रंशं नीतः संकेतो यत्र, सुष्ठु व्यक्तिर्यतो रसस्य तेनैव करणेन वीणावाद्यादिक्रिययान्वितं पात्रं सैन्धवकमिति विषयतद्वतोरभेदोपचारात्। तेन दशरूपकस्य यद् भाषाकृतं वैचित्र्यं कोहलादिभिरुक्तं तदिह मुनिना सैन्धवाङ्गनिरूपणे स्वीकृतमेव।

करुणान्वितमिति त्वपपाठः। एवं 'पाठ्यविहीनं सैन्धवक' मिति, यथा रत्नावल्यां विदूषको नृत्यतीति प्रियाप्रतिनिधिप्रभ्रंश, इति मुनिमतोपेक्षयैव लक्षणमुदाहृतं च कृतं न चोक्तं युक्त्या तेन किंचिदित्यसदेव॥ १३१-१३२॥

इस तथ्य को पात्रमित्यादि के द्वारा कहते हैं। यहाँ पर 'पात्रम्' में जाति के अभिप्राय से एकवचन है। इसलिए जहाँ पर पात्र प्राकृत भाषामय' वचनों से युक्त होते हैं, इसलिए विस्मृत सङ्केतविषय अर्थात् जहाँ पर रसोचित सङ्केत विषय विस्मृत हो गया है जिसे काकुनिरूपक अध्याय में पहिले कह चुके हैं। जहाँ सङ्केत का भ्रंश कर दिया है, जहाँ रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हो रही है और जहाँ वीणावादन आदि क्रियाओं से युक्त पात्र हों उसे 'सैन्धवक' कहते हैं, यह बात विषय और विषयी के अभेदोपचार से कहा है। इसलिए दश रूपकों का जो भाषाकृत वैचित्र्य को कोहलादि आचार्यों ने कहा है उसे 'सैन्धवक' के निरूपण के प्रसङ्ग में भरतमुनि ने स्वीकृत कर लिया है।

यहाँ 'करुणान्वितम्' यह अपपाठ है। इस प्रकार 'पाठ्य से विहीन सैन्धवक' है, यह कहा है। जैसे, रत्नावली नाटिका में 'विदूषक नाचता है' और "प्रिया के प्रतिनिधि का प्रभ्रंश है" यह सब मुनि के मत की उपेक्षा करके ही लक्षण और उदाहरण दिया है, यह युक्ति से नहीं कहा है, अतः सब कुछ असत् है॥ १३१-१३२॥

मुखप्रतिमुखोपेतं चतुरश्रपदक्रमम् ।
श्लिष्टभावरसोपेतं वैचित्र्यार्थं द्विमूढके ॥ १३३ ॥

द्विमूढकाद् वैचित्र्यांशं स्वीकरोति मुखप्रतिमुखमित्यादिना । यत्र काव्ये लास्यमित्याश्रये द्वयोर्नायकस्य नायिकायाश्च नायिकयोर्वा प्रतिमूढक इव मोहो व्यावर्ण्यते तत्र, तालनिरूपणायामेकस्तालश्चतुर्भिः पादैर्युक्तः सन्नावर्तत इति वक्ष्यते—

मुखप्रतिमुखोपेतं तथा चाचपुटाश्रयम् ।
यथाक्षरैः सन्निपातैस्तथा द्वादशभिर्युतम् ॥ (ना. शा. ३१।३६)

तस्मादङ्गाङ्गपरिक्रमे यदेव तालानुसरणं चतुर्षु च मुखेषु गतिपरिसमापनं लोके गत्यादावपरिदृष्टमपि नटसामाजिकवर्गसविधाध्यासनेन साम्याङ्गस्यानन्दस्वभाव-तया रसांशेतराङ्गत्वादतिशयेन रसोपयोगीति तत् स्वीकृतम् ।

८. द्विमूढ़क—

अब द्विमूढ़क के उपयोगी वैचित्र्यांश का निरूपण करते हैं—

अनुवाद--जो विचित्र अर्थ मुख और प्रतिमुख नामक सन्ध्यङ्गों से युक्त हो, जिसमें चतुरस्र (चौताल) गीत पदों का क्रम हो और जो श्लिष्ट (परस्पराश्रित) भाव और रसों से पूर्ण हो, उसे 'द्विमूढ़क' लास्याङ्ग कहते हैं ॥ १३३ ॥

अभिनव—जहाँ पर काव्य में लास्य है, इस प्रकार काव्यरूपी आश्रय में नायक और नायिका दोनों के अथवा दोनों नायिकाओं के मोह का व्यावर्णन करते हैं वहाँ पर तालनिरूपण के प्रसङ्ग में एक ताल का चार पादों से युक्त आवर्तन करते हैं, ऐसा आगे कहेंगे—

"जैसे मुख और प्रतिमुख सन्धियों से युक्त है तथा चाचपुट नामक लास्याङ्ग का आश्रय है जैसे, सन्निपात नामक अक्षरों से युक्त है वैसे द्वादश अङ्गों से युक्त होता है ।" (ना० शा० ३१।११८)

इस प्रकार अङ्गाङ्गों के परिक्रम में जो तालानुसरण और मुखादि चार सन्धियों गति परिसमापन है वह लोक में अपरिदृष्ट भी नट और सामाजिक वर्ग के समीप में अध्यासन से प्राप्त साम्याङ्ग के आनन्द स्वभाव होने से रसांशेतर का भी अङ्ग होने से अतिशय रसोपयोगी है, यह स्वीकृत है ।

मुखं यदग्रे सामाजिकाः प्रतिमुख्यस्ततोऽन्या दिशो लास्याङ्गं नेतुम्, मुख-प्रतिमुखे गीतकाङ्गत्वेन हि। (चतुरश्रेति) चतुरश्रं कृत्वा क्रान्तदिक्चतुष्टयैः पदैः क्रमणं यत्रेति। किमेवं सति भवतीत्याह वैचित्र्यार्थं वैचित्र्यमत्र प्रयोजनमिति। तेनापि किमिति चेत्तत आह (श्लिष्टभावेति) श्लिष्टभावेन सर्वसाम्यलक्षणेन चित्तवृत्तिसंघट्टेन रसानामुपगतं स्फुटत्वं येनेति।

गीतकाङ्गाभ्यां मुखप्रतिमुखाभ्यामङ्गसौष्ठवेन रसभावैर्नायिकाद्वयरचनया च युतमिति श्रीशङ्कुकाद्याः, तच्च प्रागेव परीक्षितम्।

मुखप्रतिमुखौ सन्धी इत्येतदपि न समीचीनं, अनुपयोगादस्यार्थस्येत्युपाध्याय-मतमेवानवद्यमावेदितपूर्वं ग्राह्यम् ॥ १३३ ॥

अथोत्तमोत्तमकमङ्गं नाट्यं उपयोजयितुमाह—उत्तमोत्तमकं विद्यादनेक-रससंश्रयमित्यादि।

जिसके अग्रभाग में बैठने वाले सामाजिक 'मुख' है और उसके अन्य दिशा में लास्याङ्ग का अभिनय करने के लिए 'प्रतिमुख' को रखते हैं। इस प्रकार गीतक के अङ्ग के रूप में मुख और प्रतिमुख रखे जाते हैं। 'चतुरस्र-पदक्रम' का अर्थ है जहाँ पर चारों दिशाओं से क्रान्त पदों से 'चतुरस्र' का क्रमण होता है। ऐसा होने पर क्या होता हैं? इसलिए कहते हैं कि वैचित्र्य के लिए अर्थात् वैचित्र्य ही यहाँ प्रयोजन है। इससे क्या हुआ? इस पर कहते हैं कि श्लिष्ट भाव से सर्वसाम्य लक्षण से चित्तवृत्ति के संघटन से रसों का स्फुटत्व उपगत होता है।

गीतक के अङ्गमुख मुख और प्रतिमुख के द्वारा और अङ्गसौष्ठव से रस और भावों से तथा नायिकाद्वय की रचनाओं से युत है, ऐसा शङ्कुक आदि आचार्यों का मत है। जिसका परीक्षण पहिले हो चुका है।

मुख-प्रतिमुख सन्धियों का सम्बन्ध यहाँ हैं, यह भी नहीं है, इस अर्थ का उपयोग न होने से उपाध्याय जी का उचित यह मत निर्दोष हैं। अतः पूर्वनिवेदित कथन को ग्रहण करना चाहिए ॥ १३३ ॥

९. उत्तमोत्तक—

अब उत्तमोत्तमक नामक लास्याङ्ग का नाटच में स्वरूप बतलाते हैं—

उत्तमोत्तमकं विद्यादनेकरससंश्रयम् ।
विचित्रैः श्लोकबन्धैश्च हेलाहावविचित्रितम् ॥ १३४ ॥

"उत्तमोत्तमके त्वादौ नर्कुटं संप्रयोजयेत्" इत्यादिना 'हेलाहावविभूषित" मित्यन्तेन लास्याङ्गं लक्षयिष्यते (३१-अ)। तत्र च चित्तवृत्तिपरितोषो हेलाहावादिचेष्टालङ्कारमुखेन यः स्थितः सोऽत्र लौकिकः सम्नुपजीव्यते। न हि भगवदवतारस्य रामस्य कुलकलत्रमनुपेक्ष्यं, पराभवखलीकारश्च न सोढव्यः, क्षत्रियेण च लोककण्टकाभ्युद्धरणं कर्तव्यमिति यच्छास्त्रार्थपरिपालनं मुक्त्वा, रावण-हृतसीतासमानयनाद्युचितं निमित्तं, परमार्थतो न तु यथा प्रतिरूपं "मुहुर्व्याधूतास्ता-वृश" मित्यादि वर्ण्यते तथास्य तृतीयत्रेतावतीर्णस्य (रामस्य) संभाव्यते। रामायणेऽपि मुनिना तथा वर्णितमिति चेत् किमतो वेदेऽपि हि तथा वर्ण्यतां, न वयमतो बिभीमः। स हि भागः काव्यं यश्च यश्च रसाभिनिष्यन्दी वर्ण्य इत्युक्तम-सकृत्। ततश्चान्यतरञ्जनोपक्रमविनेयहृदयसंवादिवैचित्र्यांशोऽसौ नाट्ये लास्याङ्ग-प्रसादोपनत एव।

अनुवाद - अनेक प्रकार के रसों से संश्रित, विचित्र श्लोक-रचनाओं से युक्त और हेला हाव-भाव से चित्रित लास्याङ्ग को 'उत्तमोत्तक' कहते हैं ॥ १३४ ॥

अभिनव—नाटचशास्त्र के एकतीसवें अध्याय में 'उत्तमोत्तमकेत्यादौ नर्कुटं सम्प्रयोजयेत्' (अर्थात् उत्तमोत्तक में सर्वप्रथम एक नर्कुट का प्रयोग करें) यहाँ से लेकर 'हेलाहावविभूषितम्' यहाँ तक लास्याङ्ग का लक्षण करेंगे। अतः जो हेला, हाव, भाव आदि चेष्टालङ्कारों के द्वारा स्थित जो चित्तवृत्तियों का परिपोष है वह यहाँ लौकिक रूप में उपजीव्य है। अतः भगवान् के अवतार राम की कुलजाया (सीता) उपेक्षणीय नहीं है। पराभव रूप दुर्व्यवहार भी साथ नहीं है, लोककण्टक को उखाड़ फेंकना क्षत्रिय का कर्तव्य है। शास्त्र के अर्थ का परिपालन को छोड़कर रावण द्वारा अपहृत सीता का समानयन आदि उचित निमित्त हैं। वस्तुतः जिस प्रकार 'मुहुर्व्याधूत' इत्यादि के विरुद्ध वर्णन करते हैं उसी प्रकार त्रेतायुगीन तृतीय अवतार राम के सम्बन्ध में सम्भव नहीं हैं। रामायण में मुनि ने भी वैसा वर्णन किया है, इससे क्या ? वेद में भी तो वैसा वर्णन है इससे हम नहीं डरते। वह भाग काव्य है जो जो रसाभिष्यन्दनकारी बर्ण्य हैं, उसको बार-बार कह दिया है। अतः इनमें से किसी एक का रञ्जक उपक्रम तथा विनेय के हृदय के अनुकूल वह वैचित्र्यांश लास्याङ्ग के प्रसाद से नाटच में उपनत है, प्राप्त है।

उत्तमानि तावल्लास्याङ्गानि, तेभ्योऽपीदमुत्तमं, सर्वं हि रसपर्यायीति दर्शितं प्राक्। ततः संज्ञायां कन्।

अनेकस्यासाधारणस्य रसस्य संश्रयोऽस्मिन्निति, स्थायिनां बहुत्वनूतनत्वाद् घटनाविचित्रत्वमुक्तम्। श्लोके च बध्यत इति श्लोकबन्धः, विलक्षणविद्या विविधास्तैः विविधैः विचित्रैः परमार्थताभूतैः क्वचित्कदाचित्संभवमात्रं तथा वर्णितैर्युक्तम्, यथा (विक्रमोर्वश्यां)—"आ दुरात्मन् रक्षः, क्व नु खलु मे प्रियतमामादाय गच्छसि। (विभाव्य) नवजलधरः सन्नद्धोऽयं" इत्यादि पुरूरवस उक्तिश्चानुरागेणैव व्याख्यातेति किं पुनरुक्त्या।

हेलाहावैर्विशेषेण दीप्तागमनरूपेण भूषितमिति सात्त्विकाद्यनुभाववर्गस्य सर्वस्यादीप्ततोपलक्षिता—

तत्राक्षिभ्रूविकाराद्यः शृङ्गाराकारसंयुतः।
सग्रीवारेचको ज्ञेयो भावस्थितसमुत्थितः।
स एव हावः सा हेला ललिताभिनयात्मिका। (ना. शा. २२)
इति हेलाहावयोर्लक्षणम् ॥ १३४ ॥

यद्यपि लास्य के अङ्ग स्वयं उत्तम होते हैं किन्तु यह उनसे भी उत्तम रसपर्यवसायी होता है, यह पहिले दिखला दिया है। 'उत्तमोत्तमक' पद में संज्ञा में कन् (क) प्रत्यय है।

अनेकरससंश्रयम्—'अनेक असाधारण रसों का संश्रय है जिसमें'। अतः स्थायीभावों के बहुत्य नूतनत्व के कारण रचना में वैचित्र्य को कहा है। श्लोक के रूप में बन्धन होता है अतः इसे 'बन्ध' कहते हैं। विलक्षण विधा विविध है, विचित्र है। इन विचित्र परमार्थभूत कभी कहीं पर सम्भवमात्र वर्णित पदार्थों से युक्त है। जैसे—'बिक्रमोर्वशीय' में—"अरे दुरात्मन्! राक्षस! मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहे हो? (फिर जानकर) यह नूतन जलधर सन्नद्ध हैं (राक्षस नहीं हैं)" इत्यादि पुरुरवा की उक्ति अनुराग से व्याख्यात है, पुनरुक्ति से क्या लाभ?

हेला, हाव आदि की विशेषता से दीप्तत्व रूप से विभूषित है, इससे सर्वत्र सात्त्विकभाव आदि और अनुभाववर्ग की उज्ज्वलता उपलक्षित है—

"नेत्रों के सञ्चालन और भौंहों के विकार शृङ्गार रसमय आकार को सूचित करने वाला, ग्रीवा के रेचन से युक्त भावों की स्थिति से उद्भूत ललित अभिनय स्वरूपा जो आङ्गिक विकार है, उसे हाव और हेला कहते हैं। हाव-भाव पर आश्रित होता है और 'हेला' हाव पर आश्रित होता है ॥ १३४ ॥

कोपप्रसादजनितं साधिक्षेपपदाश्रयम् ।
उक्तप्रत्युक्तमेवं स्याच्चित्रगीतार्थयोजितम् ॥ १३५ ।

अथान्त्यमङ्गं नाट्योपयोगि कर्तुमाह—कोपप्रसादजनितमित्यादि ।

प्रथमार्धेन भाविलक्षणमेकदेशद्वारेणानूद्यते, द्वितीयेन तत आकृष्य वैचित्र्य-भागो नाट्यपयोगी कथ्यते । तदयमर्थः—कोपप्रसादजनितं साधिक्षेपपदाश्रयं चेत्यादिरूपं नाट्ये यदुक्तं प्रत्युक्तं तथास्यगाने (अ-३१) वक्ष्यते, एवमिति समनन्त-रमेवं वक्ष्यमाणेन पथिना स्यात्, तमाह चित्रेति । चित्रं यद्गीतं ध्रुवागानकाव्यं तस्य योऽर्थस्तेन संयोजनं यस्मिन्नाट्यांशे । उक्तप्रत्युक्ते हि (वैचित्र्यं) लास्याङ्गात् स्वीकृतम् । यथा—

बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषान्मया किं कृतं ।
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्, सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि ! गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि ! दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते[1] ॥

---

१०. उक्त-प्रत्युक्त—

अनुवाद—क्रोध एवं प्रसाद से जनित अधिक्षेप अर्थात् निन्दापूर्ण पदों के आश्रित, चित्र-विचित्र गीतप्रयोग से ग्रथित प्रश्नोत्तरयुक्त संवाद को 'उक्त-प्रत्युक्त' लास्याङ्ग कहते हैं ॥ १३५ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि 'कोपप्रसादजनित' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्द्ध रूप एकदेश के द्वारा भाविलक्षण का अनुवाद करते हैं और उत्तरार्द्ध के द्वारा नाट्योपयोगी वैचित्र्यांश को कहते हैं। इसलिए यह है कि कोप प्रसादजनित और साधिक्षेपपदाश्रित रूप जो उक्त-प्रत्युक्त वचन है उसे नाट्य में गान के प्रसङ्ग में कहेंगे। इसके बाद ही वक्ष्यमाण मार्ग जो होगा, उसे कहते हैं कि चित्रेति अर्थात् चित्र जो गीत है अर्थात् ध्रुवागान काव्य है, उसका जो अर्थ है उससे संयोजन है जिस नाट्यांश में उक्त-प्रयुक्त में विचित्रता लास्याङ्ग से स्वीकृत है। जैसे—अमरुशतक में कोई नायक अपनी प्रियात्मा से कह रहा है—

---

१. अयं श्लोकः षोडशेऽध्याये आख्यानलक्षणस्य लक्ष्यतयोदाहृतः ।

इत्यादौ भिन्नानां वाच्यखण्डलकानां समन्वयो रसावेशमहिम्नैव, न तु श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कं तदन्यत्रावकाशं लभते—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः, क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति[1] ॥

इत्यादावियमेव वार्ता। एवं—

णलिनीदलणोसहमुत्तदेहिआ ।
अइदुल्लहपडिबंधाणुराइआ ।
(नलिनीदलनिस्सहमुक्तदेहा ।
अतिदुर्लभप्रतिबन्धानुरागा) ।

नायक—"बाले ! प्रेमिका—नाथ ! पुनः नायक कहता है कि हे मानिनि ! क्रोध छोड़ दो, प्रेमिका, तुम्हारे ऊपर क्रोध करने से मुझे क्या मिलेगा ? प्रेमी—मुझे दुःख हो रहा है। प्रेमिका—आपने मेरा क्या बिगाड़ा है, सारा अपराध तो मेरा है। प्रेमी—तब तुम रुंधे कण्ठ से क्यों रो रही हो। प्रेमिका—किसके सामने रो रही हूँ। प्रेमी—अरे ! मेरे सामने रो रही हो। प्रेमिका—तुम्हारी कौन हूँ ? तब प्रेमी कहता है कि—मेरो दयिता प्रिया हो। प्रेमिका—नहीं हूँ (प्रिया नहीं हूँ) इसलिए रो रही हूँ।"

इत्यादि स्थल में भिन्न-भिन्न वाच्य खण्डों का समन्वय रसावेश की महिमा से ही होता है न कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छः प्रमाणों से। जो छः प्रमाण हैं उनका अन्यत्र अवकाश मिलता है।

"कहाँ तो यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रमा का उच्च वंश (चन्द्रकुल) ? क्या वह फिर कभी दिखाई देगी ? दोषों के परिमार्जन के लिए ही मेरा शास्त्र-ज्ञान है। क्रोध में भी उसका मुख सुन्दर है। पुण्यात्मा और विद्वान् लोग मुझे क्या कहेंगे ? वह स्वप्न में भी दुर्लभ है। अरे चित्त ! धैर्य धारण करो। कौन भाग्यशाली युवक उसके अधर का पान करेगा ?"

इत्यादि में भी यही बात है।

१. अयमपि षोडशेऽध्याये उपपत्तिलक्षण उदाहृतः ।

इत्यादेर्द्विपदिकागीतार्थस्याभिनये काव्यार्थस्य च "हिअअ समास्सस" (शाकु०), इत्यादेरसावेशकृत एवाभिनयार्थसमावेशो लोकापरिदृष्ट उपरञ्जनाय सातिशयमुपयोगो रसावेशवैवश्यप्रसादादित्युक्ताप्रत्युक्ताल्लास्याङ्गादुपजीवितः।

यद्यपि "स्थाने ध्रुवास्वभिनयो यः क्रियते" (३२-४७) इति नाट्यनिरूपणायां वक्ष्यते तथापि कविना तादृक्कार्यं प्रयोक्त्रा च तादृग्गीतं कर्तव्यमिति शिक्षणाय कुतश्चेदमङ्गमुपजीवितमिति शङ्काशमनाय रूपकाङ्गत्वेनेहास्यभिधानं, सामान्याभिनये त्वभिनयत्वेनास्य निरूपणं भविष्यति "षडात्मकस्तु शारीर" (२२-४०) इत्यत्र। कोपप्रसादजनितत्वमित्यनेन चित्तवृत्त्यावेशस्थानमस्याङ्गस्य निवेशविषय इत्युक्तम्। यत उक्तप्रत्युक्तमहिम्ना चाकाशभाषितात्मकमप्यलौकिकरूप स्वीकुर्वता तत्सहचरं स्वगतजनान्तिकापवारितकाद्युपलक्षितम्। न च सर्वथा तन्नाशो लोके क्वचित् संभवन्नाट्येऽपीति गीयमानः स्यात्, अनेन श्रोतुः काकतालीयवशात् स्वचितवृत्त्यार्थसंवादो भवति। यथा हर्षचरिते भगवत्याः सरस्वत्याः—

इसी प्रकार—

"कमलदल के समान कोमल देह को कष्ट सहन में असमर्थ होने से छोड़ दिया, क्योंकि अनुराग के विषय में प्रतिबन्ध विघ्न नहीं हो सकता है।" इत्यादि द्विपदिकागीत के तथा 'हे हृदय समाश्वस्त होओ' इत्यादि काव्यार्थ के अभिनय में समावेश लोक में उपरिदृष्ट उपरञ्जन के लिए उपयोगी रसावेश के वैवश्य के प्रसाद से उक्त-प्रत्युक्त रूप लास्याङ्ग से उपजीवित है।

यद्यपि 'ध्रुवा के विषय में जो अभिनय किया जाता है, वह उचित है' इस प्रकार नाटचनिरूपण के अवसर पर कहेंगे, तथापि कवि को वैसा कार्य और प्रयोक्ता को वैसा गीत गाना चाहिए, इस प्रकार शिक्षा देने के लिए यह अङ्ग कहाँ से कैसे उपजीवित हुआ ? इस शङ्का के शमन के लिए रूपक के अङ्ग रूप में उसका यहाँ पर अभिधान किया है और सामान्याभिनय में अभिनेयत्व रूप में निरूपण करेंगे—'षडात्मकस्तु शरीरः' यहाँ पर। 'कोपप्रसादजनितम्' इससे यह कहा गया है कि चित्तवृत्ति के आवेश का स्थान इस अङ्क के निवेश का विषय है, क्योंकि उक्त-प्रत्युक्त की महत्ता से आकाशभाषित के अलौकिक रूप को स्वीकार करने वाले आचार्यों ने उसके सहचर "जनान्तिक, स्वगत, अपवारित" आदि को उपलक्षित किया है। उसका सर्वथा लोप नहीं किया है। लोक में भी कहीं पर होनेवाले नाटच में भी गोयमान हो सकता है। इससे श्रोता का चित्तवृत्ति के साथ काकतालीयन्याय से संवाद होता है। जैसा कि हर्षचरित में—

यत्र प्रियाकृतिं दृष्ट्वा विनोदयति मानसम् ।
मदनानलतप्ताङ्गी तच्चित्रपदमुच्यते ॥ १३६ ॥
दृष्ट्वा स्वप्ने प्रियं यत्र मदनानलतापिता ।
करोति विविधान् भावांस्तद्वै भाविकमुच्यते ॥ १३७ ॥

तरलयसि दृशं किमुत्सुकामकलुषमानसवासललिते ।
अवतर कलहंसि वापिकां पुनरपि यास्यसि पङ्कजालयम् ॥

इत्यपरवक्त्रं शृण्वत्याः । तत्सर्वं हि लोके यदि न स्यात् तर्हि प्रत्यक्षकल्पं कथमिव तत्र प्रतीतिरिति नाट्यरूपतैव भ्रंशेत ॥ १३५ ॥

अन्ये तु चित्रपदं भाविकं चेत्यङ्गद्वयमाहुः पठन्ति च—

तच्चैवमसत्, "लास्ये दशविधं" (१९-१२०)इत्यत्रत्येन ग्रन्थेन, दशाङ्गं लास्यमिति च तालाध्याये (३१) पठिष्यमाणेन विरोधात्, न चास्योपयोगः कश्चित् ।

"हे स्वच्छ मानस (मानसरोवर) में वास करने वाली कलहंसि ! समुत्सुक दृष्टि को तरल कर रही हो, इस बावड़ी में उतरो, फिर कमलसर को प्राप्त करोगी।"

इस अपरवक्त्र वृत्त को सुनने वाली भगवती सरस्वती देवी का चित्तवृत्ति के साथ संवाद है। यदि यह सब लोक में न हो तो वहाँ प्रत्यक्ष के समान कैसे प्रतीति होगी ? इस प्रकार नाटचरूपता ही भ्रष्ट हो जायगा ॥ १३५ ॥

अन्य लोग तो चित्रपद और भाविक इन दो अङ्गों को पृथक् से कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर कामाग्नि से संतप्त कोई नायिका प्रियतम की आकृति (चित्र) को देखकर मनोविनोद करती हैं उसे 'विचित्र पद' कहते हैं ॥१३६ ॥

अनुवाद—जहाँ पर कामाग्नि से संतप्त कोई नायिका स्वप्न में अपने प्रिय को देखकर विविध भावों को प्रकट करती है उसे 'भाविक' कहते हैं ॥ १३७ ॥

अभिनव—आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि जो अन्य आचार्य 'विचित्र पद' और 'भाविक' दो लास्याङ्गों का पृथक् से विवेचन करते हैं वह सब 'असत्' है। क्योंकि 'लास्ये दशविधं ह्येतत्' (२६।१२०) इस पूर्वपठित ग्रन्थ से तथा तालाध्याय में 'लास्ये दशविधं ह्येतत्' (३१।४३२) दशाङ्गं लास्यमित्येतत् (३१।४७६) में पढ़े जाने वाले ग्रन्थ से बिरोध होता है और इन दोनों का कोई उपयोग भी नहीं है।

तथा ह्यलौकिककैशिक्युपयोगि रसांशे सर्वथोपकारिय द्वैचित्र्यं तल्लास्याङ्ग-द्वारेणाह, स्वकार्यं तच्च सर्वं दशभिरेव संगृहीतम्। तथा हि—प्रधाने चित्तवृत्त्यंशे वा वैचित्र्यं विभावाद्यंशे वा उपरञ्जकभावे वा। तत्र (चित्तवृत्त्यंशे प्रच्छेदकाद्) विभावांशगतं तु वैचित्र्यं, सैन्धवकात् काक्वाद्यंशे, स्थितपाठ्याल्लक्षणगुणाद्यंशे, त्रिमूढकावनुवृत्तांशे, पुष्पगण्डिकात आहार्ये उपरञ्जकगीतातोद्ययोजने च, सात्त्विके आसीनपाठ्यात्, उपरञ्जकभावेऽपि (निः) शब्दाद् ध्रुवागानभागे सर्वातोद्ययोगे च गेयपदात्, गीतार्थस्य पात्रे करुणार्थाभिनये उक्तप्रत्युक्ताद्वाचिकस्य, स्वरताला-नुसरणाद्द्विमूढकात् तत एवाङ्गिक वैचित्र्यमपि, व्यभिचार्यंशे तु वैचित्र्यमुत्तमोत्तम-कात्। एवं तदतिरिक्तो नास्त्येवांश इति च दशैवाङ्गानि।

जैसा कि अलौकिक कैशिकी का उपयोगी रसांश में सर्वथा उपकारी जो वैचित्र्य है वह लास्याङ्ग के द्वारा कहा गया है कि जो उसका अपना कार्य है यह सब दश अंगों से संग्रहीत हो जाता है। वह वैचित्र्य चाहे प्रधान चित्तवृत्यंश में हो अथवा विभावादि अंश में हो अथवा उपरञ्जक भाव में हो, उनमें चित्तवृत्यंश में जो वैचित्र्य है वह प्रच्छेदक से विभावादि असंगत वैचित्र्य के अनेक प्रकारों में काक्वांशगत वैचित्र्य का सैन्धवक से, लक्षणगुणाद्यंशगत वैचित्र्य का स्थित पाठच से, अनुवृत्तांशगत बैचित्र्य का त्रिमूढ़क से आहार्य उपरञ्जक गीत एवं आतोद्य संयोजन में पुष्पगण्डिका से सात्त्विक अंशगत बैचित्र्य का आसीन पाठच से उपरञ्जक भाव यें भी सभी प्रकार के वाद्यों में निःशब्द से, ध्रुवागान भाग में भी सभौ प्रकार के वाद्यों में निःशब्द से, ध्रुवागान भाग में गेयपद से करुणार्थ के अभिनय में वाचिक बैचित्र्यांश का उक्त-प्रत्युक्त से, स्वर ताल के अनुसरण से और द्विमूढक से और आङ्गिक बैचित्र्य का भी उन्हीं से और व्यभिचारिगत अंश में बैचित्र्य का उत्तमोत्तमक से ग्रहण होता है, इस प्रकार इनके अतिरिक्त अन्य लास्याङ्ग नहीं है, ये दश ही अंग हैं।

वाग्भागस्तनुत्वेनोपरञ्जकभागः स्वरसात्मनि हि तद्वैचित्र्यस्य भूयसा मुनिना निरूपणं कृतम् । अतएव चालौकिको वैचित्र्यांशः प्रस्तुतरसे सातिशयोपयोग इतिशब्दतो मुनेरनुकारो, रसात्मा नाट्यमिति नाभिप्रेतमिति लक्ष्यते । अलौकिक-वैचित्र्यसारो हि रसः, तथा चोक्तं भट्टतोतेन—

लक्षणालङ्कृतिगुणा दोषाः शब्दप्रवृत्तयः ।
वृत्तिसन्ध्यङ्गसंरम्भः संभारो यः कवेः किल ॥
अन्योन्यस्यानुकूल्येन संभूयैव समुत्थितैः ।
झटित्येव रसा यत्र व्यज्यन्ते ह्लादिभिर्गुणाः (णैः ?) ॥
वृत्तैः सरलबन्धैर्यत् स्निग्धैश्चूर्णपदैरपि ।
अश्लिष्टहृद्यघटनं भाषया सुप्रसिद्धया ॥
यच्चेदृक्काव्यमात्रं सद्रसभावानुभावकम् ।
सामान्याभिनये प्रोक्तं वाच्याभिनयसंज्ञया (अ-२२) ॥
एवंप्रकारं यत्किञ्चिद्वस्तुजातं कथार्पितम् ।
अन्यूनाधिकसामग्रीपरिणामोन्मिषद्रसम् ॥
रसपोषाय तज्जातं लोकान्नाट्यजगत् स्वयम् ।
प्रतिभायाः प्रगल्भायाः सर्वस्वं कविवेधसः ॥

वाचिक उपरञ्जक भाव का अल्पमात्रा में और अपने रस में वैचित्र्य का अधिक मात्रा में निरूपण मुनि ने किया है, अतएव अलौकिक वैचित्र्यांश प्रस्तुत रस में अत्यन्त उपयोगी है, इसे मुनि ने 'इति' शब्द से अनुकृत किया है। रसात्मा नाट्य है, यह 'इति' पद से अभिप्रेत नहीं है । अलौकिक वैचित्र्यसार भी रस है । जैसा कि भट्टतौत ने कहा है—

"लक्षण, अलङ्कार, गुण, दोष, शब्दों की प्रवृत्तियाँ, वृत्तियाँ, सन्ध्यङ्गों का प्रारम्भ, और जों कवियों की सम्पत्ति हैं जिससे परस्पर अनुकूलता के कारण मिलकर प्रतीत होने वाले आह्लादक गुणों से युक्त शीघ्र ही जहाँ रस व्यक्त होते हैं, सरल बन्धों से युक्त वृत्तों से स्निग्ध पूर्ण पदों से सुप्रसिद्ध भाषा से अश्लिष्ट, हृद्य रचनाओं से और जो भी रस एवं भावों के अनुभावक इस प्रकार के काव्य हैं सामान्याभिनय प्रकरण में वाक्याभिनय नाम से कहा गया है। इस प्रकार जो कोई वस्तु इतिवृत्त से प्राप्त है जहाँ न न्यूनता है और न अधिकता है, सामान्य रूप से प्राप्त सामग्री के फलरूप रस का उन्मेष हो रहा है, रस के परिपोष के लिए जो नाट्य जगत् स्वयं लोक से उत्पन्न है, वह सब कवि स्वयम्भू (ब्रह्मा) की प्रगल्भ प्रतिभा का सर्वस्व हैं ।"

एतेषां लास्यविधौ विज्ञेयं लक्षणं प्रयोगज्ञैः ।
तदिहैव तु यन्नोक्तं प्रसङ्गविनिवृत्तहेतोस्तु ॥ १३८ ॥
पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम् ।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं गुणालङ्कारभूषितम् ॥ १३९ ॥
महारसं महाभोगमुदात्तवचनान्वितम् ।
महापुरुषसंचारं साध्वाचारजनप्रियम् ॥ १४० ॥
सुश्लिष्टसन्धिसंयोगं[1] सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥ १४१ ॥

इति भावनाप्राणनाया यल्लोके हि संभाव्यते परमार्थतः वस्तुतो लोकोत्तरत्वेनैव संभारेण युक्ता कविवाणो हठादेव रसमयो भवति साधारणता प्राणत्वादिति तत्र तात्पर्यम् ।

ननु लास्याङ्गेभ्यो यो भागानुपजीवति स तावदिहोक्तः, तेषां तु स्वरूपं वक्तव्यमित्याशंक्याह—एतेषामिति ।

एतद् दशरूपकलक्षणं कवीनां सुखग्रहणाय राशीकर्तुमाह—पञ्चसन्धीत्यादि ।

इस प्रकार की संभावना जो लोक में संभावित है, वस्तुतः लोक संभार से युक्त कवि की वाणी बलात् रसमयी हो जाती है। क्योंकि साधारणता प्राण है ॥ १३६-१३७ ॥

अभिनव—लास्य के अंगों से कवि जिन अंशों का उपजीवन करता है, उनको यहाँ कह दिया है, किन्तु उनके स्वरूप को कहना चाहिए, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद नाट्य प्रयोक्ताओं को लास्याङ्गों के विधान में इन लास्याङ्गों का लक्षण समझना चाहिए। प्रसङ्ग से विनिवृत्त करने के हेतु से यहाँ नहीं कहा गया है, उसे समझना चाहिए ॥ १३८ ॥

अभिनव—इन दशरूपकों के लक्षणों को कवियों के सुखबोध के लिए एकत्र संग्रह करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—पाँच सन्धियों, चार वृत्तियों, चौसठ सन्ध्यङ्गों, छत्तीस लक्षणों से युक्त, गुण और अलङ्कारों से विभूषित, अनेक रसों से परिपूर्ण, महाभोग एवं उदात्त वचनों से समन्वित महापुरुषों के संचार एवं साधु पुरुषों के आचरण से जनप्रिय, सुश्लिष्ट सन्धियों के संयोग, सुन्दर प्रयोगों और सुख के आश्रय और कोमल शब्दों के अभिधान से समन्वित नाटकों की रचना कवियों को करना चाहिए ॥ १३९-१४१ ॥

---

१. ख. सन्धियोगं च ।

अवस्था या तु[1] लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा ।
नानापुरुषसंचारा नाटकेऽसौ विधीयते[2] ॥ १४२ ॥

नाटकमित्यभिनेयकाव्यमात्रम् । तत्र पञ्चसन्ध्योत्यादि संभवमात्रे मन्तव्यम् । महान्तो रसाः पुरुषार्थोपयोगिनः यत्र । महान् भोगो रञ्जना-प्रधानो रसो यत्र, आभोग इत्यन्ये । उदात्तवचनान्वितमिति गुणान् श्लेष-प्रसादादीन् स्वीकुरुते । सुश्लिष्टसन्धिसंयोगमिति सन्ध्यन्तराणि (च), सुप्रयोगमिति लास्याङ्गानि, सुखाश्रयमिति छन्दोवृत्तवैचित्र्यं, मृदुशब्दैरभिधानं वर्णना विवक्षितस्यार्थस्य यत्रेति माधुर्यप्रसादार्थव्यक्तिगुणानां प्रकर्षं सूचयति । एवं नाटकं कुर्यात् ।

यश्च नाटकं कुर्यात् स एव कविः । किं तेनेत्याह—

अभिनव—नाटक यह अभिनेय काव्यमात्र का उपलक्षण है । उसमें 'पञ्चसन्धि' इत्यादि कथन सम्भवमात्र में मानना चाहिए । जहाँ पर महारस पुरुषों के उपयोगी है, जहाँ पर महाभोग और रञ्जना प्रधान रस हों, कुछ लोग 'महाभोग' में आभोग पाठ मानते हैं । 'उदात्तवचनान्वितम्' पद श्लेष-प्रसादादि गुणों को ग्रहण करते हैं । 'प्रश्लिष्टसन्धिसंयोगम्' पद से सन्ध्यन्तरों 'सुप्रयोगम्' पद से लास्याङ्गों का संकेत करते हैं, 'सुखाश्रयम्' पद से वृत्त-बैचित्र्य का ग्रहण है । 'मृदुशब्दाभिधान' पद से विवक्षित अर्थ का वर्णना है जहाँ पर, यह कथन माधुर्य, प्रासाद, अर्थव्यक्ति आदि गुणों के प्रकर्ष को सूचित करता है । इस प्रकार नाटक को रचना करें ॥ १३९-१४१ ॥

जो नाटक की रचना करता है वह 'कवि' है इससे क्या ? इस पर कहते हैं कि—

अनुवाद—सुख-दुःख से समुद्भूत, नाना पुरुषों के संचार से युक्त लोक की जो अवस्था है उसे नाटक में प्रयोग किया जाता है ॥ १४२ ॥

---

१. ग. हि ।

२. ख. ग. संभवेदिह ;

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत् कर्म न वा[1] योगो नाट्येऽस्मिन्यन्न[2] दृश्यते ।। १४३ ।।
योऽयं[3] स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः ।
[4]सोऽङ्गाद्यभिनयैर्युक्तो नाट्यमित्यभिधीयते ।। १४४ ।।

नानापुरुषेषु सञ्चारा एको भावानुप्रवेशो रसात्मना यस्या सा तादृशी यतो। नाटके विधीयते संपाद्यते रसरूपतां नीयत इत्यर्थः। उक्तं चैतद्वितत्य।

ननु सर्वे चात्र किमवस्थाना? इत्याशंक्य प्रथमाध्यायोक्तमेव श्लोकद्वयं पठति न तज्ज्ञानमिति, योऽयं स्वभावो लोकस्येति।

एतच्च तत्रैव व्याख्यातमिति किं पुनरुक्तेन।

अभिनव—नाना पुरुषों के संचार अर्थात् रस के रूप में भावों का एक अनुप्रवेश है जिसका, वैसी अवस्था का नाटक में विधान करते हैं। संपादन करते हैं, रसरूपता को प्राप्त कराते हैं, इसे विस्तार से कह दिया है ।। १४२ ।।

अभिनव—ये सब किस अवस्था में हैं, इस प्रकार आशङ्का करके प्रथम अध्यायोक्तदो श्लोकों को पढ़ते हैं।

अनुवाद—ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, ऐसा कोई शिल्प नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं है, ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसा कोई योग नहीं है और ऐसा कोई कर्म नहीं है जो इस नाटक में दिखाई न देता हो ।। १४३ ।।

अनुवाद—जो यह लोक का सुख-दुःख भय स्वभाव है वह आङ्गिक आदि अभिनयों से युक्त 'नाट्य' कहा जाता है ।। १४४ ।।

अभिनव—इन दोनों श्लोकों की व्याख्या वहाँ की जा चुकी है, अतः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है ।। १४३-१४४ ।।

---

१. ख. ग. योगोऽसौ।
२. ख. ग. नाटके यन्न।
३. ख. यो यः।
४. साङ्गाभिनयसंयुक्तो।

देवतानामृषीणां च राज्ञां चोत्कृष्टमेधसाम्[1]।
पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत् ॥ १४५ ॥
यस्मात् [2]स्वभावं संत्यज्य[3] साङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः।
[4]प्रयुज्यते ज्ञायते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम् ॥ १४६ ॥
सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः ।
नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ॥ १४७ ॥
[5]अनेकशिल्पजातानि [6]नैककर्मक्रियाणि च ।
[7]तान्यशेषाणि रूपाणि कर्तव्यानि [8]प्रयोक्तृभिः ॥ १४८ ॥

पूर्ववृत्तानुचरितं कथं नाटकशब्दस्यार्थं इत्याह—यस्मात्स्वभावं संत्यज्येति ।

अनुवाद– देवताओं, ऋषियों, राजाओं तथा उत्कृष्ट बुद्धिशाली व्यक्तियों के द्वारा पूर्व में किया गया जो अनुचित अर्थात् पूर्व जीवनगत इतिवृत्त का नाम नाटक है ॥ १४५ ॥

पूर्ववृत्तानुचरित नाटक शब्द का अर्थ कैसे है ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—क्योंकि जो अपने भाव को छोड़कर अङ्ग, उपाङ्ग और गति के क्रमों के साथ प्रयुक्त किया जाता है और जाना जाता है, अत एव उसे 'नाटक' कहा जाता है ॥ १४६ ॥

अनुवाद—सभी प्रकार के भावों, सभी रसों, सभी प्रकार के कर्म एवं प्रवृत्तियों तथा नाना प्रकार की अवस्थाओं से युक्त नाटक का संविधान किया जाता है ॥ १४७ ॥

अनुवाद—जो अनेक प्रकार के शिल्पों, अनेक प्रकार के कर्म एवं क्रियाएँ हैं, उन नाट्यप्रयोक्ताओं को उन समस्त रूपों का प्रयोग नाटक में करना चाहिए ॥ १४८ ॥

---

१. ख. लोकस्य चैव हि ।
२. ग. स्वभावः ; ३. ख. म. संहृत्य ।
४. ख. ग. अभिनीयते गम्यते च ।
५. ख. यान्येव ग. । यान्येक ।
६. ख. ग. ह्येककर्मकृतानि च ।
७. ख. ग. तानि शेषाणि ; ८. प्रयोज्यानि ।

[1]लोकस्वभावं संप्रेक्ष्य नराणां च बलाबलम् ।
संभोगं चैव युक्तिं च ततः कार्यं तु[2] नाटकम् ॥ १४९ ॥
भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नराः ।
ये चापि हि भविष्यन्ति ते [3]यत्नश्रुतबुद्धयः ॥ १५० ॥
[4]कर्मशिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणबलानि च ।
[5]सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति ॥ १५१ ॥
तदेवं लोकभाषाणां प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।
मृदुशब्दं सुखार्थं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥ १५२ ॥
चेक्रीडिताद्यैः शब्दैस्तु काव्यबन्धा भवन्ति ये ।
वेश्या इव न [6]ते भान्ति कमण्डलुधरैर्द्विजैः ॥ १५३ ॥

अनुवाद—नाट्य प्रयोक्ता लोगों के स्वभाव और मनुष्यों के बलाबल तथा संभाग और युक्तियों अच्छी तरह देखकर (विचार कर) तब नाटक की रचना करें ॥ १४९ ॥

अनुवाद—भविष्यत्काल अर्थात् आगामी युग में प्रायः लोग मूर्ख होंगे और जो होंगे भी वे अत्यन्त अल्प बुद्धि वाले होंगे ॥ १५० ॥

अनुवाद—जब संसार में कर्म, शिल्प, शास्त्र, विचक्षणता और बल ये सब कुछ नष्ट हो जायेंगे, तब लोक भी नष्ट हो जायेगा ॥ १५१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार लोगों के भावों बलाबल को समझकर कोमल पदावली और सुखपूर्वक (सरलता से) अर्थ को समझकर कवि नाटक की रचना करें ॥ १५२ ॥

अनुवाद—चेक्रीडित आदि कठिन शब्दों से जो काव्य-बन्ध रचे गये हैं वे कमण्डलुधारी द्विजों से युक्त वेश्या के समान सुशोभित नहीं होते ॥ १५३ ॥

१. ग. लोकस्य भावं । २. ग. कुर्यात्तु ।
३. ख. ग. तेऽप्यल्पश्रुतबुद्धयः ।
४. ख. ग. घ. बुद्धयः कर्मशिल्पानि वैचक्षण्यं कलासु च ।
५. ख. सर्वाणि पुंसां प्रसमीक्ष्य च । ६. ख. ग. शोभन्त ।

नट नताविति नमनं स्वभावत्यागेन प्रह्वीभावलक्षणं, ये त्वन्ये नट नृत्ताविति पठन्ति तन्मतेऽपीह नमनं, नटशब्दो 'जनिदाच्यु' (उणादि ४ ११५) सूत्रेण व्युत्पादितो गृहीतव्य इति दर्शयति साङ्गोपाङ्गा ये पदक्रमा गतिवैचित्र्याणि। एतच्च समस्तं नाट्याङ्गोपलक्षणं प्रयुज्यत इति नटैर्ज्ञायते चेति सामाजिकै—स्तेनोभयोरपि नमनमुक्तमिति संभावनाकृतमौचित्यम्। मृदुशब्देति यदुक्तं तस्य प्रयोजनमाह—भविष्यति। त्रेतायुगापेक्षया द्वापरे कलौ वेत्यर्थः। सुखार्थमित्यर्थ-व्यक्तिः स्वीकृता।

एतदुपसंहरन्नन्यदासूत्रयन्नध्यायमध्यायान्तरेण सङ्गमयति—दशरूपविधानं चेति।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि 'नट नतौ' धातु से नट शब्द बनता है। यहाँ नट धातु क्षति का अर्थगमन है अर्थात् अपने स्वरूप को छोड़कर अनुकरणीय मात्रों के स्वरूप को ग्रहण करना। अन्य लोग 'नम नतौ' धातु से 'नट' शब्द निष्पन्न मानते हैं, उनके मत में भी नमन अर्थ ही हैं। यहाँ 'नम्' धातु से 'जनिदाच्यु' इस उपादि सूत्र से डटच् प्रत्यय होकर 'नट' शब्द बनता है। 'सन्ङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः' अर्थात् अङ्ग और उपाङ्गों के साथ जो पराक्रम अर्थात् गतिवैचित्र्य है। वह सब नाटचाङ्गों का उपलक्षण है। यहाँ 'प्रयुज्यते' का सम्बन्ध नटों से और 'ज्ञायते' का सम्बन्ध सामाजिकों से है। इसलिए दोनों का नाटक में नमन अर्थ कहा गया है, यह सम्भावनाकृत औचित्य है। यहाँ मृदुशब्द का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं कि 'भविष्यति युगे' अर्थात् त्रेता युग की अपेक्षा द्वापर या कलियुग में। यहाँ 'सुखार्थं' शब्द से अर्थव्यक्ति नामक गुण का ग्रहण है॥ १४६-१५३॥

इस प्रकार प्रकृत अध्याय का उपसंहार करते हुए और अगले अध्याय से सङ्गति प्रदर्शित करने हैं—

[1]दशरूपविधानं च मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि वृत्तीनामिह लक्षणम् ॥ १५४ ॥

इति भरतीये नाट्यशास्त्रे सन्धिनिरूपणं
नामाध्यायो एकोनविंशः ॥

द्विजवरतोतनिरूपितसन्ध्यध्यायार्थतत्त्वघटनेवम् ।
अभिनवगुप्तेन कृता शिवचरणाम्भोजमधुपेन ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाट्यवेदविवृतावभिनव-
भारत्यामेकोनविंशः सन्ध्यध्यायः समाप्तः ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों ! मैंने दशरूपकों के विधान को कहा है। अब इसके बाद वृत्तियों के लक्षण को कहूँगा ॥ १५४ ॥

इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में सन्धिनिरूपण नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

अभिनव—शिवजी के चरण-कमल के भ्रमर मैं अभिनवगुप्त द्विजवर भट्टतोत से प्राप्त सन्धि-सन्ध्यङ्गों की घटना (रचना) का विवरण प्रस्तुत किया है ॥ १६४ ॥

इस प्रकार महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित नाट्यवेद विवृति अभिनवभारती में उन्नीसवाँ सन्ध्यध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा कृत भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र तथा अभिनवगुप्तकृत अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में सन्ध्यङ्ग निरूपण नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

●

---

१. ग. इतिवृत्तं ससन्ध्यङ्गं ।

विंशोऽध्यायः[1]

अभिनवभारती

वृत्त्यध्यायः

निश्शेषशब्दव्यवहारवृत्तिवैचित्र्यमभ्येति यतः प्रतिष्ठाम् ।
श्रोत्रात्मकं तत्परमेश्वरस्य वन्देतमां रूपमरूपधाम्नः ॥

वृत्तिविचार

नायकादि के व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं। भरत के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार 'वृत्ति' है। इसी को आनन्दवर्द्धन व्यापार और अभिनव एवं धनञ्जय नायकादि का चेष्टाव्यापार कहते हैं। भोज, राजशेखर और सागरनन्दी 'चेष्टाविन्यासक्रम' को वृत्ति कहते हैं। अग्निपुराणकार नायकादि के कार्य में नियमपूर्वक व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं। भरत ने वृत्तियों को नाट्य की माताएँ कहा है (वृत्तयो नाट्यमातरः)। ये वृत्तियाँ रसोदय को स्रोत हैं। नायकादि के विलासपूर्ण व्यापाररूप वृत्ति के द्वारा रसोदय होता है। इस प्रकार ये वृत्तियाँ रसों के भावों की अनुभाविका क्रिया है। ये वृत्तियाँ चार होती हैं—भारती, आरभटी, कौशिकी और सात्त्वती। इनमें भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारती वृत्ति, आरभट के द्वारा प्रकाशित होने वाली आरभटी वृत्ति, कुशिक नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने से 'कौशिकी' वृत्ति और सात्त्वत राजा के द्वारा प्रकाशित होने से 'सात्त्वती' वृत्ति होती है। ये चारों वृत्तियाँ रसों और भावों की अनुभाविका क्रिया है।

अभिनव—जिससे निःशेष शब्द व्यवहार की मूलवृत्तियों के वैचित्र्य से प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है उस अरूप धाम अर्थात् रूपरहित तेजस्वी परमात्मा के श्रोत्रात्मक रूप की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

१. ख. द्वाविंशोऽध्यायः । क. ग. विंशोऽध्यायः ।

समुत्थानं तु वृत्तीनां व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
यथा वस्तूद्भवं चैव काव्यानां च विकल्पनम् ॥ १ ॥

वृत्तिभेदात्काव्यभेदा भवन्तीत्युक्तं दशरूपकारम्भे (१८.५) तत्र वृत्तयो न ज्ञाता इति तदवधारणार्थमाह—

यद्यपि कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः ताश्च समस्तजीवलोकव्यापिन्योऽनिदंप्रथमताप्रवृत्ताः प्रवाहेन वहन्ति, तथापि विशिष्टेन हृदयावेशेन युक्ता वृत्तयो नाट्योपकारिण्यः । आवेशश्च तारतम्यलक्षणो द्विधा–लौकिकोऽन्यश्च । तत्र लैकिक आवेशः सुखदुःखतारतम्यकृतो न रसागमास्वाद्यो ह्यासादित्युक्तं रसाध्याये (अ ६) । अलौकिकस्त्वनावेशोऽप्यावेशमयः कवेरिव सामाजिकस्येव । क्वाप्यवसरे हृदयसंवादसरसस्यैव यो भासते स एव साधारणे चमत्कारगोचरव्यापारविशेषो रसस्योपकरणीभवति । तादृशश्च

अभिनव—वृत्तियों के भेद से काव्यों के भेद होते हैं, यह अट्ठारहवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में कहा जा चुका है, उस समय यह प्रश्न उठा कि वृत्तियाँ क्या है ? हम नहीं जानते । उसके अवधारण के लिए कहते हैं—

अनुवाद—अब मैं वृत्तियों के समुत्थान (समुत्पत्ति) की क्रमशः व्याख्या करता हूँ, जिस प्रकार वस्तु का उद्भव और काव्यों का विकल्पन होता है ॥ १ ॥

अभिनव—यद्यपि वैचित्र्य के साथ कायिक, वाचिक चेष्टाएँ ही वृत्तियाँ हैं, समस्त जीव लोक में (संसार में) व्याप्त ये वृत्तियाँ अनिदं रूप से प्रवृत्त होकर प्रवाहरूप से संचरणशील है तथापि विशिष्ट हृदयावेश से युक्त ये वृत्तियाँ नाट्य की उपकरिणी है और यह आवेश के तारतम्य से दो प्रकार की होती हैं—लौकिक और अलौकिक । इनमें लौकिक आवेश सुख-दुःखादि के तारतम्य के कारण रसागम से आस्वाद्य नहीं होता है, इस बात को छठें रसाध्याय में कह चुके हैं । किन्तु अलौकिक आवेश भी अनावेश की दशा में कवि के समान सामाजिक को भी आवेशमय प्रतीत होता है और सामाजिक के समान कवि को भी भासित होता है । अतएव किसी अवसर पर हृदय के संवाद

एकार्णवं जगत् कृत्वा भगवानच्युतो यदा ।
शेते स्म नागपर्यङ्के लोकान्[1] संक्षिप्य मायया ॥ २ ॥
अथ [2]वीर्यबलोन्मत्तावसुरौ मधुकैटभौ ।
तर्जयामासतुर्देवं तरसा युद्धकाङ्क्षया[3] ॥ ३ ॥
[4]निजबाहू विमृद्नन्तौ भूतभावनमक्षयम् ।
[5]जानुभिर्मुष्टिभिश्चैव योधयामासतुः प्रभुम् ॥ ४ ॥
[6]बहुभिः परुषैर्वाक्यैरन्योन्यसमभिद्रवम् ।
[7]नानाधिक्षेपवचनैः कम्पयन्ताविवोदधिम् ॥ ५ ॥

प्रथमतः कृतयुगारम्भे भगवतो वासुदेवस्यैव । तस्य हि स्वफलसिद्धये न किंचित् कर्तव्यमस्ति लोकानुग्रहं मुक्त्वा । यथा हि "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं (गीता ३-२२)" इति तेन साधारणस्य भावेन प्रविष्टानावेशेऽप्यावेशमयो भगवानेव प्रथमतो नान्यः, पूर्वसर्गगामिनो व्यापारस्य प्रलयमहारजनीप्रस्तावेन भ्रष्ट-संसारत्वात् । अत एवाह—

से सरस व्यक्ति के समान जो भासित होता है वही साधारणजन में चमत्कार-जनक यह व्यापाररस का विशेष उपकारक या उपकरण होता है, ऐसा अलौकिक आवेश सर्वप्रथम कृतयुग में भगवान् वासुदेव को हुआ था । उस आवेश से अपने फल की सिद्धि के लिए लोकानुग्रह को छोड़कर अन्य कोई कर्त्तव्य (कार्य) नहीं है । जैसाकि भगवद्गीता में कहा है कि "हे पार्थ ! मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है ।" इसलिए जो साधारण भाव से आवेश में अनाविष्ट भी भगवान् ही सर्वप्रथम आवेशमय प्रतीत हुए, अन्य कोई नहीं । क्योंकि पूर्व में सृष्टि के व्यापार के सम्बन्ध से प्रलयकालीन महारात्रि के प्रस्ताव से संसार भ्रष्ट हो जाता है । इसलिए कहते हैं—

१. ख. लोकं । २. ख. ग. मदोन्मतौ ।
३. ख. ग. युद्धकांक्षिणौ ।
४. ख. बाहु विमर्दमानौ तौ । ग. निजबाहुविसृष्टौ तौ ।
५. ख. मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव ताडयामासतुः प्रभुम् ।
६. ख. ग. घ. अभिद्रवन्तावन्योन्यं वाक्यैश्च परुषैस्तथा ।
७. ख. ग. नानाविक्षेप ।

त्रेतायुगे च नान्यं प्रपत्स्यति। यद्यपि चादिकविर्वाल्मीकिरिति प्रवादस्तथापि प्रलयानन्तरं कृतयुगे भाविनि सन्ध्यवसरप्रतिबन्धदर्पदलनजनितविघ्नापसरणपुरस्सरसृष्टिसम्पत्तौ चिरेण वाल्मीकिमुनेः प्रादुर्भावो भविष्यतीति साधारण्याशयेनैव च भगवानेव वृत्तीनां स्रष्टोक्तः न तु तौ मधुकैटभौ, तयोरावेशेन लौकिकेन व्याप्तत्वात्, उद्रिक्ततमतमस्सन्तानितस्वान्तत्वेनाविद्यामयत्वात्। विद्यावकाशवशविकसितहृदयकमलपरिमलरूपत्वाच्च, आनन्दसागरस्य रसोपयोगिनो व्यापारानावेशस्य भगवत्येव सम्भावनं न तु दैत्ययोः।

अनुवाद भगवान् विष्णु ने अपनी माया से जब लोकों को संक्षिप्त (आत्मसात् संज्ञा) करके और जगत् को समुद्रमय बनाकर शेषनाग रूपी पर्यङ्क पर (शेषशय्या पर) सो रहे थे, तो अपने पराक्रम और बल से मदोन्मत्त होकर मधु और कैष्टभ नामक असुरों को युद्ध करने की इच्छा से अत्यन्त वेग से आये और युद्धहेतु भगवान् विष्णु को ललकारने लगे। तदनन्तर वे दोनों असुर अपनी भुजाओं को ठोंकते हुए अक्षय प्रभु भूतभावन भगवान् विष्णु के साथ जानुओं (जंघाओं) तथा मुष्टियों से प्रहार कर युद्ध करने लगे। उस युद्ध में परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण करते हुए अनेक कठोर वचनों से समुद्र को कँपाते हुए के समान नाना प्रकार के अधिक्षेपप्रधान (आरोपजनक) वचनों से एक दूसरे पर आक्रमण करने लगे ॥ १–५ ॥

अभिनव—त्रेतायुग में अन्य की प्रपत्ति नहीं होती है। यद्यपि आदि कवि बाल्मीकि है, यह प्रवाद है, तथापि प्रलय के पश्चात् भावी कृतयुग (सत्ययुग) में सन्धि के अवसर पर प्रतिबन्धकों (विघ्न-बाधाओं) के अभिमान का दलन कर देने से विघ्नों का अपसरण (दूर होना) के साथ सृष्टि के निर्माण के बहुत दिनों बाद बाल्मीकि मुनि का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार साधारण आवेश से युक्त भगवान् विष्णु ही इन वृत्तियों के स्रष्टा (निर्माता) हैं, वे दोनों मधुकैटभ-असुर लौकिक आवेश से व्याप्त होने के कारण वृत्तियों के स्रष्टा नहीं हैं और उनका अन्तःकरण उद्रिक्त तमोगुण अविद्या से ग्रसित होने के कारण वृत्तियों के निर्माता नहीं थे। इस लिए विद्या के अवकाश से विकसित हृदय-कमल के परिभाव (सौरभ) रूप आनन्द के सार रस के उपयोगी व्यापारावेश की सम्भावना भगवान् बिष्णु में ही की जा सकती है न कि दोनों दैत्यों में।

[1]तयोर्नानाप्रकाराणि वचांसि वदतोस्तदा[2]।
[3]श्रुत्वा त्वभिहतमना द्रुहिणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
[4]किमिदं भारतीवृत्तिर्वाग्भिरेव प्रवर्तते।
उत्तरोत्तरसंबद्धा नन्विमौ निधनं नय ॥ ७ ॥

अत एवाह किमिदं भारतीयवृत्तिर्भगवन् वाग्भिरेव प्रवर्तते इति भगवतेत्यनेन ह्युक्तं, भगवानेव हि वृत्तीनां प्रावर्तयिता नटनावेशदर्शनात्, न तु मधुकैटभौ (तयोः) लौकिकेनैव व्याप्तत्वाविति। द्रुहिणोऽभिहतमना वाक्यमब्रवीदित्यनेन प्रेक्षकत्वं ब्रह्मणः प्रदर्शयन् सामाजिकहृदये विश्रान्तिप्राधान्यं वृत्तीनामाह। तन्निष्ठत्वाद्रसचर्वणाया वाक्यग्रहणेन कार्यद्वारको वृत्तीनां नाट्योपयोग इति सूचयति वाग्भिरेवेति। वाचिकप्राधान्ये भारतीवृत्तिः। भारतीशब्देन हि वागुच्यत इति।

अनुवाद—इस प्रकार नाना प्रकार के भर्त्सना पूर्ण वचनों को बोलते हुए उन दोनों के वचनों को सुनकर ब्रह्माजी ने आहत मन से मधुसूदन से कहा ॥ ६ ॥

अनुवाद—हे भगवान्! क्या उत्तर-प्रत्युत्तर से सम्बद्ध केवल वाणी से ही यह भारती वृत्ति प्रवृत्त होती है? अब इन दोनों का संहार कीजिये ॥ ७ ॥

इसलिए कहते हैं कि हे भगवान्! क्या यह भारती वृत्ति, वापसी से ही प्रणृत्त होती है? इससे यह कहा गया है कि नटन में ही आवेश के देखने से ज्ञात होता है। भगवान् वृत्तियों के प्रवर्त्तपिता न कि मधु और कैटभ। क्योंकि वे लौकिक आवेग से व्याप्त थे। 'अधात से खिन्न मत से ब्रह्मा ने कहा' इससे ब्रह्मा के प्रेक्षफल दिखाते हुए सामाजिकों के हृदय में विश्रान्ति प्रधान वृत्तियों को कहा है। अतः रसचर्वणा सामाजिक निष्ठ है। 'वाक्यमब्रवीत्' इस कथन में 'वाक्य' पद के ग्रहण से कार्य के द्वारा नाटच में वृत्तियों का उपयोग होता है, यह सूचित करते हैं। क्योंकि भारती वृत्ति में वाचिक अभिनय प्रधान होता है। यहाँ 'भारती' शब्द से बाणी का ग्रहण होता है ॥ ६-७ ॥

---

१. ग. तयोर्नैक। २. ख. ग. श्रुत्वा वाक्यानि सर्जतोः।
३. ख. ग. घ. किञ्चिदाकम्पित।
४. ख. ग. किमियं।

पितामहवचः श्रुत्वा प्रोवाच मधुसूदनः ।
[1]कार्यहेतोर्मया ब्रह्मन् भारतीयं विनिर्मिता ॥ ८ ॥

[2]वदतां वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति ।
[3]तस्मादेतौ निहन्म्यद्येत्युवाच वचनं हरिः ॥ ९ ॥

शुद्धैरविकृतैरङ्गैः साङ्गहारैस्तथा[4] भृशम् ।
[5]योधयामासतुर्दैत्यौ युद्धमार्गविशारदौ ॥ १० ॥

कार्यहेतोरित्युक्तं तत्कार्यं दर्शयति—वदतामिति कवीनामिति यावत् । शुद्धैरिति स्वोत्प्रेक्षितवैचित्र्यशून्यैः । अङ्गानां हाराम्नयतामिति भृशं युद्धमार्गे विशारदाविति संबन्धः ।

अनुवाद—इस प्रकार पितामह ब्रह्मा जी के वचन को सुनकर मधुसूदन विष्णु ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! मैंने कार्य के लिए इस भारती वृत्ति का निर्माण किया है ॥ ८ ॥

अभिनव—कार्य के द्वारा वृत्तियों का नाटय में उपयोग होता है, ऐसा कहा गया है, उस कार्य को दिखाते हैं—

अनुवाद—उतर-प्रत्युत्तर-बहुल वचन बोलने वालों के लिए यह भारती वृत्ति होगी । अब मैं इन दोनों असुरों को मार डालता हूँ, इस प्रकार का वचन भगवान् विष्णु ने कहा ॥ ९ ॥

अनुवाद—युद्धकला में अत्यन्त कुशल वे दोनों दैत्य शुद्ध और अविकृत अङ्गों के द्वारा अङ्गहारों के साथ युद्ध करने लगे ॥ १० ॥

अभिनव—शुद्ध अर्थात् स्वोत्प्रेक्षित वैचित्र्य शून्य । अङ्गों का हार बनाते हुए अर्थात् युद्धमार्ग (युद्धकला) में वे दोनों मधु-कैंटभ अत्यन्त विशारद हैं, इस प्रकार का सम्बन्ध है ॥ १० ॥

---

१. ख. ग. बाढं कार्यक्रियाहेतोः । क. बाढ़ नाटचाक्रियाहेतोः ।

२. ख. भाषतोः ग. भाष्यतोः ।

३. ख. ग. अहमेतौ निहन्म्यद्य इत्युक्त्वा ।

४ ख. ग. तदा ।

५. ख. ग. घ. योधयामास तौ ।

[4]भूमिसंयोगसंस्थानैः पदन्यासैर्हरेस्तदा[5] ।
अतिभारोऽभवद् भूमेर्भारती तत्र निर्मिता ॥ ११ ॥
वल्गितैः शार्ङ्गधनुषस्तीव्रैर्दीप्ततरैरथ[6] ।
सत्त्वाधिकैरसंभ्रान्तैः सात्त्वती तत्र निर्मिता ॥ १२ ॥

भूमिसंयोगेन संस्थान उद्घटि (ट्टि !) तसङ्कुचितादिरूपं येषां पदन्यासानां न्यस्यमानानां पदानाम् । अतिभार इत्यक्षरसाम्यादपि निर्वचनं दर्शयन् नटव्यापारयोगेऽपि आन्तरविकल्पात्मकाभिः (वाग्भिः) संजल्पबाहुल्ये भारत्येव वृत्तिरिति दर्शयति ।

सत्त्वाधिकैरिति मनोव्यापाराधिक्ये सात्त्वतीवृत्तिरित्याह सत्सत्त्वरूपं विद्यते येषां तत्त्वं तेषामियमिति । सत्त्वं च तत्र परच्छिद्रान्वेषणोपायप्रवितानवैचित्र्योत्प्रेक्षणप्रकाशलाघवात्मकम् ।

अनुवाद—भूमि पर पैर रखने के संयोग के कारण भगवान् विष्णु के पदन्यास से भूमि को अत्यन्त भारी भार हो गया तब उस भार से 'भारती' वृत्ति का निर्माण हुआ ॥ ११ ॥

अभिनव—भूमि पर पैर रखने के संयोग के कारण संस्थान अर्थात् सङ्कुचित आदि रूप उद्घाटित होते हैं जहाँ पर 'पदन्यास' का अर्थ है भूमि पर रखे जाने वाले पैर, 'अतिभारः' पद में अक्षरों के साम्य से भी निर्वचन दिखाते हुए नट-व्यापार के योग में भी आन्तरिक विकल्पात्मक वाणियों के भाषण-बाहुल्य में भी भारती वृत्ति ही होती है ॥ ११ ॥

२. सात्त्वती वृत्ति—

अनुवाद—उस समय शार्ङ्ग अर्थात् शृङ्ग (सींग से निर्मित धनुष के अतितीव्र (अत्यन्त कठोर) आभा तथा सत्त्व की अधिकता से साभ्रान्त टङ्कार से युक्त वचनों से 'सात्त्वती' वृत्ति का निर्माण हुआ ॥ १२ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि मनोव्यापार के आधिक्य में सात्त्वती वृत्ति होती है । 'सत्' अर्थात् सत्त्व रूप तत्त्व है । जिनका, उनकी यह सात्त्वती वृत्ति होती है । उनमें सत्त्व का स्वरूप है, पराच्छिद्रान्वेषण के प्रति तानव (क्षीणता) की विचित्रता से युक्त प्रकाश और लाघव ॥ १२ ॥

---

१. ख. ग भूमिसंस्थानसंयोगैः । २ ख. ग. तदा हरेः ।
३. ख. तीव्रैर्दीप्तिकरैः ग. दीप्तिकैः ।

विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः[1] ।
बबन्ध यच्छिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता ॥ १३ ॥
संरम्भावेगबहुलैर्नानाचारीसमुत्थितैः ।
नियुद्धकरणैश्चित्रै[2]रुत्पन्नारभटी ततः ॥ १४ ॥

अत एवाह विचित्रैरिति। स्वोत्प्रेक्षितेन हि वैचित्र्येण विना कथं युद्धविशारदौ जय्यौ स्याताम्, द्वयोर्ह्येकागमानुसन्धानेन युध्यमानयोः सम्बुद्धिकयोः कस्य जयः कस्य पराजयो वा भवेदिति, शिखापाशं पट्टबन्धम्, तुर्हेतौश्शृङ्गारस्थानलक्ष्मी सम्भोगादिस्मरणात्। लीलया विलासेन अन्वयः शिखापाशमयेन आबध्योदासीनो वर्तत इति।

---

३. कैशिकी—

अनुवाद—भगवान् विष्णु ने विविध लीलाओं से समन्वित विचित्र अङ्गहारों के साथ जो शिखपाश को बाँधा था, उसी से 'कैशिकी' वृत्ति का निर्माण हुआ ॥ १३ ॥

अभिनव—अभिनव का कहना है कि स्वोत्प्रोक्षित वैचित्र के विना युद्ध में कुशल व्यक्ति कैसे जेय (जीतने योग्य) हो सकता है ? दो में से एक अर्थ के आगम (प्राप्ति) का अनुसन्धान से युद्ध करने वाले अथवा युद्ध के लिए ललकारने वालों में किसकी जीत और किसकी हार (पराजय) हो सकती है ! शिखापाश का अर्थ पट्टबन्ध है। 'अङ्गहारैस्तु' में 'तु' पद का अर्थ 'हेतु' है। अतः श्रृङ्गार के स्थान लक्ष्मी का सम्भोग आदि का स्मरण होने से। लीला अर्थात् विलास से अन्वित शिखापाशमय से आबन्धन करके उदासीन हो गया है ॥ १३ ॥

४. आरभटी—

अनुवाद—क्रोध एवं आवेग (उत्तेजना) के बाहुल्य से युक्त, नाना प्रकार के चारियों समुत्थित और चित्र-विचित्र बाहुयुद्धों के द्वारा 'आरभटी' वृत्ति का निर्माण हुआ ॥ १४ ॥

---

१. ख-ग-घ. लीलासमुद्भवैः ।
२. ख. ग. निर्मिता ।

यां यां देवः समाचष्टे क्रियां वृत्तिषु संस्थिताम्[1] ।
तां तदर्थानुगैर्जल्पैर्द्रुहिणः[2] प्रत्यपूजयत् ।। १५ ।।

चारीभिः प्रायेण निश्शङ्कं प्रवर्तमानौ दैत्यौ सुखं निपात्येते मय्येव परिश्रमापनयनं सम्पद्यत इति ।

देव इति लोकवदनाविष्टः । यां यामिति वीप्सया सर्वैव क्रिया वृत्तिचतुष्टयव्याप्तेत्याह । न हि वाङ्मनश्चेष्टातोऽतिरिक्तकर्मास्ति । नच क्रियाशून्यः कश्चिदप्यंशोऽस्ति । मूर्छामोहमरणादावपि सूक्ष्मप्राणपरिस्पन्दाद्यनुमेयसञ्चितपरिस्पन्दसम्भावना । मृतस्तु ताम्रपाषाणप्रख्यो न तस्य वृत्तिकथनेन किंचित्स्वपरम्, अन्यस्य शोकादिविभावनां प्रतिपाद्यमानः काव्याङ्गतामेति । स च तदानीं करुणादिरसाक्रान्तः काव्ये व्यावर्णनीयो भवति । रसभावपर्यवसितो हि सर्वः कार्यसंदर्भः । रसभावाश्च

अभिनव--नाना प्रकार की चारियों से प्राय: निशङ्क प्रवृत्त होने वाले ये दैत्य सुख से मारे जा सकते हैं जिससे मेरे परिश्रम का अपनयन सम्पन्न होगा ॥ १४ ॥

अनुवाद --**भगवान् विष्णु वृत्तियों में संस्थित जिन-जिन क्रियाओं को कहा है उस उस क्रिया के अर्थों के अनुकूल अर्थ वाले वाक्यों के द्वारा ब्रह्मा ने प्रतिपूजन (अभिनन्दन, सम्मान) किया ॥ १५ ॥**

अभिनव—देव शब्द से यहाँ भगवान् विष्णु का ग्रहण है जो लोक के समान अनाविष्ट (आवेशरहित) 'यां यां' इस वीप्सा से यह सूचित होता है कि सभी क्रियाएँ वृत्तिचतुष्टय (चार वृत्तियों) से व्याप्त है। क्योंकि वाणी, मन और चेष्टा से अतिरिक्त कुछ कर्म नहीं है और न क्रिया से शून्य कोई अंश है। मूर्च्छा, मोह, मरण आदि में प्राण के सूक्ष्म परिस्पन्द से अनुमेय सञ्चित परिस्पन्द रूप क्रिया की सम्भावना है। (मरा हुआ) व्यक्ति तो ताम्र (तांबा) तथा पाषाण के सामान है, वृत्तियों के कथन से उसका कोई भी अपना-पराया नहीं है। अन्य जो जीवित हैं उनका वृत्तियों के कथन से शंकादि की विभावना को प्राप्त हुआ अर्थ काव्य का अङ्ग बन जाता है और वह उस समय करुण आदि रसों से आक्रान्त काव्य में विशेष रूप से वर्णनीय होता है। सभी कार्य

---

१. ख. ग. क्रियां वृत्तिसमुत्थिताम् ।

२. ख. ग. वाक्यैः ।

यदा हतौ तावसुरौ हरिणा मधुकैटभौ ।
[1]ततोऽब्रवीत् पद्मयोनिर्नारायणमरिन्दमम् ॥ १६ ॥
अहो विचित्रैर्विषमैः[2] स्फुटैः सललितैरपि ।
अङ्गहारैः कृतं देव त्वया दानवनाशनम् ॥ १७ ॥
तस्मादयं हि [3]लोकस्य नियुद्धसमयक्रमः[4] ।
सर्वशस्त्रविमोक्षेषु[5] न्यायसंज्ञो भविष्यति ॥ १८ ॥

चेतनेष्वेव, तेषु च न व्यापारत्रयशून्यः कश्चिदपि काव्यांशोऽस्ति । तेन तेन पञ्चवृत्तयो द्वे वृत्ती इत्यादयोऽसंविदितभरताभिप्रायपण्डितसहृदयम्मन्यपरिकल्पित-सद्भावाः प्रवादा निरस्ता भवन्ति । एतच्च पूर्वमेवास्माभिः प्रदर्शितम् ।

जप्यैरिति भक्त्यावेशमात्रवृत्तिं च दर्शयन् कवेर्मुख्यं रसाधिष्टत्वमेव रूपं विस्तारणात्मकवर्णनाप्राधान्यं चेति दर्शयति ।

रस और भाव में पर्यवसित होते हैं और रस एवं भाव चेतन पदार्थों में होते हैं और चेतनों में भी कोई कालांश व्यापार शून्य नहीं होता। इसलिए 'वृत्तियाँ पांच हैं, वृत्तियाँ दो हैं, इत्यादि भरतमुनि के अभिप्राय को न समझने वाले सहृदयंमन्य पण्डितों ने सद्भाव को परिकल्पित कर रखा है, वे सब निरस्त हो गये, यह सब मैंने पहिले ही बता दिया है।

'जप्यैः' इससे भक्ति के आवेश होने वाली वृत्ति को दिखाते हुए कवि का रसाविष्ट होना मुख्य रूप है और विस्तार रूप वर्णना का प्राधान्य है। यह दिखाया है ॥ १५ ॥

अनुवाद—भगवान् विष्णु ने जब उन मधु-कैटभ असुरों को मारा तब पद्मयोनि विधाता ने शत्रुओं का दमन करने वाले नारायण से इस प्रकार कहा ॥ १६ ॥

अनुवाद—हे भगवन् ! आपने विषम एवं सुस्पष्ट, सुललित तथा विचित्र अङ्गहारों के द्वारा इन दानवों का संहार किया है। इसलिए नियुद्ध (बाहुयुद्ध) के समय सिद्धान्तों का यह क्रम समस्त शास्त्रों के प्रयोग के विषय में 'न्याय' के नाम व्यवहृत होगा ॥ १७-१८ ॥

---

१. ख. ग. उक्तयांस्तु तदा ब्रह्मा ।
२. ख. ग. विशदैः ।　　३. ख. ग. घ. सर्वलोके ।
४. क. सभवः शुभः ।　　५. क. विमोक्षश्च ।

(विषमैः) शास्त्रागममार्गात्मनागम्यप्रकारैः (अद्भु) तैरपि, तथा स्फुटैरपि सर्वलक्षणप्रसिद्धैरपि चित्रैः स्वार्थोत्प्रेक्षितवैचित्र्यवद्भिः, सललितैरिति लोचन-गोचरवर्तित्वेनातिभ्रम्यैरित्यर्थः।

अयमिति—भवदुपज्ञातवैचित्र्यबृंहित इत्यर्थः। नियुद्धसमयक्रम इति समयग्रहणेन वैचित्र्ययोगेऽपि शस्त्रागमापरित्यागमाह। क्रमः परिक्रमणं क्रमो वा शत्रु-विक्रमणयोगे गतागतस्य निभृतं शस्त्राविशून्यं युद्धं नियुद्धं मल्लयुद्धं तद्गतमपि यदेतद्रूपं तदुत्प्रेक्ष्यवैचित्र्ययोगात्सर्वेषु शास्त्रास्त्रयुद्धेष्वप्युपयोगि भविष्यति। विमोक्षग्रहणात् क्षेप्तव्यकुन्तचक्रादिविषयत्वमेव केचिदाहुः। तच्चासत्, क्षिपेः पातमात्रपर्यवसायिनः खड्गादियुद्धेष्वप्यप्रतिहतार्थयुक्तत्वात्।

न्यायशब्दनिर्वचनमाङ्गिकाभिनयनिरूपणायां कृतं स्मारयति—न्याया-श्रितैरिति।

अभिनव—विषमैरिति—शास्त्रागम मार्ग से अगम्य। स्फुट होते हुए भी समस्त लक्षणों से युक्त होते हुए भी विचित्र। **सलक्षितैः**—नेत्रों के दृश्य होते हुए अर्थात् स्वोप्रेक्षित वैचित्र्य से युक्त होते हुए अद्भुत अति रमणोय॥ १७॥

अयमिति—आप के उपज्ञात वैचित्र्य से बृंहित। 'नियुद्धसमयक्रम' पद के ग्रहण का आशय है कि नानाविध वैचित्र्य के योग में भो शास्त्रागम के परित्याग न करना। क्रम का अर्थ है परिक्रमण। शत्रुकृत विक्रमण के योग के समय में गतागत में निभृत अर्थात् शास्त्रादिशून्य निभृत अर्थात् मल्लयुद्ध। तद्गत अर्थात् वह उत्प्रेक्षणोय वैचित्र्य के योग से सभी शस्त्र और अस्त्र युद्ध में उपयोगी होंगे। 'विमोक्ष' पद के ग्रहण से कहा गया है कि प्रक्षेपण (फेंकने) के योग्थ चक्रादि के किये जाने वाले युद्ध के विषय में यह कथन है, ऐसा कोई कहते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि क्षिप का अर्थ है केवल गिरा देना। अतः खड्ग आदि के युद्धों में उसके अर्थ को योजना अप्रतिहत है॥ १८॥

अभिनव—'न्याय' शब्द का निर्वचन दसवें अध्याय में आङ्गिक अभिनय के निरूपण के प्रसङ्ग में किये गये 'न्याय' शब्द के निर्वचन को स्मरण कराते हैं—

[1]न्यायाश्रितैरङ्गहारैर्न्यायाच्चैव समुत्थितैः ।
[2]यस्माद्युद्धानि वर्तन्ते तस्मान्न्यायाः प्रकीर्तितः[3] ॥ १९ ॥

[4]चारीषु च समुत्पन्नो नानाचारीसमाश्रयः ।
न्यायसंज्ञः कृतो ह्येष द्रुहिणेन महात्मना ॥ २० ॥

[5]ततो वेदेषु निक्षिप्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
[6]पुनरिष्वस्त्रजाते च नानाचारीसमाकुले ॥ २१ ॥

पुनर्नाट्यप्रयोगेषु नानाभावसमन्विताः[7] ।
वृत्तिसंज्ञाः कृता ह्येताः[8] काव्यबन्धसमाश्रयाः ॥ २२ ॥

अनुवाद—जब ये (युद्ध) कारिका न्याय से उत्पन्न और न्यायाश्रित अङ्गहारों से किये जाते हैं । अतः इन्हें 'न्याय' नाम से अभिहित किये जाते हैं ॥ १९ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार की चारियों के आश्रयण से चारियों में उत्पन्न युद्ध का ब्रह्माजी ने न्याय नाम से अभिहित किया है ॥ २० ॥

अनुवाद—इसके बाद महात्मा ब्रह्माजी ने इस वृत्तियों को वेदों में (अथवा देवों में) निक्षिप्त किया । फिर नाना प्रकार की चारियों से समाकुल धनुष के प्रयोग में उपन्यस्त किया ॥ २१ ॥

अनुवाद—फिर नाट्य के प्रयोग में (अभिनयों में) नाना प्रकार के भावों से समन्वित और काव्यों की रचना के समाश्रित (आश्रयभूत) इन न्यायों की 'वृत्ति' संज्ञा प्रदान की ॥ २२ ॥

---

१. ख. न्यायात् समुत्थितैश्चित्रैरङ्गहारैः यिभूषितम् ।
२. ख. ग. घ. युद्धं कृतं ह्येतत् ।
३. ख. ग. घ. न्यायः प्रकीर्तितः ।
४. ख. ग. अयं श्लोकः पुस्तकयोर्नास्ति ।
५. ख. घ. ततो देवेषु ; ६. ख. ग. पुनरिष्टसुजातेन ।
७. ख. ग. रसान्विताः । समाश्रयाः रसाश्रया ।
८. ख. ग. ह्येषा नानाभावरसा श्रेया ।

चरितैर्यस्य देवस्य जप्यं[1] यद्यादृशं कृतम् ।
ऋषिभिस्तादृशो वृत्तिः कृता पाठ्यादिसंयुता[2] ॥ २३ ॥

नाट्यवेदसमुत्पन्ना वागङ्गाभिनयात्मिका ।
मया काव्यक्रियाहेतोः प्रक्षिप्ता द्रुहिणाज्ञया ॥ २४ ॥

एवं वृत्तीनामुत्पत्तिर्व्याख्याता । आसामेव नाट्यं प्रत्यवतारणं कर्तुमाह—भगवद्विश्वचरितैर्गर्भाधेयभूतैः उपलक्षितं यत् पूर्वं ब्रह्मणा जप्यं स्तोत्र-काव्यरूपं कृतं, तादृशं भावाविचेष्टाप्रधानं, तादृश्येव वृत्तिः । ऋषिभिः ब्रह्मपुत्रैः पाठ्यादिभिः सम्यग्युक्ता कृता अनुसृता । तद्यथा पाठ्यप्रधाना भारती अभिनयप्रधाना सात्वती, अनुभावाद्यावेश [स] मयरसप्रधानारभटी, गीतवाद्योपरञ्जकप्रधाना कैशिकोति । अत एव वक्ष्यति ऋग्वेदाद्भारतीत्यादि । नाट्यवेदोत्पत्तौ प्रथमाध्याये व्याख्याता या सा ।

अभिनव—इस प्रकार को वृत्तियों की उत्पत्ति का व्याख्यान कर दिया है, अब नाटच में इनका प्रत्यवतरण करने के लिए कहते दिखाते हैं—

अनुवाद—जिस देवता के चरितों से उपलक्षित जैसा जप्य (स्तुति) ब्रह्मा ने किया था। पाठचादि गुणों से युक्त वैसी ही वृत्ति की रचना ऋषियों ने की ॥ २३ ॥

अभिनव—गर्भसन्धि में आधेयभूत भगवान् के चरितों से उपलक्षित, जिसे ब्रह्माजी ने पूर्व में स्तोत्र काव्यरूप में जप किया था, वैसा ही भावादि चेष्टा प्रधान, वैसी ही वृत्ति है। ब्रह्मा के पुत्र ऋषियों ने पाठच आदि को सम्यक् योजना से अनुसंरण किया था। जैसे पाठचप्रधाना भारती वृत्ति, अभिनय प्रधाना सात्त्वती वृत्ति, अनुभावादि आवेशमय रस प्रधाना आरभटी वृत्ति और गीत, वाद्य आदि मनोरञ्जन प्रधाना कैशिकी वृत्ति। इसलिए आगे कहेंगे—ऋग्वेद से भारती वृत्ति इत्यादि। नाटचवेद के प्रथम अध्याय में नाटच वेद उत्पत्ति के प्रसङ्ग में जिनका व्याख्यान किया है।

अनुवाद—नाटचवेद से समुत्पन्न, वाचिक एवं आङ्गिक अभिनय रूप वृत्तियों को मैंने काव्यक्रिया हेतु अर्थात् नाटच के निर्माण हेतु ब्रह्माजी की आज्ञा से प्रक्षिप्त किया अर्थात् विशेष रूप से रखा ॥ २४ ॥

---

१. ख. ग. द्रव्यं । २. ख. ग. वाक्याङ्गसम्भवा । घ. पाठ्य.ङ्गसम्भवा ।

ऋग्वेदाद्भारती क्षिप्ता[1] यजुर्वेदाच्च[2] सात्वती ।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि[3] ॥ २५ ॥

द्रुहिणाज्ञा कैशिकीमपि योजय (१-४२) इत्यादिका या तया । काव्यस्य क्रिया काव्यरूपतापादनं, तदेव हेतुः ततः । प्रकर्षेण क्षिप्ता येनाभिनेयानभिनेय काव्यवैलक्षण्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥

ननु भगवता वासुदेवेनाप्यंशावताररूपत्वात्संभावना यास्ताः काव्यक्रियोदेव मुनिना कुत इमा वृत्तय आनीता इत्याशङ्क्याह—ऋग्वेदादित्यादि ।

छन्दोमयश्च परमेश्वरो नान्यत इति भावः ॥ २५ ॥

अभिनव—'ब्रह्मा जो को आज्ञा से कैशिकी वृत्ति की योजना करें' (१६४२) इत्यादि जो निर्देश किया है तदनुसार मैंने काव्य की क्रिया अर्थात् काव्यरूपता का आपादन रूप हेतु है, इसी हेतु के आधार पर प्रकर्ष प्रक्षेपण किया जाता है जिससे अभिनेय और अनभिनेय काव्यगत वैलक्षण्य होता है ॥ २४ ॥

अभिनव—इस प्रकार भगवान् वासुदेव ने अंशावतार रूप जिन वृत्तियों की सम्भावना की है उन वृत्तियों को भरतमुनि ने काव्यक्रिया के उदय में कहाँ से लाये ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—ऋग्वेद से भारती वृत्ति, यजुर्वेद से सात्वती वृत्ति, सामवेद से कैशिकी वृत्ति और अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति को ग्रहण की गई ॥ २५ ॥

अभिनव—भगवान् परमेश्वर छन्दोमय वेद है अतः छन्दोमय वेद से ही ये वृत्तियाँ ग्रहण की गई, अन्य किसी से नहीं ॥ २५ ॥

---

१. ख. ग. नास्तिश्लोकार्धः ।

२. ख. ग. वत्तु ;

३. ख. ग. तथा ।

विशेष--रस के भावों की अनुभाविका क्रिया को 'वृत्ति' कहते हैं। भरत ने कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार को 'वृत्ति' कहा है। भोज और राजशेखर चेष्टाविन्यास क्रम को 'वृत्ति' कहते हैं। इसी को आनन्द व्यवहार और अभिनव वे नायक का चेष्टा का व्यापार कहा है। अभिनव के अनुसार अभिनय की समस्त काव्य व्यापार वृत्तियों के कारण सौन्दर्ययुक्त होता है। भारती वृत्ति वाणी का व्याप.र है, सात्वती वृत्ति सत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली मानसिक व्यापार है और आरभटी का सम्बन्ध शारीरिक व्यापारों से है, शिर पर शोभाबर्द्धक केश के समान नाट्य में सौन्दर्य (शोभा) के उपयोगो वृत्ति के 'कैशिकी' वृत्ति कहा है। विष्णु के केशों से कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति मानी गई है।

वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नाटयशास्त्र में एक कथा वर्णित है। तदनुसार एक बार जब पृथ्वी जल से प्लावित थी और भगवान् विष्णु शेषशय्या पर लेटे हुए थे, उस समय मधु-कैटभ नामक असुरों ने दर्पोन्माद से भगवान् विष्णु को युद्ध के लिए लक्षकारा और दोनों एक दूसरे को कठोर वचनों का प्रयोग करते हुए लड़ने लगे। यह देखकर ब्रह्मा ने विष्णु से कहा कि आप केवल बाणी द्वारा भारती वृत्ति का प्रयोग कर रहे हैं, आप इन दोनों को मार दीजिए। तब विष्णु ने धरती पर बलपूर्वक पाद का निक्षेप किया, जिससे धरती पर अत्यधिक भार पड़ा, इसी से 'भारती' वृत्ति उत्पन्न हुई। तदनन्तर विष्णु ने दीप्ति और सत्त्व के पूर्ण अपने धनुष का तीव्र टङ्कार किया, जिससे 'सात्वती' वृत्ति उत्पन्न हुई। तब विष्णु ने विचित्र अङ्गहारों और ललित लीलाओं के साथ अपने केश पास को बाँधा तो 'कैशिकी' वृत्ति की उप्पत्ति हुई। तदनन्तर विविध गतियों, आवेश और उत्तेजना के साथ जो युद्ध हुआ, उससे 'आरभटी' वृत्ति उत्पन्न हुई। इस प्रकार विष्णु ने वाणी तथा अङ्गों के द्वारा जो-जो चेष्टाएँ की, उनसे विभिन्न रसों एवं भावों से युक्त वृत्तियों का उदय हुआ।

इस प्रकार भगवान् विष्णु के वाचिक, मानसिक और आङ्गिक व्यापारों को क्रमशः भारती, सात्त्वती और आरभटी के नाम से अभिहित किया गया। इनके अतिरिक्त विष्णु के द्वारा किया गया केश-संयमत रूप सौन्दर्याधान करने वाला एक और व्यापार है जिसे 'कैशिकी' वृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार भारती वृत्ति वाणी का व्यापार है, सात्त्वती वृत्ति मानसिक व्यापार है और आरभटी वृत्ति शारीरिक व्यापार रूप है। इनके अतिरिक्त सौन्दर्यवर्द्धक व्यापार को 'कैशिकी' वृत्ति कहा गया है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अन्य कथा वर्णित है। तदनुसार भरत मुनि द्वारा प्रयुक्त प्रथम अभिनय में भारती, सात्त्वती और आरभटी इन तीन वृत्तियों का ही प्रयोग किया गया था। तदनन्तर भरतकृत प्रयोग को देखकर देवगुरु बृहस्पति कैशिकी वृत्ति की योजना के लिए भरत से कहा। तब भरत ने ब्रह्माजी से कैशिकी वृत्ति की योजना के लिए भरत से कहा तब भरत ने ब्रह्मा जी से कैशिकी वृत्ति में सम्यक् प्रयोग के लिए द्रव्य की याचना की। तब ब्रह्मा ने नृत्ताङ्गहारकुशला अप्सराओं की सर्जना कर प्रयोग के लिए भरतमुनि को प्रदान की। क्योंकि स्त्रियों के विना कैशिकी वृत्ति अभिनय नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति की गई।

भरतमुनि ने चारों वृत्तियों की उत्पत्तिके सम्बन्ध में वैदिक स्रोत का उल्लेख किया है। तदनुसार भारती वृत्ति की उत्पत्ति संवाद प्रधान ऋग्वेद से मानी गई है। मनोव्यापार एवं अभिनय प्रधान यजुर्वेद से सात्त्वती वृत्ति की, गति-वाद्य प्रधान सामवेद से कैशिकी वृत्ति की और रसप्रधान और अथर्ववेद से विविध क्रियामय आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई। इनके अतिरिक्त भावप्रकाशन में एक अन्य परम्परा का उल्लेख करते हुए शारदातनय ने लिखा है कि शिव और पार्वती के नृत्य को देखने वाले ब्रह्मा के चारों मुख से भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी चारों वृत्तियाँ सहसा निकल गई। इसी प्रकार उन्हीं से शृङ्गारादि चार रस उद्भूत हुए।

इनके अतिरिक्त अग्निपुराण की एक टीका में एक पैराणिक परम्परा का उल्लेख मिलता है। तदनुसार भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारती वृत्ति और सात्त्वत नरेश के द्वारा प्रकाशित होने वाली वृत्ति सात्त्वती वृत्ति कहलायी। इसी प्रकार कौशिक नरेश (अथवा कुशिक राजा) के द्वारा प्रकाशित क्रिया कौशिकी वृत्ति तथा आरभट अर्थात् भट (योद्धाओं) द्वारा प्रकाशित वृत्ति आरभटी कहलाई। इस प्रकार ये चारों वृत्तियाँ रस एवं भावों की अनुभाविका क्रिया है।

कुछ लोग इन वृत्तियों को विभिन्न जातियों से सम्बद्ध मानते हैं। तदनुसार नाटक खेलने का व्यवसाय करने वाले नटों (भरतों) की वृत्ति भारती कहलायी। सात्त्वत जातियों में प्रचलित सात्त्वती कहलाई, कास्पियन सागर के तट पर रहने वाली कैशिक जाति में प्रचलित वृत्ति कैशिकी तथा सिन्धु घाटी में रहने वाली आरविंट्स जाति में प्रचलित वृत्ति 'आरभटी' कही जाती होगी।

अथासां परस्परसङ्कीर्णतया लक्ष्ये (बहुरूपतां) वहन्तीनां यत्र यत्प्राधान्येनाग्यतमरूपावभासनं तत्प्रदर्शयितुमुत्तरो ग्रन्थः। (वाङ्मनःकायचेष्टांशेषु) न ह्येकोऽपि कश्चिच्चेष्टांशोऽस्ति। कायचेष्टा अपि हि मानसीभिः सूक्ष्माभिश्च वाचिकीभिश्चेष्टाभिर्व्याप्यन्त एव। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" (वाक्यपदीयं १-१२४) इति न्यायात्, मानस्यपि वाचिक्यपि चेष्टा अवश्यं सूक्ष्मं काल (य ?) परिस्पन्दमन्दप्राणव्यापाररूपं नाभि (ति ?) वर्तते। तदुक्तम्—

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥ (सङ्ग्रहः)

न च रसोपयोगिलालित्यभागशून्यः कोऽपि नाट्ये परिस्पन्द इत्यन्योन्यं संवलिता वृत्तयः केवलं क्वचित्किंचिदधिकमिति प्राधान्येन व्यपदेशः परिवर्तते।

अभिनव—अब परस्पर सङ्कीर्णं मिश्रित होने से लक्ष्य में अनेकरूपता को धारण करने वाली इन वृत्तियों में जहाँ पर जिसकी प्रमुख रूप से अवभासन होती है, उसको दिखाने के लिए अगला ग्रन्थ लिखते हैं। वाचिक, मानसिक और कायिक चेष्टाओं में से कोई एक चेष्टांश एकाकी नहीं रहता। जैसे, कायिक चेष्टाएँ भी वाचिक और मानसिक चेष्टाओं से व्याप्त रहती हैं। जैसाकि भर्तृहरि ने कहा है कि 'ऐसा कोई भी प्रत्यय लोक में नहीं है जो शब्दानुगम के विना हो' इस नियम के अनुसार सर्वत्र चेष्टाओं में वाचिकी चेष्टाएँ अवश्य रहती हैं? इसी प्रकार मानसिक और वाचिक चेष्टाएँ भी कायिक परिस्पन्द रूप मन्द प्राण-व्यापार का अतिक्रमण नहीं रहती। जैसा कि कहा है कि—

"वाणी सब अर्थक्रियाओं में (चेष्टाओं में) सब प्राणियों को प्रेरित करती हैं और उसके अर्थात् वाणी के उत्क्रमण होने पर यह काष्ठ और भित्ति के समान निचेष्ट दिखाई देता है।"

इस प्रकार नाटच में ऐसा कोई भी व्यापार अर्थक्रिया से शून्य तथा रसोपयोगी लालित्य से शून्य नहीं होता, अतः ये वृत्तियाँ परस्पर मिश्रित किन्तु कहीं कोई अधिक और कहीं कोई कम प्रधानता के आधार पर उनके नाम का व्यवहार होता है।

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृपाठ्य[1] युक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा [2]भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥ २६ ॥

तत्र भारत्याः प्राधान्यं दर्शयति ।

स्त्रीवर्जितेति कैशिकीप्राधान्यावकाशं गमयति । संस्कृतेति वचसा प्राकृत-पाठ्यलालित्यात् कैशिकीमवश्यमाक्षिपेदिति सूचयति । भरतैरिति नटैः स्वतो वंशकरं नामधेयं येषां (तैः), भरतसंतानत्वात्तद्धिते भरताः ।

---

१. भारती—

उनमें भारती की प्रधानता को दिखाते हैं—

अनुवाद—जो वृत्ति वाक्-व्यापार-प्रधाना होती है, जो पुरुष पात्रों द्वारा प्रयोज्य एवं स्त्री पात्रों से रहित तथा संस्कृत पाठ्य से युक्त होती है । स्वनाम-धन्य भरतों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे 'भारती' वृत्ति कहते हैं ॥ २६ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि 'वाक्प्रधाना' कहने का तात्पर्य है कि इसमें (भारती में) वाणी की प्रधानता होती है किन्तु अप्रधान रूप से अन्य वृत्तियाँ भी होती हैं । 'स्त्रीवर्जिता' कहने का अभिप्राय है कि कैशिकी वृत्ति की प्रधानता का अवकाश (स्थान) नहीं रहता । 'संस्कृत' पद से प्राकृत पाठ्य के लालित्य से युक्त कैशिकी का आक्षेप करना चाहिए, सूचित होता है । 'भरतैः' पद से वंश-परम्परा प्राप्त भरत (नट) नाम सूचित होता है ॥ २६ ॥

विशेष—नाट्यशास्त्र के अनुसार भारती वृत्ति को वाक् व्यापारप्रधाना, पुरुष प्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता' वाग्वृत्ति कहा गया है । *नाट्यदर्पण के अनुसार भारती (वाणी) रूप होने से इसे 'भारती' वृत्ति कहते हैं, धनञ्जय और विश्वनाथ ने नट के द्वारा प्रयुक्त संस्कृतप्राय वाक्व्यापार को 'भारती' वृत्ति कहा है । शिङ्गभूपाल इसे भरत (नट) की वृत्ति (व्यापार) होने से इसे 'भारती' वृत्ति कहते हैं । इस प्रकार भारती वृत्ति वाक्प्रधान व्यापार है, यह शृङ्गारादि रसों की उपकारिका और रत्यादि भावों की अनुभाविका होती हैं । इसमें स्त्री के द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग कराया जाता है । भरत भारती वृत्ति को स्त्रीपात्रवर्जित बताते हैं ।

---

१. ख. ग. वाक्ययुक्ता ।
२. ख. तां भारतीं वृत्तिमुदाहरन्ति ।
* अभिनवगुप्त इसे 'पाठ्यप्रधाना' वाक्वृत्ति कहते हैं ।

भेदास्तस्यास्तु विज्ञेयाश्चत्वारोऽङ्गत्वमागताः ।
प्ररोचनामुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ॥ २७ ॥
जयाभ्युदयिनो चैव माङ्गल्या विजयावहा ।
सर्वपापप्रशमनो पूर्वरङ्गे प्ररोचना ॥ २८ ॥

भेदा इति अस्यामित्यर्थोऽत्र न तु प्रकाराः, त्रैलोक्यव्यापिन्या हि भारत्याः कश्चिदंशः प्ररोचनारूपः, एवमामुखस्वभाव इत्यादि । अत एवाह—अङ्गत्वमिति अंशत्वं प्राप्ताः इत्यर्थः। अन्यथा रूपकस्याङ्गत्वं प्राप्ता इत्युच्यते तदा वीथी प्रहसनं च रूपकभेद, न तु रूपकस्याङ्गम् । तथा नाट्यस्याङ्गत्वं प्राप्तं (प्राप्ता ?) नाटयमिति समुदायः। यदि वा एकैकमपि काव्यं दशरूप-मित्युक्तं प्राक् ॥ २७ ॥

अब भारती वृत्ति के अङ्गों का विवेचन करते हैं—

अनुवाद—उस भारतो वृत्ति के अङ्गत्व को प्राप्त चार भेद होते हैं—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन ॥ २७ ॥

अभिनव - अभिनव के अनुसार यहाँ 'भेद' का अर्थ 'अंश' है न कि प्रकार। इस त्रैलोक्य व्यापिनो भारती वृत्ति के कोई अंश प्ररोचना रूप हैं और इसी प्रकार आमुख स्वभाववला भी होता है। इसोलिए कहा है कि अङ्गत्व को प्राप्त हो गया, यह अर्थ है। अन्यथा 'यदि अंशत्व को प्राप्त हो गया' यह अर्थ नहीं मानेंगे 'और रूपक का अङ्गत्व को प्राप्त हो गया' तो वीथी और प्रहसन रूपक के भेद हुए, न कि अङ्ग। अतः 'नाट्य के अङ्गत्व को प्राप्त हो गया' इसका भाव है कि नाट्य एक समुदाय है अथवा एक-एक काव्य रूप है। यह पहिले कहा जा चुका है ।। २७ ॥

१. प्ररोचना—

अनुवाद—लोक में अभ्युदय करने वाली मङ्गलकारिणी और विजय को देने वाली तथा समस्त पापों का प्रशमन करने वाली 'प्ररोचना' पूर्वरङ्ग में की जानी चाहिए ॥ २८ ॥

उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया ।
सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना ॥ २९ ॥
नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं [1]यत्तु कुर्वते ॥ ३० ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा ।
[2]आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि वा ॥ ३१ ॥

पूर्वरङ्ग इति तद्विषये, प्ररोचना पूर्वमुक्ता तत्र च कृते वा प्ररोचना सा भारत्यंश इत्यर्थः ॥ २८ ॥

नटीत्यादिना आमुखं लक्षयति । वा शब्देन व्यस्तानां नटीप्रभृतीनां सूत्रधारेण सङ्घातमाह । अपिशब्देनात्मना समस्तानां, द्वितीयो वा शब्दः समस्तव्यस्ततां विकल्पयति । एवशब्दः सूत्रधारस्यावश्यंभावं दर्शयति ॥ ३० ॥

अनुवाद—काव्य के उपक्षेप के द्वारा हेतु और युक्ति का आश्रण तथा जो सिद्ध के द्वारा आमन्त्रण किया जाता है, उसे 'प्ररोचना' कहते हैं ॥ २९ ॥

अभिनव—पूर्वरङ्ग के प्रसङ्ग में प्ररोचना को पहिले कहा जा चुका है। वहाँ जो प्ररोचना है, वह भारती का अंश है ॥ २८ ॥

२. आमुख—

अनुवाद जहाँ पर नटी, विदूषक और पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ अपने कार्य (अभिनय) का आक्षेप करते हुए चित्र-विचित्र उक्तियों के द्वारा अथवा वीथी के अङ्गों के आधार पर अथवा अन्य प्रकार से वार्तालाप करते हैं, उसे बुध लोग 'आमुख' कहते हैं और इसे ही प्रस्तावना कहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

अभिनव—अभिनव आमुख का लक्षण लिखते हैं। यहाँ 'नटी विदूषको वापि' म 'वा' शब्द से नटी प्रभृति व्यस्त पात्रों का सूत्रधार के साथ होने वाले 'संधात' को कहते हैं और 'अपि' शब्द से अपने सहित समस्त पात्रों के संघात को कहते हैं और 'पारिपार्श्विक एव वा' में द्वितीय 'वा' शब्द समस्त और व्यस्त पात्रों के विकल्प को कहता है और इसी वाक्य में प्रयुक्त 'एव' शब्द सूत्रधार की अवश्यभाविता दिखाता है।

---

१. ख. ग. यत्र ।
२. ख. ग. पुस्तकयोः नास्ति ।

चित्रैरिति भाविरूपकार्थानुकूलविषयानुसारिभिः, स्वं कार्यं नटव्यापारं, वीथ्यङ्गैरिति श्लिष्टवक्रोक्तिप्रत्युक्तिप्रायैरित्यर्थः, यथा "पीताम्बरगुरुशक्त्या हृतत्युषां प्रसभमनिरुद्धः" इत्यादि। अन्यथेति स्पष्टोक्तिप्रत्युक्तिभिः, यथा नागानन्दे "नाटयितव्ये किमित्यकारणमेव रुद्यते" इत्यादि। आमुखमिति मुखसन्धेर्निवर्तते यतः आङ्मर्यादायाम्, यदि वात्रामुखं प्रारम्भमीषन्मुखं वा प्रस्ताव्यतेऽनयेति (प्रस्तावना) बाहुलकेन तच्छीलसंज्ञयोरिति विकारो न भवति।

तत्र कदाचित्कार्याभिमुखं नीयते पूर्व-रङ्गविधिः, तदभिमुखं वा कार्यारम्भः तन्नीयते, सा द्विधेति (५-१८०) पूर्वरङ्गाध्याये वर्णितमस्माभिः। एवं च यदा स्थापकोऽपि सूत्रधारतुल्यगुणाकारो रामादिवदेव प्रयुज्यते तदेदं कविकृतमामुखं भवति।

'चित्रैः वाक्यैः' में 'चित्रैः' पद का अर्थ है—रूपक के भावी अर्थों के अनुरूप विषय का अनुसरण करने वाले 'स्वकार्योत्थैः' में स्व कार्य का अर्थ है नट अर्थात् अभिनेता का व्यापार। 'वीथ्यङ्गैः' का अर्थ है—श्लिष्ट वक्रोक्ति एवं प्रत्युक्ति के द्वारा। जैसे—प्रतिमानिरुद्ध नाटक में 'पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण की शक्ति से अनिरुद्ध ने उषा का बलात् हरण कर लिया" इत्यादि। अन्यथा अर्थात् स्पष्टोक्ति एवं प्रत्युक्ति के द्वारा, जैसे नागानन्द में "अभिनय के समय बिना कारण के रोते क्यों हो?" इत्यादि। 'आमुखम्' का अर्थ है मुखसन्धि से निवर्त्तन। यहाँ 'आङ्' का अर्थ है मर्यादा अथवा यहाँ 'आमुखम्' का अर्थ है प्रारम्भ अथवा 'ईषन्मुख'। आमुख का एक अर्थ है प्रस्तावना। यहाँ 'प्रस्ताव्यतेऽनया' इस विग्रह में करण में 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय है। बाहुलक के बल से इसका अर्थ है शील (स्वभाव)। इसी कारण इसका यह नाम है।

यहाँ पर कभी पूर्वरङ्ग विधि को कार्य के अभिमुख ले जाते हैं, अथवा कभी पूर्वरङ्ग विधि की ओर (अभिमुख) कार्य का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार यह दो प्रकार का होता है, यह पूर्वरङ्ग के अध्याय में हमने दिखा दिया है। इसी प्रकार जब स्थापक भी सूत्रधार के समान गुणाकार वाले राम के सदृश प्रयोग किया जाता है तब यह कविकृत आमुख होता है।

लक्षणं पूर्वमुक्तं तु वीथ्याः प्रहसनस्य च ।
आमुखाङ्गान्यतो वक्ष्ये यथावदनुपूर्वशः ॥ ३२ ॥
उद्घात्यक कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवृत्तकावलगिते [1]पञ्चाङ्गान्यामुखस्य तु ॥ ३३ ॥

अन्ये त्वाहुः—पूर्वरङ्गाध्यायेऽपि या प्रस्तावनोक्ता सापि भारतीभेद एवेति, किं द्वैविध्याभिधानप्रयासेन । यत्तु "क्रुद्धो भीम इत एवाभिवर्तते तत्र युक्तमस्य पुरतोऽवस्थातुम्" इत्यादि, तत्तदीयसत्त्वावेशादेवास्य प्रकाशनाय सामाजिकानां साक्षात्कारकल्पाध्यवसायसम्पत्त्यर्थं सूत्रधारेणोच्यते, शिशुसन्त्रासाय कयाचिदाकृत्या कश्चिदत्रस्यन्नपि त्राससंरम्भगर्भमाह "अयमागतो राक्षसः" इति यथोक्तं भावाध्याये (७) "सत्त्वशुद्धा कर्तव्याः" "सत्त्वविशुद्धाः कार्या यथास्वरूपा भवन्ति" इति, एतच्च तत्रैव निर्णीतम् ।

अन्य लोग तो कहते हैं कि पूर्वरङ्ग अध्याय में भी जिस प्रस्तावना को कहा गया है वह भी भारती वृत्ति का ही भेद है । अतः आमुख के द्वैविध्य कहने के प्रयास करने की क्या आवश्यकता है? और जो 'क्रुद्ध भीम इधर ही आ रहा है, अतः उनके सामने ठहरना उचित नहीं है" इत्यादि कथन को सूत्रधार उसके (भीम के) सत्त्वाभिनिवेश को प्रकाशित करने के लिए और सामाजिकों के साक्षात्कार सदृश अध्यवसाय को सम्पत्ति के लिए कहा है, जैसा कि बालक को डराने के लिए किसी आकृति (रेखाचित्र) को बनाकर भो उससे न डरने पर भी त्रास (भय) से उत्पन्न घबराहट के साथ कहता है कि अरे ! यह राक्षस आ गया' इति । जैसाकि भावाध्याय में 'सत्त्वशुद्धाः कर्त्तव्याः' इस अंश की व्याख्या के प्रसङ्ग में कह दिया है । इसका निर्णय वहीं कर दिया है ॥ २९-३१ ॥

अनुवाद—वीथी और प्रहसन के लक्षण को पहले कह दिया है, अतः अब मैं यथावत् क्रमशः आमुख के अङ्गों को कहूँगा ॥ ३२ ॥

अनुवाद—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और अवलगित ये पाँच प्रस्तावना (आमुख) के अङ्ग हैं ॥ ३३ ॥

---

१. ख. ग. आमुखाङ्गानि पञ्च वै ।

उद्घात्यकावलगित[1]लक्षणं कथितं मया ।
शेषाणां लक्षणं विप्रा व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३४ ॥

तस्यामुखस्य पञ्चाङ्गानि भेदा इत्यर्थः ।

ननु एवं सति पञ्चानां युगपत्प्रयोगे प्रस्तावना प्रयुक्ता स्यात्, न चैतन्मुनेरभिमतम् । तथा हि वक्ष्यति—

एषामन्यतमं श्लिष्टं योजयित्वार्थयुक्तिभिः ।
पात्रग्रन्थैरसम्बाधं प्रकुर्यादामुखं ततः ॥ (२०-३७)

इत्युद्देशे ।

यद्यपि पश्चादवलगितमुक्तं तथा तयोस्तुल्यं, लक्षणस्य पूर्वोक्तत्वमित्याशयेनाह—

अभिनव—इस अभिनय के पाँच अङ्ग (भेद) होते हैं। इस प्रकार इस पाँचों अङ्गों के एक साथ प्रयोग होने पर प्रस्तावना प्रयुक्त होगी, किन्तु यह मुनि को अभिमत नहीं है । जैसा कि आगे कहेंगे—

इन पाँचों अङ्गों में किसी एक अर्थ की युक्तियों से श्लिष्ट (समुचित) योजना करके पात्रों के ग्रन्थों से असङ्कीर्ण आमुख का प्रयोग करें । यह उद्देश में कहेंगे ॥ ३३ ॥

अभिनव—यद्यपि उद्घात्यक के पश्चात् अवलगित को कहा है। तथापि दोनों का कथन तुल्य है। लक्षण को मैंने पहले कह दिया है, इस आशय से कहते हैं—

अनुवाद—उद्घात्यक और अवलगित के लक्षणों को मैंने पहले कह दिया है। हे विप्रो ! अब क्रमशः शेष प्रभेदों के लक्षणों को कहूँगा ॥ ३४ ॥

---

१. ख. ग. अवगलितयोर्लक्षणं ।

सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातः स कीर्तितः[1] ॥ ३५ ॥

उद्धात्यकावलगितयोर्लक्षणं कथितमिति वीथ्यङ्गव्याख्याने, यद्यपि च प्रस्तावनायामन्यान्यपि वीथ्यङ्गानि भवन्ति, आमुखसामान्यलक्षणेऽप्युक्तं वीथ्यङ्गैरिति, तथाप्युद्धात्यकमवलगितं च भाविकाव्यार्थप्रस्तावनेति बालरङ्ग (प्रस्तावने प्रबलमङ्ग ?), तत्र तयोर्लक्षणम्—

पदानि त्वगतार्थानि ये नराः पुनरादरात् ।
योजयन्ति पदैरन्यैस्तदुद्धात्यकमुच्यते ॥
यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
तच्चावलगितं ॥ इति (१८-११६)

वाक्यमिति, यथा—(रत्नावल्यां) "द्वीपादन्यस्मात्" इति । वाक्यार्थं यथा प्रतिमानिरुद्धे—"पीताम्बरगुरुशक्त्या हरत्युषां" इति । केवलमत्र वीथ्यङ्गनिबद्धम् । कथा काव्यार्थरूपा, ऊर्ध्वमेव हन्यते तत्रेति गम्यते कथोद्घातः ।

अभिनव—अभिनव का कथन है कि उद्घात्यक और अवलगित का लक्षण मैंने वीथी के अङ्गों के व्याख्यान के अवसर पर कह दिया है। यद्यपि प्रस्तावना में वीथी के अन्य अङ्ग भी होते हैं, आमुख के सामान्य लक्षण में भी 'वीथ्यङ्गैः' यह कहा है तब भी उद्घात्यक और अवलगित भावी काव्यार्थ की प्रस्तावना में प्रबल अङ्ग माने गये हैं। उनके लक्षण हैं—

"जो मनुष्य अप्राप्त (अनिश्चितार्थक) पदों का अन्य पदों के साथ योजना करके अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण करते हैं उसे 'उद्घात्यक' कहते हैं।"

"जहाँ पर अन्य के प्रसङ्ग में अन्य का समावेश करके अन्य कार्य को सिद्ध करते हैं। उसे 'अवलगित' कहते हैं।" इति।

अनुवाद—जहाँ पर सूत्रधार के वाक्य अथवा वाक्यार्थ को लेकर पात्र रङ्ग-मञ्च पर प्रवेश करे, उसे 'कथोद्घात' कहते हैं ॥ ३५ ॥

---

१. ग. प्रयोगातिशयो हिंसः ।

प्रयोगे तु प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत् ।
ततश्च प्रविशेत्पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ॥ ३६ ॥

प्रयोग इति प्रस्तावनात्मके, प्रयोगमिति नाट्यात्मकं भावितम् । एकस्तु-शब्दो भेदान्तरेभ्यो व्यतिरेकमाह, द्वितीयोऽवधारणे । सूत्रधार एव यत्र प्रयोगे प्रयोगं समुद्गकवाटयुगलवद्योजयति स प्रयोगद्वयश्लेषणात्प्रयोगातिशयः । यथा विक्रमोर्वश्याम्—

अथ कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते । आः ज्ञातम्—

अभिनव—वाक्य को लेकर प्रवेश का उदाहरण जैसे—रत्नावली में—'द्वीपादन्यस्मादिति' कहकर यौगन्धरायण का प्रवेश । वाक्यार्थ को लेकर जैसे—प्रतिमानिरुद्ध में—"पीतम्बर कृष्ण गुरु की शक्ति से उषा का हरण करता है ।" यहाँ पर केवल वीथी के अङ्ग का निवन्धन हुआ है। काव्यार्थरुप कथा का जहाँ ऊपर (ऊर्ध्व में) गमन हो उसे 'कथोद्घात' कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनुवाद—जहाँ पर सूत्रधार एक प्रयोग (अभिनय) के दूसरे प्रयोग को योजना करे, और उसी के अनुसार पात्र का प्रवेश हो तो वह, प्रयोगातिशय है ॥ ३६ ॥

अभिनव—प्रयोग अर्थात् प्रस्तावना में। 'प्रयोगम्' अर्थात् नाटचात्मक (नाटच के रूप में) प्रयोग (अभिनय) करे। वहाँ पर प्रथम सप्तम्यन्त प्रयोग (प्रयोगे शब्द अन्य भेदों से पार्थक्य (व्यावर्त्तन) को कहता है और द्वितीग 'प्रयोग' पद (प्रयोगम्) अवधारण अर्थ में है। सूत्रधार ही जहाँ पर प्रयोग में प्रयोग को उद्घाटित (खुले हुए) कपाटयुगल के समान योजित करता है वह दो प्रयोगों के संश्लेषण से प्रयोगातिशय हो जाता है। जैसे—विक्रमोर्वशीय नाटक में—

"आकाश में कुररी पक्षियों के समान शब्द (आर्त्तनाद) सुनाई दे रहा है।" अरे ! समझा ।

[1]कालप्रवृत्तिमाश्रित्य वर्णना या प्रयुज्यते।
तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम् ॥ ३७ ॥

ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमुपनृत्य निवर्तमाना।
बन्दीकृता विबुधवैरिभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥ इति।

यदा कालप्रवृत्तिं कांचिदवलम्ब्य यथा सूत्रधारेण किञ्चिद्वस्तु वर्ण्यते तदा श्रयेण च पात्रस्य प्रवेशः तत्कालप्रवृत्या स्वार्थोक्तत्वात् प्रवृत्तकम्, यथा अस्यां शरदि—

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।" (वेणी १)
इत्यादि ॥ ३७-३८ ॥

"नारायण नामक मुनि के जङ्घे से उत्पन्न देवाङ्गना उर्बशी कैलाशनाथ की उपासना करके लौटती अवस्था में आधे रास्ते में सुरशत्रु दानवों द्वारा बन्दी बनाई गई ये अप्सराएँ करुण-क्रन्दन कर रही हैं।"

४. प्रवृत्तक—

अनुवाद—काल की प्रवृत्ति का आश्रय करके अर्थात् वसन्तादि किसी ऋतु का जो वर्णन किया जाता है और उसी के अनुसार जहाँ पात्र का प्रवेश होता है, उसे 'प्रवृत्तक' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अभिनव—जैसे किसी कालप्रवृत्ति (कालविशेष) का अवलम्बन कर सूत्रधार किसी वस्तु का वर्णन करता है और उसी के आश्रय से पात्र का प्रवेश होता है, उस काल की प्रवृत्ति के कारण 'प्रवृत्तक' कहलाता है। जैसे—इस शरद् ऋतु में—

"सुन्दर पङ्ख (पक्ष) वाले, मधुर वाणी वाले, दिशाओं को अलङ्कृत करने वाले (दिशाओं पर राज्य करने वाले) मद से उद्धत (मदोन्मत्त) ये धार्त्तराष्ट्र हंस (पक्ष में धृतराष्ट्र के पुत्र) कालवश (समय के शरदृतु प्रभाव से) पक्ष में (कालवश-मृत्यु का समय उपस्थित होने से) पृथ्वी पर आ रहे पक्ष में मृत्यु को प्राप्त होकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं। धराशायी हो रहे हैं।

---

१. ब. ग. प्रवृत्ति कार्यं।

एषामन्यतमं श्लिष्टं योजयित्वार्थयुक्तिभिः[1] ।
[2]तस्मादङ्गद्वयस्यापि सम्भवो न निवार्यते ॥ ३८ ॥

पात्रग्रन्थैरसंबाधं प्रकुर्यादामुखं ततः[3] ।
एवमेतद्बुधैर्ज्ञेयमामुखं विविधाश्रयम्[4] ॥ ३९ ॥

लक्षणं पूर्वमुक्तं तु वीथ्याः प्रहसनस्य च ।
इत्यष्टार्धविकल्पा वृत्तिरियं भारती मयाभिहिता[5] ॥
सात्त्वत्यास्तु विधानं लक्षणयुक्त्या प्रवक्ष्यामि ॥ ४० ॥

पात्रग्रन्थैरसम्बाधमिति यत्र न भूयांसि पात्राणि अल्पपात्रेऽपि ग्रन्थबहुलस्व तथारूपमामुखं कुर्यात् । विविधाश्रयमिति बहुभेदमित्यर्थः । पूर्वमुक्तमिति दशरूपकाध्याये ॥ ३९-४० ॥

अनुवाद—इसमें से किसी एक अर्थ का युक्तियों के साथ श्लिष्टार्थ की योजना करके यदि अङ्गद्वय संभव हो तो उसका निवारण न करें ॥ ३८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अल्प पात्रों की योजना के असम्बाध (असङ्कीर्ण) आमुख को करे। इस प्रकार विविध स्वरूपों से आश्रित 'आमुख' को विद्वान् लोग समझें ॥ ३९ ॥

अनुवाद—वीथी और प्रहसन का लक्षण पहिले बताया जा चुका है। इस प्रकार चार विकल्पों वाली इस भारती वृत्ति को मैंने कहा है। अब सात्त्वती विधान के लक्षण को कहूँगा ॥ ४० ॥

अभिनव—पात्रग्रन्थैरित्यादि अर्थात् जहाँ पर अधिक पात्र न हो अर्थात् अल्प पात्रों के होने पर भी ग्रन्थ बाहुल्य रूप आमुख को करे। 'विविधाश्रयम्' अर्थात् अनेक भेदों वाला। 'पूर्वमुक्तम्' अर्थात् दशरूपकाध्याय में पहिले कहा जा चुका है ॥ ३९-४० ॥

---

१. ख. ग. योजयित्वा तु युक्तिभिः ।
२. ख. ग. घ. पुस्तकयोर्नास्ति ।
३. ख. ग. बुधः ।
४. ख. ग. विबुधाश्रयम् ।
५. ख. ग. प्रोक्ता ।

या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥ ४१ ॥

वागङ्गाभिनयवती सत्त्वोत्थान[1] वचनप्रकरणेषु ।
सत्त्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्त्वती वृत्तिः ॥ ४२ ॥

यद्यपि अभेदव्यतिरेकेणापि भारतो (तो ?) (न्यायो) न दृश्यते तथापि न्यायेनेति तत्प्रकारचतुष्कं निरूपितम् (१०-७२) सात्त्वतो गुणः मानसो व्यापारः। सत्सत्त्वं प्रकाशः तद्विद्यते यत्र तत्सत्त्वं मनः, तस्मिन् भवः ॥ ४१ ॥

सत्त्वोत्थानस्य सत्त्वाधारस्य, वचनं येषु प्रकरणेषु काव्यखण्डेषु, तेषु वागङ्गाभिनययुक्ता सती, सत्त्वस्य सात्त्विकाभिनयस्याधिकारे आधिक्यक्रियया सात्त्वतीवृत्तिर्युक्ता भवतीति सम्बन्धः ॥ ४२ ॥

अनुवाद—जो वृत्ति सात्त्वत गुण से युक्त और न्याय-वृत्त से समन्वित हो, तथा जो हर्ष से उत्कृष्ट एवं शोकभाव से रहित हो, उसे 'सात्त्वती' वृत्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

अभिनव—यद्यपि अभेद के व्यतिरेक से भी भारत न्याय नहीं दिखाई देता है तथापि 'न्याय' शब्द से उसके चार भेदों का निरूपण किया गया है । सात्त्वत गुण और मानस व्यापार है । 'सत्' का अर्थ प्रकाश है और वह प्रकाश जिसमें रहता है वह सत्त्व मन है और उस मन में होने वाला गुण सात्त्विक गुण कहलाता है ॥ ४१ ॥

अनुवाद—जो वृत्ति वाचिक और आङ्गिक अभिनय से युक्त, सत्त्व-प्रधान वचनों वाले प्रकरणों में सत्त्व के अधिकार से युक्त सात्त्वती वृत्ति समझना चाहिए ॥ ४२ ॥

अभिनव—सत्त्व के उत्त्थान अर्थात् सत्त्व प्रधान वचन हो जिन प्रकरणों में काव्य खण्डों में । उनमें वाचिक और आङ्गिक अभिनय से युक्त सात्त्विक अभिनय के आधिक्य से युक्त 'सात्त्वती' वृत्ति होती है ॥ ४२ ॥

---

१. ख. सत्त्वोथान । क. (भ.) विविधवाक्यकरणेषु ।

वीराद्भुतरौद्ररसा[1] निरस्तशृङ्गारकरुणनिर्वेदा[2] ।
उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥ ४३ ॥
उत्थापकश्च परिवर्तकश्च सल्लापकश्च संघात्यः[3] ।
चत्वारोऽस्या भेदा विज्ञेया नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥ ४४ ॥

शृङ्गारे विषयनिमग्नं मनः करुणे काम्दिशोकं, निर्वेदे मूढमिति तद्व्यापारो भवन्नपि क्रोधविस्मयोत्साहेष्विव न सातिशयं परिस्फुरतीति दर्शयति वीराद्भुत-रौद्ररसेति ।

आधर्षणं वाचा न्यक्कारः ॥ ४३ ॥

अभिनव—शृङ्गार रस में मन का बिषयासक्त होना, करुण रस में पलायन-परायण निर्वेद में मूढ़ता-युक्त व्यापार होने पर भी क्रोध, विस्मय और उत्साह के समान अतिशय स्फुरित नहीं होता । इस बात को दिखाते हैं—

अनुवाद—यह वृत्ति वीर, अद्भुत और रौद्र रसों से युक्त और शृङ्गार, करुण एवं निर्वेद से रहित तथा परस्पर आधर्षण करने वाले उद्धृत स्वभाव वाले पुरुषों की बाहुलता से युक्त होती है ॥ ४३ ॥

अभिनव—यहाँ आधर्षण का अर्थ है वाणी से तिरस्कार ।

अनुवाद—नाट्यतत्त्ववेत्ता इस वृत्ति के उत्थापक, परिवर्त्तक, संलापक और संघात्य ये चार भेद समझें ॥ ४४ ॥

विमर्श—सात्त्वती वृत्ति सत्त्वप्रधान होती है । सत्त्व का अर्थ मन (सत्त्वं मनः) और मन में होनेवाली वृत्ति 'सात्त्वती वृत्ति है । इस वृत्ति में दया, दान, शौर्य आदि का योग रहता है । इसमें हर्ष का प्रकाशन, शोक का संवरण तथा अद्भुत रस की प्रचुरता होती है । नाट्यवेत्ताओं ने इसके चार भेद किये हैं—उत्थापक, परिवर्त्तक, संलाप और संघात्य ।

---

१. क. वीराद्भुतप्रायरसा ।
२. ख. ग. विज्ञेया ह्यल्पकरुणशृंगारा ।
३. ख. ग. ससंघातः ।

अहमप्युत्थास्यामि त्वं तावद्दर्शयात्मनः शक्तिन् ।
इति ¹संघर्षसमुत्थस्तज्ज्ञैरुत्थापको ज्ञेयः ॥ ४५ ॥

उत्थापयति यो मानसः परिस्पन्दः स तावदुत्थापकः तत्सूचको व्यापार-क्रम उपचारः तथोक्तः । तथा वेणीसंहारे भीमः—

भो भोः श्रृण्वन्तु भवन्तः—

स्पृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां कुरूणां पुरः ।
यस्योरस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः ॥ इति ।

---

१. उत्थापक—

अनुवाद—'मैं युद्ध के लिए तैयार हूँ' तुम भी अपनी शक्ति दिखाओ, इस प्रकार संघर्ष से उत्पन्न होने वाली चुनौती को नाट्यवेत्ता लोग 'उत्थापक' समझना चाहिए ॥ ४५ ॥

अभिनव—जो मानस परिस्पन्द को उत्थापित करता है वह 'उत्थापक' है। उसका सूचक व्यापार भी उपचार से 'उत्थापक' कहा गया है। जैसे वेणीसंहार नाटक में भीम कहता है—

भोः भोः आप लोग सुनें ।

"जिस नरपशु ने पञ्चालराजतनया द्रौपदी के बाल पकड़ कर खींचा था जिसने कुरु राजाओं (कौरवों) के सामने द्रौपदी की साड़ी पकड़ कर खींची थी, जिसकी छाती की खून रूपी आसव (मदिरा) को पीने की मैंने प्रतिज्ञा की थी, वह दुष्ट आज मेरे भुजाओं के पिंजरे में आ फँसा है, अरे ! कौरवों ! यदि सामर्थ्य हो तो आकर बचाओ ।"

---

१. ख. ग. घ. संघर्षसमाश्रयमुत्थितं ।

उत्थानसमारब्धानर्थानुत्सृज्य योऽर्थयोगवशात् ।
अन्यानर्थान् भजते स चापि परिवर्तको ज्ञेयः ॥ ४६ ॥

परिवर्तको यथा तत्रैव भीमः—सहदेव गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व । अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुधसहायो भवामि ।

सहदेवः—आर्य, नेदमायुधागारम्, पाञ्चाल्याश्चतुश्शालमिदम् ।

भीमः—किं नामेदं (इत्यादि यावत्) अथवा मन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली । इति

अस्त्रागारप्रवेशपरित्यागेन पाञ्चालीदर्शनात्मककार्यान्तिरसम्पादको मानसो व्यापारः परिवर्तयति कार्यमिति, परिवर्तकवचनं तूपहारारूढम् । एवमुत्तरत्रापि ।

---

२. परिवर्तक—

अनुवाद—जहाँ पर उत्थान से प्रारम्भ किये हुए अर्थों (कार्य) को छोड़कर अन्य अर्थों का ग्रहण किया जाय, उसे 'परिवर्त्तक' कहते हैं ॥ ४६ ॥

अभिनव—परिवर्त्तक—जैसे वेणीसंहार में भीम सहदेव से कहते हैं कि सहदेव ! तुम जाओ और गुरुजनों का अनुसरण करो। मैं भी शास्त्रागार में जाकर शस्त्रों को ग्रहण कर लेता हूँ।

सहदेव—आर्य ! यह शस्त्रागार नहीं है, यह तो द्रौपदी का भवन (चौसाल) है।

भीम—वह क्या है ? अथवा मुझे भी द्रौपदी से भेंट कर कुछ बात करनी है।

अस्त्रागार में प्रवेश के परित्याग कर देने से द्रौपदी के दर्शन रूप अन्य कार्य को सम्पन्न करने वाले मानस व्यापार से कार्य में परिवर्त्तन कर देता है। यह परिवर्त्तन उपचार से आरूढ़ है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

[1]निर्दिष्टवस्तुविषयः प्रपञ्चबद्धस्त्रिहास्यसंयुक्तः ।
संघर्षविशेषकृतस्त्रिविधः परिवर्तको ज्ञेयः ॥ ४७ ॥

साधर्षजो निराधर्षजोऽपि वा [2]रागवचनसंयुक्तः ।
साधिक्षेपालापो ज्ञेयः सल्लापकः सोऽपि ॥ ४८ ॥

[3]धर्माधर्मसमुत्थं यत्र भवेद्रागदोषसंयुक्तम् ।
साधिक्षेपं च वचो ज्ञेयः संलापको नाम ॥ ४९ ॥

सह (आ) घर्षणेन यद्वाक्यं (साधर्षं) तद्विरहितं निराधर्षं, तेन खलीकारकाद्वचनादन्यतोऽपि वा सत्, अनन्तरमधिक्षेपं वचनमभिभावकं मानसं कर्म तत्सल्लापकशब्दवाच्यम् । यथा—

अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा ।
स्वैरं शेषे गज इति किल व्याहृतं सत्यवाचा ॥ (वेणी० ३।११)

इत्यत्र सत्यवाचेति ।

अनुवाद—पूर्व निर्दिष्ट वस्तु के अनुसार प्रपञ्च से रचित (बद्ध) तीन प्रकार के हास्य से युक्त संघर्ष विशेष के कारण तीन प्रकार का परिवर्त्तक समझना चाहिए ॥ ४७ ॥

३. संलापक—

अनुवाद—आघर्षण अथवा निराघर्षण के समुत्पन्न रागमय वचनों से युक्त अधिक्षेप पूर्ण आलाप को 'संलापक' समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

अनुवाद—धर्म और अधर्म से समुत्थ जहाँ राग-द्वेष से युक्त अधिक्षेप पूर्ण वचन है उसे 'संल्लापक' समझना चाहिए ॥ ४९ ॥

अभिनव—जो वाक्य अघर्षण से युक्त है वह साघर्ष है और उससे रहित वाक्य निराघर्ष है। इससे अनिष्ट धारक वचनों से भिन्न वाक्य 'सत्' है उसके बाद अपमान जनक वचनों जो मन को अभिभूत करने वाला कर्म है वह 'संलापक' शब्द वाच्य है। जैसे—वेणीसंहार नाटक में—

पृथा पुत्र युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा ऊँचे स्वर में स्पष्ट कहकर फिर अन्त में धीरे से 'हाथी' (गज) ऐसा सत्य वचन कहा। यह 'संल्लापक' है ॥ ४८-४६ ॥

---

१. ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।   २. ख. ग. घ. वापि विविधवचनसंयुक्तः ।
३. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोकः नास्ति ।

[1]मन्त्रार्थवाक्यशक्त्या दैववशादात्मदोषयोगाद्वा ।
संघातभेदजननस्तज्ज्ञैः संघात्यको[2] ज्ञेयः ॥ ५० ॥
[3]बहुकपटसंश्रयाणां परोपघाताशयप्रयुक्तानाम् ।
कूटानां संघातो विज्ञेयः कूटसंघात्यः ॥ ५१ ॥

(सङ्घातभेदजनन इति) सङ्घातस्य भेदं जनयति यो युधि स सङ्घात्यकः । सम्यक्घात्यः शत्रुवर्गो येन, सङ्घातकविषयाद्वा सङ्घात्यकः, सङ्घातभेदश्च परेण सामाद्युपायबलेन वा क्रियते । यथा भीष्मो युधिष्ठिरेण साम्ना भेदितः, अतः शिखण्डिनं पुरस्कृत्य योद्धव्यश्च । दैवात्संपद्यते, यथा द्रोणेनोक्तं सुते हते शस्त्रं त्यक्ष्यामीति । आत्मदोषे वा स्वकटकलक्षणेन, यथा कर्णेन सह कलहायमानोऽश्वत्थामा शस्त्रत्यागं करोतीति । अथ च सत्त्वाधिक्यमपराध्यति "कथं नामाहमेवंभूत" इति (वेण्यां तृतीयेऽङ्केऽन्ते) ॥ ५०-५१ ॥

४. संघात्यक—

अनुवाद--जो मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, वाक्यशक्ति से या दैवशक्ति अथवा आत्मदोष से शत्रु-समूह का भेदन करने वाला है उसे 'संघात्यक' समझना चाहिए ॥ ५० ॥

अनुवाद—बहुत से कपटों (छल-प्रपञ्च) का आश्रय, परोपघात के आशय से प्रयुक्त कूटों (माया) के दम्भ से संघात को 'कूटसंघात्य' समझना चाहिए ॥ ५१ ॥

अभिनव—संघात भेदजनन इति—जो युद्ध में संघात के भेद को उत्पन्न करता है, वह संघात्यक है। जिससे शत्रु वर्ग अच्छो तरह घातित हो अथवा संघात का विषय होने से 'संघात्य' है अथवा शत्रु के द्वारा सामादि उपायों बल से संघात का भेद किया जाता है। जैसे युधिष्ठिर ने साम के द्वारा भीष्म का भेदन कर दिया, अत: शिखण्डी को आगे करके युद्ध किया, अत: दैवयोग से सम्पादित होता है ? जैसे, द्रोण ने कहा था कि 'पुत्र के मारे जाने पर मैं शस्त्र को त्याग कर दूंगा ? आत्मदोष अर्थात् अपने कपट रूप व्यवहार से—

१. ख-ग. मित्रार्थवाक्ययुक्त्या । घ. मित्रार्थकार्ययुक्त्या ।
२. ख-ग. संघातको ।
३. ख-ग. पुस्तकयोरयं नास्ति ;

इत्यष्टार्धविकल्पा वृत्तिरियं सात्त्वती मयाभिहिता ।
कैशिक्यास्त्वथ[1] लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ ५२ ॥

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥ ५३ ॥

[2]बहुवाद्यनृत्तगीता शृङ्गाराभिनयचित्रनेपथ्या ।
माल्यालङ्कारयुता प्रशस्तवेषा च कान्ता च ॥ ५४ ॥

चित्रपदवाक्यबन्धैरलङ्कृता हसितरुदितरोषाद्यैः ।
स्त्रीपुरुषकामयुक्ता विज्ञेया कैशिकीवृत्तिः ॥ ५५ ॥

अथेत्यनन्तरम् । अतः परमित्येतेभ्यो लक्षणेभ्यः पृथग्भूतमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

जैसे, 'कर्ण के साथ युद्ध करता हुआ अश्वत्थामा शास्त्र का त्याग कर देता है'। यहाँ पर सत्त्वाधिक्य से अपराध कर देता है—"कैसे मैं इस प्रकार का हो गया ?" (वेणीसंहार–३) ।

अनुवाद—इस प्रकार अष्टार्ध अर्थात् चार विकल्पों (भेदों) वाली सात्त्वती वृत्ति को मैंने कहा है । इसके बाद अब 'कैशिकी' वृत्ति का लक्षण कहूँगा ॥ ५२ ॥

अभिनव—अब इसके बाद अर्थात् कहे हुए लक्षणों से पृथग्भूत ॥ ५२ ॥

५. कैशिकी वृत्ति—

अनुवाद—जो सुकुमार एवं मनोहर वेष-भूषा से विचित्र, स्त्री पात्रों से समन्वित, नृत्त, गीत आदि की बहुलता से समृद्ध, शृङ्गाररसात्मक व्यापार को 'कैशिकी' वृत्ति कहते हैं ॥ ५३ ॥

अनुवाद जहाँ पर बहुत प्रकार के वाद्य, नृत्त और गीत हों और शृङ्गारमय अभिनय से युक्त चित्र-विचित्र अभिनय हों तथा जो माला एवं अलङ्कारों से युक्त, प्रशस्त वेष-भूषा से युक्त, कान्त तथा चित्र-विचित्र पद एवं वाक्य के बन्धों (रचनाओं) से अलंकृत हो और हास्य, रोदन, रोष आदि से सुशोभित हो और जो स्त्री एवं पुरुष की कामनाओं से युक्त हो, उसे 'कैशिकी' वृत्ति समझनी चाहिए ॥ ५४-५५ ॥

---

१. ख-ग. कैशिक्यामिह ।
२. ख-ग. पुस्तकयोः श्लोकद्वयं नास्ति ।

नर्मं च नर्मस्फुञ्जो[1] नर्मस्फाटोऽत्र नर्मगर्भश्च ।
कैशिक्याश्चत्वारो भेदा ह्येते समाख्याताः ॥ ५६ ॥
आस्थापितशृङ्गारं विशुद्धकरणं निवृत्तवीररसम् ।
[2]हास्यप्रवचनबहुलं नर्मं त्रिविधं विजानीयात् ॥ ५७ ॥
[3]ईर्ष्याक्रोधप्रायं सोपालम्भकरणानुविद्धं च ।
आत्मोपक्षेपकृतं सविप्रलम्भं स्मृतं नर्मं ॥ ५८ ॥

श्लक्ष्णः सुकुमारः श्लिष्यति हृदय इति कृत्वा । नेपथ्यविशेषो वस्त्रमाल्यादिः तेन चित्रा, बहु विपुलं गीतं नृत्तं च यस्याम्, कामोपभोगो रतिः ततः प्रभवो यः स शृङ्गारस्तद्बहुल उपचारो व्यवहारो यस्यां, सा तथोक्ता ।

कैशिकी वृत्ति के भेद—

अनुवाद—नर्म, नर्मस्फुञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ ये चार कैशिकी वृत्ति के भेद कहे गये हैं ॥ ५६ ॥

अभिनव—जो श्लक्षण अर्थात् सुकुतार हृदय में चिपकने वाला हो, नेपथ्य विशेष अर्थात् वस्त्र, माला आदि से चित्र-विचित्र हो, जिससे बहुत से नृत्त एवं गीत हो, कामोपभोग अर्थात् रति से उत्पन्न जो शृङ्गार, उस शृङ्गार का जहाँ पर विपुल व्यवहार हो, उसे 'कैशिकी' वृत्ति है ॥ ५३-५५ ॥

अनुवाद—जहाँ पर शृङ्गार रस अवस्थित हो और इन्द्रियाँ विशुद्ध हों तथा जहाँ वीर रस का निवर्तन कर दिया गया हो। वह हास्यबहुल नर्म तीन प्रकार का समझना चाहिए ॥ ५७ ॥

अनुवाद—ईर्ष्या और क्रोध प्राय तथा उपालम्भ पूर्ण करणों से अनुविद्ध तथा आत्मोपक्षेप से युक्त नर्म विप्रलम्भ शृङ्गार में होता है ॥ ५८ ॥

---

१. ख-ग. स्फुर्जो ।
२. क. हास्यप्रपञ्च बहुत्वं ।
३. ख-ग. ईर्ष्याक्रोधप्रयासोपालम्भवचनानुविद्धं च ।

(कैशिक्याश्चत्वार्यङ्गानि नर्माख्यं नर्मोपपदानि च तत्र नर्मणः शृङ्गार-स्थापकत्वं) हासप्रधानता च तदेति सामान्यलक्षणम् ।

तत्र हास ईर्ष्या वा सूचयितुं परं वोपालब्धुं परहृदयं वाक्षेप्तुमिति त्रिधा (आत्मेति) आत्मनः परकीयस्य चित्तस्योपक्षेप आत्मसमीपकरणम् । उदाहरणम्—वासवदत्तां (फलकमुद्दिश्य सहासं) एसा वि अवरा तस्स समीवे जाआ लिहिदा । एवं वि अय्यवसन्तअस्स विण्णाणम् (एषाऽप्यपरा तस्य समीपे जाया लिखिता एवप्यार्यवसन्तस्य विज्ञानम्) ।

द्वितीयस्योदाहरणं—"शीतांशुर्मुख" मित्यादि श्रुतवती वासवदत्ता यदा राज्ञोच्यते, "प्रिये वासवदत्ते" इति तद्वचसोपालम्भं सा सहासमाह—"अय्यउत्त मा एव्वं भण" इत्यादि ।

अभिनव—कैशिकी वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं जिनमें प्रथम प्रत्यक्ष नर्म है। शेष तीन नर्म उपपद पूर्वक होते हैं—नर्मस्फुञ्ज, नर्मस्फोट और नर्म-गर्भ । उनमें 'नर्म' शृङ्गार का स्थापक है और उसमें हास्य प्रमुखता है । यह नर्म का सामान्य लक्षण है ।

इनमें हास्य ईर्ष्या को सूचित करने के लिए अथवा दूसरे को उपालम्भ देने या दूसरे के हृदय को आक्षिप्त करने के कारण तीन प्रकार का होता है। अपने से भिन्न परकीय चित्त का उपक्षेप अर्थात् अपने समीप लाना। जैसे रत्नावली नाटिका में—वासवदत्ता (चित्रफलक को लक्ष्य कर हँसती हुई) यह दूसरो जाया उसके समीप में लिख दी है। यह आर्य वसन्तक का विज्ञान है। यह प्रथम नर्म का उदाहरण है ।

द्वितीय प्रकार के नर्म का उदाहरण जैसे रत्नावली में—'शीतकांशु-मुज्जृम्भते' तुम्हारा मुख चन्द्रमा है इत्यादि को सुनने वाली वासवदत्ता को जब राजा के द्वारा 'हे वासवदत्ते' इस प्रकार कहे जाने पर उलाहना समझकर वह हासपूर्वक कहती हैं कि 'हे आर्यपुत्र ! ऐसा मत कहिए, इत्यादि ।

नवसङ्गमसम्भोगो रति[1] समुदयवेषवाक्यसंयुक्तः ।
ज्ञेयो नर्मस्फुञ्जो[2] ह्यवसानभयात्मकश्चैव[3] ॥ ५९ ॥

तृतीयस्य सुसङ्गता (विहस्य) "जादिसो तुए कामदेवो आलिहिवो मए वि तारिसो रई आलिहिदा। ता असंभाविणो, कहेहि दाव वुत्तंतं।"

एवं त्रिभेदं नर्माख्याय नर्मस्फुञ्जं प्रकाशयितुमाह—नवसङ्गमेति ।

नवसङ्गममात्र एव सम्भोगी यत्र । कथं तस्य सङ्गमस्य सम्भोगत्वमित्याह—रतिसमुदयेति रतेरन्योन्यास्थाबन्धरूपायाः समुदयः स्फुटत्वं, यस्तादृशेन वेषेण वाक्येन वा योगो यत्र । अवसाने च भयं पूर्वनायिकाकृतम् । यथा रत्नावल्यामुदयनस्य सागरिकायाश्च नर्मणः स्फुञ्जो विघ्न इत्यर्थः ।

तृतीय प्रकार के नर्म के प्रमेय का उदाहरण—जैसे रत्नावली में सुसङ्गता (हँसकर) जैसा तुमने कामदेव को लिखा है, मैंने भी उसी प्रकार रति को लिख दी है । वह असम्भाविनी है, आगे का वृत्तान्त कहिए ॥ ५८ ॥

इस प्रकार नर्म के तीन भेदों को कहकर अब नर्मस्फुञ्ज को प्रकाशित करने के लिए कहते हैं—

नर्मस्फुञ्ज—

अनुवाद—जहाँ पर नवसमागम के समय सम्भोग तथा जो रति को समुदित करने वाले वेष-भूषा एवं वाक्यों से संयुक्त और अवसान (अन्त) में भयानक परिणाम वाला हो, उसे 'नर्मस्फुञ्ज' (नर्मस्फूर्जा) समझना चाहिए ॥ ५९ ॥

अभिनव—नवसङ्गम मात्र ही जहाँ सम्भोग हो यहाँ प्रश्न होता है कि यहाँ सङ्गम को सम्भोग कैसे कहते हैं ? इस पर कहते हैं कि यहाँ परस्पर अर्थात् नायक नायिका की परस्पर एक दूसरे के प्रति आस्था-बन्ध रूपा रति का समुदय (स्फुटत्व) जिससे हो ऐसे वेष-भूषा, अथवा वाक्य का योग जहाँ हो और अन्त में पूर्वनायिकाकृत भय हो, जैसे रत्नावली नाटिका उदयन और सागरिका के नर्म में स्फुञ्ज अर्थात् विघ्न हो जाता है। (स्फुञ्ज = विघ्न) ॥ ५९ ॥

---

१. ख-ग. समुदयवाक्यवेश ।

२. ख-ग. नस्फुर्जो ; ३. ख-ग. भयानकश्चैव ।

विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषैः[1] ।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥ ६० ॥

विविधा भावाः भयहासहर्षत्रासरोषाद्याः लवैर्लवैरित्यत एव भयादीनामंशेन भावात् स्थायित्वानुपगमात् भयानकहास्यरौद्रादिरसतापत्तिर्न सम्भवति । शृङ्गारस्तु पूर्व एव "जस्स किदे तुमं एत्थ आअदा से एत्थ एव्व चिण्ठदि" सुसङ्गतोक्तो हासलवः, न हास्यो रसः ।

"सहि कस्सकिदे अहं एत्थ आअदा" इत्यत्र सागरिकोक्तौ (रौद्र) लवो न तु रौद्रः । एवमन्यत्र । नर्मण इति तदुपलक्षितस्य शृङ्गारस्य स्फोटो वैचित्र्यं चमत्कारोल्लासकृतस्फुटत्वं यत्रेति ॥ ६० ॥

नर्मस्फोट—

अनुवाद—नाना प्रकार के विविध भावों के छोटे-छोटे अनेक विशेषों से विभूषित, तथा असमग्र रसों से आक्षिप्त है अतः अपूर्ण है, उसे 'नर्मस्फोट' समझना चाहिए ॥ ६० ॥

अभिनव—विविध भाव अर्थात्, भय, हास, हर्ष, त्रास, रोष आदि। उनके लव-लव अंश से अत एव भय आदि के अंश में अस्तित्व होने से स्थायित्व की स्थिति रहने के कारण भयानक, हास्य, रौद्र आदि के रूप में रसतापत्ति सम्भव नहीं है तथा यहाँ शृङ्गार तो पूर्व में ही स्थित है, अतः 'जिसके लिए तुम यहाँ आई हो वह यहाँ पहिले से ही स्थित है, इस प्रकार सुसङ्गता को उक्ति में हास्य का लव है, हास्य रस नहीं है।

'सखि ! किसके लिए मैं 'यहाँ आई हूँ' इस प्रकार के सागरिका के कथन में क्रोध का लव है, रौद्र रस नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। इससे नर्म से उपलक्षित शृङ्गार रस का स्फोट होने से विचित्रता हो अथवा चमत्कार के उल्लास के कारण स्फुटता हो जिसमें वह नर्म स्फोट है।

---

१. ख. बहुविशेषः ।

[2]विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र ।
प्रच्छन्नं व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ॥ ६१ ॥

[3]पूर्वस्थितौ विपद्येत नायको यत्र चापरस्तिष्ठेत् ।
तमपीह नर्मगर्भं विधानं नाट्यप्रयोगेषु ॥ ६२ ॥

इत्यष्टार्धविकल्पा वृत्तिरियं कैशिकी मयाभिहिता ।
अत ऊर्ध्वमुद्धतरसामारभटीं संप्रवक्ष्यामि ॥ ६३ ॥

शृङ्गारोपयोगिभिर्विज्ञानाद्यैः प्रच्छन्नं यत्र नायक आस्ते नवसमागमसिद्धये स नर्मगर्भः। नर्मोपयोगिनो विज्ञानाद्या गर्भीकृता इव प्रच्छन्नतया यत्रेति, यथा प्रच्छन्नरूपो नायकः सङ्केतस्थानं गच्छति ।

(उद्धतेति) दीप्तरसा रौद्रादयः उद्धताः ॥ ६२-६३ ॥

नर्मगर्भ—

अनुवाद—जहाँ पर नायक किसी विशेष कार्यवश विज्ञान, रूप, शोभा, धन आदि गुणों के द्वारा प्रच्छन्न (छिपे छिपे) व्यवहार करता है, उसे 'नर्मगर्भ' कहते हैं ॥ ६१ ॥

अनुवाद—जहाँ पर पूर्वस्थित नायक विषण्ण (उदासीन) होकर चला जाय और दूसरा नायक उस स्थान पर आ जाय, नाट्य प्रयोगों में उन्हें भी नर्मगर्भ समझे ॥ ६२ ॥

अभिनव—जहाँ पर सम्भोग के लिए प्रथम समागम सम्पादन हेतु नायक शृङ्गार रस के उपयोगी विज्ञान आदि के द्वारा प्रच्छन्न होकर स्थित रहता है वहाँ 'नर्मगर्भ' होता है। जहाँ पर नर्म के उपयोगी विज्ञान आदि गर्भीकृत के समान जहाँ पर प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है, जैसे नायक छिप-छिप कर संकेत स्थान पर जाता है ॥ ६१-६२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अष्टविकल्पा अर्थात् चार भेदों वाली कौशिकी वृत्ति को मैंने कहा है। अब मैं उद्धृत रसों वाली आरभटी वृत्ति को कहता हूँ ॥ ६३ ॥

अभिनव—दीप्त रस रौद्र आदि उद्धृत माने गये हैं ॥ ६३ ॥

---

२. ख. ग. सम्भावनादिभिः ।

३. ख. ग. पूर्वस्थितानिपद्येत यत्र चान्यतमनायकस्तिष्ठेत् ।
तमपीह नर्मगर्भं वदन्ति नाट्यप्रयोगेऽस्मिन् ।

विशेष—भरत के अनुसार विष्णु ने लीलायुक्त विचित्र अङ्गहार अपने सुन्दर केशों को बाधा था तो उससे 'कैशिकी बृत्ति का उदय हुआ'। नाटचदर्पण के अनुसार अत्यन्त लम्बे-लम्बे केशों से युक्त होते के कारण स्त्री को 'केशिका' कहते हैं। उनकी प्रधानता होने के कारण यह वृत्ति 'कैशिकी' वृत्ति कहलाती है। **"अतिशयिताः केशाः सन्ति आसाम् इति केशिकाः स्त्रियः, तत्प्रधानत्वात् तासामियं कैशिकी"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार विशेष प्रकार की वेश-भूषा, हास्य शृङ्गारादि की चेष्टाओं से विचित्र, नाट्य, नृत्त, गीत, वाद्य, युक्त तथा स्त्री पात्रों की बहुलता से समन्वित 'कैशिकी' वृत्ति होती है। भरत मुनि के अनुसार मनोहर वेष-भूषा से विचित्र, स्त्री पात्रों से समन्वित, नृत्य, गीत, वाद्य की बहुलता से सरस स्त्री और पुरुष के काम भाव से समृद्ध शृङ्गार-रसात्मक व्यापार ही 'कैशिकी वृत्ति कहलाती है। कैशिकी वृत्ति के चार प्रकार होते हैं—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ।

१. नर्म—प्रियजन को आकर्षित करने वाला, तथा बहुविध कुशल क्रीड़ा-विलास से युक्त 'नर्म' होता है। नर्म में तीन विशेषताएँ हैं—१. शुद्ध हास्य, २. शृङ्गार मिश्रित हास्य लीला तथा ३. भयमिश्रित हास्य। इनमें शुद्ध हास्य की तीन विधाएँ हैं—वेश, वचन और चेष्टा। शृङ्गार हास्य के तीन आधार हैं—आत्मोपक्षेण, सम्भोगेच्छा और ईर्ष्या। भयमिश्रित हास्य की भी तीन विधाये हैं—शुद्ध एवं अन्य रसों द्वारा संहत। नर्म के द्वारा प्रियजनों का मनोरञ्जन होता है।

२. नर्मस्फूर्ज (नर्मस्फिञ्ज)—जहाँ पर नायक-नायिकाओं का प्रथम मिलन प्रारम्भ में सुखजनक और अन्त में भयोत्पादक होता है वहाँ 'नर्मस्फूर्ज' (या नर्मस्फिञ्ज) होता है।

३. नर्मस्फोट—जहाँ पर हास, हर्ष आदि विविध भावों से किञ्चिन्मात्र अंश से इसका आक्षेप 'नर्मस्फोट' होता है।

४. नर्मगर्भ—प्रच्छन्न नायक का कार्यवश नायिका के साथ रूप, विज्ञान आदि गुणों के द्वारा प्रच्छन्न रूप से प्रेम-व्यवहार 'नर्मगर्भ' कहलाता है।

आरभटप्रायगुणा तथैव बहुकपटवञ्चनोपेता[1] ।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया[2] ॥ ६४ ॥
पुस्तावपात[3] प्लुतलङ्घितानि
च्छेद्यानि[4] मायाकृतमिन्द्रजालम् ।
चित्राणि युद्धानि[5] च यत्र नित्यं
तां तादृशीमारभटीं वदन्ति ॥ ६५ ॥
[6]षाड्गुण्यसमारब्धा हठातिसन्धानविद्रवोपेता ।
लाभालाभार्थकृता विज्ञेया वृत्तिरारभटी ॥ ६६ ॥

---

४. आरभटी वृत्ति—

अनुवाद—उद्धत पुरुषों के गुणों के बाहुल्य से उपेत, अनेक प्रकार के कपटपूर्ण वञ्चनाओं से उपेत, दम्भ और अनृत वचनों से युक्त 'आरभटी' वृत्ति समझनी चाहिए ॥ ६४ ॥

अनुवाद—अनेक प्रकार के पुस्त अर्थात् काष्ठादि से निर्मित पुस्त अवपात (नीचे गिरना), प्लुत (उछलना), लङ्घित (फाँदना) आदि तथा छेद्य तथा मायाकृत इन्द्रजाल और जहाँ-चित्र-विचित्र नित्य युद्ध हों, उसे 'आरभटी' वृत्ति कहते हैं ॥ ६५ ॥

अनुवाद—साम, दान आदि छः गुणों से आरब्ध, तथा हठपूर्वक किये गये अतिसन्धानों के कारण विद्रव से उपेत, लाभ और हानि वाले अर्थों से कृत वृत्ति को 'आरभटी' समझनी चाहिए ॥ ६६ ॥

---

१. ख. बहुवचनकपटा च । ख. बहुवञ्चनकपटोपेता ।
२. क. सां ज्ञेया ।
३. ख. ग. पुस्तावपात ।
४. ख. ग. चान्यानि ।
५. ख. ग. युक्तासि ।
६. ख. या षड्गुणसंरब्धा परातिसंधान । ख. पुस्तके नास्ति श्लोकोऽयम् ।

संक्षिप्तकावपातौ[1] वस्तूत्थापनमथापि संफेटः ।
एते ह्यस्या भेदा लक्षणमेषां प्रवक्ष्यामि ॥ ६७ ॥

(आरभटेति) आरभटानां ये गुणा क्रोधोवेगाद्यास्ते (प्रायेण) बाहुल्येन यत्र, बहुभिः कपटैः यद्वञ्चनं तेनोपेता । कपटत्रयं च समवकारलक्षणे (१८-७१) व्याख्यातम् । यत एवास्यां कपटयोगोऽतएव दम्भप्राधान्यमसत्यवचन-सम्भवश्च ॥ ६४-६६ ॥

अभिनव—आरभटों अर्थात् योद्धाओं के क्रोध, आवेग आदि जो गुण हैं वे जहाँ प्राय: अधिक रूप में रहते हैं और अनेक प्रकार के रूप से जो वञ्चना उनसे युक्त । कपटत्रय का स्वरूप समवकार के लक्षण के निरूपण के अवसर पर कर दिया गया है । जो कि यहाँ कपट का योग है अत: वहाँ लाभ की प्रधानता और असत्य वचन की सम्भावना रहती हैं ॥ ६४-६६ ॥

विशेष—'आर' का अर्थ है—प्रतोद (चाबुक या अङ्कुश) ! आर के समान उद्धत भट (योद्धा) पुरुष का वर्णन जिस वृत्ति में पाये जाते हैं उसे 'आरभटी' कहते हैं । (**आरेण प्रतोदकेन अङ्कुशेन वा तुल्या भटा उद्धताः पुरुषाः आरभटास्ते सन्त्यस्यामिति आरभटी**) । आरभटी वृत्ति नाना प्रकार के इन्द्रजाल (माया) युद्ध, कपट, क्रोध, दम्भ; अनृत; छल; वध; क्रोध आदि का बाहुल्य पाया जाता है । उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं । इस वृत्ति के पात्र उद्धत होते हैं और यह वृत्ति आङ्गिक वाचिक, सात्त्विक, आहार्य आदि सभी अभिनयों से सम्पन्स होती है तथा यह वृत्ति क्रोध, वीभत्स और भयानक रसों के अनुकूल होती है । अभिनवगुप्तपादाचार्य का कथन है कि जो चलते हैं क्रियाशील हैं वे आरभट हैं अर्थात् आलस्य रहित सम्पन्न हैं । जैसा कि अभिनव-भारती में लिखा गया है कि "इयर्ति इत्यरा भटाः सोत्साहा अनलसाः तेषामियामारभटी काव्यवृत्तिः ।" इस प्रकार उत्साही भटो से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति आरभटी कहलाती है । यह वृत्ति चार अङ्गों वाली होती है—संक्षिप्तक, अवपातन, वस्तूत्थापन और सम्फेट ।

अनुवाद—संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन और सम्फेट ये चार 'आरभटी' वृत्ति के भेद होते हैं । अब इनके लक्षणों को कहूँगा ॥ ६७ ॥

---

१. ख. घातौ ।

अन्वर्थशिल्पयुक्तो बहुपुस्तोत्थानचित्रनेपथ्यः ।
संक्षिप्तवस्तुविषयो ज्ञेयः संक्षिप्तको नाम ॥ ६८ ॥

भयहर्षसमुत्थानं [1]विद्रवविनिपातसंभ्रमाचरणम् ।
क्षिप्रप्रवेशनिर्गममवपातमिमं विजानीयात्[2] ॥ ६९ ॥

(संक्षिप्तकेति) संज्ञया क्षिप्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति संक्षिप्तकः ।

तानि वस्तूनि दर्शयति (अन्वर्थेति) । अर्थेन प्रयोजनेनानुगतः शिल्पयुक्ताः कुशलशिल्पिविरचिताः, अर्था यत्रेति । अत्रैव दिशं दर्शयति (बहुपुस्तेति) । बहु विपुलं, पुस्तस्योत्थानं प्रकटत्वं विचित्रं च नेपथ्यं खड्गचर्मवर्मादि यत्र पुस्तयोगे । यथा मायाशिरोनिक्षेपे रामाभ्युदये चित्रं नेपथ्यम्, यथा (वा) श्वत्थाम्नः (वेण्याम्) ।

---

१. संक्षिप्तक—

अनुवाद—जहाँ पर अर्थ के अनुगत रूप शिल्पों द्वारा विपुल पुस्तों के उत्थान में चित्त-विचित्र नेपथ्य विधान के साथ प्रतिपाद्य विषय-वस्तु संक्षिप्तक समझना चाहिए ॥ ६८ ॥

अभिनव—संज्ञा अर्थात् संकेत से क्षिप्त वस्तुएँ जहाँ विषय हैं उसे 'संक्षिप्तक' कहते हैं । संक्षिप्तक वस्तुओं को दिखाते हैं ॥ ६७ ॥

अन्वर्थ अर्थात् प्रयोजन से अनुगत शिल्पयुक्त अर्थात् कुशल शिल्पियों द्वारा विरचित अर्थ (पदार्थ) है जहाँ, वहाँ पर दिग्दर्शन करते हैं । बहुपुस्तेति । बहुत अर्थात् विपुल पुस्त का उत्थान (प्रकटता) और खड्ग, चर्म, कवच आदि तथा विचित्र नेपथ्य जहाँ हो वह पुस्तयोग है । जैसे मायानिर्मित शिर के निक्षेप में रामाभ्युदय में चित्र-विचित्र नेपथ्य (वेष) है और जैसे वेणीसंहार में अश्वत्थामा का विचित्र वेष धारण करना ॥ ६८ ॥

२. अवपात—

अनुवाद—जहाँ पर भाव एवं हर्ष के समुत्थान के कारण विद्रव (भगदड़) विनिपात एवं सम्भ्रम का आचरण के कारण शीघ्र ही जहाँ प्रवेश एवं निर्गम होता है, इसे 'अवपात' कहते हैं ॥ ६९ ॥

---

१. ख. ग. विद्रुतसंभ्रान्तविविधवचनं च ।

२. ख. ग. विजानन्ति ;

सर्वरससमासकृतं सविद्रवाविद्रवाश्रयं वापि ।
नाट्यं विभाव्यते यत्तद्वस्तूत्थापनं ज्ञेयम् ॥ ७० ॥

भयातिशयेन हर्षातिशयेन च क्षिप्रमेव प्रवेशनिर्गमो यत्र पात्राणां, तथा, विद्रवो वाक्यादिकृतो विनिपातोऽवस्कन्दः नास्यां कृतं सम्भ्रमाचरणं आवेगप्रधाना चेष्टा यत्र, सोऽवपातः अवपतन्त्यस्मिन् पात्राणीति। यथा कृत्यारावणे षष्ठेऽङ्के "प्रविश्य खड्गहस्तः सप्रहारः पुरुष" इत्यतः प्रभृति यावदसौ निष्क्रान्तः ।

(वस्तूत्थापनमिति) वस्तूनां बहूना (मर्थाना) मुत्थापनं प्रसङ्गगतनिबन्धनं यत्र कार्ये तत्तथोक्तम् । कानि वस्तूनीत्याह—सर्वरसेति । रस शब्देन स्थायिनो व्यभिचारिणश्च तेषां संक्षेपेण कृतं कारणं यत्र, विद्रवैरग्न्यात्पद्यपद्रवैः सह, तैर्विहीनम् (च) यथा, तत्रैव (कृत्यारावणे) अङ्गदादभिद्रूयमाणाया मन्दोदर्या भयं,

---

अभिनव—भय की अधिकता में अथवा हर्ष के अतिशय से जहाँ पर शीघ्रता से पात्रों का प्रवेश एवं निर्गम होता है तथा वाक्यादि के द्वारा जहाँ पर विद्रव (भगदड़) तथा विनिपात अर्थात् अवस्कन्द हो, उससे संभ्रमयुक्त आचरण (आवेग) के कारण जहाँ पर चेष्टाओं में शीघ्रता या व्याकुलता हो उसे 'अवपात' कहते हैं। अवपात जहाँ पर पात्रों का अवपतन (गिरना आदि) हो, जैसे कृत्यारावण में षष्ठ अङ्क में 'खड्ग हाथ में लेकर प्रहार करता हुआ पुरुष प्रवेश करके' यहाँ से लेकर 'जब तक वह निकल जाता है' तक सभी अवपात है ॥ ६९ ॥

३. वस्तूत्थापना—

अनुवाद—जहाँ पर सभी रसों का संक्षेप में मिश्रण हो तथा कभी विद्रव सहित और अथवा कभी अविद्रव अर्थात् शान्ति के आश्रय से नाट्य की भावना होती है, उसे 'वस्तूत्थापना' समझना चाहिए ॥ ७० ॥

अभिनव—वस्तुओं का उत्थापन अर्थात् वस्तुओं अर्थात् बहुत से अर्थों का उत्थान प्रसङ्गागत निवन्धन जहाँ जिस कार्य में हो वह 'वस्तूत्थापन' है। वे वस्तुएँ कौन हैं ? इस बात को कहते हैं कि सभी रस आदि । इस शब्द से स्थायोभाव और व्यभिचारी भावों का संक्षेप में करण जहाँ होता है विद्रव अर्थात् अग्नि, आतप, वर्षा आदि उपद्रवों के साथ और अविद्रव अर्थात् अग्न्यादि

संरम्भसंप्रयुक्तो[1] बहुयुद्धनियुद्धकपटनिर्भेदः ।
शस्त्रप्रहारबहुलः सम्फेटो[2] नाम विज्ञेयः ॥ ७१ ॥

अङ्गदस्योत्साहः, रावणं दृष्ट्वा तस्यैव हि "एतेनापि सुरा जिता" इत्यादि वदतो हासः, रावणस्यातिक्रोधः, "यस्तातेन निगृह्य बालक इव प्रक्षिप्य कक्षान्तरे" इति वदतोऽङ्गदस्य जुगुप्साहासविस्मयरसा, विध्वंसनं नाटयतीत्यत्र रावणस्य शोकः—इत्यर्धं विद्रवाश्रयं वस्तूत्थापनम् । तद्विपरीतं तु तत्रैव (कृत्यारावणे) द्वितीयेऽङ्के "नेपथ्ये कलकलः" इत्यतः प्रभृति यावत्सीतां प्रति रावणस्योक्तिः—"आ लोकपालानाक्रन्दसि" इत्यादि । भाविनो वस्तुनः समुत्थापनादपीदं तथोक्तं । तथा च तत्रैव (कृत्यारावणे द्वितीयेऽङ्के) ऋषीणामुक्तिः—

दुरात्मन्, नेयं सीता स्वनाशाय कृत्येयं ह्रियते त्वया । इति ।

उपद्रवों से रहित । जैसे कृत्याराबण में अङ्गद के भय से भागती हुई मन्दोदरी का भय, अङ्गद का उत्साह और रावण को देखकर अङ्गद का 'इसने ही देवताओं को जीता था' इस प्रकार कहते हुए हँसना या परिहास करना । रावण का अतिक्रोध करना, फिर अङ्गद के द्वारा "जिससे पिता जी (बाली) ने दबोच कर बालक के समान कोंख में रख लिया था या दबा लिया था, ऐसा कहकर जुगुप्सा, हास और विस्मय को प्रकट करना तथा 'विध्वंसनं नाटयति' से रावण का शोक करना इस प्रकार से सभी विद्रव के आश्रय से 'वस्तूत्थापन' है । विद्रव के विपरीत तो उस कृत्यारावण के द्वितीय अङ्क में 'नेपथ्य में' कलकल हो रहा है, यहाँ से लेकर सीता के प्रति रावण की यह उक्ति—'अरे लोकपालों को चिल्लाकर बुलाती है' इत्यादि । 'भावी वस्तु के समुत्थान से भी यह होता है' जैसा कि यहीं पर कृत्यारावण के द्वितीय अङ्क में ऋषियों की उक्तिः—

"दुरात्मन् ! यह सीता नहीं है, कृत्या है ।" अपने विनाश के लिए ही तुम कृत्या का अपहरण कर रहे हो" इति ।

४. संस्फेट—

अनुवाद जहाँ संरम्भ (उत्तेजन) के कारण संप्रयुक्त बहुत प्रकार के युद्ध-नियुद्ध (बाहुयुद्ध) तथा कपटों से निर्भेद हो और जहाँ पर शास्त्रों का बाहुल्येन प्रयोग हो, उसे 'सम्फेट' समझना चाहिए ॥ ७१ ॥

१. ख. ग. समायुक्तो ; २. क. (च) संस्फेटो ।

एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्संश्रयाः[1] ।
रसप्रयोगमासां च कोर्त्यमानं[2] निबोधत ।। ७२ ।।
[3]हास्यशृङ्गारबहुला कैशिकी परिचक्षिता ।
[4]सात्त्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया ।। ७३ ।।
[5]रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः ।
[6]बीभत्से करुणे चैव भारती संप्रकीर्तिता ।। ७४ ।।

सम्फेटस्योदाहरणं जटायुयुद्धादि सर्वम् (कृत्यारावणे) ।

अभिनव—सम्फेट का सम्पूर्ण उदाहरण जैसे—कृत्या रावण में जटायु-युद्ध आदि की स्थिति है ।

विशेष--इस प्रकार भारती, सात्त्वती, कौशिकी और आरभटी इस चार वृत्तियों का विवेचन किया गया है, इन वृत्तियों में उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पुरुषों और स्त्रियों के चेष्टा-व्यापार प्रदर्शित किये जाते हैं । इसमें शरीर, मन और वाणी की चेष्टाएँ होती हैं । इन वृत्तियों में भारती वृत्ति व्यापार प्रधान वृत्ति है । सात्त्वती वृत्ति मनोव्यापार रूप है । आरभटी वृत्ति शरीर-व्यापार से युक्त होती है और सौन्दर्योपयोगिनी शरीर व्यापार कौशिकी वृत्ति है । आनन्दवर्धन के अनुसार भारतीवृत्ति शब्दवृत्ति है । और शेष तीन अर्थवृत्तियाँ हैं । अग्निपुराण और भोज के अनुसार ये वृत्तियाँ अनुभाव के रूप में बुद्धयात्मक व्यापार है । भोज ने 'विमिश्र' नामक पांचवीं वृत्ति स्वीकार करते हैं किन्तु यह चारों वृत्तियों की मिश्रित रूप है । उद्भट के अनुयायी कुछ आचार्य 'अर्थवृत्ति' नामक पांचवीं वृत्ति मानते हैं किन्तु धनिक ने इसका खण्डन किया है ।

अनुवाद—इस प्रकार नाट्य के संश्रय इन वृत्तियों को विद्वान् लोग समझें । अब इसके अनुकूल रस-प्रयोग को बतलाता हूँ । आपलोग समझें ।। ७२ ।।

अनुवाद—शृङ्गार और हास्य रस की बहुलता से युक्त 'कौशिकी' वृत्ति कही गई है और वीर, रौद्र, अद्भुत रस के समाश्रित 'सात्त्वती' वृत्ति समझनी चाहिए । रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों में 'आरभटी' वृत्ति समझनी चाहिए और अद्भुत एवं करुण रस में 'भारती' वृत्ति का प्रयोग करनी चाहिए ।। ७३-७४ ।।

---

१. क. नाट्यमातरः । २. क. (च) गदतो मे ।
३. ख-ग-घ. शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्ति स्यात् कौशिकीति सा ।
४. ग-घ. सात्त्वती नाम सा ज्ञेया वीररौद्राद्भुताश्रया ।
५. ख-ग. भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत् ।
६. ख-ग. भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया ।

न ह्येकरसजं काव्यं किंचिदस्ति प्रयोगतः ।
[1]भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥ ७५ ॥
सर्वेषां समवेतानां यस्य रूपं[2] भवेद्बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायो शेषाः सञ्चारिणः[3] स्मृताः ॥ ७६ ॥

अथासां वृत्तीनां संक्षिप्य स्वरूपमाह—हास्यश्रृङ्गारबहुला कैशिकोति सात्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया इति । अत्र शमशब्दः शान्तरसपरिग्रह इति तद्वादिनो मन्यन्ते । समाश्रयेत्यन्ये पठन्ति ।

अस्याध्यायस्याभिनयशेषभूततां रूरापयन्नध्यायार्थमुपसंहरति—भाविनश्चार्थमासूत्रयति वृत्यन्त एव इति ।

अनुवाद—कोई भी काव्य एक रस वाला नहीं होता है, प्रयोग के अनुसार भाव भी रहता है और रस भी होता है। प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के अनुसार उसकी व्यवस्था होती है ॥ ७५ ॥

अनुवाद—सभी समवेत भावों में जिसका रूप बहुत होता है। उसे स्थायी रस मानना चाहिए, शेष को सञ्चारी भाव कहे गये हैं ॥ ७६ ॥

अभिनव—अब इन वृत्तियों के संक्षिप्त स्वरूप को कहते हैं—हास्य और श्रृङ्गार बहुला वृत्ति कौशिकी वृत्ति होती है। और वीर, अद्भुत और शम के आश्रित वृत्ति 'सात्त्वती' होती है। शम शब्द शान्त रस का परिग्रह है, ऐसा शान्त रसवादी मानते हैं। अन्य लोग तो 'शम' के स्थान पर 'सम' शब्द पढ़ते हैं ॥ ७२-७६ ॥

विशेष—वृत्तियाँ वस्तुतः चार हैं। इन वृत्तियों की योजना नाटच में रस-संचार के लिए की जाती हैं। भरत मुनि ने वृत्तियों का विभिन्न रसों से सम्बन्ध स्थापित उनका रस-प्रयोग निर्धारित किया है। भारती वृत्ति वाक्प्रधान होने के कारण सभी रसों एवं भावों में रहती हैं। सात्त्वती वृत्ति में वीर, रौद्र और अद्भुत रसों की प्रधानता रहती है। कैशिकी वृत्ति में हास्य एवं श्रृङ्गार रस का बाहुल्य होता है और आरभटी वृत्ति रौद्र बीभत्स एवं भयानक रसों में प्राधान्य होता है।

अभिनव—इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय की वृत्तियों के अभिनय की बातें दिखाते हुए अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं और भावी अर्थ का आसूत्रण करते हैं—

---

१. ख. भावोऽपि रसो वापि प्रवृतिरेव वा ।

२. ख. रूपं यस्य । ३. ग. सञ्चारिणो मता ।

वस्यन्त एषोऽभिनयो मयोक्तोवागङ्गसत्त्वप्रभवो यथावत् ।
आहार्यमेवाभिनयं प्रयोगे वक्ष्यामि नेपथ्यकृतं तु भूयः[1] ॥ ७७ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वृत्तिविकल्पनं नामाध्यायो विंशः[2] ।

वृत्तिरभिनयस्य दशरूपकात्मा विषयोऽपि अन्त इत्यभिनय वृत्तयोऽन्तर-मेकदेश आहार्यं इति शरीरव्यतिरिक्तं बाह्यमित्यर्थः नटस्य हि सत्त्वात्मा वागभिनयो व्याहरणीय एव साक्षात्प्रयत्नकृतत्वात् । अत एव तुशब्देन ततो व्यतिरेकमाहार्यमेव विशिनष्टि । नेपथ्यकृतं त्वाहार्यं वक्ष्यामीतिभूयः कृतं विस्तार्येति शिवम् ।

नृसिंहगुप्तायतिनेत्थमत्र वृत्तिस्वरूपं प्रकटं व्यधायि ।
यस्य त्रिणेत्रेह हृदन्तरात्मवृत्तिस्वरूपं प्रकटं व्यधायि ॥

श्रीमहामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां भारतीय-
नाट्यवेदवृत्तावभिनवभारत्यां विंशो वृत्त्यध्याय समाप्तिमगमत् ।

अनुवाद—इस प्रकार मैंने वाणी, अङ्ग और सत्त्व से उत्पन्न होने वाले अभिनय का वृत्ति-निरूपण पर्यंन्त कथन किया है । अब मैं प्रयोग के अनुसार नेपथ्य से समुत्पन्न आहार्य अभिनय को ही कहूँगा ॥ ७७ ॥

इस प्रकार भारतीय नाटयशास्त्र में वृत्ति-विधान नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

अभिनव—अभिनव का कथन है कि वृत्ति अभिनय का दशरूपक स्वरूप विषय भी है । 'अन्त' पद के कहने का अभिप्राय है कि वृत्तियाँ अभिनय के एक-देश आहार्य अभिनय भी होता है अर्थात् शरीरगत इतिवृत्त (चेष्टादि) से अतिरिक्त (भिन्न) बाह्य पदार्थ है । अतएव नट के द्वारा सत्त्वरूप (सात्त्विक अभिनय) तथा वागभिनय का साक्षात् प्रयत्न के द्वारा व्याहरणीय है । अत एव 'तु' शब्द से यहाँ पर मुनि ने उससे भिन्न आहार्य को विशिष्ट करता है । 'नेपथ्य कृत यह आहार्य को कहूँगा ? इस प्रकार विस्तार से आगे कहूँगा । इति शिवम् ।

अभिनव—इस प्रकार मनुष्यों में सिंह स्वरूप अभिनवगुप्त व्याख्याकार ने बाइसवें अध्याय में वृत्ति के स्वरूप को प्रकट किया है । जिसके हृदय के अन्तरात्मा में वर्तमान स्वरूप को त्रिनेत्र से प्रकट कर दिया ॥ २० ॥

इस प्रकार महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त विरचित भारतीय नाटच-वेद की विवृति अभिनवभारती में बीसवाँ सन्ध्यध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥

इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा विरचित नाटचशास्त्र एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ २० ॥

---

१. ख-ग. पुनश्च । २. ख. द्वाविंशो ऽध्यायः ।

एकविंशोऽध्यायः[1]

आहार्याभिनयः

आहार्याभिनयं विप्रा [2]व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
[3]यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः ॥ १ ॥

अभिनव—भारती

आहार्याभिनयः

यस्य सङ्कल्पमात्रेण विश्वमाहार्यमद्भुतम् ।
तं मानसमहामूर्ति वन्दे गिरिसुतामपि ॥

हिन्दी—व्याख्या

आहार्याभिनय

अनुवाद—हे ब्राह्मणों ! अब मैं क्रमशः आहार्य अभिनय की व्याख्या करता हूँ । क्योंकि सभी प्रकार के प्रयोग आहार्य अभिनय पर निर्भर हैं ॥ १ ॥

अभिनव—भारती

अभिनव—जिसके संकल्प मात्र से अद्भुत आहार्य विश्व प्रादुर्भूत होता है उस मानस महामूर्त्ति अर्थात् मनस्तत्त्वात्मक शिव की तथा साथ ही गिरिसुता पार्वती की बन्दना करता हूँ ।

विशेष—यहाँ पर मन की वन्दना के साथ गिरिसुता पार्वती की वन्दना करने का तात्पर्य है कि सुख-दुःखादि की अनुभूति का साधन मन है और संसार सुखदुःखात्मक है तथा संहार का मूल कारण प्राकृति है जिसके कारण संकल्प-जन्य विश्व अद्भुत आहार्य अभिनय है । उस आधारभूत गिरिसुता की वन्दना करता हूँ ।

---

१. ख. त्रयोविंशोऽध्यायः ; २. ख-ग. वक्ष्यामि ।

३. ख-ग. एवमेय प्रयोगोऽयं यतस्तस्मिन् प्रतिष्ठितः ।

नानावस्थाः प्रकृतयः [1]पूर्वं नेपथ्यसाधिताः ।
अङ्गादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्ययत्नतः ॥ २ ॥

आहार्यस्य सर्वपश्चादभिधानं वागाद्यभिनयेभ्योऽस्य बहिरङ्गत्वादित्यानुपूर्व्यमिति केचित् । तच्चासत्, आवेदितपूर्वमाहार्यस्य प्राधान्यादेव त्वद्य सर्वानुग्राहकत्वं सर्वोपजीव्यताख्यापनाय पश्चादभिधानम् । तदेवानुपूर्वश इत्यनेनोक्तम् । तथा चाह—यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमिति वागङ्गसत्त्वात्मक इति ॥ १ ॥

अत्रैवोपपत्तिमाह—नानावस्था इत्यादि ।

अभिनव—आहार्य अभिनय का सबसे पीछे अभिधान करने का कारण है कि यह अभिनय वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयो से बहिरङ्ग है, इस सङ्केत को घोषित करने के लिए कहते हैं—'अनुपूर्वशः इत्यादि । इस प्रकार कुछ लोग व्याख्या करते हैं । किन्तु यह कथन असत् है, क्योंकि यह पहिले कहा जा चुका है कि आहार्य अभिनय के प्रधान होने के कारण यह सभी अभिनयों का अनुग्राहक है । इन अभिनयों को सर्वोपजीव्यता ख्यापन के लिए इस आहार्य अभिनय का सबसे पीछे अभिधान किया है । उसी को 'अनुपूर्वशः' पद से कहा है । इसलिए कहते हैं कि वागङ्गसत्त्वात्मक यह सभी प्रयोग जिससे है ॥ १ ॥

विशेष—आहार्य अभिनय नेपथ्यज विधान को कहते हैं । अभिनवगुप्त के अनुसार अवस्था के अनुरूप प्रकृतिगत वेष-विन्यास, अलङ्कार-परिधान, अङ्ग-रचना आदि आहार्य अभिनय कहलाते हैं । नन्दिकेश्वर के अनुसार हार, केयूर वेष-भूषा आदि प्रसाधनों से सुसज्जित होकर किया जाने वाला अभिनय 'आहार्य' अभिनम कहलाता है । इसमें अभिनेता देश-काल के अनुरूप वेष-भूषा धारण कर और अङ्गों के वर्ण-विन्यास युक्त होकर विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा प्रेक्षकों के समक्ष भावों को अभिव्यक्त करता है जिससे प्रेक्षकों में रसानुभूति होती है ।

यहाँ उपपत्ति को कहते हैं—

अनुवाद—पात्रों के पहिले नेपथ्य-विधान से सजाये गये पात्रों की भिन्न-भिन्न नाना अवस्थाएँ एवं प्रकृतियाँ रहती हैं । अत एव विना प्रयत्न के अङ्गादि के द्वारा भावों को व्यक्त कर देते हैं ॥ २ ॥

---

१. ख-ग. पूर्वनैपथ्यसूचिकाः ;

नानाभूता या अवस्था रतिशोकाद्या नानाश्रभूताश्च याः प्रकृतयो धीरोदात्तादय उत्तमाधमप्रभृतयश्च ताः पूर्वं यत्नतो नैपथ्येन साधिताः प्रकाशिताः पश्चादङ्गादिभिर्विभागं अनुभावविषयविभागं नामोपपत्तिं देशकालादिविभागं चार्पयद्भिः स्फुटतमतामानीयन्ते। तेन समस्ताभिनयप्रयोगचित्रस्य भित्तिस्थानीय-माहार्यम्। तथा च समस्ताभिनयव्युपरमेऽपि नैपथ्यविशेषदर्शनाद्विशेषोऽवसीयत एव।

यत्त्ववस्थान्तरयोगेऽभिनयान्तरवदाहार्यं न परिवर्तते तेन (केन?) प्रत्युत तथाभूतस्येयमवस्था प्राप्तेति स्थायिसूत्रानुस्मृतिसंपादनप्रावण्याद्रसं प्रत्यन्तरङ्ग-त्वमाहार्यस्यावेद्यते, तथा चाश्वत्थाम्नो युद्धवीररससम्पदोपेतस्यायं शोक आयात इति तथा येन [यदि] युद्धोचितोज्ज्वलधर्मपरिग्रहाद्युपासनं क्रियेतेत्यलं बहुना ॥ २ ॥

अभिनव—नाना प्रकार की जो अवस्थाएँ रति, शोक आदि और नाना प्रकार के आश्रयभूत जो धीरोदात्तादि उत्तम, मध्यम एवं अधम रूप नाटकों की प्रकृतियाँ, उन सबको पहले यत्नपूर्वक नेपथ्य के द्वारा प्रकाशित कर दिया है और बाद में अङ्गादि रूप से विभाव, अनुभाव विषयक विभाग, नाम की उपपत्ति तथा देश-काल आदि के विभाग को बतलाते हुए अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। अतः यह आहार्य समस्त अभिनयों के प्रयोग रूप चित्र की भित्ति-स्थानीय है। और भी समस्त अभिनयों के उपरत होने पर भी नेपथ्य-विशेष के दर्शन से सभी विशेषताओं का ज्ञान हो जाता हैं।

जैसा कि अवस्थान्तर के योग से अभिनयान्तर के समान आहार्य का परिवर्त्तन नहीं होता, उससे तो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ प्राप्त हुई हैं, इस प्रकार स्थायीभूत सूत्र को अनुस्मृति के सम्पादन की प्रवणता से रस के प्रति आहार्य की अन्तरङ्गता का ज्ञान होता है और इसीलिए युद्ध, वीर रस की सम्पदा से उपेत अश्वत्थामा को शोक हो गया तथा युद्ध के अनुकूल उज्ज्वल धर्म (वेष) के परिग्रह आदि उपासना का ज्ञान करते हैं वह आहार्य अभिनय से प्राप्त होता है, अतः रहने दिया जाय।

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः ।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता ॥ ३ ॥
तस्मिन्यत्नस्तु कर्तव्यो नेपथ्ये [1]सिद्धिमिच्छता ।
नाट्यस्येह त्वलङ्कारो नेपथ्यं [2]यत्प्रकीर्तितम् ॥ ४ ॥
चतुर्विधं तु नेपथ्यं पुस्तोऽलङ्कार एव च ।
तथाङ्गरचना चैव ज्ञेयं सज्जीवमेव च ॥ ५ ॥
पुस्तस्तु त्रिविधो ज्ञेयो नानारूपप्रमाणतः ।
सन्धिमो व्याजिमश्चैव वेष्टिमश्च[3] प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

ज्ञेयो लोके । नेपथ्यस्य (विधिः अलङ्कारः) स इहाहार्याभिनयः, नाट्यस्य तु शुभमिति सिद्धिम् ।

(सन्धिमः) सन्धानं सन्धा तया निर्वृत्तिः, सवलादिरूपं क्रियते (इति) सन्धिमः । व्याज सूत्रस्याकर्षादिरूपः क्षेपस्तेन निर्वृत्तो व्याजिमः उपरिजतुसिक्थकादिना वेष्टस्तेन निवृत्तोवेष्टिमः । भावप्रत्ययान्तन्निर्वृतार्थे इमपं स्मरन्ति (४-४-१० का) ॥ ६ ॥

अनुवाद—जो विधान नेपथ्य के द्वारा उपलब्ध है अर्थात् नेपथ्य-रचना का विधान 'आहार्याभिनय' समझना चाहिए । अतः नाट्य के शुभ चाहने वालों को उसके सम्बन्ध में प्रयत्न करना चाहिए ॥ ३ ॥

अनुवाद—नेपथ्य में सिद्धि की इच्छा रखने वाले को आहार्य अभिनय में प्रयत्न अवश्य करना चाहिए । यहाँ नेपथ्य में जो कहा गया है वह नाट्य का अलङ्कार है ॥ ४ ॥

अभिनव—लोक में जानना चाहिए, नेपथ्य की विधि अलङ्कार का परिग्रह (परिधान) है वह यहाँ आहार्य अभिनय है। नाटच का शुभ चाहने वाले आहार्य अभिनय को चाहें ॥ ३-४ ॥

अनुवाद—नेपथ्य की चार विधाएँ होती हैं—पुस्त, अलङ्कार, अङ्गरचना और सञ्जीव ॥ ५ ॥

अनुवाद—नाना रूप और प्रमाणों के अनुसार पुस्त तीन प्रकार का समझना चाहिए, जो सन्धिम, व्याजिम एवं वेष्टिम नाम से कहे गये हैं ॥ ६ ॥

---

१. ख. ग. शुभ ।   २. ख. ग. सम्प्रकीर्तितम् ।   ३. ग. चेष्टिमश्च ।

[1]किलिञ्जधर्मवस्त्राद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः ।
सन्धिमो नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटकसंश्रयः ॥ ७ ॥
व्याजिमो नाम विज्ञेयो यन्त्रेण क्रियते तु यः ।
[2]वेष्ट्यते चैव यद्रूपं वेष्टिमः[3] स तु संज्ञितः ॥ ८ ॥

किलिञ्जं भूर्जवेणुदलादि । रूपं क्रियत इति रूपतां नीयत इति यावत् । यन्त्रेणेति सूत्रादिप्रयोगेण सन्धिमादयः प्रकाराः । क्वोपयुज्यन्त इत्याह—शैलेत्यादि ॥ ७-९ ॥

अभिनव—सन्धा का अर्थ सन्धान है, उससे निर्वृत्त हुआ सन्धिम है। जिससे अभिनय का विभाग करते हैं वह सन्धिम हैं। व्याज शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक अज् धातु से घञ् (अ) प्रत्यय होकर 'व्याज' शब्द बनता हैं। व्याज अर्थात् क्षेप को सूत्र का आकर्षण निवृत्त व्याजिम होता है, जतु अर्थात् लाख के सिक्थ (जाले) के द्वारा ऊपर जो वेष्टना है उससे निर्वृत्त वेष्टम है। यहाँ भाव मैं विहित प्रत्ययान्त सन्धा, व्याज, वेष्ट शब्दों से निर्वृत्त अर्थ में 'इमप्' प्रत्यय का स्मरण करते हैं ॥ ६ ॥

अनुवाद—किलिञ्ज अर्थात् भोजपत्र, बाँस के पत्ते, चर्म या वस्त्र आदि का जो रूप विद्वानों द्वारा किया जाता है। नाटक में उपयुक्त होने वाले उसे 'सन्धिम' नामक पुस्त (नेपथ्य) समझना चाहिए ॥ ७ ॥

अभिनव—किलिञ्ज का अर्थ है भोजपत्र एवं बाँस के पत्ते। 'रूपं क्रियते' अर्थात् अभिनय रूपता प्राप्त करा देते हैं ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो रूप यन्त्र विधि से किया जाता है उसे 'व्याजिम' नाम वाला पुस्त समझना चाहिए और जो रूप वेष-भूषा आदि से आवेष्टित किया जाता है उसे 'वेष्टिम' पुस्त कहते हैं ॥ ८ ॥

अभिनव—यन्त्र से अर्थात् सूत्रादि प्रयोग से सन्धिमादि प्रकारों को करते हैं ॥ ८ ॥

---

१. ख. ग. किलिञ्जवस्त्रचर्माद्यैः ।
२. ख. ग. चेट्यते ।
३. ख. ग. चेष्टिमः ।

शैलयानविमानानि चर्मवर्मध्वजा नगाः ।
[1]ये क्रियन्ते हि नाट्ये तु स पुस्त इति संज्ञितः ॥ ९ ॥
अलङ्कारस्तु विज्ञेयो [2]माल्याभरणवाससाम् ।
नानाविधः समायोगोऽप्यङ्गोपाङ्गविधिः स्मृतः ॥ १० ॥
[3]वेष्टिमं विततं चैव संघात्यं ग्रन्थिमं तथा ।
प्रालम्बितं तथा चैव माल्यं षञ्चविधं स्मृतम् ॥ ११ ॥

विशेष—पुस्त का अर्थ है संयोजन अर्थात् सांकेतिक पदार्थों की रचना। शैल (पर्वत) यान, विमान, चर्मनिर्मित वस्तु, कवच, ध्वज, दण्ड, गज, रथ आदि अलौकिक पदार्थों के सांकेतिक माडलों द्वारा रङ्गभूमि पर सारूप्य सृजन होता है। भरत के अनुसार पुस्त-विधि के तीन रूप हैं—सन्धि, व्याजिम और वेष्टिम या चेष्टिम, 'सन्धिम' का अर्थ है जोड़ना या बाँधना। जो पदार्थ परस्पर जोड़कर रङ्गोपयोगी बनाई जाती है उसे 'सन्धिम' पुस्त कहते हैं। यान्त्रिक साधनों के द्वारा भौतिक पदार्थों का रङ्गमंच पर प्रस्तुत करना 'व्याजिम' पुस्त कहलाता है। यहाँ पर किसी वस्तु के स्वरूप को वस्त्र आदि से लपेट कर प्रयोजन किया जाता है उसे 'वेष्टिम' कहते हैं। नाटच में इस पुस्तविधि का प्रयोग शैल, यान, विमान, वाहन आदि को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने में किया जाता है। (नाटचशास्त्र का इतिहास पृ० ४३३)।

अनुवाद—नाटच में जो शैल (पर्वत), यान, विमान तथा चर्म निर्मित वेष, कवच, ध्वज एवं हाथी आदि बताये जाते हैं उसे 'पुस्त' समझना चाहिए ॥ ९ ॥

२. अलङ्कार—

अनुवाद पुष्पमालाएँ, आभूषण और वस्त्रों का नाम प्रकार का समायोजन जो अङ्ग एवं उपाङ्गों की विधि है उसे 'अलङ्कार' समझना चाहिए ॥ १० ॥

अनुवाद—वेष्टिम, वितत, संघात्य, ग्रन्थिम, प्रालम्बित नाम से माल्य पाँच प्रकार के माने गये हैं ॥ ११ ॥

१. ख. ग. यानि।
२. ख. ग. माला।
३. ख. ग. चेष्टिम।

चतुर्विधं तु विज्ञेयं [1]नाट्ये ह्याभरणं बुधैः ।
आवेध्यं बन्धनीयं च [2]क्षेप्यमारोप्यमेव च ॥ १२ ॥

आवेध्यं कुण्डलादीह [3]यत्स्याच्छ्रवणभूषणम् ।
[4]आरोप्यं हेमसूत्रादि हाराश्च विविधाश्रयाः ॥ १३ ॥

समायोग इति योजना, च चाङ्गेषु शिरोहस्तादिषु उपाङ्गेषु च ललाटाङ्गुल्यादिषु निर्मितः । वेष्टिमं तृणवेष्टनया निर्मितं बहुमालावेष्टनकृतं वा । विततमित्यावेष्टितान्योन्यश्लिष्टमालासमूहात्मकं वस्त्रधारणभयेनोम्भितं वा । सङ्घात्यं वृत्तं वा आस्यच्छिद्रान्तः प्रक्षिप्तसूत्रं बहुपुष्पगुच्छोम्भितं वा । ग्रन्थिमं ग्रन्थिभिरुम्भितं वा । प्रालम्बितमिति जालादिपर्यन्तव्याप्तिकम् ।

अनुवाद—नाट्य प्रयोग में बुधजनों (विद्वानों) को आभरण को आवेध्य, बन्धनीय, क्षेप्य एवं आरोप्य भेद से चार प्रकार के समझने चाहिए ॥ १२ ॥

अभिनव—समायोग का अर्थ है योजना। वह समायोग शिर, मस्तक हाथ आदि अङ्गों में, ललाट, अङ्गुलि आदि उपाङ्गों में निर्मित होता है। वेष्टिम तृण आदि वेष्टन से निर्मित है अथवा बहुत मालाओं ने आवेष्टित है। 'वितत' अर्थात् परस्पर में आश्लिष्ट मालाओं का समुदाय रूप अथवा वस्त्रों के धारश से उम्भित अर्थात् शोभायमान है। संघात्य अर्थात् जिसके बिधे हुए होने से बीच में सूत्र पिरोकर बहुत से पुष्पों के गुच्छे। 'ग्रन्थिम' का अर्थ है। गाँठ लगाकर उम्भित (निर्मित) प्रालम्बित अर्थात् जालादि के रूप में व्याप्त (जालीदार) ॥ १२ ॥

अनुवाद—इसमें 'आवेध्य' कुण्डल आदि कानों में धारण किये जाने वाले कर्णभूषण हैं। 'आरोप्य' नाना प्रकार के आश्रय से निर्मित सुवर्ण सूत्र से ग्रथित हार आदि हैं ॥ १३ ॥

---

१. ख. ग. घ. देहस्याभरणं ।
२. ख. ग. घ. प्रक्षेप्यारोप्यके तथा ।
३. ख. ग. तथा श्रवणं ।
४. ख. ग. घ. पुस्तकेषु श्लोकार्धमिदं नास्ति ।

[1]श्रोणीसूत्राङ्गदामुक्ताबन्धनीयानि सर्वदा[2] ।
प्रक्षेप्यं नूपुरं विद्याद्वस्त्राभरणमेव च ॥ १४ ॥
भूषणानां विकल्पं हि पुरुषस्त्रीसमाश्रयम् ।
नानाविधं प्रवक्ष्यामि देशजातिसमुद्भवम् ॥ १५ ॥
चूडामणिः [3]समकुटः शिरसो भूषणं स्मृतम् ।
कुण्डलं मोचकं [4]कोलः कर्णाभरणमिष्यते ॥ १६ ॥

आवेध्यानीनि स्वयमेव व्याचष्टे-आवेध्यं कुण्डलादीत्यादिना। विविधाश्रया इति लतासंख्याविभेदेन बहुभेदा इत्यर्थः।

चूडामणिः शिरोमध्ये। मकुटौ ललाटोर्ध्वे। कुण्डलमधरपाल्याम्। मोचकं कर्णशष्कुल्या मध्यच्छिद्रे कृतम्, कीला ऊर्ध्वच्छिद्रे उत्तरकर्णिकेति प्रसिद्धा।

अनुवाद—श्रोणी सूत्र अर्थात् करधनी और अङ्गद (केयूर) आदि से आयुक्त शरीर में धारण किये जाने वाले 'आभूषण' बन्धनीय हैं। नूपुर तथा वस्त्राभूषण आदि प्रक्षेप्य आभरण हैं ॥ १४॥

अनुवाद—पुरुष और स्त्रीरूप आश्रय के भेद से देश और जाति से समुद्भव धारण किये जाने वाले नाना प्रकार के आभूषणों के विकल्पों को कहूँगा ॥ १५ ॥

अभिनव—आवेध्यादि को व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार 'आवेध्य कुण्डल आदि से होता है' इत्यादि करते हैं। विविध आश्रयों से युक्त अर्थात् लता संख्या आदि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं ॥ १३-१५ ॥

अनुवाद—मुकुट के साथ चूड़ामणि शिर का आभूषण कहा गया है। और कुण्डल, मोचक एवं कोला (कर्णिका या बाली) कान के आभूषण हैं ॥ १६ ॥

अभिनव—चूड़ामणि शिर के मध्य में पहिनने का भूषण होता है और मुकुट ललाट के ऊपर धारण किया है। कुण्डल अधरपाली में पहिना जाता है। मोचक कर्णशष्कुली के मध्यगत छिद्र में धारण किया जाता है, कीला अर्थात् कर्णफल या कर्णिका का कान में धारण करने के आभूषण हैं ॥ १६ ॥

१. ख. ग. श्रोणीसूत्राङ्गदैः मुक्ताबन्धनीयानि निर्दिशेत्। घ. श्रोणीसूत्राङ्गदैः तथा।
२. ख. ग. निर्दिशेत्; ३. ख. ग. समुकुटाः।
४. ख. कीला। क. (भ.) मोचकः कीलं।

मुक्तावली हर्षकं च [1]सूत्रकं कण्ठभूषणम् ।
वेतिकाङ्गुलिमुद्रा च स्यादङ्गुलिविभूषणम् ॥ १७ ॥
[2]हस्तली वलयं चैव बाहुनालीविभूषणम् ।
[3]रुचकश्चूलिका कार्या मणिबन्धविभूषणम् ॥ १८ ॥
[4]केयूरे अङ्गदे चैव कूर्परोपरि भूषणम् ।
त्रिसरश्चैव हारश्च तथा वक्षोविभूषणम् ॥ १९ ॥

हर्षकमिति समुद्गकं सर्पाविरूपतया प्रसिद्धम् । सूत्रकमिति गुच्छग्रोवासूत्रावितया प्रसिद्धम् । वेतिकेति सूक्ष्मकटकरूपा अङ्गुलिमुद्रा पक्षिपद्माद्याकारेणोपेता ॥ १७ ॥

रुचक इति करगोलके विततः तत ऊर्ध्वं चूलिकेति प्रसिद्धो निकुञ्चकोऽग्रबाहुस्थाने—एतन्मणिबन्धविभूषणम् ।

अनुवाद—मुक्तावली (मोती का हार), हर्षक (सर्पाकार आभूषण) तथा सूत्रक (जंजीर) में कण्ठाभूषण हैं और वेतिका (कटक) अङ्गुलिमुद्रा (अंगूठी) ये अङ्गुली के आभूषण हैं ॥ १७ ॥

अभिनव—'हर्षक' यह दोना के आकार का होता है अथवा सर्प के फण के आकार में प्रसिद्ध है। 'सूत्रक' गुच्छ या ग्रीवा का सूत्र रूप आभूषण है। वेतिका एक प्रकार का अङ्गुलि मुद्रा अथवा सूक्ष्म कटकरूपा अङ्गुलि मुद्रा है। अथवा पक्षि के रूप में या पद्माकार रूप से युक्त हैं ॥ १७ ॥

अनुवाद—हस्तली (कंगन) और चूलिका ये हथेली में आभूषण है और रुचक तथा चूलिका ये मणिबन्ध के आभूषण हैं ॥ १८ ॥

अभिनव—रुचक वह है जो करगोलक में वितत होता है। इसके ऊपर 'चूलिका' इस नाम से प्रसिद्ध अग्रबाहु में अर्थात् मणिबन्ध में पहिनने का निकुञ्चक है। यह मणिबन्ध का आभूषण है ॥ १८ ॥

अनुवाद—केयूर और अङ्गद के कुहनो के ऊपरी भाग के आभूषण हैं और त्रिसर अर्थात् तीन लड़ी वाले हार (मुक्ताहार) वक्षःस्थल के आभूषण हैं ॥ १९ ॥

---

१. ग. ससूत्रं । ख. सत्सूत्रं ।
२. ख-ग. हस्तवी । घ. हस्तपी ।
३. ख-ग. रुचकोच्चितकैश्चैव ।
४. ख-ग. केयूरमङ्गदं ।

[1]व्यालम्बमौक्तिको हारो माला चैवाङ्गभूषणम् ।
[2]तरलं सूत्रकं चैव भवेत्कटिविभूषणम् ॥ २० ॥
अयं पुरुषनिर्योगः कार्यस्त्वाभरणाश्रयः ।
देवानां पार्थिवानां च पुनर्वक्ष्यामि योषिताम् ॥ २१ ॥

केयूरः कूर्परस्योर्ध्वतः तयोरूर्ध्वे त्वङ्गदे । त्रिसरः मुक्ता लतात्रयेण ।
तलकं नाभेरधः तस्याप्यधः सूत्रकम् ।

पुरुषनिर्योगः औचित्यमस्य । आभरणाश्रयः आभरणविधिरित्यर्थः । ननु सर्वः पुरुषोऽनेन भूष्यत इत्याशङ्क्याह—देवानां पार्थिवानां चेति ।

अभिनव—केयूर कोहनियों के ऊपर धारण करने योग्य भूषण हैं। उसके ऊपर धारण करने योग्य भूषण अङ्गद है। तीन मोतियों की लड़ी का हार 'त्रिसर' है ॥ १९ ॥

अनुवाद लटकने वाला मोतियों का हार और फूलों की मालाएँ शरीर के आभूषण हैं। तरल अर्थात् नाभि तक लटकता हुआ हार एवं लटकता हुआ सूत्रक कटि का आभूषण है ॥ २० ॥

अभिनव—तरल अर्थात् नाभि के नीचे लटकने वाला आभूषण है। इसके भी नीचे लटकने वाला आभूषण सूत्रक है ॥ २० ॥

अनुवाद—यह आभरण के सम्बन्ध में जो निर्योग है उसे पुरुष के सम्बन्ध में करना चाहिए। अब देवताओं, राजाओं और स्त्रियों के सम्बन्ध में कहूँगा ॥ २१ ॥

अभिनव—आभूषणों को किस स्थान पर धारण करें, इसकी विधि पुरुषों के व्यवहार के औचित्य पर निर्भर है। आभरणाश्रय का अर्थ है, आभरण विधि। क्या सभी पुरुष इन आभूषणों से अलंकृत होते हैं, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि देवताओं और राजाओं के लिए यह विधान है ॥ २१ ॥

---

१. ख-ग. व्यालम्बिमौक्तिका हारा माल्याद्या देहभूषणम् ।
घ. व्यलम्बि मौलिका । क. (ढ) व्यालम्बमुक्ताहारादिमालादेहविभूषणम् ।

२. ख-घ. तरलं ।

शिखापाशं शिखाव्यालः[१] पिण्डीपत्रं[२] तथैव च।
चूडामणिर्मकरिका मुक्ताजालगवाक्षिकम्[३] ॥ २२ ॥
शिरसो भूषणं चैव विचित्रं शीर्षजोलकम्[४]।
[५]कण्डकं शिखिपत्रं च वेणीपुच्छः[६] सदोरकः ॥ २३ ॥
ललाटतिलकं[७] चैव नानाशिल्पप्रयोजितम्[८]।
[९]भ्रूगुच्छोपरिगुच्छश्च कुसुमानुकृतिस्तथा ॥ २४ ॥

शिखाव्यालः नागः ग्रन्थिभिरुपनिबद्धो मध्ये कर्णिकास्थानीयः, तस्यैव दलसन्धानतया चित्ररचनानि वर्तुलानि पात्राणि पिण्डीपत्राणि। चूडामणिः शिरोमध्ये, ततो मकरपत्रं (मकरिका), ततो ललाटान्तमुक्ता आलिका तोरणं जालिकाविरूपेण प्रसिद्धा। सर्पस्यैव वा शिरस एकमेव सुवर्णमुक्तामणिचित्रितम्।

अनुवाद—शिखापाश, शिखाव्याल, पिण्डीपत्र, चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्ष, विविध शीर्षजाल ये विचित्र शिरोभूषण है ।। २२-२३ (१)।।

अभिनव—चूड़ापाश अर्थात् जो सर्पाकार में गुथा हुआ जिसके बीच में कर्णिका स्थानीय या नागफन रहता है। शिखाव्याल अर्थात् नागों के जोड़ा से बनाया गया अलङ्कार। पिण्डीपत्र अर्थात् नागफनों के साथ शिर के बीच में गोल आकार के पत्तों से युक्त, **चूड़ामणि—**शिर के बीच में धारण होने वाला आभूषण। **मकरिका—**मकरपत्र नामक अलङ्कार। **मुक्ताजाल—**मोतियों की जाली या तोरण के रूप में प्रसिद्ध। शिर का एक रूप वाला मणियों का आभूषण शीर्ष जोलक है, जो प्रायः शिर के समीप में धारण किया जाता है।

अनुवाद—कुण्डल, शिखिपत्र, वेणीपुच्छ एवं मोचक (जोलक) ललाट तिलक नाना प्रकार के शिल्प के प्रयोजक, भौंहों के ऊपर फूलों के (गुच्छे के) आकार के गुच्छक (गुलदस्ता) ॥ २३-२४ ॥

---

१. ख-ग. शिखाजालं। क. (भ.) शिरोव्यालं।
२. ख-ग. पिण्डपात्रं। क. (प.) पिणुपत्रं, क. (भ.) पिण्डमन्त्रं।
३. ख-ग. मुक्ताजालं गवाक्षकम्। ४. ख-ग. जालकम्।
५. ग. कुण्डलं शिखिपात्रं। ६. ग. गुच्छः। ख. वेणोकञ्ज-सरोचकम्।
७. ख. तिलकश्चैव। ग. तिलकश्च। ८. ख. प्रयोजितः। ग. प्रयोजिताः।
९. ख-ग. भ्रूकक्षोपरि, भ्रुवोश्चोपरि।

कर्णिका कर्णवलयं तथा स्यात्पत्रकर्णिका ।
[1]कुण्डलं कर्णमुद्रा च [2]कर्णोत्कीलकमेव च ॥ २५ ॥
[3]नानारत्नविचित्राणि [4]दन्तपत्राणि चैव हि ।
कर्णयोर्भूषणं [5]ह्येतत्कर्णपूरस्तथैव च ॥ २६ ॥
[6]तिलकाः पत्रलेखाश्च भवेद्गण्डविभूषणम् ।
त्रिवेणी चैव विज्ञेयं भवेद्वक्षोविभूषणम् ॥ २७ ॥
नेत्रयोरञ्जनं [7]ज्ञेयमधरस्य च रञ्जनम् ।
दन्तानां [8]विविधो रागश्चतुर्णां शुक्लतापि वा[9] ॥ २८ ॥

कर्णिकेत्यादिना विकल्पतः कर्णाभरणान्यपि तु स्थानान्तरभेदात्समुच्चये-नेत्याहुः ।

अनुवाद—कर्णिका, कर्णवलय, पत्रकर्णिका, कुण्डल, कर्णमुद्रा, कर्णोत्कीलक, नाना प्रकार के रत्नों से विचित्र दन्तपत्र और कर्णपूर के कर्ण का आभूषण है ॥ २५-२६ ॥

अभिनव—कर्णावतंस अर्थात् कर्णिका आदि के द्वारा निर्मित कर्णाभरण। स्थानान्तर के भेद से नाना प्रकार के कर्णाभूषणों का समुच्चय ॥ २५-२६ ॥

अनुवाद—तिलक और पत्रलेखा ये कपोल के आभूषण हैं और त्रिवेणी वक्ष-स्थल का आभूषण होता है ॥ २७ ॥

अनुवाद—नेत्रों का अञ्जन और अधरों का रञ्जन ये भी नेत्र एवं अधरों के आभूषण हैं। सामने के चार दाँतों का विविध रंगों में रंगता अथवा शुभ्रवर्ण का बना रहना भी भूषण है ॥ २८ ॥

---

१. ख-ग. आवेष्टितः कर्णमुद्रा ।
२. ख. कर्णोत्कीलक एव च । ग. कर्णोत्पलकमेव ।
३. ख. नानाचित्र ; ४. ख. रत्नपात्राणि ।
५. ख-ग. कार्यम् । ६. ख-ग. तिलका पत्रलेखा च ।
७. ख-ग. कार्यं ; ८. ख-ग. विविधारागाः ।
९. ख-ग. तथा ;

रागान्तरविकल्पोऽथ शोभनेनाधिकोज्ज्वलः ।
मुग्धानां सुन्दरीणां च मुक्ताभासितशोभनाः[1] ॥ २९ ॥
सुरक्ता वापि दन्ताः स्युः पद्मपल्लवरञ्जनाः ।
अश्मरागोद्द्योतितः स्यादधरः पल्लवप्रभः ॥ ३० ॥
विलासश्च भवेत्तासां सविभ्रान्तनिरीक्षितम् ।
मुक्तावली व्यालपङ्क्तिर्मञ्जरी रत्नमालिका ॥ ३१ ॥
रत्नावली सूत्रकं च ज्ञेयं कण्ठविभूषणम् ।
[2]द्विसरस्त्रिसरश्चैव चतुस्सरकमेव च ॥ ३२ ॥
तथा शृङ्खलिका चैव भवेत्कण्ठविभूषणम् ।
अङ्गदं वलयं चैव बाहुमूलविभूषणम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—रागान्तर का विकल्प और शोभन (सजावट) से अधिक उज्ज्वल मुग्धा सुन्दरी युवतियों के मोतियों से भासित (चमकते हुए) सुन्दर तथा कमल पत्र के सदृश रगे हुए दांत मोती को तरह चमकदार और अश्मराग से द्योतित अधर नवपल्लव के समान समवर्ण के प्रतीत होते हैं ॥ २९-३० ॥

अनुवाद—उन ललनाओं का विकास और सविभ्रम (शृङ्गारिक) चेष्टाओं के साथ निरीक्षण अत्यन्त हृद्य होता है । मुक्तावली, व्यालपंक्ति, मञ्जरी, रत्नमालिका, रत्नावली और सूत्रक को कण्ठ का आभूषण समझना चाहिए ॥ ३१ ॥

अनुवाद—दो, तीन और चार लड़ों वाली शृंखलिका (सांकल) जैसे आभूषण कण्ठ में धारण किये जाने वाले आभूषण हैं । अङ्गद और वलय में भुजाओं में पहिनने का आभूषण है ॥ ३२-३३ ॥

---

१. ख-ग मुक्ताभाः सितशोभनाः ।

२. ख द्विरसस्त्रिरसश्चैव चतूरसकमेव च ।

नाना[1]शिल्पकृताश्चैव हारा वक्षोविभूषणम् ।
मणिजालावनद्धं च भवेत् स्तनविभूषणम् ॥ ३४ ॥
खर्जूरकं सोच्छितिकं[2] बाहुनालोविभूषणम् ।
[3]कलापो कटकं शङ्खो हस्तपत्रं सपूरकम् ॥ ३५ ॥
मुद्राङ्गुलीयकं चैव[4] ह्यङ्गुलीनां विभूषणम् ।
[5]मुक्ताजालाढ्यतलकं मेखला काञ्चिकापि वा ॥ ३६ ॥
रशना च कलापश्च भवेच्छ्रोणीविभूषणम् ।
एकयष्टिर्भवेत्काञ्ची मेखला त्वष्टयष्टिका ॥ ३७ ॥
[6]द्विरष्टयष्टो रशना कलापः पञ्चविंशकः ।
द्वात्रिंशच्च चतुःषष्टिः शतमष्टोत्तरं तथा ॥ ३८ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के शिल्प (कारीगरी) से निर्मित रत्न के हार वक्षःस्थल के आभूषण हैं। मणियों की जाली से गुम्फित आभूषण स्तनों के आभूषण हैं ॥ ३४ ॥

अनुवाद—उच्छ्राय से युक्त खजूर नामक आभूषण बाहु के सोधे भाग पर धारण किये जाते हैं। कलापो, कटक, शंख, हस्तपत्र और पूरक और मुद्रा के आकार वाला अङ्गुलोयक ये अङ्गुलियों के आभूषण हैं ॥ ३५ ॥

अनुवाद—काञ्चा, मौलिक जाल से युक्त काञ्ची, मेखला, करधनी, रशना और कलाप ये कमर (कटि) के आभूषण हैं ॥ ३६ ॥

अनुवाद—काञ्ची एक लड़ की होती है, मेखला आठ लड़ वाली, रशना सोलह लड़वाला और कलाप पचोस लड़वाली होती है। देवता एवं राजा की पत्नियों के हार (मोती की मालाएँ) बत्तीस मोतियों की, चौसठ मोतियों की और एक सौ आठ मोतियों की होती है ॥ ३७-३८ ॥

---

१. ग. रत्न । २. ख-ग. खजूरं स्वेच्छितीकश्च ।
३. ख-ग. कटकं कल शाखा च । ४. ख-ग. च स्यात् ।
५ ख-ग काञ्ची मौक्तिकजालाढ्या कुलकं मेखलं तथा ।
६. ख-ग. रशना षोडश ज्ञेया कलापः पञ्चविंशतिः ।

मुक्ताहारा भवन्त्येते देवपार्थिवयोषिताम् ।
[1]नूपुरः किङ्किणोकाश्च घण्टिका रत्नजालकम् ॥ ३९ ॥
[2]सघोषे कटके चैव गुल्फोपरिविभूषणम् ।
[3]जङ्घयोः पादपत्रं स्यादङ्गुलीष्वङ्गुलीयकम् ॥ ४० ॥
[4]अङ्गुष्ठतिलकाश्चैव पादयोश्च विभूषणम् ।
[5]तथालक्तकरागश्च नानाभक्तिनिवेशितः ॥ ४१ ॥
अशोकपल्लवच्छायः स्यात् स्वाभाविक एव च ।
एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि ॥ ४२ ॥

नूपुरो जान्वधः। किङ्कणीका घण्टिकालग्ने रत्नजालकं प्रपदाच्छादकम्। सघोषे सशब्दे कटके। तिलका इति विचित्ररचनाकृताः। आकेशादिति शिखापाशः शिखाव्याल इत्यतः प्रभृतीत्यर्थः। आनखदिति अलक्तकराग-पर्यन्तमिति।

अनुवाद—नूपुर, किङ्किणी, घण्टिका, रत्नजालक तथा शब्द करने वाले कटक ये गुल्फ के ऊपर धारण किये जाने वाले आभूषण होते हैं ॥ ३९ ॥

अनुवाद—जङ्घाओं में पादपत्र और अङ्गलियों में अङ्गुलीयक और अंगूठे का तिलक (विछिया) इसी प्रकार नानाविध रचनाओं से निर्मित आलक्तक राग अर्थात् महावर पैरों के आभूषण हैं ॥ ४०-४१ ॥

अनुवाद—अशोक के पत्तों की कान्ति के समान कान्ति वाला यह महावर स्वाभाविक रक्तपूर्ण होता है। ये आभूषण, स्त्रियों के केशों से नखपर्यंत नारी के आभूषण हैं ॥ ४२ ॥

अभिनव—नूपुर-विछुवा, किङ्किणीका घुंघुरू वाले नूपुर, रत्न जालक संघोषे अर्थात् शब्दायमान वलय (कटक), तिलक, आकेश, शिखापाश, नख-पर्यन्त महावर लगे हुए ॥ ३९-४२ ॥

---

१. ख-ग नूपुरः किङ्किणीकं च रत्नजालकमेव च ।
२. ख-ग. संघोषकटकं ; ३. ग. पदयोः ।
४. ख-ग. अङ्गुष्ठेतिलकं ; ५. ख-ग तथैवालक्त ।

यथाभावरसावस्थं विज्ञेयं द्विजसत्तमाः[1]।
आगमश्च प्रमाणं च रूपनिर्वर्णनं तथा ॥ ४३ ॥
[2]विश्वकर्ममतात्कार्यं सुबुद्धयापि प्रयोक्तृभिः।
न हि शक्यं सुवर्णेन मुक्ताभिर्मणिभिस्तथा ॥ ४४ ॥
[3]स्वाधीनमिति रुच्यैव कर्तुमङ्गस्य भूषणम्।
[4]विभागतोऽभिप्रयुक्तमङ्गशोभाकरं भवेत् ॥ ४५ ॥
यथा स्थानान्तरगतं भूषणं रत्नसंयुतम्।
न तु नाट्यप्रयोगे तु[5] कर्तव्यं भूषणं बहु[6] ॥ ४६ ॥
खेदं जनयते तद्धि सव्यायतविचेष्टनात्।
गुरुभावावसन्नस्य स्वेदो मूर्छा च जायते ॥ ४७ ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों! आगम अर्थात् उपादान प्रमाण (माप) तथा स्वरूप के अनुसार तथा भाव, रस और अवस्था के अनुसार समझना चाहिए ॥ ४३ ॥

अनुवाद—प्रयोक्ताओं को आभूषणों का निर्माण विश्वकर्मा के बतलाये हुए सिद्धान्त के अनुसार अथवा निर्माण की बुद्धि के अनुसार इनकी योजना करे। सुवर्ण, मुक्ता (मोती) और मणियों से अपने मनोऽनुकूल आभूषण न बनायें, बल्कि रुचि के अनुसार अङ्गों के भूषित करने वाले आभूषण बनायें क्योंकि विभागों के अनुसार निर्मित ये भूषण अङ्गों के शोभावर्द्धक होते हैं ॥ ४४-४५ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार विभिन्न स्थानों पर धारण किये गये रत्नजटित आभूषण शोभा करते हैं, नाट्य को प्रयोग में पहिने जाने वाले आभूषणों को भारी नहीं बनायें ॥ ४६ ॥

अनुवाद—क्योंकि भारी वजनदार आभूषण चेष्टा आङ्गिक) चेष्टा के करने में खेद उत्पन्न करते हैं या खेदजनक होते हैं। भारी गहनों के पहिनने से अभिनेता को पसीना और मूर्च्छा आ जाती है ॥ ४७॥

---

१. ख. ग. विज्ञायैवं प्रयोजयेत्।
२. ख-ग. विश्वकर्मोद्भवं कार्यं बुध्वा चापि प्रयोजयेत्।
३. ख-ग. स्वाधीनं चेप्सया चैव। ४. ख-ग. विभावतो।
५. ख. ग. प्रयोगेषु; ६. घ. गुरु।

गुर्वाभरणसन्नो हि चेष्टां न कुरुते पुनः ।
[1]तस्मात्तनुत्वसुकृतं सौवर्णं भूषणं भवेत् ॥ ४८ ॥
[2]रत्नवज्जतुबद्धं वा न खेदजननं भवेत् ।
स्वेच्छया भूषणविधिर्दिव्यानामुपदिश्यते[3] ॥ ४९ ॥
यत्नभावविनिष्पन्नं मानुषाणां विभूषणम् ।
वेष्टितं विततं चैव सङ्घात्यं ग्रन्थिमं तथा ॥ ५० ॥
लम्बशोभि तथा चैव माल्यं पञ्चविधं स्मृतम् ।
आच्छादनं बहुविधं नानापत्तनसंभवम् ॥ ५१ ॥
तज्ज्ञेयं त्रिप्रकारं तु शुद्धं रक्तं विचित्रितम् ।
दिव्यानां भूषणविधिरयं एष परिकीर्तितः ॥ ५२ ॥

पत्तनं देशः । शुद्धमिति शुक्लवर्णकम् । रक्तमिति कुसुम्भनील्याद्यन्यतमोपरक्तम् । विचित्रमिति बहुवर्णम् । विभक्तिः विभागः ।

अनुवाद—भारी आभूषणों को धारण कर अभिनेता थक जाता है और समुचित चेष्टाओं का ठीक से प्रदर्शन नहीं कर सकता । अतः सोने के पतले बने हुए हलके आभूषणों को धारण कर अभिनय करे ॥ ४८ ॥

अनुवाद—लाख से जटित रत्नों वाले आभूषण खेदजनक नहीं होते। अतः स्वेच्छा से भूषणों के निर्माण विधि दिव्य पात्रों के लिए उपदिष्ट किये जाते हैं ॥ ४९ ॥

अनुबाद—यत्न और भावों से निष्पन्न भूषण मनुष्यों के लिए होते हैं। वेष्टित, वितत, सङ्घात्य, ग्रन्थिम और लम्बित ये पाँच प्रकार के मालायें शोभाजनक कहे गये हैं ॥ ५०-५१ ॥

अनुवाद--अनेक पत्तनों (नगरों) में होने वाले आच्छादन बहुत प्रकार के होते हैं । फिर भी शुद्ध, रक्त और चित्र भेद से तीन प्रकार के होते हैं । वह भूषणों की निर्माण विधि दिव्य पात्रों के लिए कहा गया है ॥ ५१-५२ ॥

अभिनव—पत्तन अर्थात् देश। शुद्ध अर्थात् शुक्लवर्ण (सफेद) रक्त अर्थात् कुसुम्भ नोला आदि में से किसी एक में रंगा गया। विविध अर्थात् अनेक वर्णों वाला विभाग ।

---

१. ख. ग. तस्मान्न सम्यक् च । २. ख. ग. जतुपूर्णाल्परत्नं तु ।
३. ख. ग. यदभावाद्विनिष्पन्ना ।

मानुषाणां च कर्तव्यो नानादेशसमाश्रयः ।
[1]भूषणैश्चापि वेषैश्च नानावस्थासमाश्रयैः[2] ॥ ५३ ॥
दिव्याङ्गनानां कर्तव्या विभक्तिः स्वस्वभूमिजा ।
विद्याधरीणां यक्षीणामप्सरोनागयोषिताम् ॥ ५४ ॥
ऋषिदैवतकन्यानां वेषैर्नानात्वमिष्यते ।
तथा च सिद्धिगन्धर्वराक्षसासुरयोषिताम् ॥ ५५ ॥
दिव्यानां नरनारीणां तथैव च शिखण्डकम् ।
शिखापुटशिखण्डं[3] तु मुक्ताभूयिष्ठभूषणम् ॥ ५६ ॥
विद्याधरीणां कर्तव्यः शुद्धो वेषपरिच्छदः ।
[4]यक्षिण्योऽप्सरसश्चैव कार्या रत्नविभूषणाः ॥ ५७ ॥

अनुवाद—भिन्न-भिन्न देशों के आश्रय के अनुसार मनुष्यों की भूषण विधि को करनी चाहिए । नाना अवस्थाओं के आधार पर वेष-भूषा को धारण करें ॥ ५३ ॥

अनुवाद—दिव्याङ्गनाओं को अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अपनी रचनाओं से करना चाहिए । जिस प्रकार विद्याधरी, यक्षिणी अप्सरा, सर्पिणी ऋषि एवं देवकन्याओं को वेष-भूषाओं से भिन्नता रखनी चाहिए ॥ ५४-५५ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार सिद्ध गान्धर्व, राक्षस तथा असुरों की नारियों के भी भेद होते हैं ॥ ५५ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार दिव्य नर-नारियों का शिखण्डक होती हैं उसी प्रकार मानुषी नारियों का भी होता है । शिखा के पुट से किया गया शिखण्ड नामक भूषण मुक्ता मणि की बहुलता से भूषित होता है ॥ ५६ ॥

अनुवाद—विद्याधारियों की वेष-भूषा शुद्ध करनी चाहिए । और यक्षिणियों, अप्सराओं की वेष-भूषा रत्नजटित भूषणों से करनी चाहिए ॥ ५७ ॥

---

१. ख. भूषणं चापि वेषस्तु ।
२. ख. समाश्रयम् ।
३. ख. ग. शिखण्डां ।
४. ख. ग. यक्षिण्यप्सरसां चैव कार्यं रत्नैर्विभूषणम् ।

[1]समस्तासां भवेद्वेषो यक्षीणां केवलं शिखा ।
[2]दिव्यानामिव कर्तव्यं नागस्त्रीणां विभूषणम् ॥ ५८ ॥
मुक्तामणिलताप्रायाः[3] फणास्तासां तु केवलाः ।
कार्यं तु मुनिकन्यानामेकवेणीधरं शिरः ॥ ५९ ॥
न चापि [4]भूषणविधिस्तासां वेषो वनोचितः ।
मुक्तामरकतप्रायं मण्डनं सिद्धयोषिताम् ॥ ६० ॥
तासां चैव तु कर्तव्यं पीतवस्त्रपरिच्छदम् ।
पद्मरागमणिप्रायं गन्धर्वाणां विभूषणम् ॥ ६१ ॥

तासामिति (श्लो·५९) नागयोषिताम् ।

अनुवाद—समस्त नारियों का वेष समान होता है । किन्तु केवल यक्षिणियों की शिखा भिन्न प्रकार की होती है । नागिनियों के आभूषण दिव्याङ्गनाओं के समान होने चाहिये ॥ ५८ ॥

अनुवाद—किन्तु उनके फण लता के आकार वाली मुक्तामणि बहुल होती हैं । मुनिकन्याओं का शिर एक वेणी वाला करना चाहिए ॥ ५९ ॥

अभिनव—उनके अर्थात् नागिनियों के फण ।

अनुवाद—उन मुनि कन्याओं के वेष वनोचित होना चाहिए किन्तु भूषण-विधि वनोचित नहीं होनी चाहिये । सिद्ध स्त्रियों का मण्डन मुक्ता मरकत बहुल होना चाहिए ॥ ६० ॥

अनुवाद—उनका पहिरने का वस्त्र पीतवर्ण होना चाहिए । किन्तु गान्धर्वी स्त्रियों का आभूषण पद्मराग मणियों को जटित होने चाहिये ॥ ६१ ॥

१. ख. ग. स्त्वासां ।य
२. ख. ग. दिव्यवत्संप्रकर्तव्यं नागीनां तु विभूषणम् ।
३. ख. ग. प्रायं फलं तासां तु केवलम् ।
४. ख. ग. भूषणं कार्यं तासामत्यर्थंतो जयेत् ।

[1]वीणाहस्तश्च कर्तव्यः कौसुम्भवसनस्तथा ।
इन्द्रनीलैस्तु कर्तव्यं राक्षसीनां विभूषणम् ॥ ६२ ॥
[2]सितदंष्ट्रा च कर्तव्या कृष्णवस्त्रपरिच्छदम्[3] ।
वैडूर्यमुक्ताभरणाः कर्तव्या सुरयोषिताम्[4] ॥ ६३ ॥
शुकपिञ्छनिभैर्वस्त्रैः कार्यस्तासां परिच्छदः ।
[5]पुष्परागैश्च मणिभिः क्वचिद्वैडूर्यभूषितम्[6] ॥ ६४ ॥
दिव्यवानरनारीणां कार्यो[7] नीलपरिच्छदः ।
एव शृङ्गारिणः[8] कार्या वेषा दिव्याङ्गनाश्रयाः ॥ ६५ ॥

अनुवाद—उनके हाथ में वीणा होनी चाहिए और कौसुम्भी रङ्ग के वस्त्र होने चाहिये । और राक्षसियों के आभूषण इन्द्रनील मणि के होने चाहिए ॥ ६२ ॥

अनुवाद—उनके दाढ़ (दाँत) सफेद रङ्ग के तथा वस्त्र काले रङ्ग के होने चाहिए । देवाङ्गनाओं के आभूषण वैडूर्य मणि (लहसुनियाँ) मणि जटित होने चाहिए ॥ ६३ ॥

अनुवाद—उनके पहिनने वस्त्र शुक (तोते) के पंख सदृश हरित वर्ण के होने चाहिए । वैडूर्य मणियों के भूषित पुष्पराग मणियों के आभूषण होने चाहिए ॥ ६४ ॥

अनुवाद—दिव्य वानरियों एवं नारियों के धारण करने के वस्त्र नीले रङ्ग के होने चाहिए । इस प्रकार दिव्याङ्गनाओं के वेष शृङ्गारमय करना चाहिये ॥ ६५ ॥

---

१. ख. ग. वीणाहस्ताश्च कर्तव्याः कौसुम्भवसनास्तथा ।
२. ख. ग. सिता दंष्ट्रा ।
३. ख. ग. परिच्छदः ।
४. ख. ग. योषितः ।
५. घ. पुण्यरागैस्तु । ६. घ. भूषितैः ।
७. ख. ग. कार्यो । ८. ख. ग. कार्यो वेषो ।

अवस्थान्तरमासाद्य शुद्धाः कार्याः पुनस्तथा ।
मानुषीणां तु कर्तव्या नानादेशसमुद्भवाः ॥ ६६ ॥
[1]वेषाभरणसंयोगान् गदतस्तान्निबोधत ।
[2]आवन्त्ययुवतीनां तु शिरस्सालककुन्तलम् ॥ ६७ ॥
गौडीनामलकप्रायं सशिखापाशवेणिकम् ।
आभीरयुवतीनां तु द्विवेणीधर [3]एव तु ॥ ६८ ॥
शिरःपरिगमः[4] कार्यो[5] नीलप्रायमथाम्बरम् ।
तथा पूर्वोत्तरस्त्रीणां [6]समुन्नद्धशिखण्डकम् ॥ ६९ ॥

(सालककुन्तलमिति) अलकाः स्थाने कुन्तलाः कुञ्चिताः केशा यत्र तत्तथोक्तम् ।

नीलप्रायं वस्त्रमित्याभीरीणामेव ।

अनुवाद—अन्य अवस्थाओं के प्राप्त होने पर उनके वेष शुद्ध होने चाहिये । मानुषियों के वेष भिन्न-भिन्न देशों के अनुसार होने चाहिये ॥ ६६ ॥

अनुवाद—वेष और आभूषण के संयोग को कहता हूँ, उन्हें समझें । आवन्ती देश युवतियों के शिर कुञ्चित केश वाले होने चाहिये ॥ ६७ ॥

अनुवाद—गौड़ देश के युवतियों के शिर शिखा का पाश (बन्धन) से एक वेणी के सहित होना चाहिये और आभीर देश की युवतियों को दो वेणी वाला होना चाहिये ॥ ६८ ॥

अभिनव—अलक सहित कुञ्चित (घुघुराले) केश हैं जिसमें ऐसा अवन्ति युवतियों का शिर होता है ॥ ६८ ॥

अनुवाद—पूर्वोत्तर प्रदेश के नारियों का शिर के केशों का परिगम (स्वच्छ) होना चाहिये जिसमें शिखण्डक (केश-शिखाएँ) ऊपर की ओर समुन्नद्ध हों और वस्त्र प्रायः नील वर्ण का होना चाहिये ॥ ६९ ॥

अभिनय—नील प्राय वस्त्र प्रायः अभीर जाति की स्त्रियों के होते हैं ।

---

१. ख. ग. वेषास्त्वाभरणोपेतास्तांश्च सम्यङ् निबोधत ।
२. ख. ग. अवन्ति । ३. ख. ग. धरमेव च ।
४. ग. परिगतं ; ५. ख. ग. प्रायो कार्यं ।
६. ख. ग. समुद्धत शिखण्डिकम् ।

[1]आकेशाच्छादनं तासां [2]देशकर्मणि कोर्तितम् ।
[3]तथैव दक्षिणस्त्रोणां कार्यमुल्लेख्यसंश्रयम्[4] ॥ ७० ॥
कुम्भी[5] बन्धकसंयुक्तं तथावर्तंल्लाटिकम् ।
गणिकानां तु कर्तव्यमिच्छाविच्छित्ति मण्डनम् ॥ ७१ ॥
देशजातिविधानेन[6] शेषाणामपि कारयेत् ।
वेषं तथा चाभरणं क्षुरकर्म परिच्छदम् ॥ ७२ ॥

हृदयं व्याप्नोति हृद्यत एवेति वेषः केशरचनादिः । आ समन्तात् भ्रियते पोष्यते कान्तिर्येन तदाभरणं शिखाव्यालादि । क्षुरकर्म अलकादियोजना । परिच्छदः विचित्रवस्त्रयोगः । एतद्वेषादि प्रलम्भेन ।

अनुवाद—उन स्त्रियों देश सम्बन्धी क्रिया-कलापों में सम्बन्ध में केशों से लेकर वस्त्रों के सम्बन्ध में कह दिया है । उसी प्रकार दक्षिण प्रदेश की स्त्रियों के विषय में उल्लेख के (गोदना) युक्त संश्रय करना चाहिये ॥ ७० ॥

अनुवाद—कुम्भी बन्ध अर्थात् एक प्रकार का गोल चूड़ा शिर पर तथा मस्तक पर आवर्त्त (भँवरा) रखनी चाहिये और गणिकाओं को अपनी रुचि (इच्छा) के अनुसार अलङ्करण से अलंकृत करना चाहिये ॥ ७१ ॥

अनुवाद—उसी प्रकार शेष पात्रों अथवा शेष स्त्रियों के वेष-भूषा जाति और देश के विधान के अनुसार क्षुरकर्म अर्थात् बालों का काटना या रखना चाहिये ॥ ७२ ॥

अभिनव—केश रचना और वेष-भूषा हृदय में व्याप्त हो जाती है, चारों ओर से जो रूप (कान्ति) शरीर को भरण करते हैं या पुष्ट करते हैं। वे शिखा-व्यालादि आभूषण हैं। क्षुरकर्म अलकादि की योजना अर्थात् परागादि से केशों के सजाना। परिच्छद का अर्थ है रंग-विरङ्गे वस्त्रों का पहिरना। ये वेषादि के धारण की व्यवस्था है ॥ ७२ ॥

---

१. ख. ग. आकेशं छादनं ।
२. ख. ग. वेष ; ३. ख. ग. तथा च ।
४. ख. ग. संज्ञितम् ; ५. ख. ग. पदक ।
६. ख. ग. विशेषेण देशानामपि ।

आगमं चापि नेपथ्ये नाट्यस्यैवं प्रयोजयेत् ।
[1]आदेशयुक्तो वेषो हि न शोभां जनयिष्यति ॥ ७३ ॥
मेखलोरसि बद्धा[2] तु हास्यं समुपपादयेत् ।
तथा प्रोषितकान्तासु[3] व्यसनाभिहतासु च ॥ ७४ ॥
[4]वेषो वै मलिनः कार्य एकवेणीधरं शिरः ।
विप्रलम्भे तु नार्यास्तु शुद्धो वेषो भवेदिह ॥ ७५ ॥
[5]नात्याभरणसंयुक्तो न चापि मृजयान्वितः ।
एवं स्त्रीणां [6]भवेद्वेषो देशावस्थासमुद्भवः ॥ ७६ ॥

देशोऽवन्त्यादि, अवस्था रतिशोकाद्याः ।

अनुवाद—नेपथ्य-विधान के विषय में अर्थात् वेष-भूषा के संयोग में नाट्यशास्त्रीय आगम का प्रयोग करें, क्योंकि अनुचित स्थानों पर धारित वेष शोभा का जनक नहीं होता ॥ ७३ ॥

अनुवाद—मेखला कमर में पहिनने योग्य करधनी को छाती (वक्षःस्थल) में बाँधना हास्य का उपपादक होगा। तथा प्रोषित कन्याओं का तथा व्यसन से आक्रान्त नारियों के वेष मलिन तथा एक वेणी होनी चाहिये और विप्रलम्भ में नारी का वेष शुद्ध होना चाहिये ॥ ७४-७५ ॥

अनुवाद—न तो अत्यन्त अधिक आभूषणों को योजना हो और न तो सफाई की ओर विशेष ध्यान रहना चाहिये। इस प्रकार देश और अवस्था के अनुसार इन स्त्रियों का वेष होना चाहिये ॥ ७६ ॥

अभिनव—देश अवन्ती आदि और अवस्था रति-शोकादि ।

---

१. ख. ग. अदेशजो हि वेषस्तु ।
२. ख-ग-घ. मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ।
३. ख. कान्तायां व्यसनाभिहताश्च याः ।
४. ख. ग. स्यान्मलिनस्तासां ।
५. ख. ग. नानाभरण ।
६. ख. ग. प्रयुक्तव्या ।

पुरुषाणां पुनश्चैव वेषान्वक्ष्यामि तत्त्वतः ।
तत्राङ्गरचना पूर्वं कर्तव्या नाटचयोक्तृभिः ॥ ७७ ॥
ततः परं प्रयोक्तव्या वेषा देशसमुद्भवाः ।
सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च ॥ ७८ ॥
एते स्वभावजा वर्णा यैः कार्यं त्वङ्गवर्तनम् ।
संयोगजाः पुनश्चान्ये उपवर्णा भवन्ति हि ॥ ७९ ॥
तानहं संप्रवक्ष्यामि यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ।
सितनीलसमायोगे कारण्डव इति स्मृतः ॥ ८० ॥

तत्रेति पुरुषेष्वेव । अङ्गनानां रूपपरिवर्तनसंपादनात्मकवर्णवर्तना कर्तव्या न स्त्रीपात्रेष्विति यावत् ।

संयोगजा इति वर्णद्वयश्लेषेणोत्थापिताः, उपवर्णास्तु बहुवर्णमिश्रणेनेत्यर्थः ।

अनुवाद—अब मैं पुरुषों के वेष को तत्त्वतः कहूँगा । सर्वप्रथम नाट्य-प्रयोक्ताओं पहिले अङ्गरचना करनो चाहिये ॥ ७७ ॥

अभिनव—उन पुरुष पात्रों के अङ्गों के रूप परिवर्त्तनात्मक वर्णों की रचना करनी चाहिए, स्त्री पात्रों में नहीं ॥ ७७ ॥

अनुवाद—इसके बाद देश और जाति के अनुसार वेष का प्रयोग करना चाहिये, जो सफेद, नीला, पीला और चौथा लाल रङ्ग का हो ॥ ७८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार ये स्वाभाविक वर्ण है जिनके द्वारा अङ्ग का उद्वर्त्तन करना चाहिये । और जो संयोग से (मिश्रण से) बनने वाले उपवर्ण हैं वे मिश्रित रङ्ग हैं ॥ ७९ ॥

अभिनव—संयोगज का अर्थ है दो-तीन वर्णों के मेल और उपवर्ण का अर्थ है अनेक रङ्गों का मिश्रण ।

अनुवाद—अब मैं उपवर्णों को बतलाता हूँ । उसी के अनुसार प्रयोक्ताओं को नाट्य में प्रयोग करना चाहिये । सफेद और पीले रङ्ग के योग से 'पाण्डु' वर्ण बनता है और सफेद एवं नीले रङ्ग के मिश्रण से कारण्डव अर्थात् कापोत वर्ण बनता है ॥ ८० ॥

सितपीत[1] समायोगात्पाण्डुवर्णं प्रकीर्तितः ।
सितरक्तसमायोगे[2] पद्मवर्णः प्रकीर्तितः[3] ॥ ८१ ॥

पीतनीलसमायोगाद्धरितो नाम जायते ।
नीलरक्तसमायोगात्कषायो नाम जायते ॥ ८२ ॥

रक्तपीतसमायोगाद्गौरवर्णं इति स्मृतः[4] ।
एते संयोगजा वर्णा ह्युपवर्णास्तथापरे ॥ ८३ ॥

त्रिचतुर्वर्णसंयुक्ता बहवः [5]संप्रकीर्तिताः ।
बलस्थो यो भवेद्वर्णस्तस्य भागो भवेत्ततः ॥ ८४ ॥

बलस्थ इत्यभिभवनकारो, ततोऽन्यो वर्णो द्विगुण इति, अस्यापवादमाह नीलवर्णादृते इति ।

अनुवाद—सफेद और पीले रङ्ग के संयोग से पाण्डु वर्ण कहलाता है। तथा सफेद और लाल रङ्ग के योग (मिश्रण) से 'पद्म' वर्ण कहलाता है ॥ ८१ ॥

अनुवाद—पीले और नीले रङ्ग के मिश्रण से हरित वर्ण बनता है। नीला और लाल वर्ण के मिश्रण से 'कषाय' (कत्थई) रङ्ग हो जाता है ॥ ८२ ॥

अनुवाद—लाल (रक्त) और पीत वर्ण के समायोग से गौरवर्ण बनाया जाता है। ये दो वर्णों के संयोग (मिश्रण) से बनने वाले वर्ण हैं और अन्य वर्ण उपवर्ण कहलाते हैं ॥ ८३ ॥

अनुवाद—इनमें तीन-चार वर्णों के संयोग से अनेक वर्ण बन जाते हैं। इनमें जो वर्ण बलशाली हों उसका एक भाग होना चाहिए ॥ ८४ ॥

अभिनव—बलवान् वर्ण वह होता है जो दूसरे रङ्गों को अभिभूत कर दे उससे अन्य अर्थात् दुर्बल वर्ण दुगुना हो। उनके अपवाद को कहते हैं। नील वर्ण के अतिरिक्त अन्य सभी वर्ण दुर्बल है ॥ ८४ ॥

---

१. ख-ग. सिततीलसमायोगात् ।
२. ख-ग. सितनीलसमायोगात् ।
३. ख-ग. इति स्मृतः ।
४. ख-ग. गौर इत्यभिधीयते ।
५. ख-ग. परिकीर्तिताः ।

दुर्बलस्य च भागौ द्वौ नीलं मुक्त्वा प्रदापयेत्[1] ।
नीलस्यैको भवेद्भागश्चत्वारोऽन्ये तु वर्णके ॥ ८५ ॥

बलवान्सर्ववर्णानां नील एव प्रकीर्तितः ।
एवं वर्णविधिं ज्ञात्वा नानासंयोगसंश्रयम्[2] ॥ ८६ ॥

ततः [3]कुर्याद्यथायोगमङ्गानां वर्तनं बुधः ।
वर्तनाच्छादितं[4] रूपं स्ववेषपरिवर्जितम्[5] ॥ ८७ ॥

नाट्यधर्मप्रवृत्तं तु[6] ज्ञेयं तत्प्रकृतिस्थितम् ।
स्ववर्णमात्मनश्छाद्यं[7] वर्णकैर्वेषसंश्रयैः ॥ ८८ ॥

तत्र तु यो भागविधिस्तं दर्शयति नीलस्यैक इति । वर्णके नीलस्य भाग इत्यर्थः ।

अनुवाद—नील वर्ण को छोड़कर दुर्बल रङ्ग के दो भाग होने चाहिये। क्योंकि नीलवर्ण का एक भाग होता है और शेष वर्णों के चार भाग होने चाहिये ॥ ८५ ॥

अभिनव—नील वर्ण का एक भाग ही अन्य वर्णों को दुर्बल करने में पर्याप्त हैं ॥ ८५ ॥

अनुवाद—सभी वर्णों में नीला रङ्ग हो सबसे बलवान् (तेज) होता है। इस प्रकार नाना वर्णों के संयोग से वर्ण विधि को जाने ॥ ८६ ॥

अनुवाद—इसके बाद विद्वानों को यथायोग अङ्गों की वर्त्तना करे । इस वर्त्तना एवं आच्छादन से बनने वाले रूप को अपने वेष से परिवर्जित करें ॥ ८७ ॥

अनुवाद—नाट्यधर्म को प्रवृत्ति के अनुसार अपने प्रकृति में स्थिति वेष के वर्णों के रङ्गों से अपने वर्ण का आच्छादन करना चाहिये ॥ ८८ ॥

१. ख-ग. नीलमुक्तं प्रपादयेत् । २. ख-ग. सम्भवम् ।
३. ख-ग. ततस्तु वर्तना कार्या नानारूपसमाश्रया ।
४. ख-ग. वर्तनाच्छादनं । ५. ख. ग. वर्तितम् ।
६. ख. ग. नाट्य धर्मप्रवृत्तेन । घ. नाट्यधर्मीप्रवृत्तेन ।
७. ख. ग. सवर्णमात्यद्वयं ।

[1]आकृतिस्तस्य कर्त्तव्या यस्य प्रकृतिरास्थिता ।
यथा[2] जन्तुः स्वभावं स्वं परित्यज्यान्यदैहिकम् ॥ ८९ ॥
[3]तत्स्वभावं हि भजते देहान्तरमुपाश्रितः ।
[4]वेषेण वर्णकैश्चैवच्छादितः पुरुषस्तथा ॥ ९० ॥
[5]परभावं प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः[6] ।

वर्तनाशब्दं पर्यायं व्याचष्टे वर्तनाच्छादनमिति । प्रकृतिस्थितमितिदेवमानुषादिस्वभावविभागेनावस्थितमित्यर्थः ।

अभिनव—वर्त्तना शब्द के पर्याय की व्याख्या करते हैं । 'वर्त्तनाच्छादनम्' इत्यादि । प्रकृतिस्थ का अर्थ है कि देवता और मनुष्यों के स्वभाव के अनुसार स्वभाव के विभाग के अनुसार अवस्थित हैं ॥ ८८ ॥

अनुवाद—जिसकी प्रकृति का अभिनय करना है। अभिनेता को उसकी आकृति बनानी चाहिये । जैसे पैदा होने वाला जन्तु अपने पूर्व देह के स्वभाव को छोड़कर दूसरे शरीर के स्वभाव को धारण करता है ॥ ८९ ॥

अनुवाद—जैसे देहान्तर को प्राप्त करने वाला व्यक्ति उसके स्वभाव का भजन करता है उसी प्रकार अभिनेता पुरुष भी वेष और वर्ण (रङ्ग) से आच्छादित जिसके वेष का आश्रयण करता है उसी के भाव का अनुसरण करता है ॥ ९०-९१ ॥

---

१. ख-ग. प्रकृतिर्वास्य कर्त्तव्या तस्य प्रकृतिरास्थिताताः ।

२. ख ग. नरः ; क. (जीवः) ।

३. ख. ग. घ. पराभवं प्रकुरुते देहभावसमाश्रयम् ।

४. ख. वर्णकैश्चैव वेशैश्च । ग. वर्णकैश्चापि वेशैश्च ।

५. ख. ग. परप्रभावं कुरुते ।

६. क. मुपाश्रितः ।

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ९१ ॥
[1]प्राणिसंज्ञाः स्मृता ह्येते जीवबन्धाश्च येऽपरे ।
स्त्रीभावाः पर्वताः[2] नद्यः समुद्रा वाहनानि च ॥ ९२ ॥
नानाशस्त्राण्यपि तथा विज्ञेयाः प्राणिसंज्ञया ।
शैलप्रासादयन्त्राणि चर्मवर्मध्वजास्तथा ॥ ९३ ॥
नानाप्रहरणाद्याश्च तेऽप्राणिन इति स्मृताः ।
अथवा कारणोपेता भवन्त्येते शरीरिणः ॥ ९४ ॥

वर्तनस्य प्रयोजनमाह—यथा जन्तुः स्वभावं स्वमिति । जन्तुरिति जीवात्मेत्यर्थः । स च शुद्धनिर्मलान्तचिदानन्दप्रकाशः स्वातन्त्र्यरूपं स्वमनपायिनमपि स्वभावं परित्यज्यान्यद् व्यतिरिक्तमपि दैहिकं देहभवः शरीरकरणोचितं तत्स्वभावं भजते, यतो देहान्तरं तद्देहविशेष उपसमीपे आ समन्तात् स्थितः अतिनैकट्येन तदात्मवृत्त्या प्रतिपन्न इत्यर्थः ।

अभिनव—अब वर्तना के प्रयोजन को कहते हैं—जैसे जन्तु (जीव) अपने स्वभाव को छोड़कर । यहाँ जन्तु का अर्थ जीवात्मा है जो शुद्ध, निर्मल, अनन्त, चित्, आनन्द और प्रकाश स्वरूप है, और स्वातन्त्र्य रूप अर्थात् अनपायी स्वभाव वाला भी अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य अतिरिक्त दैहिक शरीर और इन्द्रियों के अनुसार स्वभाव को ग्रहण करता है, क्योंकि देहान्तर अर्थात् देह-विशेष । उप अर्थात् समीप में अत्यन्त निकट भाव से उसके स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ८९-९० ॥

अनुवाद—देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं पन्नग (सर्प) और जो जीवधारी हैं वे सब प्राणी समझे जाते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अनुवाद—स्त्री स्वभाव वाले नदी, पर्वत, समुद्र, वाहन तथा नाना प्रकार के शस्त्रों को प्राणिसंज्ञक समझने चाहिये ॥ ९२-९३ ॥

अनुवाद—शैल, प्रासाद, यन्त्र, चर्म (छाल) वर्म (कवच) ध्वज तथा नाना प्रकार के प्रहरण (शस्त्रादि) ये अप्राणो अर्थात् अजीव पदार्थ कहे जाते हैं अथवा कारण विशेष से युक्तये शरीरधारी हो जाते हैं या माने जाते हैं ॥ ९३-९४ ॥

---

१. ख. ग. ते प्राणिन इति प्रोक्ता जीवबन्धाश्च ये त्विह ।

२. ख. पर्वताभार्या । 'ग' पुस्तके नास्ति ।

एतदुक्तं भवति—यथा परमात्मा स्वचैतन्यप्रकाशमत्यजन्नपि देहकञ्चुकोचितचित्तवृत्तिरूषितमिव स्वरूपमादर्शयति, तथा नटोऽपि आत्मावष्टम्भमत्यजन्नेव स्थाने लयतालाद्यनुसरणाद्यायोगाद् देहस्थानीयेन वर्तनाविवेषपरिवर्तने (न) तदुचितस्वभावालिङ्गितमिव स्वात्मानं सामाजिकान् प्रति दर्शयति, प्रेक्षकपक्षे न नटाभिमानस्तत्र हि रामाभिमान इति दर्शयति । एतदाशयेनैवास्माभिस्तत्र तत्र प्रतीतिरेव व्याख्याता रसाध्यायादौ ।

सजीवमाहार्यभेदं व्याचष्टे—देवदानवगन्धर्वेत्यादिना, शैलप्रसादादीनि निर्जीवत्वे प्रस्तुतत्वेन परिगणितान्यपि अवस्थाविशेषेषु नाट्यधर्मेण सजीवत्वेऽपीत्याह—शैलेत्यादिना, अथवा कारणोपेता इत्यादिना च ।

अङ्गरचनानि विभजति वर्णानामिति गौरादीनाम् ।

अभिनव—यह कहा गया है कि जैसे परमात्मा अपने स्वभाव चैतन्य और प्रकाश को न छोड़ता हुआ भी शरीर रूप कञ्चुक के उचित चित्तवृत्तियों से रूषित के समान अपने स्वरूप को दिखाता है, उसी प्रकार नट भी अपने अवष्टम्भ (धारणा) को न छोड़ता हुआ भी समय पर लय, ताल, वाद्य के अनुसरणादि व्यायोग से देहान्तर स्थानी वर्तना आदि के वेष के परिवर्तन के द्वारा तदुचित स्वभाव से आलिङ्गित सा अपने स्वरूप को सामाजिकों को दिखाता है । प्रेक्षक के पक्ष में वहाँ नटाभिमान नहीं होता, यह दिखाते हैं । इसी आशय से हमने उस उस रसाध्याय में प्रतीति की व्याख्या की है ॥ ९२ ॥

अभिनव—देव, दानव आदि सजीव जीवों के आहार्य अभिनय की व्याख्या करते हैं—देव, दानव, गन्धर्व इत्यादि के द्वारा । शैल, प्रासादादि के निर्जीव रूप में परिगणना होने पर भी अवस्था विशेष में नाटचधर्म से सजीव रूप में वर्णन होने पर कहते हैं शैलेत्यादि । अथवा कारण से युक्त होने से सजीव हो जाते हैं ॥ ९४ ॥

वेषभाषाश्रयोपेता नाट्यधर्ममवेक्ष्य तु ।
वर्णानां तु विधिं ज्ञात्वा वयः प्रकृतमेव च ॥ ९५ ॥
कुर्यादङ्गस्य रचनां देशजातिवयः श्रिताम् ।
देवा गौरास्तु विज्ञेया यक्षाश्चाप्सरसस्तथा ॥ ९६ ॥
[1]रुद्रार्कद्रुहिणास्कन्दास्तपनोयप्रभाः स्मृताः ।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो वरुणस्तारकागणाः ॥ ९७ ॥
[2]समुद्रहिमवद्गङ्गाः श्वेता हि स्युर्बलस्तथा ।
रक्तमङ्गारकं विद्यात् पीतौ बुधहुताशनौ ॥ ९८ ॥
नारायणो नरश्चैव श्यामो नागश्च[3] वासुकिः ।

अनुवाद—वेष और भाषा के आश्रय से उपेत और नाट्यधर्म को समझकर तथा चारों वर्णों की विधि को जानकर और अवस्था एवं प्रकृति (स्वभाव) का समझकर देश, जाति, वय (अवस्था) के आश्रित (आधार पर) अङ्गों की रचना करें ॥ ९६ ॥

अनुवाद--देवता, यक्ष, और अप्सराओं को गौर वर्ण समझना चाहिए ॥९६॥

अनुवाद—एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, द्रुहिण (ब्रह्मा) स्कन्द, सोम, बृहस्पति, शुक्र, वरुण और तारागण तपनीय (सुवर्ण) के समान कान्ति वाले माने गये हैं ॥ ९७ ॥

अनुवाद—समुद्र, हिमवान् और गङ्गा और बलराम ये श्वेत वर्ण के रखे जाँय, मङ्गल को लाल और बुध एवं अग्नि को पीला वर्ण रखें ॥ ९८ ॥

अनुवाद—नर और नारायण को श्याम वर्ण और वासुकि नाग को काला रङ्ग का होना चाहिए ।

---

१. ख. ग. रुद्राः सद्रुहिणस्कन्दास्तपनीय समप्रभाः ।
२. ख. ग, समुद्रो हिमवान् गङ्गा श्वेता कार्यास्तु वर्णतः ।
३. ख. ग. श्यामवर्णोऽथ ।

दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसा गुह्यका नगाः ॥ ९९ ॥
पिशाचा [1]जलमाकाशमसितानि तु वर्णतः ।
[2]भवन्ति षट्षु द्वीपेसु पुरुषाश्चैव वर्णतः ॥ १०० ॥
कर्तव्या नाट्ययोगेन[3] निष्टप्तकनकप्रभाः ।
जम्बूद्वीपस्य वर्षे तु नानावर्णाश्रया नराः ॥ १०१ ॥
उत्तरास्तु कुरूस्त्यक्त्वा ते चापि कनकप्रभाः ।
[4]भद्राश्वपुरुषाः श्वेताः कर्तव्या वर्णतस्तथा[5] ॥ १०२ ॥
[6]केतुमाले नरा नीला गौराः शेषेषु कीर्तिताः ।
[7]नानावर्णाः स्मृता भूता गन्धर्वा यक्षपन्नगाः ॥ १०३ ॥

नगाः पर्वताः । जलमाकाशमिति तदधिष्ठात्री देवतेह विवक्षिता । जम्बूद्वीपस्य वर्षं इति भारते । ते चापीति उत्तरकुरवः ।

दैत्य, दानव, राक्षस गुह्यक, पर्वत, पिशाच, यम (अथवा जल) और आकाश को काले रङ्ग में रखा जाय ॥ ९९-१०० ॥

अनुवाद—जम्बू द्वीप से भिन्न छः द्वीपों में पुरुषों के वर्ण किसी भी प्रकार के रहें किन्तु नाटच के प्रयोग में उनके वर्ण तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्तिमय होने चाहिए। किन्तु जम्बू द्वीप में तो पुरुषों को भिन्न-भिन्न वर्ण के होने चाहिए ॥ १००-१०१ ॥

अनुवाद—उत्तर कुरु को छोड़कर अन्य व्यक्तियों के सुनहरा वर्ण होने चाहिए। किन्तु भद्राश्वदेश के निवासियों के वर्ण श्वेत होने चाहिए ॥ १०२ ॥

अनुवाद—केतुमाल देश के मनुष्यों के वर्ण नीले रङ्ग और शेष देशों के मनुष्य गौर वर्ण के कहे गये हैं। भूत, गन्धर्व, यक्ष और पन्नग नाना वर्ण के माने गये हैं ॥ १०३ ॥

---

१. ख. ग. यम आकाशं श्यामवर्णा ।
२. ख. ग. घ. वसन्ति सप्तद्वीपेषु ये नरा वर्णतस्तु ते ।
३. ख. ग. घ. नाट्यतत्त्वज्ञैः ।
४. ख. ग भद्राश्च वपुषा ।
५, ग. वर्णतो बुधैः ।
६. ख-ग. सेनुमालास्तथा श्वेता ।
७. ख-ग. नानावर्णा स्मृता भूता वामटा विकृताननाः वराहमेघमहिषमुगतवक्त्रास्यथैव च ।

[1]विद्याधरास्तथा चैव पितरस्तु समा नराः ।
पुनश्च भारते वर्षे तांस्तान्वर्णान्निबोधत ॥ १०४ ॥
राजानः पद्मवर्णास्तु[2] गौराः श्वेतास्तथैव च ।
ये चापि सुखिनो मर्त्या गौराः कार्यास्तु वै[3] बुधैः ॥ १०५ ॥
कुकर्मिणो ग्रहग्रस्ताः व्यधितास्तपसि स्थिताः ।
[4]आयस्तकर्मिणश्चैव ह्यसिताश्च कुजातयः ॥ १०६ ॥
ऋषयश्चैव कर्तव्या नित्यं तु बदरप्रभाः ।
तपःस्थिताश्च ऋषयो [5]नित्यमेवासिता बुधैः ॥ १०७ ॥

पितरस्तु समा नरा इति तुः स्वार्थे पितरो नराश्च तुल्या इत्यर्थः। कुकर्मिण इति कुत्सितं निन्दितं कर्म येषाम् । आयस्तं शरीरक्लेशबहुलं कर्म येषामित्यर्थः। कुजातयो धीवरडोम्बाद्याः ।

अनुवाद—विद्याधर, पितर और नर ये सब समान वर्ण वाले होते हैं। किन्तु भारतवर्ष में जो-जो वर्ण होते हैं उन-उन वर्णों को समझें ॥ १०४ ॥

अनुवाद—राजा लोग पद्मवर्ण के गुलाबी, गौर और श्याम वर्ण के होते हैं और जो मनुष्य सुखी हैं उन्हें गौरवर्ण करें ॥ १०५ ॥

अनुवाद—कुकर्म करने वाले, ग्रहों से ग्रस्त, व्याधि से पीड़ित, तपस्या में स्थित, आयास (परिश्रम) का काम करने वाले कुत्सित जाति वाले कुजाति) ये काले रङ्ग के होते हैं ॥१०६ ॥

अभिनव - पितर और नर ये दोनों समान अर्थ में हैं। यहाँ 'तु' स्वार्थ में है पितर और नर तुल्य हैं। कुत्सित अर्थात् निन्दित कर्म जिनके हैं वे कुकर्मी हैं। अत्यन्त परिश्रम साध्य कर्म जिनके हैं वे परिश्रमी हैं। कुजाति अर्थात् धीवर, डोम आदि हैं ॥ १०६ ॥

अनुवाद—ऋषियों को सदा बबर के समान के केसरिया वर्ण रखा जाय और तपस्या में स्थित ऋषियों को असित (कपोत वर्ण) रखना चाहिए ॥ १०७ ॥

---

१. ख-ग. विद्याधराः सपितरो वानराश्च तथैव हि ।
२. ख-ग. स्यु श्यामो गौराः ; ३. ख-ग. ते ।
४. ग. यज्ञकर्मिणि । ५. ग. नित्यमेतावता ।

कारणव्यपदेशेन तथा चात्मेच्छया पुनः ।
[1]वर्णस्तत्र प्रकर्तव्यो देशजातिवशानुगः[2] ॥ १०८ ॥

देशं[3] कर्म च जातिं च पृथिव्युद्देशसंश्रयम्[4] ।
विज्ञाय वर्तना कार्या पुरुषाणां प्रयोगतः[5] ॥ १०९ ॥

किरातबर्बरान्ध्राश्च [6]द्रविडाः काशिकोसलाः ।
पुलिन्दा दाक्षिणात्याश्च प्रायेण त्वसिताः स्मृताः ॥ ११० ॥

बदरप्रभावत्त्वेऽप्यपवादमाह—तपः स्थिता असिता इति । अनेन तु ऋषीणामपि तपोनिरतानामसितत्वमित्यपौनरुक्त्यम् ॥ १०७ ॥

व्यापक लक्षणमाह—कारणव्यपेदेशेनति । कारणं यथा क्लेशबहुला क्रिया कृष्णत्वे । आत्मेच्छयेति कविबुद्ध्यनुसारेणेत्यर्थः ॥ १०८ ॥

अभिनव—जो ऋपियों को वदर के समान कान्ति वाला कहा गया है उसके अपवाद को कहते हैं—जो तपः स्थिति असित वर्ण के हैं। इससे यह कहा गया है कि तपोनिष्ठ ऋषि असित वर्ण के होते हैं ॥ १०७ ॥

अनुवाद—किसी कारण के व्यपदेश से अथवा अपनी इच्छा से देश, जाति वय के अनुसार ऋषियों का वर्ण रखना चाहिये ॥ १०८ ॥

अभिनव—कारण के व्यपदेश से व्यापक लक्षणा को कहते हैं। काले रङ्ग होने का कारण क्लेश बहुल किया है और कवि भी अपनी इच्छा से बुद्धि के अनुसार रङ्ग बदल सकता है ॥ १०८ ॥

अनुवाद—देश, कर्म, जाति तथा पृथ्वी के उद्देश स्थान को समझकर प्रयोग के अनुसार पुरुषों को वर्तना करनी चाहिये ॥ १०९ ॥

अनुवाद—किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रविड़, काशी, कोशल, पुलिन्द, दाक्षिणात्य लोग प्रायः आअसित वर्ण के कहे गये हैं ॥ ११० ॥

---

१. ख. त्वन्यः प्रयोक्तव्यो । ग. त्वन्योऽपि कर्तव्यो ।
२. ग. तपोऽनुगः (?)
३. ख-ग. देशकालं ।
४. ख-ग-घ. पृथिव्युद्देशमेव च ।
५. ख. वर्तनां कुर्यात्पुरुषाणां प्रयोगवित् ।
६. ख. द्रमिला ।

शकाश्च यवनाश्चैव [1]पह्लवा वाह्लिकाश्च ये ।
प्रायेण गौराः कर्तव्या उत्तरा ये श्रिता दिशम् ।। १११ ।।
पाञ्चालाः [2]शौरसेनाश्च [3]महिषाश्चौड्रमागधाः ।
[4]अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च श्यामाः कार्यास्तु वर्णतः ।। ११२ ।।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव [5]गौराः कार्यास्तथैव हि ।
वैश्याः शूद्रास्तथा चैव श्यामाः कार्यास्तु वर्णतः ।। ११३ ।।
एवं कृत्वा यथान्यायं मुखाङ्गोपाङ्गवर्तनाम्[6] ।
श्यमश्रुकर्मं प्रयुञ्जीत देशकालवयोऽनुगम्[7] ।। ११४ ।।

अनुवाद—शक (एक पहाड़ी यायावर जाति) यवन, पल्हव, वाह्लिक, वल्ख के निवासी तथा उत्तर दिशा के अन्य निवासी जब प्रायः गौर वर्ण के होने चाहिए ॥ १११ ॥

अनवाद—पाञ्चाल, शौरसेन (मथुरा के निवासी) माहिष, औण्ड्रमागध (उड़ीसा निवासी जाति) अङ्ग (भागलपुर के पास का क्षेत्र) बङ्ग (बङ्गाल), कलिङ्ग वासी लोगों के वर्ण श्यामवर्ण होने चाहिये ॥ ११२ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण और क्षत्रियों के वर्ण गौर करना चाहिये तथा वैश्य और शूद्रों के रङ्ग श्याम वर्ण करने चाहिये ॥ ११३ ॥

अनुवाद इस प्रकार नीति क अनुसार मुखाङ्ग एव उपाङ्गों की वर्तना देश, काल और वय (अवस्था) के अनसार दाढ़ी-मूछ लगाने का कर्म करें ॥ ११४ ॥

---

१. ख. पल्लवा वह्लिकादयः । ख. पाह्लवा बाह्लिकाश्रयाः ।
२. ख सूरसेनाश्च ।
३ ख. तथाचैव ग. । महिषा ।
४. ख. अङ्गवङ्गकलिङ्गास्तु ।
५. ख रक्ताः कार्या सदैव हि ।
६ ख-ग. वर्णनम् ;
७ ख-ग. कर्मक्रिया ।

[1]शुद्ध विचित्रं श्यामं च तथा रोमशमेव च ।
भवेच्चतुर्विधं श्मश्रु नानावस्थान्तरात्मकम्[2] ॥ ११५ ॥
शुद्धं[3] तु लिङ्गिनां कार्यं तथामात्यपुरोधसाम्[4] ।
मध्यस्था ये च पुरुषा ये च दीक्षां समाश्रिताः ॥ ११६ ॥
दिव्या ये पुरुषाः केचित्सिद्धविद्याधरादयः ।
[5]पार्थिवाश्च कुमाराश्च ये च राजोपजीविनः ॥ ११७ ॥
शृङ्गारिणश्च ये मर्त्या यौवनोन्मादिनश्च ये ।
तेषां विचित्रं कर्तव्यं श्मश्रु नाट्यप्रोक्तृभिः ॥ ११८ ॥

तत्रेति भारते। शुद्धमिति क्षुरेण, सर्वथा चासितं, श्यामं पूर्वं क्षुरकर्म योजितमपीदानीं निवारितं तद्योजनाङ्कम् । विचित्रमिति क्षुरकर्त्रिकाकर्मणोत्पादनकर्मणा च रचितविचित्रसंनिवेशम् । रोमशमिति यथोत्पन्नम् ।

अनुवाद—नाना प्रकार के अवस्थाओं के अनुसार शुद्ध, श्याम, विचित्र एवं रोमश चार प्रकार के श्मश्रु कर्म करें । अर्थात् चार प्रकार के दाढ़ी-मूछ लगायें ॥ ११५ ॥

अभिनव—तत्र अर्थात् भारत में शुद्ध अर्थात् छुरे से काटकर शुद्ध (साफ) किये गये । फिर भी सर्वथा काला । श्यामवर्ण पहिले जिसमें क्षुरकर्म योजित है किन्तु इस समय निवारित है, उसकी योजना से अङ्कित । विचित्र छुरे से काटे गये उत्पादन कर्म से रचित विचित्र निवेश। रोमश काट देने पर भी उत्पन्न ॥ ११५ ॥

अनुवाद—लिङ्गियों अर्थात् सन्यासियों को तथा अमात्य एवं पुरोहित्य का शुद्ध श्मश्रु करना चाहिये और जो पुरुष मध्यस्थ है और जो दीक्षित है और जो सिद्ध विद्याधर प्रभृति दिव्य पुरुष हैं पार्थिव, कुमार और जो राजोपजीवि हैं और जो मनुष्य शृङ्गारी एवं यौवन से उन्मत्त है उन सब का श्मश्रु कर्म नाट्यप्रयोक्ताओं को विचित्र रूप में करना चाहिए ॥ ११६-११८ ॥

---

१. ख-ग. शुक्लं श्यामं विचित्रं ।
२. ख-ग. आश्रयम् । ३. ख-ग. शुद्धस्तु लिङ्गिनः ।
४. ग. संस्करणे "पुरोधसाम्" इत्यनन्तरं "अनिस्तीर्णं प्रतिज्ञानां" इति श्लोकः पठितः ।
५. ख. नृपतीनां कुमाराणां ।

अनिस्तीर्णप्रतिज्ञानां दुखितानां तपस्विनाम् ।
व्यसनाभिहतानां च श्यामं श्मश्रु प्रयोजयेत् ॥ ११९ ॥

ऋषीणां तापसानां च ये च दीर्घव्रता नराः ।
[1]तथा च चीरबद्धानां रोमशं श्मश्रु कीर्तितम् ॥ १२० ॥

लिङ्गिनामपि ब्रह्मचारिवानप्रस्थादीनाम् ।
"मध्यस्था ये च पुरुषा ये च दीक्षां समाश्रिताः" ।
इत्यर्ध—
"शुद्धं तु लिङ्गिनां कार्यं तथामात्यपुरोधसाम्" ।

इत्यर्धस्यानन्तरं योज्यम्, लेखकदोषात् स्थानान्तरे दृश्यते । मध्यस्थ इति नोत्तमानामधमानामित्यर्थः । यौवनोन्मादिन इति अमात्यपुरोधसोऽपीति भावः ।

शुद्ध इति शुक्लवस्त्रादिः प्रायः ।

अभिनव—लिङ्गी, सन्यासी तथा ब्रह्मचारी एवं वानप्रस्थी का वर्ण शुद्ध करना चाहिए । यहाँ ।

"जो पुरुष मध्यस्थ है और जो दीक्षित हैं" इस आधे श्लोक को—

"सन्यासियों, अमात्यों एवं पुरोहितो के वेष को शुद्ध करना चाहिए ।"

इस अर्धश्लोक के वाद में योजना करनी चाहिए, लेखक के दोप से यह अर्ध श्लोक स्थानान्तरण में दिखाई देता है । 'मध्यस्थ' अर्थात् जो न उत्तम है और न अधम है, वह 'मध्यम' है । 'यौवन के उन्माद से युक्त' यह अमात्य और पुरोहित को भी कह सकते हैं ॥ ११६-११८ ॥

अनुवाद—प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर पाने वाले, दुःखित, तपस्वी और जो व्यसन से अभिहत (विनष्ट) है उनके श्मश्रु (दाढ़ी-मूछ) श्यामवर्ण में रखनी चाहिए ॥ ११९ ॥

अनुवाद—जो ऋषि, तपस्वी और दीर्घकालीन व्रत धारण करने वाले नर हैं और जो वल्कल वस्त्र को धारण करने वाले हैं उनकी दाढ़ी-मूछ 'रोमश' रखनी चाहिए ॥ १२० ॥

१. ख. ग. सिद्धविद्याधराणां च रोमशं तु विधीयते ।

एवं नानाप्रकारं तु श्मश्रु कार्यं प्रयोक्तृभिः[1] ।
अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेषान्नानाप्रयोगजान्[2] ॥ १२१ ॥

शुद्धो विचित्रो मलिनस्त्रिविधो वेष उच्यते ।
[3]तेषां वियोगं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ १२२ ॥
देवाभिगमने चैव [4]मङ्गले नियमस्थिते ।
तिथिनक्षत्रयोगे च विवाहकरणे तथा ॥ १२३ ॥
धर्मप्रवृत्तं यत्कर्म स्त्रियो[5] वा पुरुषस्य वा ।
वेषस्तेषां[6] भवेच्छुद्धो ये च प्रायत्निका नराः ॥ १२४ ॥

प्रायत्निका इति प्रयत्ने भवा विनीता इत्यर्थः ।

अनुवाद—इस प्रकार नाटचप्रयोक्ताओं को नाना प्रकार की मूछे लगानी चाहिए। इसके बाद अब मैं अनेक प्रयोजन वाले वेषों को कहूँगा ॥ १२१ ॥

अनुवाद—शुद्ध विचित्र और मालिन ये तोन प्रकार के वेष कहे गये हैं। अब मैं क्रमशः उनके विनियोग को कहूँगा ॥ १२२ ॥

अनुवाद—देवताओं के अभिगमन में, नियम में स्थित माङ्गलिक कार्य में तिथि और नक्षत्र के योग में, विवाह प्रकरण में, और धार्मिक स्त्रियों एवं पुरुषों के धार्मिक कर्म में और जो प्रयत्नशील विनीत नर हैं उनका वेष शुद्ध होना चाहिए ॥ १२३-१२४ ॥

अभिनव—प्रयास मे विनीय नर प्रायान्मिक हैं।

---

१. ख. ग. कर्म प्रयोजयेत् ।
२. ख. पुस्तके अतः परं माल्याच्छादनविधानश्लोकौ पठितौ ।
३. ख. विभागं व्याख्यास्ये यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ।
४. ख. ग. माङ्गल्ये ।
५. ख. ग. कार्यं स्त्रीणां ।
६. ख. घ. तत्र ।

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
नृपाणां कर्कशानां च चित्रो वेष उदाहृतः[1] ॥ १२५ ॥
[2]वृद्धानां ब्राह्मणानां च श्रेष्ठ्यमात्यपुरोधसाम् ।
वणिजां काञ्चुकीयानां तथा चैव तपस्विनाम् ॥ १२६ ॥
विप्रक्षत्रियवैश्यानां स्थानोया ये च मानवाः ।
शुद्धो वस्त्रविधिस्तेषां कर्तव्यो नाटकाश्रयः ॥ १२७ ॥
उन्मत्तानां प्रमत्तानामध्वगानां तथैव च[3] ।
[4]व्यसनोपहृतानां च मालिनो वेष उच्यते[5] ॥ १२८ ॥
शुद्धरक्तविचित्राणि वासांस्यूर्ध्वाम्बराणि[6] च ।
याजयेन्नाट्यतत्त्वज्ञा वेषयोः शुद्धचित्रयोः ॥ १२९ ॥

अनुवाद—देव, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सर्प, राजा और कर्कश प्रकृति के नरों का चित्र वेष रखा जाता है ॥ १२५ ॥

अनुवाद— वृद्ध पुरुषों का, श्रेष्ठी आमात्य पुरोहित, वणिक् कञ्चुकी तथा तपस्वियों का ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का तथा स्थानीय मनुष्यों का नाट्याश्रित शुद्ध वस्त्र तथा वेष धारण करना चाहिए ॥ १२६-१२७ ॥

अनुवाद—उन्मत्त, प्रमत्त, पथिक और व्यसनोपहत व्यक्तियों का वेष मलिन वेष कहा गया है ॥ १२८ ॥

अनुवाद—नाट्य के तत्त्व को जानने वाले शुद्ध और विचित्र वेषों में शुद्ध, रक्त एवं चित्र-विचित्र अधो तथा ऊर्ध्व वस्त्रों को धारण करें और मलिन वेष में मलिन वस्त्रों को धारण करें ॥ १२९ ॥

१. ख. ग. वेषो भवेत्तदा ।

२. ख. ग. न कञ्चुकिनाममात्यानां श्रेष्ठिनां सपुरोधसाम् ।
सिद्धविद्याधराणां च वणिक्छास्त्रविदामपि ।

३. ख. ग. जनानामध्वगामिनाम् ।

४. ख. ग. व्यसनोपगतानां ।

५. ख. ग. इष्यते ।

६. ग. उच्चावचानि ।

कुर्याद्वेषे तु मलिने [1]मलिनं तु विचक्षणः ।
मुनिनिर्ग्रन्थशाक्येषु यतिपाशुपतेषु च[2] ॥ १३० ॥
[3]व्रतानुगस्तु कर्तव्यो वेषो लोकस्वभावतः ।
चीरवल्कलचर्माणि तापसानां तु योजयेत् ॥ १३१ ॥
[4]परिव्राण्मुनिशाक्यानां वासः काषायमिष्यते ।
नानाचित्राणि वासांसि कुर्यात्पाशुपतेष्वथ ॥ १३२ ॥
कुजातयश्च ये प्रोक्तास्तेषां चैव यथार्हतः ।
[5]अन्तःपुरप्रवेशे च विनियुक्ता हि ये नराः ॥ १३३ ॥
काषायकञ्चुकपटाः कार्यास्तेऽपि[6] यथाविधि ।
[7]अवस्थान्तरतश्चैवं नृणां वेषो भवेदथ ॥ १३४ ॥

चीरमिति अवितता स्थूला च वृक्षत्वक्, वत्कलं तु तद्विपरीतम्, यथा भूर्जपत्रत्वक्, मृगादेश्चर्म ।

अनुवाद—मुनि, निर्ग्रन्थ, शाक्य, यति, पाशुपतों के मलिन वेष में विद्वान् लोग रक्त वस्त्र धारण करें ॥ १३० ॥

अनुवाद—व्रत के अनुसार लोक स्वभाव को जानकर तापसों का वेष चीर, वत्कल और चर्म की योजना करें ॥ १३१ ॥

अनुवाद—परिव्राजक, मुनि, शाक्य, बौद्ध, त्रिदण्डी तथा श्रोत्रिय को कषाय वस्त्र इष्ट हैं। पाशुपतों का वस्त्र नाना प्रकार के चित्र-विचित्र वस्त्रों को धारण करना चाहिए ॥ १३२ ॥

अनुवाद—जो कुजाति कहे जाते हैं उनका वेष यथायोग्य रखना चाहिए। अन्तःपुर में प्रवेश के लिए जो नर नियुक्त किये जाय उनको भी यथाविधि कषाय वस्त्र या कञ्चुकि के योग्य कपड़े धारण करने चाहिए। इसी प्रकार अलग-अलग अवस्थाओं के अनुसार मनुष्यों का वेष होना चाहिए ॥ १३३-१३४ ॥

---

१. ख. ग. मलिनानि । २. ख. त्रिदण्डिश्रोत्रियेषु च ।
३. ख. ग. वृत्तानुगश्च ।
४. ख. परिव्राणमुख्येषु तापसेषु तथैव च । काषायवसनो वेषः कार्यस्त्वर्थवशेन वा । ग. पुस्तके नास्ति ।
५. ख. अन्तःपुरस्य रक्षार्थे । ६. ख. कार्यस्त्वेषां । ग. तेऽपि कार्या ।
७. ख. अवस्थान्तरमासाद्य स्त्रीणां वेषो भवेदथ ।
ग. अवस्थान्तरितश्चैव सम्यग्वेषो भवेत्तथा ।

वेषः सांग्रामिकश्चैव शूराणां संप्रकीर्तितः ।
विचित्रशस्त्रकवचो बद्धतूणो[1] धनुर्धरः ॥ १३५ ॥
[2]चित्रो वेषस्तु कर्तव्यो नृपाणां नित्यमेव च[3] ।
केवलस्तु भवेच्छुद्धो नक्षत्रोत्पातमङ्गले ॥ १३६ ॥
एवमेष भवेद्वेषो देशजातिवयोऽनुगः[4] ।
उत्तमाधममध्यानां स्त्रीणां नृणामथापि च ॥ १३७ ॥
एवं वस्त्रविधिः कार्यः प्रयोगे नाटकाश्रये ।
नानावस्थां समासाद्य शुभाशुभकृतस्तथा ॥ १३८ ॥

(नक्षत्रेति) नक्षत्रोत्पातप्रशनार्थं यन्मङ्गलं, एतच्च नैमित्तिकस्य श्राद्ध-देवार्चनादेरप्युपलक्षम् ।

अनुवाद—शूर पात्रों का वेष सांगमिक कहा गया है, जिसमें सांग्रामिक शूर, त्रिचित्र शस्त्र, विचित्र कवच, तुणीर और धनुष को धारण करते हैं ॥ १३५ ॥

अनुवाद—राजाओं का नित्य वेष चित्र-विचित्र रखा जाय केवल नक्षत्र एवं उत्पात की शान्ति के लिए मङ्गल के अवसर पर शुद्ध वेष होने चाहिए ॥ १३६ ॥

अभिनव—नक्षत्रेत्यादि अर्थात् नक्षत्रोत्पात के शमन के लिए जो मङ्गल है वह नैमित्तिक श्राद्ध एवं देवार्चन आदि का उपलक्षण है ॥ १३६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार के उत्तम, मध्यम और अधम स्त्रियों और पुरुषों का यह वेष देश, जाति एवं वय (अवस्था) के अनुसार होना चाहिए ॥ १३७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाटकाश्रित प्रयोग में नाना अवस्थाओं को प्राप्त कर शुभ और अशुभ कार्यों की स्थिति में वस्त्रों की धारणा विधि करें ॥ १३८ ॥

---

१. ग. तूण, ख. त्राणो ।
२. ख. विचित्रवेषः ।
३. न. हि ।
४. ख. दयोजातिगुणान्यितः । ग. एवं वेषो बधैः कार्यो देशजातिगुणान्वितः ।

तथा प्रतिशिरश्चापि कर्तव्यं नाटकाश्रयम् ।
[1]दिव्यानां मानुषाणां च देशजातिवयःश्रितम्[2] ॥ १३९ ॥

पार्श्वागता मस्तकिनस्तथा चैव किरीटिनः ।
[3]त्रिविधो मकुटो ज्ञेयो दिव्यपार्थिवसंश्रितः ॥ १४० ॥

देवगन्धर्वयक्षाणां पन्नगानां सरक्षसाम् ।
कर्तव्या नैकविहिता मुकुटाः पार्श्वमौलयः ॥ १४१ ॥

उत्तमा ये च दिव्यानां ते च कार्याः किरीटिनः ।
मध्यमा मौलिनश्चैव कनिष्ठाः [4]शीर्षमौलिनः ॥ १४२ ॥

नराधिपानां कर्तव्या मस्तके मकुटा[5] बुधैः ।
विद्याधराणां सिद्धानां चारणानां तथैव च ॥ १४३ ॥

प्रकृतिरूपं शिरः प्रतिशिरः ।

अनुवाद—इस प्रकार दिव्यों एवं मनुष्यों के देश, जाति और वय के अनुसार नाटकाश्रित प्रयोग में प्रकृति के अनरूप चेहरे बनायें ॥ १३९ ॥

अभिनव—प्रकृति रूप शिर ही प्रातिशिर (चेहरा) है ॥ १३९ ॥

अनुवाद—दिव्य पुरुषों (या देवताओं) तथा राजाओं के मुकुट पार्श्वगत मस्तकी तथा किरीटी तीन प्रकार के होते हैं ॥ १४० ॥

अनुवाद—देवता, गन्धर्व, यक्ष, पन्नग एवं राक्षसों के मुकुट अनेक विधानों से पार्श्वगत रूप में होने चाहिए ॥ १४१ ॥

अनुवाद—देवताओं में जो उत्तम है उनके मुकुट 'किरीटी' होनी चाहिए और जो मध्यमवृत्ति के हैं उनके मुकुट 'मस्तकी' करें तथा कनिष्ठ श्रेणी के मुकुट 'पार्श्व-मौलि' होने जाहिए ॥ १४२ ॥

अनुवाद—राजाओं के मुकुट तथा उसी प्रकार विद्याधरों, सिद्धों और चारणों के मुकुट मस्तकी अर्थात् मस्तक पर धारण करने चाहिए ॥ १४३ ॥

---

१. ख. देवानां । २. ख. श्रितः ।
३. ख. पुस्तके नास्येदं श्लोकद्वयम् । ४. ख. पार्श्वं ।
५. ख. तथा मस्तकिनो । ग. मुकुटं ।

[1]ग्रन्थिमत्केशमकुटाः कर्तव्यास्तु प्रयोक्तृभिः ।
रक्षोदानवदैत्यानां पिङ्गकेशेक्षणानि हि[2] ॥ १४४ ॥

हरिच्छ्मश्रूणि च तथा [3]मकुटास्थानि कारयेत् ।
[4]उत्तमाश्चापि ये तत्र ते कार्याः पार्श्वमौलिनः ॥ १४५ ॥

[5]कस्मात्तु मुकुटाः सृष्टाः प्रयोगे दिव्यपार्थिवे ।
केशानां छेदनं दृष्टं वेदवादे[6] यथाश्रुति ॥ १४६ ॥

भद्रीकृतस्य वा यज्ञे शिरसश्छादनेच्छया[7] ।
केशानामप्यदीर्घत्वात्स्मृतं मु कुटधारणम्[8] ॥ १४७ ॥

सेनापतेः पुनश्चापि युवराजस्य चैव हि ।
[9]योजयेदर्धमकुटं महामात्राश्च ये नराः ॥ १४८ ॥

अनुवाद— नाट्य प्रयोक्ताओं को राक्षस, दानव एवं दैत्यों के मुकुट ग्रन्थियुक्त केशों से ग्रथित किये जाँय और पिङ्गलवर्ण के केशों एवं नेत्रों को करें ॥ १४४ ॥

अनुवाद—राक्षस, दानव, दैत्यों के मुकुट हरे रंग के दाढ़ी-मूछों से युक्त करें और उनमें भी जो उत्तम है उनको पार्श्वमौलि वाले करें ॥ १४५ ॥

अनुवाद—देवताओं एवं राजाओं के प्रयोग में मुकुटों की सृष्टि (रचना) क्यों कि जाय, कहा जाता है कि वैदिक प्रयोगों में केशों को छेदन देखा गया है ॥ १४६ ॥

अनुवाद—यज्ञ में भद्रीकृत अर्थात् मुण्डित शिर ढंकने की इच्छा से तथा केशों के छोटे होने से मुकुट धारण बताया गया है ॥ १४७ ॥

अनुवाद—सेनापति और फिर युवराज के तथा जो महामात्र है, उनके अर्धमुकुट की योजना करे ॥ १४८ ॥

---

१. ग. ग्रन्थिताः केशमकुटं ।
२. ख. ग. पिककेशकृतानि तु ।
३. ख. ग. मुखशीर्षाणि ।
४. ख ग. उदात्ताः ।
५. ख ग. तस्मात्तु ।
६. ख. ग. नैष्टं वेदवेदे ।
७. ख. ग. छेदनेप्सया ।
८. ख. ग. धारिणः ।
९. ख-ग. मष्तकेष्वर्धमकुटं प्रयोगे संप्रयोजयेत् ।

अमात्यानां कञ्चुकिनां तथा श्रेष्ठिपुरोधसाम् ।
[1]वेष्टनाबद्धपट्टानि प्रतिशीर्षाणि कारयेत् ॥ १४९ ॥
पिशाचोन्मत्तभूतानां साधकानां तपस्विनाम् ।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञानां लम्बकेशं भवेच्छिरः[2] ॥ १५० ॥
शाक्यश्रोत्रियनिर्ग्रन्थपरिव्राड्दीक्षितेषु च ।
शिरोमुण्डं तु कर्तव्यं यज्ञदीक्षान्वितेषु च ॥ १५१ ॥
तथा [3]व्रतानुगं चैव शेषाणां लिङ्गिनां शिरः ।
मुण्डं वा कुञ्चितं वापि लम्बकेशमथापि वा ॥ १५२ ॥
[4]धूर्तानां चैव कर्तव्यं ये च राज्युपजीविनः ।
[5]शृङ्गारचित्ताः पुरुषास्तेषां कुञ्चितमूर्धजाः ॥ १५३ ॥

(वेष्टनेति) वेष्टनार्थमाबद्धं पट्टमुष्णीयप्रायं येषु ।

अनुवाद—अमात्य, कञ्चुकी तथा सेठ एवं पुरोहितों के शिर वेष्टन से आबद्ध पट्ट (पट्टे) वाले करे ॥ १४९ ॥

अनुवाद—पिशाच, उन्मत्त, भूत, साधक, तपस्वी तथा प्रतिज्ञा की पूर्त्ति न कर सकने वाले लोगों के शिर लम्बे केश वाले होने चाहिए ॥ १५० ॥

अनुवाद—शाक्य, श्रोत्रिय, निर्ग्रन्थ, परिव्राजक, दीक्षित एवं यज्ञ में दीक्षा लेने वाले लोगों के मस्तक मुण्डित करे ॥ १५१ ॥

अनुवाद—और शेष लिङ्गियों के शिर व्रत के अनुसार मुण्डित अथवा कुञ्चित अथवा लम्बे केश वाले होने चाहिए ॥ १५२ ॥

अनुवाद—धूर्त्त पुरुष तथा जो रङ्गोपजीवी हैं और जो शृङ्गार रस रसिक चित्त वाले पुरुष है उनके केश कुञ्चित होने चाहिए ॥ १५३ ॥

१. ख-ग. वेष्टनं बन्धपट्टादि ; २. ख-ग. केशं तु शीर्षकम् ।
३. ख-ग. वृत्तानुषङ्गेण , ४. ख-ग. वधूनां चापि ।
५. ख-ग. ये च शृङ्गारिणस्तेषां शिरः कुञ्चितमूर्धजम् ।

बालानामपि कर्तव्यं [1]त्रिशिखण्डविभूषितम् ।
जटामकुटबद्धं[2] च मुनीनां तु भवेच्छिरः ॥ १५४ ॥
चेटानामपि कर्तव्यं त्रिशिखं मुण्डमेव वा ।
[3]विदूषकस्य खलतिः स्यात्काकपदमेव वा ॥ १५५ ॥
शेषाणामर्थयोगेन वेशजातिसमाश्रयम्[4] ।
शिरः प्रयोक्तृभिः कार्यं नानावस्थान्तराश्रयम्[5] ॥ १५६ ॥
[6]भूषणैर्वर्णकैर्वस्त्रैर्माल्यैश्चैव यथाविधि ।
एवं नानाप्रकारैस्तु बुद्धया वेषान्प्रकल्पयेत् ॥ १५७ ॥

त्रिखण्डाश्चूलिकाः (त्रिशिखण्डम्) ।

अनुवाद—बालकों के शिर त्रिशिखण्ड (काकपक्ष) से विभूषित करे और मुनियों के शिर जटा मुकुट से बद्ध होने चाहिए ॥ १५४ ॥

अनुवाद—चेलों के शिर तीन शिखा वाले अथवा मुण्डित करें । और विदूषक के खलति (खञ्जा) करे अथवा काकपद वाला करें ॥ १५५ ॥

अनुवाद—नाट्य प्रयोक्ताओं को शेष लोगों के शिर के प्रयोजन से देश, जाति और नाना अवस्थाओं के अनुसार शिर को करें ॥ १५६ ॥

अनुवाद—भूषणों से, वर्णकों (रङ्गों) से वस्त्रों से, मालाओं से यथा बिधि नाना अन्य प्रकारों से बुद्धि से वेषों की प्रकल्पना करें ॥ १५७ ॥

---

१. ख-ग. न शिखण्डविभूषितम्

२. ख-ग. लम्बं ।

३. ख-ग. विदूषकाणां कर्तव्य खल्लि काकपदं तथा ।

४. ख-ग. दयाश्रितम्;

५. ख-त. प्रयोगस्य वशानुगम् ।

६. ख-ग. अतस्तैर्भूषणैश्चित्रैर्माल्यैरथापि च ।
अवस्थाप्यकृतिः स्थाप्या प्रयोगरससंभवा ॥

पूर्वं तु प्रकृतिं स्थाप्य प्रयोगगुणसंभवाम् ।
स्त्रीणां वा पुरुषाणां वाप्यवस्थां[5] प्राप्य तादृशीम् ॥ १५८ ॥

सर्वे भावाश्च दिव्यानां कार्या मानुषसंश्रयाः ।
तेषां चानिमिषत्वादि नैव कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १५९ ॥

इह भावरसाश्चैव दृष्टिभिः संप्रतिष्ठिताः ।
दृष्टचैव स्थापितो ह्यर्थः पश्चादङ्गैर्विभाव्यते ॥ १६० ॥

एवं ज्ञेयाङ्गरचना नानाप्रकृतिसंभवा ।
[6]सजीव इति यः प्रोक्तस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १६१ ॥

यः प्राणिनां प्रवेशो वै [7]सजीव इति संज्ञितः ।
चतुष्पदोऽथ द्विपदस्तथा चैवापदः स्मृतः ॥ १६२ ॥

(काकपदमिति) काकपक्षवदत्र केशविच्छेदः ।

अनुवाद—पहिले प्रयोक्ता प्रयोग सम्बन्धी गुणों की सम्भावना अथवा स्त्री एवं पुरुषों की तादृशी अवस्था को प्राप्त कर प्रकृति अर्थात् स्वभाव को स्थिर करके (दिव्य स्त्री एवं पुरुषों) की सभी भावों (क्रियाओं) को मनुष्यों के आश्रय से करे। प्रयोक्ताओं को केवल निर्निमेषत्व आदि कार्य को न करें ॥ १५८-१५९ ॥

अनुवाद—यहाँ नाटच प्रयोग में रस एवं भाव सभी दृष्टियों से प्रतिष्ठित है। पहले अर्थ को दृष्टि से स्थापित कर लें, फिर उनका अङ्गों में विभाजित करे ॥ १६० ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाना प्रकृतियों से सम्भव (सम्भूत) अङ्ग रचनाओं को समझे। अब जिसे संजीव कहते हैं उसके लक्षण को कहूँगा ॥ १६१ ॥

अनुवाद—नाट्य में रङ्गमञ्च पर प्राणियों का जो प्रवेश है उसे 'सञ्जीव' कहते हैं। वह चतुष्पद, द्विपद और अपद भेद से तीन प्रकार के होते हैं ॥ १६२ ॥

---

५. ख-ग. व्यवस्थां ।

६. ख-ग. सजींवः ।

७. ख-ग. संजीव इति स्मृतः ।

[1]उरगानपदान् विद्याद् द्विपदान्खगमानुषान् ।
[2]ग्राम्या आरण्याः पशवो विज्ञेयाः स्युश्चतुष्पदाः ॥ १६३ ॥

[3]ये ते तु युद्धसंफेटैरुपरोधैस्तथैव च ।
नानाप्रहरणोपेताः प्रयोज्या नाटके बुधैः ॥ १६४ ॥

आयुधानि च कार्याणि पुरुषाणां प्रमाणतः ।
ताग्यहं [4]वर्तयिष्यामि यथापुस्तप्रमाणतः[5] ॥ १६५ ॥

भिण्डिर्द्वादशतालः स्याद्दश कुन्तो भवेदथ ।
अष्टौ शतघ्नी शूलं[6] च तोमरः शक्तिरेव वा ॥ १६६ ॥

प्रहरणोपेता इति युद्धोपयोगिन इत्यर्थः । तथा च नगास्त्रे दत्ते सर्पाकृतिः प्रदर्शनाय, एवं नृसिंहास्त्रे तदाकृतिरित्यादि । (आयुधानां प्रमाणं) दर्शयति । (भिण्डिरिति । वज्रं ..... चतुस्तालम्) ।

अनुवाद—इनमें उरग (सांप) को अपद (बिना पैर के) समझे और खग (पक्षी) और मनुष्यों को द्विपद समझे । तथा ग्रामीण और जंगली पशुओं को चतुष्पद (चार पैरों वाला) समझना चाहिए ॥ १६३ ॥

अनुवाद—नाटक में प्रयोज्य युद्ध में किये जाने वाले संफेट तथा उपरोध से नाना प्रकार के प्रहरणों (अयुधों) से युक्त प्रहार करना चाहिए ॥ १६४ ॥

अनुवाद—पुरुषों के प्रमाण के अनुसार आयुधों का प्रयोग करना चाहिए । पुस्तानुसारा प्रमाण के अनुसार उन्हें मैं कहूँगा ॥ ६५ ॥

अनुवाद—'भिण्डी' बारह ताल के प्रमाण को होती है और कुन्त (भारना) दश ताल का, शतघ्नी (तोप), शूल, तोमर एवं शक्ति आठ ताल की होती है ॥ १६६ ॥

---

१. ख. ग. उरगाह्यपदा ज्ञेया द्विपदाः खगमानुषाः ।

२. ख. ग. ग्राम्यारण्याश्च ।

३. ख. एते तु युद्धसम्भेदो त्ववरोधे तथैव च । ग. एतेऽपि ।

४. ख. ग. सम्प्रवक्ष्यामि ।

५. ख. यथायुक्तिप्रमाणतः । ग. यथावदनुपूर्वशः ।

६. ख. ग. शूलश्च ।

[1]अष्टौ ताला धनुर्ज्ञेयमायामोऽस्य द्विहस्तकः ।
शरो गदा च [2]वज्रा च चतुस्तालं विधीयते ॥ १६७ ॥

अङ्गुलानि त्वसिः कार्यश्चत्वारिंशत्प्रमाणतः ।
द्वादशाङ्गुलकं चक्रं ततोऽर्धं प्रास इष्यते ॥ १६८ ॥

प्रासवत्पट्टसं [3]विद्याद्दण्डश्चैव तु विंशतिः ।
विंशतिः [4]कणयश्चैव ह्यङ्गुलानि प्रमाणतः ॥ १६९ ॥

[5]षोडशाङ्गुलविस्तीर्णं [6]सबलं संप्रघण्टिकम् ।
त्रिंशादङ्गुलमानेन कर्तव्यं खेटकं बुधैः ॥ १७० ॥

जर्जरो दण्डकाष्ठं च तथैव प्रतिशोर्षकम् ।
छत्रं च चामरं चैव ध्वजो भृङ्गार[7] एव च ॥ १७१ ॥

चक्रमिति खड्गादियुद्धेऽपवारणम् ।

अनुवाद धनष को आठ ताल वाला और विस्तार वो हाथों का होता है शर, गदा और वज्र चार ताल प्रमाण के होने चाहिए ॥ १६७ ॥

अभिनव—वज्र चार ताल का होता है ।

अनुवाद—तलवार चालोस अङ्गुल प्रमाण का, चक्र बारह अङ्गुल प्रमाण का तथा प्रास उसके आधे छः अङ्गुल प्रमाण का होना चाहिए ॥ १६८ ॥

अनुवाद—प्रास के समान पट्टिस तथा दण्ड बीस अङ्गुल प्रमाण का और कणय बीस अङ्गुल प्रमाण का रखा जाय ॥ १६९ ॥

अनुवाद—संप्रघट्टिक का निर्माण सोलह अङ्गुल प्रमाण का विस्तार का और खोटक निर्माण तीस अङ्गुल प्रमाण का होना चाहिए ॥ १७० ॥

अनुवाद—जर्जर, दण्डकाष्ठ, प्रतिशोषक, छत्र, चामर, ध्वज, और भृङ्गार का निर्माण करे ॥ १७१ ॥

---

१. ख. ग. अष्टतालं धनुर्ज्ञेयमायामोस्तु द्विहस्ततः । २. ग. चक्रं ख. वज्रं ।
३. ख-ग. पट्टिशं ; ४. ख-ग. कम्पनं ।
५. ख. पुस्तके षोडशाङ्गुलिविस्तीर्णं चर्मकार्यं द्विहस्तकम् ।
६. ख. सवाल्यं सप्रघण्टुकम् । ग. सबलं संप्रकीर्तितम् । ७. ख-ग. भृङ्गार ।

यत्किंचिन्मानुषे लोके द्रव्यं पुंसां प्रयोजकम्[1] ।
[2]यच्चोपकरणं सर्वं नाट्ये तत्संप्रकीर्तितम् ॥ १७२ ॥

यद्यस्य विषयप्राप्तं तेनोह्यं तस्य लक्षणम् ।
जर्जरे दण्डकाष्ठे च संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १७३ ॥

[3]माहेन्द्रा वै ध्वजाः प्रोक्ता लक्षणैर्विश्वकर्मणा ।
एषामन्यतमं कुर्याज्जर्जरं दारुकर्मतः ॥ १७४ ॥

यद्यस्येति । यस्य शास्त्रस्य यद्विषयोभूतं पुरुषस्य वा तदनुसारेण तस्य-वस्तुनो लक्षणमूह्यमिति । ऊह्यशब्दे भेदमाह, परिपूर्णलक्षणमुपजीव्यम्, (यथा) खड्गलक्षणेऽप्युपजीव्यमाने लोहादिनिर्मितत्वमप्यूह्यते । तच्च तस्मान्नाट्यो-पयोगरूपमूहापोहाभ्यां कर्तव्यमिति ।

अनुवाद—इस मानुव लोक में जो कोई भी द्रव्य अथवा उपकरण पुरुषों के लिए उपयोगी (प्रयोजक) है उस सबका नाट्य में कथन कर दिया है ॥ १७२ ॥

अनुवाद—जो जिसका विषय प्राप्त है उसका लक्षण उसी विषय से समझना चाहिए । अब जर्जर और दण्डकाष्ठ का लक्षण कहूँगा ॥ १७३ ॥

अभिनव—जिस शास्त्र के विषय में जो प्राप्त है उसी अनुसार उस वस्तु का लक्षण समझना चाहिए । 'ऊह्य' शब्द से यह कहते हैं कि प्रमाण के विषय में परिपूर्ण लक्षण का उपजीवन करना चाहिए । जैसे खड्ग के लक्षण कहना है तो यह भी कहा जा सकता है कि खड्ग (तलवार) लोहे आदि से निर्मित होते हैं । इन सबका नाटच के उपयोगी रूप को ऊहापोह से करना चाहिए ।

अनुवाद—विश्वकर्मा ने लक्षणों से इन्द्र के ध्वज को कहा है उनमें से किसी एक लक्षण वाले जर्जर को दारुकर्म करे ॥ १७४ ॥

---

१. ख-ग. प्रयोगजम् ।

२. ख-ग. तत्सर्वं तूपकरणं नाट्येऽस्मिन्संविधीयते ।

३. ख. मासेन्द्रे वै ध्वजे कार्यं लक्षणं विश्वकर्मणा ।

अथवा [1]वृक्षयोनिः स्यात्प्ररोहो वापि जर्जरः ।
वेणुरेव भवेच्छ्रेष्ठस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १७५ ॥
श्वेतभूम्यां तु यो जातः पुष्यनक्षत्रजस्तथा ।
[2]संग्राह्यो वै भवेद्वेणुर्जर्जरार्थे प्रयत्नतः ॥ १७६ ॥
प्रमाणमङ्गुलानां तु शतमष्टोत्तरं भवेत् ।
पञ्चपर्वा चतुर्ग्रन्थिस्तालमात्रस्तथैव च ॥ १७७ ॥
स्थूलग्रन्थिनं कर्तव्यो न शाखो न च कोटवान् ।
न कृमिक्षतपर्वा च न हीनश्चान्यवेणुभिः ॥ १७८ ॥

लक्षणानोति (लक्षणैरिति ?) विश्वकर्ममते बहुभेदं महेन्द्रध्वजस्य लक्षणमुक्तमित्यर्थः ।

न हीनश्चेति अन्यवेणुसंघर्षेऽपूर्णोऽवयवतः स नेष्यत इत्यर्थः ।

अभिनव—विश्वकर्मा के मत में महेन्द्र के ध्वज का बहुत भेद से लक्षण कहा है ॥ १७५ ॥

अनुवाद—अथवा वृक्ष को जड़ को अथवा प्ररोह को जर्जर बनाया जा सकता है। वस्तुतः वेणु (वांस) ही श्रेष्ठ होता है अतः उसके लक्षण को बतलाता हूँ ॥ १७५ ॥

अनुवाद—श्वेत भूमि में पुष्य नक्षत्र में जो बांस पैदा हुआ है, जर्जर के लिए प्रयत्न से उसी वेणु को ग्रहण करना चाहिए ॥ १७६ ॥

अनुवाद—जर्जर का प्रमाण १०८ अङ्गुल का होना चाहिए जिसमें पाँच पर्व और चार ग्रन्थियाँ होती हैं, वह तालमात्र होता है ॥ १७७ ॥

अनुवाद—स्थूल ग्रन्थियाँ जिसमें नहीं होनी चाहिए और जिसमें अन्य शाखा न निकली हुई हो और न घुनों (कीड़ों) से खाया हुआ हो तथा न अन्य वेणुओं से हीन हो, ऐसा बांस जर्जर के लिए उपयुक्त होता है ॥ १७८ ॥

अभिनव—अन्य वेणुओं के संघर्ष में जो अवयवों से अपूर्ण है वह वेणु इष्ट नहीं है ॥ १७८ ॥

१. ख, ग. वृक्षजातस्य ।
२. ख. पुस्तके नास्ति ।

मधुसर्पिस्सर्षपाक्तं माल्यधूपपुरस्कृतम् ।
उपास्य विधिवद्वेणुं गृह्णीयाज्जर्जरं प्रति ॥ १७९ ॥

यो विधिर्यः क्रमश्चैव माहेन्द्रे तु ध्वजे स्मृतः ।
स जर्जरस्य कर्तव्यः पुष्यवेणुसमाश्रयः ॥ १८० ॥

भवेद्यो दीर्घपर्वा तु [1]तनुपत्रस्तथैव च ।
[2]पर्वाग्र तण्डुलश्चैव पुष्यवेणुः [3]स कीर्तितः ॥ १८१ ॥

विधिरेष[4] मया प्रोक्तो जर्जरस्य प्रमाणतः[5] ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि [6]दण्डकाष्ठस्य लक्षणम् ॥ १८२ ॥

कपित्थबिल्ववंशेभ्यो दण्डकाष्ठं भवेदथ ।
[7]वक्रं चैव हि कर्तव्यं त्रिभागे लक्षणान्वितम् ॥ १८३ ॥

अनुवाद—सर्षप से मिश्रित मधु और घी के लेप, माला और धूप से पुरस्कृत वेणु की विधिवत् उपासना करके वेणु को जर्जर के लिए ग्रहण करें ॥ १७९ ॥

अनुवाद—जो विधि और जो क्रम महेन्द्र की ध्वजा के विषय में कहा है, वही विधि वही क्रम जर्जर के निर्माण के लिए पुष्य वेणु के लिए भी करने चाहिए ॥ १८० ॥

अनुवाद—जिसके पर्व दीर्घ हों और पत्ते तनु हों तथा पर्व के अग्रभाग मण्डलाकार हों उसे पुष्य वेणु कहा गया है ॥ १८१ ॥

अनुवाद—प्रमाण के अनुसार जर्जर की यह विधि मैंने बताई है। इसके बाद अब दण्डकाष्ठ का लक्षण बतलाऊँगा ॥ १८२ ॥

अनुवाद—कपित्थ (कैथ), बिल्व (बेल) और बांस से दण्डकाष्ठ बनाना चाहिए। तथा वक्र करना चाहिए और तीन भागों में लक्षणों से अन्वित होना चाहिए ॥ १८३ ॥

---

१. ख. तनुपर्वा ; २. ख. पर्वानुमण्डलं ।
३. ख. प्रकीर्तितः । ४. ग. विधिरेषं ।
५. ख. तु लक्षणी । ६. ख. दण्डकाष्ठं भवेत्सदा ग. दण्डकाष्ठं भवेदथ ।
७. ख. चक्रं चैव हि तत्कार्यं । ग. त्वैव हि तत्कार्यम् ।

कोटैर्नोपहतं यच्च व्याधिना न च पोडितम् ।
मन्दशाखं भवेद्यच्च दण्डकाष्ठं तु तद्भवेत्[1] ॥ १८४ ॥
यस्त्वेभिर्लक्षणैर्हीनं दण्डकाष्ठं सजर्जरम् ।
कारयेत्स स्वपचयं महान्तं प्राप्नुयाद्ध्रुवम् ॥ १८५ ॥
[2]अथ शोर्षविभागार्थं घटी कार्या प्रयत्नतः ।
[3]स्वप्रमाणविनिर्दिष्टा द्वात्रिंशत्यङ्गुलानि वै ॥ १८६ ॥

शोर्षविभागा इति । यत्र द्विशिरास्त्रिशिरा इत्यादि दृश्यते, यत्र वा । निजशिर एवाच्छाद्य शिरोऽन्तरं प्रदर्श्यते । प्रतिपादप्रतिहस्तादेष एव कल्पः ।

अनुवाद—जो कोड़ों (धुना) से खाया हुआ न हो और जो व्याधि से पोड़ित न हो तथा जिसको शाखा मन्द (छोटी) हो, ऐसा वेणु दण्डकाष्ठ के लिए होना चाहिए ॥ १८४ ॥

अनुवाद—जो नाट्यप्रयोक्ता इन लक्षणों से होन वेणु का दण्डकाष्ठ जर्जर का निर्माण कराता है वह महान् अपचय (क्षति) को प्राप्त करता है यह ध्रुव है ॥ १८५ ॥

अनुवाद—वेणु के शोर्षस्थानोय शाखा के अर्ध विभाग प्रयत्न से घटो (घड़ी) बनानी चाहिए । इसका विशेष प्रमाण बत्तीस अङ्गुल प्रमाण का कहा गया है ॥ १८६ ॥

अभिनव—शोर्षविभागा इति—जहाँ पर दो या तीन शिर दिखाई पड़ते हैं अथवा जहाँ एक शिर को वस्त्र से आच्छादित कर दूसरा शिर दिखाया जाय तो उसे शोर्ष विभाग कहते हैं । यह कल्प प्रतिपाद प्रतिहस्त के लिए होती है ॥ १८६ ॥

---

१. ग. तदुच्यते ।

२. ख. ग. तथा शीर्षविधानार्थं पटी कार्या तु मानतः ।

३. ख. ग. सप्रमाण ।

विल्वमध्येन[1] कर्तव्य [2]घटी सिरसमाश्रया ।
स्विन्नेन विल्वकल्केन द्रवेण च समन्विता[3] ॥ १८७ ॥
भस्मना वा तुषैर्वापि कारयेत्प्रतिशीर्षकम्[4] ।
संछाद्य [5]तु ततो वस्त्रैर्बिल्वदिग्धैर्घटाश्रयैः[6] ॥ १८८ ॥
बिल्वकल्केन चोरं तु[7] दिग्ध्वा संयोजयेद्घटीम् ।
न स्थूलां [8]नानतां तन्वीं दीर्घा चैव न कारयेत् ॥ १८९ ॥

बिल्वस्य मध्यमज्जा सिरश्च वृक्षत्वगादिः । कथं सा कर्तव्येत्याह—स्विन्नेति भस्मना तुषचूर्णेन वा सुसमाहिता छादितच्छिद्रेत्यर्थः ।

न स्थूलामिति गुरुत्वभयात् । नानतामिति पेलवात् ।

अनुवाद—शिर के आश्रय से विल्व के मध्य भाग से घटी का निर्माण करना चाहिए । इसमें बेल के द्रवीभूत कल्क गोला करके उसमें मिलाना चाहिए ॥ १८७ ॥

अभिनव—बेल का मध्यभाग अर्थात् मज्जा वृक्ष की त्वचा (वल्कल)। उसे कैसे करना चाहिए ? इस पर कहते हैं कि विल्व अर्थात् विल्व के कल्क से भस्म अथवा भूसो के चूरे से छिद्र को आच्छादित करे ॥ १८७ ॥

अनुवाद—भस्म अथवा भूसी से शिरोभाग (चेहरा) को बनाए और फिर विल्व (बेल) के कल्क से भिगोये हुए कपड़े से ढंककर रख दे ॥ १८८ ॥

अनुवाद—विल्व (बेल) के कल्क से भीगे हुए चोर से घटी की संयोजन करे । वह घटी न तो स्थूल हो, न आनत (झुकी हुई) हो, न पतली हो और न लम्बी बनाई जाय ॥ १८९ ॥

अभिनव—वह घटी न स्थूल हो, क्योंकि स्थूल होने से भार अधिक हो जायगा, अतः गुरुता के भय से स्थूल न बनावें न आनता अर्थात् कोमल होने से आनम्य (झुकी हुई) बनाई जाय ॥ १८९ ॥

---

१. ख. ग. कल्केन ;
२. ख. ग. पटी चीरसमाश्रया ।
३. ख-ग. समागता ;
४. ख-ग-घ. प्रतिशीर्षाणि कारयेत् ।
५. ख-ग. कृतको ;
६. ख. धनाश्रयैः ग. वसाश्रयैः ।
७. ख-ग. दिग्धाङ्गं योजयेत् पटीम् ।
८. ख-ग. न तनुं चैव न मृद्वी ।

[1]तस्यामातपशुष्कायां सुशुष्कायामथापि वा ।
छेद्यं बुधाः[2] प्रकुर्वन्ति विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १९० ॥
सुतीक्ष्णेन तु शस्त्रेण अर्धार्धं प्रविभज्य च ।
स्वप्रमाणविनिर्दिष्टं[3] ललाटकृतकोणकम् ॥ १९१ ॥
[4]अर्धाङ्गुलं ललाटं तु कार्यं छेद्यं षडङ्गुलम् ।
अर्धार्धमङ्गुलं छेद्यं कटयोर्द्व्यङ्गुलं[5] भवेत् ॥ १९२ ॥
कटान्ते कर्णनालस्य छेद्यं [6]द्व्यधिकमङ्गुलम् ।
त्र्यङ्गुलं कर्णविवरं तथा स्याच्छेद्यमेव हि ॥ १९३ ॥
[7]ततश्चैवावटुः कार्या [8]सुसमा द्वादशाङ्गुला ।
घट्यां ह्येतत्सदाच्छेद्ये[9] विधानं विहित मया ॥ १९४ ॥

अनुवाद—उसे धूप में सुखाये गये अथवा अच्छी तरह सुखाये गये विद्वान् लोग विधि दृष्ट कर्म से छेद करना चाहिए ॥ १९० ॥

अनुवाद—सुतीक्ष्ण (तेज) शस्त्र से आधे-आधे पर विभाग करके निर्दिष्ट प्रमाण के अनुसार ललाट के स्वरूप वाले कोण को बनाये ॥ १९१ ॥

अनुवाद—फिर उसमें आधे अङ्गुल प्रमाण का ललाट फिर छेद्य भाग छः अङ्गुल का होना चाहिए। उसमें छेद्य भाग आधे-आधे अङ्गुल का और कटि में दो अङ्गुल का छेद्य होना चाहिए ॥ १९२ ॥

अनुवाद—कर्णनाल के कटान्त (कोण के अन्त) में दो अङ्गुल का छेद्य होना चाहिए तथा कर्णविवर का छेद्य तीन अङ्गुल का होना चाहिए ॥ १९३ ॥

अनुवाद—तदनन्तर बारह अङ्गुल का सुसमा (सुडोल) कर्णशष्कुलि बनानी चाहिए। घटी के छेद्य में मैंने इसी प्रकार का माप बतलाया है ॥ १९४ ॥

१. ख-ग-घ. शुष्कायां ततस्तस्यामनिलातपयोगत. ।
२. ख-ग. छेद्यं बुधाप्रकुर्वीत ।
३. ख-ग. ललाटाकृति कोणजम् ।
४. ख-ग. अर्धाङ्गुलललाटं तु छेद्यं ।
५. ख-ग. त्र्यङ्गुलं ;
६. ख-ग. त्वधिकं ।
७. ख-ग. ततश्च वावटु ;
८. ख. ससमा ।
९. ख-ग. पटीच्छेद्यकृतं ह्येतत् ।

[1]तस्योपरिगताः कार्या मुकुटा बहुशिल्पजाः ।
नानारत्नप्रतिच्छन्ना बहुरूपोपशोभिताः ॥ १९५ ॥

तथोपकरणानीह नाट्यप्रयोगकृतानि वै[2] ।
बहुप्रकारयुक्तानि कुर्वीत प्रकृतिं प्रति ॥ १९६ ॥

यत्किंचिदस्मिन् लोके तु[3] चराचरसमन्विते ।
विहितं कर्म शिल्पं वा तत्तूपकरणं स्मृतम् ॥ १९७ ॥

यद्यस्य विषयं[4] प्राप्तं तत्तदेवाभिगच्छति ।
[5]नास्त्यन्तः पुरुषाणां हि नाट्योपकरणाश्रये ॥ १९८ ॥

[6]यद्येनोत्पादितं कर्म शिल्पयोग[7] क्रियापि वा ।
[8]तस्य तेन कृता सृष्टिः प्रमाणं लक्षणं तथा ॥ १९९ ॥

अनुवाद—उसके ऊपर अनेक प्रकार के शिल्प वाले तथा बहुत से रत्नों जड़े हुए तथा बहु रूपों से सुशोभित मुकुट बनाने चाहिए ॥ १९५ ॥

अनुवाद—प्रकृति के विषय में नाट्यप्रयोग में किये गये बहुत प्रकार के उपकरणों का नाट्यप्रदर्शन में प्रयोग किया जाय ॥ १९६ ॥

अनुवाद—चराचर अर्थात् जड़-चेतन से समन्वित इस लोक में जो कुछ भी कर्म शिल्प या उपकरण कहे गये हैं ॥ १९७ ॥

अनुवाद—जिसका जो विषय प्राप्त है वह उसी के पहुँच जाता है, नाट्योपकरण के विषय में पुरुषों को कोई अन्त नहीं है ॥ १९८ ॥

अनुवाद—जहां पर जिसने जिस किसी कर्म, शिल्प अथवा योग क्रिया को उत्पन्न किया है, उसने उसको सृष्टि की है। तथा प्रमाण और लक्षण भी किया है ॥ १९९ ॥

---

१. ख-ग. तस्योपरि ततः कार्या मुकुटा विविधाश्रयाः ।
२. ख. युक्तिकृतानि च ; ३. ख. सचराचरसंज्ञिते ।
४. ख-ग. विषयं प्राप्यं स तस्मिंस्त्वधिगच्छति ।
५. ख. नान्यत पुरुषाणां हि नाट्योपकरणाश्रयम् । ग. नाट्योपकरणाश्रयम् ।
६. ग. नाट्येनोत्पादितं । ७. ग. योगः । ८. ग. तेन तस्य ।

[1]या काष्ठयन्त्रभूयिष्ठा कृता सृष्टिर्महात्मना ।
[2]न सास्माकं नाट्ययोगे कस्मात्खेदावहा हि सा ।। २०० ।।
यद्द्रव्यं जीवलोके तु नानालक्षणलक्षितम् ।
तस्यानुकृतिसंस्थानं नाट्योपकरणं भवेत् ।। २०१ ।।
प्रासाद गृहयानानि [3]नानाप्रहरणानि च ।
[4]न शक्यं तानि वै कर्तुं यथोक्तानीह लक्षणैः ।। २०२ ।।
लोकधर्मी भवेत्त्वन्या नाट्यधर्मी तथापरा ।
स्वभावो लोकधर्मी तु विभागो नाट्यमेव हि ।। २०३ ।।

महात्मनेति विश्वकर्मणा ।। २०० ।।

अनुवाद—उस महात्मा विश्वकर्मा ने यहाँ काष्ठ-यन्त्र-भूयिष्ठ सृष्टि की है वह सृष्टि हमारे नाट्य-प्रयोग में उपयोगी नहीं है, क्योंकि वह बहुत खेदावह है ।। २०० ।।

अभिनव—महात्मा अर्थात् विश्वकर्मा ।। २०० ।।

अनुवाद—इस जीव लोक में जो द्रव्य नाना लक्षणों से लक्षित है उसकी अनुकृति के रूप में संस्थान नाट्य का उपकरण है ।। २०१ ।।

अनुवाद—नाना प्रकार के प्रहरण, प्रासाद, गृह, यान और नाना प्रकार के प्रहरण को मनुष्य यथोक्त प्रकार के लक्षणों से युक्त बताने में समर्थ नहीं है ।। २०२ ।।

अनुवाद—इनमें लोकधर्मी पदार्थ भिन्न है और नाट्यधर्मी पदार्थ अन्य है । इनमें स्वभाव लोकधर्मी भिन्न है और विभाव नाट्ययधर्मी है ।। २०३ ।।

---

१. ख. ग. कार्णायसभूयिष्ठा कृता भूमिर्महत्तरा ।
२. ख. ग. नास्माकं सम्मता नाट्ये गुरुत्वात् खेदता हि सा ।
३. ख. ग. नाट्योपकरणानि च ।
४. ख. ग. शक्यानि च कर्त्तुं ।

आयसं तु न कर्तव्य न च सारमयं तथा ।
नाट्योपकरणं तज्ज्ञैर्गुरुखेदकरं भवेत्[1] ॥ २०४ ॥

काष्ठचर्मसु वस्त्रेषु जतुवेणुदलेषु च ।
नाट्योपकरणानीह लघुकर्माणि कारयेत् ॥ २०५ ॥

[2]चर्मवर्मध्वजाः शैलाः प्रासादा देवतागृहाः ।
हयवारणयानानि विमानानि गृहाणि च ॥ २०६ ॥

पूर्वं वेणुदलैः कृत्वा कृत्वा कृतीर्भावसमाश्रयः ।
ततः सुरङ्गैराच्छाद्य वस्त्रैः सारूप्यमानयेत् ॥ २०७ ॥

लघुकर्माणीति येषु क्रियमाणेषु लाघवेन क्रिया संपद्यते ॥ २२५ ॥

अनुवाद—नाट्य में विद्वानों को कभी लोहमय उपकरण नहीं बनाना चाहिए और न सारमय (धातुमय) भारी होना चाहिए। क्योंकि नाट्योपकरण भारी होने से कार्यकर्त्ताओं को खेद उत्पन्न करते हैं ॥ २०४ ॥

अनुवाद—अतः काष्ठ, चर्म वस्त्र, लाख, वेणु (बांस) के पत्तों के निर्मित नाट्योपकरण हलके बनाये जाँय ॥ २०५ ॥

अभिनव—जिन वस्तुओं के करने में लाघव क्रिया हो जाय ॥ २०५ ॥

अनुवाद—काष्ठ, चर्म (ढाल), वर्म (कवच), ध्वज, शैल, प्रासाद, देवगृह (मन्दिर), घोड़ा, हाथी, विमान, यान तथा मकान पहले भावों के अनुसार पहले वेणु दलों से आकृति बनाकर बाद में सुन्दर रंगीन वस्त्रों से ढक कर सरूपता में लावें ॥ २०६-२०७ ॥

---

१. गुरुत्वात् खेदकृद्धि तत् ख. घ., कर्त्तुं ख. ग. जतुकाष्ठचर्मवस्त्रप्रभावेणुदलैस्तथा ।

२. ग. वर्मचर्म । ख. पुस्तके इतः श्लोक द्वयं नास्ति ।

अथवा यदि वस्त्राणामसान्निध्यं भवेदिह[1]।
[2]तालीयैर्वा किलिञ्जैर्वा श्लक्ष्णै[3]र्वस्त्रक्रिया भवेत् ॥ २०८ ॥
तथा प्रहरणानि स्युस्तृणवेणुदलादिभिः।
जतुभाण्डक्रियाभिश्च नानारूपाणि नाटके[4] ॥ २०९ ॥
[5]प्रतिपादं प्रतिशिरः [6]प्रतिहस्तं प्रतित्वचम्।
[7]तृणैः किलिञ्जैर्भाण्डैर्वा [8]सारूप्याणि तु कारयेत् ॥ २१० ॥
यद्यस्य [9]सदृशं रूपं सारूप्यगुणसंभवम्।
मृण्मयं [10]तत्तु कृत्स्नं तु नानारूपं तु[11] कारयेत् ॥ २११ ॥

अनुवाद—अथवा यदि प्रयोग की बेला में वस्त्रों का अभाव हो तो ताल (ताड़) के पत्ते या किञ्जिल्क चिकने पत्ते वस्त्र-क्रिया को करें ॥ २०८ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार शस्त्र भी घास या वेणु (बांस) के पत्तों से बनाये और जतु (लाख) तथा भाण्डक्रियाओं से नाटक में नानारूपों वाले उपकरणों को करें ॥ २०९ ॥

अनुवाद—प्रतिकृतियों के प्रत्येक पैर, प्रत्येक शिर प्रत्येक हाथ, प्रत्येक त्वचा (चमड़े) की आकृति को घास, किलिञ्ज तथा भाण्डो के सारूप तैयार करे या कराये ॥ २१० ॥

अनुवाद—समान गुणों के कारण जो जिसके सदृश रूप वाला हो, उसे समस्त रूपों को मृण्मय बनाये या तत्सदृश निर्माण कराये ॥ २११ ॥

---

१. ख. तद्विधानमसंभवम्।
२. ख. तालीयजैः कीलजैवा।
३. ख. वस्त्रैः।
४. ख. कारयेत्।
५. ख. ग. प्रतिपादौ।
६. ख. ग. प्रतिहस्तौ।
७. ख. ग. तृणजैः कीलजैः।
८. ख. ग. सरूपाणीह।
९. ख. ग. यादृशं।
१०. ख. ग. तत्र।
११. ख. ग. नानारूपान।

भाण्डवस्त्रमधूच्छिष्टैर्लाक्षयाभ्रदलेन न ।
[1]नागास्ते विविधाः कार्या ह्यतसीशणबिल्वजैः ॥ २१२ ॥
नानाकुसुमजातीश्च फलानि विविधानि च ।
भाण्डवस्त्रमधूच्छिष्टैर्लाक्षया वापि कारयेत् ॥ २१३ ॥
भाण्डवस्त्रमधूच्छिष्टैस्ताम्रपत्रै[2]स्तथैव च ।
[3]सम्यक्च नीलोरागेणाप्यभ्रपत्रेण चैव हि ॥ २१४ ॥
रञ्जितेनाभ्रपत्रेण [4]मणीश्चैव प्रकारयेत् ।
उपाश्रयमथाप्येषां शुल्बबङ्गेन[5] कारयेत् ॥ २१५ ॥

मधुच्छिष्टं सिक्थकम् ।

अनुवाद—भाण्ड (बरतन), वस्त्र, मधूच्छिष्ट (मोम), लाक्षा तथा अभ्रदल (अभ्रकखण्ड), अतसी, शण तथा बिल्व से विविध प्रकार के हाथियों को बनाये ॥ २१२ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के जाती के फूल और विवध फलों को भाण्ड, वस्त्र, मधूच्छिष्ट (मोम) तथा लाक्षारस से बनाये ॥ २१३ ॥

अनुवाद भाण्डवस्त्र, मधूच्छिष्ट (मोम) तथा ताम्रपत्रों से तथा सम्यक् प्रकार से नीलोराग से तथा अभ्रकपत्र से भी बनाये जा सकते हैं ॥ २१४ ॥

अनुवाद—तथा रञ्जित अभ्रक पत्र से मणियों को बनवाये और उनमें आश्रयों को शुल्ब बङ्ग (पालिश) से बनवाये ॥ २१५ ॥

---

१. इतोऽग्रे सार्धैकपद्यं ग. पुस्तके नास्ति ।
ख. पुस्तके नगास्तु विविधा कार्याश्चर्मवर्मध्वजास्तथा ।
नानाकुसुमजातानि फलानि कुसुमानि च ।
विविधानि च भाण्डानि लाक्षया वेहकारयेत् ॥

२. ख. वर्णैः । ३. ख. ग. तत्साम्यं । ४. ख. मर्षाः ।

५. ख. शुल्वभ्रष्टैनं । ग. तुल्यं वङ्गेन ।

विविधा मकुटा दिव्या पूर्वं ये गदिता मया ।
तेऽभ्रपत्रोज्ज्वलाः कार्या [1]माणिक्यालोकशोभिताः ॥ २१६ ॥
न शास्त्रप्रभवं कर्म तेषां हि समुदाहृतम् ।
[2]आचार्यबुद्धया कर्तव्यमूहापोहप्रयोजितम् ॥ २१७ ॥
[3]एष मर्त्यक्रिया योगो [4]भविष्यत्कल्पितो मया ।
[5]कस्मादल्पबलत्वं हि [6]मनुष्येषु भविष्यति ॥ २१८ ॥
[7]मर्त्यानामपि नो शक्या विभावाः सर्वकाञ्चनाः ।
नेष्टाः सुवर्णरत्नैस्तु मुकुटा भूषणानि वा ॥ २१९ ॥

अनुवाद—विविध प्रकार के दिव्य पुरुषों मुकुट, जिसको पहिले मैं कह चुका हूँ। वे अभ्रपत्र (अभ्रकखण्ड) की तरह उज्ज्वल और मणियों की माला से सुशोभित करें ॥ २१६ ॥

अनुवाद—इन सभी वस्तुओं निर्माणोचित क्रिया को शास्त्रों में कही नहीं बताया गया है । अतः आचार्य लोग अपनी बुद्धि से ऊहापोह करके करते हैं ॥ २१७ ॥

अनुवाद—भविष्य में जिसकी कल्पना की जा सकती है, उस मानुष्य क्रिया-योग को मैंने कह दिया है । क्योंकि अल्प सामर्थ्य वाले मनुष्य आगे होंगे अर्थात् भविष्य में अल्पसामार्थ्यवाले मनुष्य होंगे ॥ २१८ ॥

अनुवाद—सभी भाव पदार्थों को काञ्चनमय बना देना मनुष्यों के लिए शक्य नहीं है । सुवर्ण में जटित रत्नों से निर्मित मुकुट अथवा अन्य आभूषण इष्ट नहीं है ॥ २१९ ॥

१. घ. मणिव्यालोशोभिताः ।
२. ख. ग. विचार्यं । ३. ख. ग. एवं ।
४. ख. ग. भविष्यन् । ५. ख. ग. यस्मात् ।
६. ख. ग. मानुषेषु ।
७. मर्त्यानामषशक्तीनां न भवेद्राङ्ग चेष्टितम् ।

युद्धे नियुद्धे नृत्ते वा वृष्टिव्यापारकर्मणि ।
गुरुभारा[1]वसन्नस्य स्वेदो मूर्छाऽपि[2] जायते ॥ २२० ॥

[3]स्वेदमूर्छाक्लमार्तस्य प्रयोगस्तु विनश्यति ।
प्राणात्ययः कदाचिच्च भवेद्व्यायतचेष्टया ॥ २२१ ॥

तस्मात्ताम्रमयैः पत्रैरभ्रकै रञ्जितैरपि ।
[4]खण्डेरपि मधूच्छिष्टैः कार्याण्याभरणानि तु ॥ २२२ ॥

एवं लोकोपचारेण स्वबुद्धिविभवेन च ।
नाट्योपकरणानीह बुधः सम्यक् प्रयोजयेत् ॥ २२३ ॥

अनुवाद—युद्ध, नियुद्ध (बाहुयुद्ध) अथवा नृत्त में अथवा नृत्त व्यापार कर्म में गुरुभाव से अधिक परिश्रम से अवसन्न पुरुष को स्वेद (पसीना) और मूर्च्छा हो जाती है ॥ २२० ॥

अनुवाद—स्वेद (पसीना), मूर्च्छा और क्लम (थकावट) से पीड़ित (आर्त्त) मनुष्य के द्वारा क्रियमाण प्रयोग नष्ट हो जाता है और कदाचित् अत्यधिक चेष्टा से प्राण का विनाश भी हो सकता है ॥ २२१ ॥

अनुवाद—इस लिए ताम्रमय अर्थात् ताँबे के पत्तरों से और अभ्रक के पत्तरों से रञ्जित मधूच्छिष्ट खण्डों से आभरणों को बनवाये ॥ २२२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार लोक व्यवहार से अपनी बुद्धि के विभव से नाट्य को को उपकरणों को बुद्ध लोग अच्छी प्रकार से प्रयोग करे ॥ २२३ ॥

---

१. घ. भाव ।

२. घ. च ।

३. ख. स्वेदमूर्च्छाश्रयमार्त्तस्य । ग. श्रमार्तस्य ।

४. ख. ग. भाण्डैरथ ।

[1]न भेद्यं नैव चच्छेद्यं[2] न प्रहर्तव्यमेव च।
[3]रङ्गे प्रहरणैः कार्यं संज्ञामात्रं तु कारयेत् ॥ २२४ ॥
[4]अथवा योगशिक्षाभिर्विद्यामायाकृतेन वा ।
शस्त्रमोक्षः[5] प्रकर्तव्यो रङ्गमध्ये प्रयोक्तृभिः ॥ २२५ ॥
एवं नानाप्रकारैस्तु आयुधाभरणानि च ।
नोक्तानि यानि च मया लोकाद् ग्राह्याणि तान्यपि ॥ २२६ ॥

सुधामकोक्ता विद्या हस्तलाघवादि माया चक्षुर्बन्धादिका ॥ २२५ ॥

अनुवाद—रङ्गमञ्च पर प्रहरणों (अस्त्रों से न तो भेदन करना चाहिए, न छेदन करना चाहिए और न प्रहरणों (शस्त्रों) से प्रहार करना चाहिए किन्तु संज्ञामात्र कार्य करना चाहिए ॥ २२४ ॥

अनुवाद—अथवा याग प्रक्रिया से अर्थात् योगशिक्षा से विद्या अथवा माया के बल से प्रयोक्ता अभिनेता नाटचमञ्च पर रङ्ग के मध्य में शस्त्र का मोक्ष करे ॥ २२५ ॥

अभिनव—सुधामक के द्वारा कही हुई विद्या हस्तलाधवादि होती है। माया चक्षुर्बन्धादि हैं ॥ २२५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाना प्रकार के आयुध (अन्य) और आभारणों को जिनको मैंने कहा नहीं है उन्हें भी लोक में ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ २२६ ॥

---

१. ख. भोक्तव्यं नायुधं रङ्गे न छेद्यं न च ताडनम् ।
प्रादेशमात्रं गृह्णीयात्संज्ञार्थं शस्त्रमेव च ।

२. ग. स्थेयं ।

३. ग. रङ्गप्रहरणैः ।

४. ख. शिक्षायोगेन नाटचेऽस्मिन् शिक्षामायाकृतेन वा ।

५. ख. तु कर्त्तव्यो ।

आहार्याभिनयो ह्येष मया प्रोक्तः समासतः ।
अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सामान्याभिनयं प्रतिः ॥ २२७ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे आहार्याभिनयो नामैकविंशोऽध्यायः ।

एवमध्यायमुपसंहर (अभिनये वक्तव्यशेषमा) सूत्रयति आहार्याभिनयो ह्येष इति शिवम् ।

आहार्याभिनयाध्याये वृत्तिरेषा यथाक्रमम् ।
कृताभिनवगुप्तेन ग्रन्थिस्थानेषु तत्त्वतः ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाट्यवेदविवृतावभिनवभारत्यामाहार्याभिनयाध्याय एकविंशः ॥

अनुवाद—मैंने संक्षेप में आप लोगों के प्रति आहार्य अभिनय कहा है। अब इसके बाद सामान्य अभिनय के विषय में कहूँगा ॥ २२७ ॥

अभिनव—इस प्रकार अध्याय का उपसंहार करते हुए अभिनय में कथनीय अंश की सूचना देते हुए आसूत्रण करते हैं कि यह आहार्य अभिनय है।

अभिनव—आहार्य अभिनय नामक अध्याय में अभिनवगुप्त ने ग्रन्थिस्थान में तत्त्वतः यथाक्रम यह वृत्ति लिखी है ॥ २१ ॥

इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में आहार्याभिनय नामक इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

इस प्रकार महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा विरचित नाट्यवेद-विवृत्ति में अभिनवभारती में आहार्य अभिनय नामक इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई।

द्वाविंशोऽध्यायः[1]

सामान्याभिनयः

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः ।

अभिनवभारती–द्वाविंशोऽध्याय

भेदेनात्माभिमुखतां नयन्तं भेदकारणम् ।
सामान्याभिनयाकारगर्वमूर्ति शिवं नुमः ॥

इहान्यवित्यपरञ्जकं च अभिनयं चान्याभिनयं समं च तदिति तत्र भवः सामान्याभिनय इति परमार्थः ।

द्वाविंशोऽध्यायः

सामान्याभिनय

हिन्दी–व्याख्या

अनुवाद—आहार्याभिनय निरूपण करने के पश्चात् वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयों को समझना चाहिए। वाचिकादि सामान्याभिनय के लिए प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि नाट्य तो सत्त्व में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

अभिनव–भारती

अभिनव—भेद के द्वारा आत्माभिसुख अर्थात् अपने अभिसुख में ले जाते हुए भेद के कारण सामान्याभिनयाकार गर्व (अहङ्कार गर्वात्मक) मूर्त्ति शिव को हम (अभिनवगुप्त) नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

अभिनव—यहाँ सामान्याभिनय शब्द की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि यहाँ अन्य शब्द का अर्थ उपरञ्जक हैं। यहाँ अन्य और अभिनय शब्द का द्वन्द्व समास होने पर 'अन्याभिनय' शब्द बनता है। फिर सम और अन्याभिनय शब्द का द्वन्द्व समास होने पर 'सामान्याभिनय' शब्द बना। इससे भव अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होकर 'सामान्याभिनय' शब्द बना। अतः कहते हैं कि यह 'परमार्थ' है।

---

१. ब. चतुर्विशः।

कोहलमतानुसारिभिर्वृद्धैः सामान्याभिनयस्तु षोढा भण्यते। तथा हि कोहलः—

शिष्टं कामं मिश्रं वक्रं सम्भूतमेकयुक्तत्वम् ।
सामान्याभिनये यत् षोढा विदुरेतदेव बुधाः ॥ इति ।

तत्र सामान्यमिति साधारणमुच्यते तेन सर्वेष्वभिनयेषु यद्रूपमवशिष्टं पूर्वं नोक्तमवश्यं वक्तव्यं च कविनटशिक्षार्थं तद्येनाध्यायेनाभिधीयते स सामान्याभिनयः, सोऽभिनयेषु सामान्यभूतः साधारणभूतोऽभिनयविषयत्वात् स्ववाच्याभिमुख्यनयनाद्वाभिनय इति व्युत्पत्त्या । तथा हि सात्त्विकस्य हावभावहेलादिना विशेषः पूर्वमनुक्तोऽभिधीयते। विषयश्चैवं 'षडात्मकः शारीरः' (२२-४१) इत्यादिना 'आलापश्च प्रलापश्च' (२२-४९) इत्यादिनाङ्गिकवाचिकयोः ।

कोहल मतानुयायी सामान्याभिनय को छः प्रकार का मानते हैं। जैसाकि कहते हैं—

"शिष्ट, काम, मिश्र, वक्र, सम्भूत और एक प्रयुक्तत्व सामान्याभिनय के ये छः प्रकार विद्वान् लोग जानते हैं।"

उनमें सामान्य को साधारण कहते हैं। इससे सम्पूर्ण अभिनयों में जो रूप अवशिष्ट है जिसे पहिले नहीं कहा है उसे अवश्य कहना चाहिए, कवि और नट की शिक्षा के लिए उसे जिस अध्याय के द्वारा कहते हैं वह सामान्याभिनय है। वह सामान्याभिनय अभिनय का विषय होने से अभिनयों में सामान्य है अथवा अभिनय के वाच्य कवि तथा नट को अभिमुख में नयन होने के कारण अभिनय शब्द बना है। जैसा कि सात्त्विक अभिनय का हाव, भाव, हेला आदि के द्वारा जो विशेपता है, जिसको पहिले नहीं कहा है, उसे 'कहते हैं। इसी प्रकार 'षड़ात्मक: शारीर:' इत्यादि के द्वारा आङ्गिक अभिनय के विषय को 'आलापाश्च प्रलापश्च' इत्यादि के द्वारा बाचिक अभिनय के विषय को कहते हैं।

ननु 'अङ्गाद्यभिनयस्यैव यो विशेषः' (२५-१) इत्यतः चित्राभिनयात् कोऽस्य विशेषः, उच्यते—तत्र वागङ्गसत्वव्यामिश्रत्वेन चित्रता। इह तु प्रत्येकनियतस्यानुक्तस्य विशेषान्तरस्याभिधानमिति। तथा हि तत्र चित्रशब्दं पठिष्यति 'अनुक्त उच्यते चित्रः' इति (२५-२) तथा (चेह तु) सामान्याभिनयः कामोपचारः, स हि सकलप्राणिवर्गसाधारण आभिमुख्यं नयति च सर्वं जन्तुवर्गमिति वागङ्गसत्वलक्षणेन सकलेन सामान्यात्मना चाभिनयेन अभिनीयत इति। तत्कामोपचारः स्त्रीपुरुषस्वभावः तदवस्थाभेदेनेहाभिनीयत इति सामान्यभिनयोऽयमध्यायः। अत एवैतदध्यायशेषभूतकामोपचारप्रतिपादकमेवाध्यायं वैशिकोपचाराख्यं मन्तव्यम्। तथा सामान्यमिति समानानां कर्म सामान्यं च तदभिनयनं च। तत्तनैकमेवाभिनयं गमयितुं यथासम्भवं बहूनामभिनयानां याभिनयक्रिया एकं तदेवाभिनयक्रियारूपं कर्म समानानां सताम्।

अब प्रश्न होता है कि 'अङ्गाद्यभिनय' का जो वैशिष्टय है, अतः चित्राभिनय से सामान्याभिनय का क्या विशेष है? इस पर कहते हैं कि वहाँ वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयों के व्यामिश्रण से चित्रता होती है। यहाँ पर तो प्रत्येक अभिनय में नियत अनुक्त विशेषान्तर का अभिधान करते हैं। जैसा कि वहाँ चित्र शब्द को पढ़ेंगे 'जो अनुक्त है वह चित्र है, और यहाँ पर सामान्याभिनय कामोपचार है। वह सामान्याभिनय समस्त प्राणिवर्ग के साधारण है और समस्त जन्तु वर्ग को अभिमुख में नयन करता है। अतः वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक लक्षण समस्त सामान्य अभिनय शब्द से कहा जाता है। वह कामोपचार स्त्री और पुरुष का स्वभाव है। जिसका अवस्थाभेद से यहाँ अभिनय किया जाता है। इसलिए यह अध्याय सामान्याभिनय नामक अध्याय है। अतएव इस अध्याय के शेषभूत कामोपचार के प्रतिपादक अध्याय को वैशिकोपचार मानना चाहिए तथा सामान्य यह समानों का कर्म है और वह सामान्य अभिनय भी है। इसके एक ही अभिनय को समझाने के लिए यथासम्भव बहुत से अभिनयों का जो अभिनय क्रिया है। वही अभिनयन क्रियारूप एक कर्म समान लोगों है।

नन्वेवमेकत्राभिनये किं बहुभिरभिनयैः । तत्र केचिदाहुः—स्वोपस्थानेषु साध्येषूपस्कारांशो व्यापार इति । तच्चासत्, नहि नाटकादौ सूत्रेष्विवोपस्कारो युक्तः । स ह्यत्र प्रत्युत दोषाय, यथाह—"काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्"[1] इत्यादिना । प्रविस्पष्टपराकरणं तत्र निमित्तं स्पष्टार्थेन वाक्यमात्रेण तत्सिद्धेः ।

तत्रोक्तं श्रीशङ्कुकादिभिः—इह लोकानुसारिनाट्याद् लोके सुखदुःखाद्या-वेशविवशो वक्ता, तत एव स्तम्भस्वेदादिभिर्बृंहितं अवधानबन्धोऽपि गुणक्रियादि-स्वरूपसाहचर्याभ्याससंस्कृतः (तं?) शब्दप्रयोगः (गं?) तदुपचिताङ्गोपाङ्गविकार-संकीर्णमेव कुर्वाणो दृश्यते – इति ।

इस प्रकार जब बहुतों का एक ही अभिनय है तो बहुत से अभिनयों की क्या आवश्यकता है ? इस पर कोई कहते हैं कि अपना उपस्थापन साध्य कर्त्तव्य में उपस्कारांश व्यापार है। किन्तु यह ठीक नहीं है। नाटक आदि में सूत्रों के समान उपस्कार युक्त नहीं है। भाव यह कि पटों में सूत्रों से पट ही उपस्कृत होता है, अतः यह उपस्कारांश युक्त नहीं है। प्रत्युत वैसा उपस्कारांश नाटकादि में दोषाधायक हैं क्योंकि पट की तरह पात्र ही उपस्कृत होते हैं सामाजिक नहीं। वस्तुतः सामाजिक को उपस्कृत होना चाहिए। जैसा कि यदि ये काव्य भी शास्त्र की तरह व्याख्यागम्य है तो सामाजिकों को उससे क्या लाभ ? यह निमित्त स्पष्ट अर्थ वाले केवल वाक्यों से सिद्ध होता है।

इस विषय में शङ्कुक आदि आचार्यों ने कहा है कि यहाँ रङ्गमञ्च पर किया जाने वाला नाट्य से अवस्था का अनुकरण लोकानुसारी होता है, लोक में वक्ता सुख-दुखादि के आवेश से विवश होने के फलस्वरूप अवधान में एकाग्रता से बँधा हुआ भी स्तम्भ और स्वेदादि बृंहित गुण एवं क्रियादि स्वरूप साहचर्य के अभ्यास से संस्कृत एवं उस संस्कार से उपचित अङ्ग एवं उपाङ्गभूत विकारों से सङ्कीर्ण शब्द प्रयोग करता हुआ दिखाई देता है।

१. भामहालङ्कारे भट्टिकाव्ये च ।

(१) यत्र तु यत्सत्यतो वक्तव्यं तदस्य निरुक्तमष्टमेऽध्याये—

विभावयति यस्माद्धि नानार्थांप्रयोगतः ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तं तस्मादभिनयः स्मृतः ॥ (ना० शा० ८।७)

इत्येवमन्तं श्लोकं व्याचक्षाणैः । [न तथा] सामान्यस्य समानीकृतः सकलाङ्गोपाङ्गकर्मणा सतोऽभिनयनं येनालातचक्रप्रतिमता प्रयोगस्य जायते । यथोक्तं 'प्रयोगश्चास्य कीदृश' इति, यद्वक्ष्यते ।

शिरोहस्तकटीवक्षोजङ्घोरुकरणेषु तु ।
समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु सः ॥

(ना० शा० २२।७३) इति ।

(२) सामान्य इत्यनेनाशेषाभिनयविशेषा आङ्गिकादिता उपलक्षिताः तत्कृतोऽभिनयः । यद्वक्ष्यति—

कृत्वा साचीकृतां दृष्टिं शिरः पार्श्वं नतं तथा ।
तर्जनीं कर्णदेशे च बुधः शब्दं विनिर्दिशेत् ॥

(ना० शा० २२।८२) इति ।

(१) इस विषय में तो जो सत्य रूप में कहना चाहिए वह इस नाट्य-शास्त्र के अष्टम अध्याय में कह दिया है—

"यह शाखा, अङ्ग, उपाङ्ग के संयुक्त अभिनय के प्रयोग के द्वारा नानाविध अर्थों का सामाजिक के हृदय में विभावित करता है, अतः इसे 'अभिनय' कहा जाता है।" (ना० शा० ८।७)

इस प्रकार श्लोकान्त तक व्याख्या करते हुए कह दिया है। और सामान्य अर्थात् समानीकृत रूप से सकल अङ्ग एवं उपाङ्ग की क्रिया उससे अभिनय होता है (अभिनय किया जाता है) जिसके द्वारा प्रयोग अलातचक्र के सदृश दिखाई देता है। जैसा कि कहा है कि 'इसका प्रयोग कैसा है?' जिसे आगे कहेंगे—

"जो शिर, हस्त, कटी, वक्षःस्थल, जङ्घा, उरु इन इन्द्रियों में समानरूप से क्रिया का विभाग है वह सामान्य होता है।" (ना० शा० २२।७३)

(२) सामान्य इससे आङ्गिकादिगत समस्त अभिनयों की विशेषताएँ उपलक्षित है और उपलक्षणों से किया गया अभिनय भी उपलक्षित हो गया। जैसाकि आगे कहेंगे—

(३) अत्र हि दृष्टिविशेषः शिरोविशेषो हस्तविशेषश्च संभूयैकमभिनयं प्रत्येकोऽभिनयः संपद्यते ।

(४) एकैकेन तु शब्दाभिनयस्य कापि मात्रा निष्पद्यते, एवमेव तृतीय-पक्षादस्य विशेषः । तत्र हि एकैकस्याप्यभिनयनेऽस्य (संभूतत्वेन) सामार्थ्यम् ।

(५) तथा विघ्नसंभावना[1]विहीनसकलसाधारणस्पष्टभावसाक्षात्कारकल्पा-ध्यवसायसम्पत्तये सर्वेषां प्रयोग इत्युक्तम् ।

(६) तथाभिनय इति तद्विशेषो यत्न उच्यते, स च साधारणरूपः सामान्याभिनयः । तथा हि—प्रकटाक्षप्रेक्षणाद्यं यं यत्नं कुशलं प्रयोक्ता गृह्णाति तेनैव तदुचितशिरःकर्मान्तमस्य संपाद्यम् इति षोढा गुरुभिर्निदर्शितः ।

"शब्द का अभिनय दृष्टि को तिरछी करके और शिर को कन्धे की ओर झुका कर तथा तर्जनी को कान के ऊपर रखकर विद्वान् शब्द का अभिनय करे ।" (ना० शा० २२।२८)

(३) जहाँ पर अभिनय के प्रति दृष्टि-विशेष, शिरोविशेष तथा हस्त-विशेष मिलकर एक अभिनय सम्पन्न होता है ।

(४) इन एक दृष्टि-विशेष से शब्दाभिनय को कोई मात्रा निष्पन्न हो जाती है, इसो प्रकार तृतोय पक्ष से इसकी विशेषता है । वहाँ ही अभिनयन क्रिया में एक विशेष का सामर्थ्य सम्भूत होने से उपस्थित हो जाता है ।

(५) तथा विघ्नों के सम्भावना विहीन सकल साधारणजन को भी स्पष्ट भावों को साक्षात्कार कल्प अध्यवसाय सम्पत्ति के लिए सब का प्रयोग होता है, ऐसा कहा है ।

(६) ऐसा अभिनय है, इससे जहाँ उसकी विशेषता कही जातो है वह साधारण रूप सामान्य अभिनय है । जैसा कि कहते हैं—प्रयोक्ता इन्द्रियों से साक्षात् प्रेक्षण करके जिस कुशल यत्न को करता है उसी यत्न से तदुचित शिरो-विशेष की क्रियाओं को सम्पन्न करना चाहिए । इस प्रकार गुरुओं ने इसके छः रूपों का निर्देश दिया है ।

---

१. षष्ठेऽध्याये रससूत्रव्याख्याने सप्तविघ्ना उक्ता. ।

वयं तु (न) मन्महे — रसभावाध्याययोर्वागङ्गसत्त्वजास्तत्तद्रसभावेषु दर्शितास्ते कथं प्रयोज्या इत्ययमध्यायः। यथा हि किराटगृहाद् गन्धद्रव्याण्यानीय गान्धिकेन समानोक्रियते अस्येयान् भाग इदं पूर्वमिति, एवमत्राध्यायेऽभिनयाः। तत्र शृङ्गारस्य प्राधान्यात् तत्रैवाभिनयानां भागयोगेन पौर्वापर्ययुक्त्या च समीकरणं सत्त्वातिरिक्त इति। तेन सामान्यानां कर्म समानोकरणं भावनप्रायमभिनयविषयं स्वयं चाभिनयरूपं सामान्याभिनयं शृङ्गारमुखेन चान्यदुपनेयमिति। तदेतत्सर्वं हृदये कृत्वा मुनिराह—सामान्याभिनयो नाम ज्ञेय वागङ्गसत्त्वजः इति।

नाम्नैव ज्ञातुं शक्योऽन्वर्थत्वादस्येति भावः। तत्तु व्याख्यातम्।

नन्वेवं तत्र न किंचिदवशिष्यते वक्तव्यमित्याशङ्क्यावृत्याह—सामान्याभिनयो नाम ज्ञेय इति।

हम तो ऐसा मानते हैं कि रसाध्याय नामक छठें अध्याय में और भावाध्याय नामक सातवें अध्याय में जिन आङ्गिक, वाचिक एवं सात्त्विकों का उन उन रसों और भावों को दिखाया है, उनका अभिनय कंसे किया जाय ? इसको बतलाने के लिए यह बाइसवाँ अध्याय है। जैसे किराट के घर से गान्धिक गन्ध द्रव्यों को लाकर उनका समानीकरण करता है कि इसका इतना भाग पहले लेना है और इतना अंश पोछे। इसा प्रकार इस अध्याय म अभिनयों का समानीकरण है। उसमें शृङ्गार का प्राधान्य है। वहीं पर अभिनयों के भागों का योग करके पौर्वापर्य को युक्ति से समोकरण सात्त्विकता का अतिरेक है। इससे सामान्यों का कर्म भावनाप्रधान अभिनय विषयक समानाकरण है और स्वयं अभिनय रूप सामान्याभिनय का शृङ्गार को प्रधानता से उपनेय है। इन सबको हृदय में रखकर मुनि कहते हैं कि सानान्याभिनय को जानना चाहिए।

क्योंकि नाम के अन्वर्थ होने से सामान्याभिनय नाम से ही इसको जान सकते हैं। इसको व्याख्या तो मैंने कर दो है।

अब प्रश्न होता है कि जब नाम अन्वर्थ है तो कुछ भो अंश वक्तव्य अवशिष्ट नहीं है। इस प्रकार आशङ्का करके आवृत्ति से उत्तर देते हैं कि सामान्यभिनय को जानना आवश्यक है।

नामशब्दः प्रसिद्धिद्योतकः । तदयमर्थः—यद्यपि ज्ञेयः (स्थिर) विषये सामान्याभिनयः प्रसिद्धोऽपि वाक्यार्थबलात्, तथापि यो वागङ्गसत्त्वेभ्यो जातः तद्विषयः सामान्याभिनयो व्याख्यातः । तत्रेति विषये तन्निरूपणायामस्माकं प्रयासः कार्य एव ।

आहार्यो हि यद्यप्यभिनयान्तरेभ्यो न्यूनस्तथापि तस्य सिद्धस्वरूपत्वान्नात्रोपादानम् । आङ्गिकादिक्रियाणां हि पूर्वापरीभूतरूपतया सम्भावनीयवि(शेष)-भावनादेकोकारात्मा सामान्याभिनयो यत्नसंपाद्य एव । आहार्यस्य तु तन्मध्ये स्थिरत्वेनावस्थानाद्यत्नसिद्ध एवासौ । अत एवाहार्येऽपि भविष्यति सामान्याभिनयचिन्ता । न तु सर्वथैवास्य तत्र त्यागः । तथा हि "वागङ्गालङ्कारैः" (२२-१४) इति लीलया, "माल्याच्छादनविलेपनभूषणानां" (२२-१६) इति विच्छित्तौ, वागङ्गाहार्यसत्त्ववेगेन" (२२-१७) इति विभ्रमे, तस्य सातिशय निरूपणं भविष्यति ।

यहाँ नाम शब्द प्रसिद्धि का द्योतक है। अतः यह अर्थ है कि यद्यपि जानने योग्य सामान्याभिनय अन्वर्थ नाम से प्रसिद्ध भी है। तब भी जो वाक् अङ्ग और सत्त्व से उत्पन्न होता है । उसका विषय सामान्याभिनय व्याख्यातव्य है। अतः उसके निरूपण के लिए हमें प्रयास करना चाहिए।

यद्यपि आहार्य अभिनय आङ्गिकादि अभिनयों से न्यून है फिर भी उसका स्वरूप सिद्ध है अतः उसका यहाँ उपादान नहीं किया है। आङ्गिकादि क्रियाओं के पूर्वापरीभूत रूप होने से विशेष भावना सम्भाव्य होने से समनीकरण न होने से भिन्नता हो जाती है। अतः सामान्याभिनय का एकीकारात्मा का सम्पादन यत्न से हो सकता है। आहार्याभिनय का सामान्याभिनय के मध्य में स्थिरता से अवस्थान होने से वह प्रयत्न से सिद्ध है। अब आहार्याभिनय के विषय में सामान्याभिनय के विषय को चिन्ता होती है, न कि सर्वथा उसकी चिन्ता के समय में त्याग कर दिया जायगा और 'वागङ्गालङ्कारैः' (२२।१४) इस प्रकार की लीला में 'माल्याच्छादनविलेपनभूषणानाम्' इस प्रकार विच्छित्ति में तथा 'बागङ्गाहार्यसत्त्ववेगेन' इस प्रकार विभ्रम में उसका साहित्य निरूपण होगा।

अन्ये त्वाहुः—आन्तरभावानपेक्ष एवाहार्यो दण्डकमण्डल्वक्षसूत्रादिर्व्रत-विशेषादिमात्रं गमयति, न तु भावं कञ्चित्। उज्ज्वलो हि वेषो न रतिं गमयति नापि मलिनः शुचम्। तदभावेऽपि हि ते भवत एव। औचित्यमात्रं ह्येतद्रता-वुज्ज्वलो वेषः, शुचि मलिन इति।

ये त्वेते गुणद्रव्यादिबाह्याभिनयाः सुखदुखादिभावा निश्चायाश्च, ते चित्तवृत्तीनां बाह्यार्थानां च कार्यकारणभावस्य नियतव्यक्तित्वाद् भावापेक्षा इति।

वागङ्गसत्त्वाभिनया अन्योन्यसाहचर्यमाणाः, नत्वेवं तेष्वाहार्यं इत्यस्यानु-पादानक्रिया। एतच्च न मुनेर्मतमित्यावेदितमस्माभिरुपाङ्गाभिनयाहार्याभिनया-ध्याययो (८-२२) रित्यास्ताम्।

अन्य लोग तो कहते हैं कि आहार्य अभिनय में आन्तरिक भावों की अपेक्षा नहीं है। अतः दण्ड, कमण्डलु, अक्ष तथा सूत्र (यज्ञोपवीत) तथा मृगचर्म प्रभृति वे ब्रह्मचर्य व्रत विशेष के बोधक होते हैं, किन्तु किसी भाव के बोधक नहीं होते। उज्ज्वल वेष रति का गमक नहीं होता है और न मलिन वेष शोक का गमक होता है। वे तो उसके अभाव में भी होते हैं। रति के समय उज्ज्वल वेष का होना उचित है और शोक के समय मलिन वेष होना उचित है।

और जो रूपादि गुणों और पृथिव्यादि द्रव्य तथा आदि पद से द्वेषादिभाव हैं, इन चित्तवृत्तियों के साथ बाह्य पदार्थों का कार्य-कारण भाव नियत है। क्योंकि ये नियत व्यक्तिगत भाव की अपेक्षा रखते हैं। वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयों का परस्पर साहचर्य है किन्तु आहार्य और उनका साहचर्य नहीं है। उनमें आहार्य का उपादान क्रिया नहीं है। यह मुनि का मत नहीं है, इसे हमने उपाङ्गाभिनयाध्याय तथा आहार्याभिनयाध्याय में कह दिया है। अतः रहने दिया जाय।

तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं सत्त्वे[1] प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

नन्वेवं त्रितयनिष्ठो यद्यपि यत्नस्तथाप्यभिहितत्वेन किमिह वक्तव्यमित्याह—नाट्यं सत्त्व इति।

तुशब्दः सत्त्वशब्दानन्तरं द्रष्टव्यः। सात्त्विके त्वभिनये नाट्यं प्रतिष्ठितम्। रसमयं हि नाट्यं रसे चान्तरङ्गः सात्त्विकस्तस्मात् स एवाभ्यर्हित इति तद्गतमेव वक्तव्यं पूर्वमभिधेयमित्याशयमशेषचिरन्तना आक्षेपपूर्वकं समादधति।

त्रिषूद्दिष्टेषु वक्तव्यं वागङ्गसत्त्वेषु नाट्यं प्रतिष्ठितमिति सोऽयमाक्षेपः। प्रतिसमाधानं तु यदि वागङ्गजमेव स्यात् प्रयत्नं विनापि सिद्धि स्यात्, वागङ्गसत्त्वजोऽसौ सत्त्वे च नाट्यं प्रतिष्ठितम्, सत्त्वं च मनस्समाधानजम्। तस्माद्भूयसा प्रयत्नेन विना (न) सिध्यतीति। एतत्तु चोद्यसममेवोत्तरं सत्त्वस्य हि प्रयत्नाधिक्यमुपयोगीति वाङ्गयोरुपादानमलमेवेति—अलमनेन ॥ १ ॥

प्रश्न होता है कि यद्यपि यह यत्न आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक त्रितयनिष्ठ है तथापि चतुर्थ को क्यों नहीं कहना चाहिए था? इस पर कहते हैं कि 'नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्'।

यहाँ 'यत्नस्तु' में 'तु' शब्द को सत्त्व शब्द के अनन्तर समझना चाहिए। सात्त्विक अभिनय में नाटच प्रतिष्ठित है, क्योंकि नाटच रसमय है और रस में सत्त्व अन्तरङ्ग है। इसलिए सत्त्व ही अभ्यर्हित है। अतः सत्त्वगत कहना चाहिए और पहिले कहना चाहिए, यहीं यहाँ का आशय है, ऐसा अशेष चिरन्तन आक्षेपपूर्वक सामाधान करते हैं।

वाणी, अङ्ग और सत्त्व इन तीनों में ही नाटच प्रतिष्ठित है, अन्य में नहीं, यही आक्षेप है, पूर्व में उद्दिष्ट है। इसका प्रतिसन्धान तो यदि वाणी और अङ्ग से अन्य हो तो बिना प्रयत्न के भी उसकी सिद्धि हो सकती है यह नाटच वाक्, अङ्ग और सत्त्व से जन्य है और सत्त्व में नाटच प्रतिष्ठित है और सत्त्व मनः समाधान से जन्य है अतः अधिक प्रयत्न के बिना सिद्ध नहीं होता है। वह तो चोद्य के समान ही उत्तर है। सत्त्व में अधिक प्रयत्न का उपयोग है अतः वाणी और अङ्ग में प्रयत्न का उपादान व्यर्थ है। अतः रहने दिया जाय ॥ १ ॥

---

१. ग. सत्त्वे।

सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।
समसत्त्वो भवेन्मध्यः सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः ॥ २ ॥

ननु कोऽत्रहेतुः सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितमित्याशङ्क्याह—

सत्त्वमिति सात्त्विकोऽभिनयः, तेन वागङ्गाभिनययोर्यत्नैकत्रैवाभिनये क्रमेण युगपद्वा प्रयुज्यते तत्र परे(रं ?) सात्त्विकस्यायद्वयापेक्षयाधिक्यं भवति। तत्प्रशस्यतमाभिनयक्रिया (ज्येष्ठा) भवति । सुष्ठु सम्यगभिमुखो भावं सौष्ठवं नीतो भवति रसपर्यन्तत्वात्प्रोतेरिति भावः ।

अथ सात्त्विकोऽन्यतुल्य एव, तदभिनयनं प्रशस्यं संपद्यते परमिति यावत् । यदि त्वितरापेक्षया सात्त्विको न्यूनस्तर्हि अभिनयक्रिया स्वरूपेणापूर्णा संपद्यत इत्यर्थः । सात्त्विकाभावे ह्यभिनयक्रियानामापि नोन्मीलति । अभिनयनं हि चित्तवृत्तिसाधारणतापत्तिप्राणसाक्षात्कारकल्पाध्यवसायसंपादनमिति, अत एवोक्तं सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितमिति ॥ २ ॥

अब प्रश्न होता है कि यहाँ हेतु क्या है कि सत्त्व में नाटच प्रतिष्ठित है। इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—सत्त्व के अतिरिक्त अभिनय का ज्येष्ठ नाम से अभिहित किया जाता है, समान रूप से जहाँ सत्त्व होता है वहाँ मध्य (मध्यम) अभिनय होता है और सत्त्वहीन अभिनय अधम कोटि का माना जाता है ॥ २॥

अभिनव—नाटच में सत्त्व अधिक होता है। सत्त्व का अर्थ है सात्त्विक अभिनय। अतः वाचिक और आङ्गिक अभिनयों में जहाँ एक ही अभिनय में में क्रमशः सात्त्विक अभिनय किया जाता है। वहाँ पर दो की अपेक्षा से एक साथ सात्त्विक अभिनय का आधिक्य होता है। इसलिए यहाँ अभिनय क्रिया ज्येष्ठ होती है अतः सुष्ठु अभिमुखी भाव को सौष्ठव को प्राप्त किया जाता है। क्योंकि रस पर्यन्त उसको प्रतोति होती है, यह भाव है।

सात्त्विक अभिनय भी अन्य के सदृश होता है। किन्तु सात्त्विक अभिनयन प्रशस्य होता है। यदि अन्य अभिनयों की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय न्यून है तो इसमें अभिनय क्रिया स्वरूपतः अपूर्ण होती है। सात्त्विक अभिनय के अभाव में अभिनय क्रिया का नाम भी उन्मीलिप्त नहीं होता है। अभिनयन क्रिया साक्षात्कार कल्प अध्यवसाय है जिसमें अभिनेय की चित्तवृत्तियों की साधारण-तापत्ति प्राण रूप है। इसलिए कहा है कि सत्त्व पर नाटच प्रतिष्ठित है ॥ २ ॥

अव्यक्तरूपं सत्त्वं हि विज्ञेयं भावसंश्रयम्[1]।
यथास्थानरसोपेतं रोमाञ्चास्राद्विभिर्गुणैः ॥ ३ ॥

अव्यक्तरूपमित्यादिकं प्रबन्धं श्रीशङ्कुकादय इत्थं नयन्ति—कस्मात् पुनः सत्त्वं प्रयत्नातिशयमपेक्षते । उच्यते रामाद्यनुकार्यगतं भावसंश्रयं तद्भावना-प्रकर्षजं रोमाञ्चादिसंपादकं यदान्तरं नाट्यस्य सत्त्वं तदव्यक्तं अस्फुटं केवलं रोमाञ्चादिभिर्गमकत्वाद्गुणभूतैर्विज्ञेयं, अन्यथा हि सुखाद्यभावे कुत एषामुद्भव इत्यहेतुकं स्यात्। तत्र सत्त्वं भावस्य स्थाने प्रसङ्गतो यो मुख्यो रसस्तेनोपेतं, रसेनानुकार्ये च प्रकृष्टेन यत्नेन ज्ञेयं सुखादि तस्य ये रोमाञ्चादयः कार्यास्तत्त-त्साध्यभावे यतः सत्त्वात्प्रवर्त्यन्ते तन्मयः प्रयोगः कथं प्रकृष्टयत्नमन्तरेण सिध्येदिति तात्पर्यम् ।

अनुवाद—सत्त्व अव्यक्त रूप होता है क्योंकि वह भाव का संश्रय (अधीन) होता है और भाव मनःस्थ होता है अतः वे अव्यक्त होते हैं। यह सत्त्व रोमाञ्च एवं अश्रु आदि गुणों के अनुसार रसों से युक्त होता है ॥ ३ ॥

अभिनव—'अव्यक्तरूपं सत्त्वं इत्यादि प्रबन्ध की व्याख्या श्रीशङ्कुक आदि इस प्रकार करते है—क्या कारण है कि सत्त्व प्रयत्नातिशय की अपेक्षा करता है ? इस पर कहते हैं कि रामादि अनुकार्य गत जो भावों का संश्रय है वह उन भावों की भावना के प्रकर्ष से जन्य, रोमाञ्चादि का सम्पादन जो आन्तर सत्त्व नाट्य में अव्यक्त (अस्फुट) है केवल रोमाञ्चादि उनके गमक होने से गुणभूत उन रोमाञ्चादि से उसको जानना चाहिए। क्योंकि सुखादि के अभाव में कारणों के विना उनका उद्भव कैसे होगा ? यदि कारण के विना उद्भव होगा तो अहेतुक होगा ? वहाँ भाव की सत्ता है, यह उचित है। अतः प्रसङ्ग से जो मुख्य है उससे उपेत है। रस के द्वारा अनुकार्य रामादि में प्रकृष्ट यत्न से ज्ञेय मुखादि है, उसके जो रोमाञ्चादि कार्य है वे साध्य भाव में सत्त्व से प्रवृत्त होते हैं तब तन्मय प्रयोग प्रकृष्ट यत्न के विना कैसे सिद्ध होगा ? यह अभिप्राय है।

---

१. ख. ज्ञेयं भावरसाश्रयम् । ग. ज्ञेयं नवरसाश्रयम् ।

न केवलं (प्रकृत) रोमाञ्चादावभिनये संपाद्ये नटस्य सत्त्वमुपयुज्यते यावदङ्गनानां येऽलङ्कारास्तेष्वपि। तथा हि ते तावत् कटककेयूरादिभ्योऽप्यभि विकारानयनेऽभिनयं (?) रूपलावण्यादिवत् स्तनकेशादिवच्च युवतिरियमिति प्रतीयते, न त्वभिनेयं तेषां किंचिदस्ति केवलमलङ्कारत्वमेषाम्।

न च प्रयोगाभिनिविष्टत्वाद्युवतेरपि प्रयोज्यास्ते प्रयोक्तुं शक्या मनस्समाधानमन्तरेण। तत्र मनसो देहवृत्तित्वात् समाधानं सत्त्वमुपचाराद्देहात्मकम्। देहे हि मनस्समाधातव्यम्, तत ईषद्विकारो भावः। स एव प्रौढतायां तदतिशये च हावो हेला च। तथा च भावः तत्र कटकादाविव हेम्नः स्थितिः। तत्र तु मदनानपेक्षो विकारो भावः येनाकामयमानापि तरुणी कामयमानेव लक्ष्यते, तस्यैव तु मदनापेक्षत्वेन प्रौढतायां हेलात्वमेव, यौवने क्रमादुपचीयमाने स्वात्मेन्द्रियमनःस्वास्थ्ये हावः हेला शरीरविकारः धात्वादिवैषम्यात्तु तदवसादे प्रविलय इति हेलातो भावयुक्तो भावतै (हावतै?) वेति नानपेक्षितहेत्वन्तरा यौवनकृताः शरीरविकारा अपि प्राधान्येन वक्त्रगात्रगता गुणा इव भावा इव नाभिनयाः।

जहाँ पर अभिनय में रोमाञ्चादि के सम्पाद्य होने पर वहाँ केवल नट में सत्त्व का उपयोग होता है, ऐसी बात नहीं है। जबकि नारियों में जो अलङ्कार है उसमें भी उसका उपयोग है। तथा हि वे कटक, केयूर आदि अलङ्कार अभिनय में सामाजिकों के अभिमुख रोमाञ्चादि विकारों के आनयन में युवति के रूप लावण्य आदि के समान स्तन-केशादि के सदृश प्रतीत होता है अलङ्कारों का अभिनय वहाँ कुछ भी नहीं है, केवल अलङ्कारत्व ही है।

युवति का प्रयोग में अभिनिवेश होने से उनके द्वारा उनका प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि मन को समाहित हुए बिना उनका प्रयोग शक्य नहीं है। मन चैतन्य विशिष्ट शरीर में रहता है। मन के समाधानरूप सत्त्व के उपचार से देहरूप कह देते हैं। शरीर के रहते ही मन का समाधान करना चाहिए, मन में जो ईषद् विकार है वह भाव है और उस विकार के प्रौढ़ होने पर हाव होता है और अतिशय होने पर हेला। अतः मन में भाव की वैसी स्थिति है जैसे कटक में सुवर्ण की स्थिति है। उनमें भी मदन की उपेक्षा के बिना भी उत्पन्न होने वाला विकार भाव है, जिससे कामयमान न होते हुए भी तरुणी कामयमान जैसी प्रतीत

किं त्वीषद्भिद्यमानैर्वागाद्यभिनयैर्मुखरागेण च सम्भवत्तया प्रतीता अप्रतीता अलङ्कारा उच्यन्ते । तदेतदुक्तमव्यक्तरूपमित्यादिना समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका (२२-११) इत्यन्तेन । एतेभ्यस्त्वङ्गजेभ्योऽन्ये शीलकृता इति स्वाभाविक दश लीलाद्याः सत्त्वबलेनैव प्रयोज्याः । अन्ये तु निसर्गजत्वेनायत्नजाः सप्त शोभाद्या उक्ताः (२२-२३) । तत्रैते शोभाद्याः स्त्रीगताः पुरुषगताश्चान्ये । सर्वे चैते अतत्स्वभावेनापि नटेन सत्त्वबलात्प्रयोक्तव्या इति बहुप्रद(र्शनविलसितं) व्याख्यातं न ग्रन्थज्ञेभ्यो रोचते ।

होती है। काम की अपेक्षा से होने वाला वही विकार प्रौढ़ होने पर हेला है। यौवन के क्रमशः उपचीयमान होने पर अपनी आत्मा इन्द्रिय, मन के स्वस्थ होने पर हाव, हेला ये शरीर में विकार है और धात्वादि के वैषम्य से मन में अवसाद में उनका प्रविलय होना है। इस प्रकार अवसाद हो जाने पर हेला से युक्त, हाव और हाव से युक्त भाव हो रहता है । इस प्रकार हेत्वन्तर की अपेक्षा न करने वाले ये शरीर विकार यौवन में होते हैं। यद्यपि ये मुख्यतया शरीर के विकार हैं। तथापि केवल मुखगत राग की तरह, गुण की तरह और भाव की तरह है, अभिनय नहीं है।

किन्तु ईषत् भिन्न होने वाले वागादि अभिनय और मुखराग से सम्भव होने के कारण प्रतीत अथवा अप्रतीत विकार अलङ्कार कहलाते हैं। इसी को **'अव्यक्तरूपं सत्त्वं'** इत्यादि से लेकर 'समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका' (२२।११) यहाँ तक कहा है। इन शरीर विकारों से अन्य शीलकृत दश स्वाभाविक लीलादि का प्रयोग सत्त्व के बल से ही प्रयुक्त करना चाहिए। इन शीलादि से अन्य शोभादि सात भाव स्वभावज होने से अयत्नजन्य कहे गये है। वहाँ ये शोभादि भाव स्त्रियों में अन्य है और पुरुषों में अन्य है। इन सबका प्रयोग अनुकार्यादि से भिन्न स्वभाव वाले नर को सत्त्व के बल से करना चाहिए, इत्यादि। बहुत प्रदर्शन से विलसित व्याख्यान ग्रन्थ के जानकारों को रुचिकर नहीं है।

तथा हि—किमिदमनुकार्यंगतं ? कवेः शिक्षार्थमुपदिश्यते, तथानुकर्तृगतं नटस्य (वा) ? प्रथमस्तावद्यदि पक्षस्तवव्यक्तरूपं सत्त्वमिति सत्त्वस्य कथं प्रयोक्तरि स्थितिः, सत्त्वाद्भावः समुत्थित इति ह्युक्तम्। नटे च सत्त्वं अनुकार्ये च भाव इति किं केन संगच्छते। अनुकार्ये च प्रस्तुते प्रागल्भ्यमाधुर्यं परत्र अनुकर्तृगते उच्येते इति किमेतच्च, प्रविलय क्रमेण भावहावहेलानां परस्परकार्यंकरत्वं प्रथमं तावद्व्याख्यातम्, तदप्यसत् । न हि प्रतिसंहारे कारणता कार्यस्य व्यपदिश्यते । न हि पृथिव्यादिभूतानि प्रविलयतन्मात्राणां कारणानि, तानि चाहंकारस्य, सोऽपि च बुद्धेः, सा च प्रकृतेः, प्रकारो वा तदहङ्करणमिति व्यवहारः । प्रति (संहार इव) प्रकृतेः कार्यंदशायामपि सम्भवान्न पूर्वः प्रादुर्भावः तत्कथं कार्यता तदहंकारादेः कारणत्वमेतदिति चेत् सामानमेतदिहापि ।

अब प्रश्न करते हैं कि क्या कवि को शिक्षा के लिए अनुकार्य में इसका उपदेश करते हैं ? अथवा नट को शिक्षा देने के लिए अनुकर्त्ता में उपदेश देते हैं ? इसमें यदि प्रथम पक्ष है तो जिस सत्त्व का अव्यक्त रूप कहा गया है, उस सत्त्व की स्थिति प्रयोक्ता में कैसे ? क्योंकि सत्त्व से भाव का उत्त्थान होता है, ऐसा कहा गया है। तब नट में सत्त्व और अनुकार्य में भाव है यह कैसे ? क्या यह संगत होगा ? एक बात और भी है। प्रस्तुत अनुकार्य में प्रागल्भ्य और माधुर्य रहने चाहिए। किन्तु कहते हैं कि अन्यत्र अनुकर्त्ता में ? यह क्या है ? और प्रविलय क्रम से भाव, हाव और हेला में परस्पर कार्यकरत्व पहिले कहा गया है, वह भो असत् है। क्योंकि प्रविलय क्रम में कार्य को कारणता का व्यपदेश किया जाता है। क्योंकि पृथिव्यादि पञ्च महाभूतों का प्रविलय सूक्ष्म पृथ्वी आदि तन्मात्रा में होता है। अतः भूत तन्मात्राओं के कारण है। तन्मात्राएँ अहङ्कार के कारण है, अहङ्कार बुद्धि का और बुद्धि प्रकृति का कारण अथवा जो प्रकार है वह अहङ्कार है, ऐसा व्यवहार नहीं होता। इस प्रकार प्रतिसंहार के समान कार्य की दशा में भी सम्भव होने पर भी प्रकृति का प्रथम प्रादुर्भाव नहीं होता है प्रकृति तो अनादि है तो वह कार्य कैसे ? अहङ्करादि कारण कैसे ? इस प्रकार दोनों में समान है।

यदि हि भावो हावतां प्राप्तः सोऽपि हेलात्वं च ततो हेला विलीयते। आख्यास्था दोषात् तदा हावः स्थित एव, न हेलया हेला परं कार्यंकारण भावव्यवहारस्यावकाशः।

किं चैते देहविकाराः प्रयत्नेन निर्वर्त्या इति (साक्षिण इति) यदुच्यते तस्मिन्नाट्यसंसारे नाम तदस्ति यत्प्रयत्नेन निर्वर्त्या इति सात्त्विकाद्वैतम्।

किं च विभावानुभावव्यभिचारिव्यतिरिक्तमपि यद्यत्रोपयोगि सम्भवति तद्वृथैव प्रतिज्ञातं तत्संयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति, गीतातोद्यरङ्गादिबलेनेदं व्यस्थितं सामान्याभिनय इत्याभिधानात् अनभिनयवत्त्वे चास्य सत्त्वनिर्वर्त्यस्यापि को नाट्ये उपयोगः, कथं च सामान्याभिनयेनेत्यपरामृष्टाभिधानम्। एतत्सर्वं मुनिमताननुप्रविष्टैः परं श्रद्धीयते नामेत्यास्तां तावत्।

यदि यह कहा जाय कि भाव-हावता को प्राप्त हो गया और वह हाव भी हेलात्व को प्राप्त हो जाता है और तब हेला का विलय हो जाता है, ऐसो आस्था दोष है तो हाव का लय हुआ ही नहीं, अतः हाव स्थित है। हेला से हेला का उद्भव नहीं है। अर्थात् पर में कार्य-कारण भाव का व्यवहार होने के लिए अवकाश नहीं है।

और भी यह जो देह विकार प्रयत्न से निर्वर्त्य है, ऐसा जो कहते हैं संसार में वह नाटच का नाम है। अतः जो प्रयत्न से निर्वत्य है वह सात्त्विकाद्वैत है।

और भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव से जो व्यतिरिक्त है जो जहाँ उपयोगी संभव है। तो विभावादि के संयोग से रस-निष्पत्ति की प्रतिज्ञा करना व्यर्थ है। वह सामान्याभिनय नृत्य, गीत, वाद्य तथा रङ्गादि के बल से व्यवस्थित है। इस प्रकार कहने से अभिनय से रहित होने पर सत्त्वनिर्वर्त्य का नाटच में क्या उपयोग है? और कैसे ही परामर्श किये बिना ही सामान्याभिनय के द्वारा ऐसा कथन है। यह सब मुनि के मत में प्रवेश न करने वाले के लिए भले ही श्रद्धेय हो, किन्तु हमारे लिए नहीं है। अतः रहने दिया जाय।

प्रकृतव्याख्यानमुच्यते—इहोक्तं सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितं तेन सात्त्विकभावानुनयो वक्तव्यः। तस्य च किंचिदुक्तमिति दर्शयति।

अव्यक्तरूपं सत्त्वं हि विज्ञेयमिति। इह चित्तवृत्तिरेव संवेदनभूमौ संक्रान्ता देहमपि व्याप्नोति। सैव च सत्त्वमित्युच्यते। तत्र चाव्यक्तं संवित्प्राणभूमिद्वयानिपतितं यत्सत्त्वं तद्भावाध्यायसंश्रयत्वेनैव विज्ञेयम्।

तस्य च ये गुणा देहपर्यन्ततां प्राप्ता घर्मरोमाञ्चादयः तेऽपि तत्रैवोक्ताः किंचित्। यथास्थानमिति यस्य रसस्य यत् स्थानं तद्यथा शृङ्गारस्य (उत्तमौ) स्त्रीपुंसौ, रौद्रस्य रक्षोदानवादिः, भयानकस्याधमप्रकृतिः, तदनतिक्रमेण रसेषूपेतं सम्बद्धं तत्सत्त्वम्। भावशब्देनात्र भावाध्यायः (उक्तः)।

अब प्रकृत के व्याख्यान को कहते हैं कि यहाँ पर जो कहा गया है कि सत्त्व पर नाट्य प्रतिष्ठित है, इससे सात्त्विक भावों का अनुनय वक्तव्य है, उसके विषय में कुछ कहा है उसको दिखाते हैं।

'अव्यक्त रूप सत्त्व को जानना चाहिए'। यहाँ पर चित्तवृत्ति संवेदन भूमि में सङ्क्रान्त शरीर को भी व्याप्त कर लेती है, अतः वह चित्तवृत्ति ही सत्त्व है, ऐसा कहते हैं। उसमें अव्यक्त संवित् भूमि में असङ्क्रान्त शरीर को भी व्याप्त कर लेती है, अतः वह चित्तवृत्तियों साधारणीकरण प्राण भूमि में अप्राप्त जो सत्त्व है उसे सप्तम अध्याय भावाध्याय के संश्रय से जानना चाहिए।

उसके जो गुण धर्म, रोमाञ्च आदि देह प्रर्यन्त तक प्राप्त है वह भी वहीं पर कुछ कहा है। 'यथास्थानम्' अर्थात् जिस रस का जो स्थान है जैसे शृङ्गाररस के उत्तम स्थान स्त्री और पुरुष है, रौद्र रस के स्थान राक्षस और दानव आदि है, भयानक का अधम प्रकृति है। इनको अतिक्रमण किये बिना जो रसों में उपेत है वह सत्त्व है। भावशब्द से यहाँ भावाध्याय में निर्दिष्ट भाव है।

अलङ्कारास्तु [1]नाट्यज्ञैर्ज्ञेया भावरसाश्रयाः[2] ।
यौवनेऽभ्यधिकाः[3] स्त्रीणां विकारा वक्त्रगात्रजाः ॥ ४ ॥

एतदुक्तं भवति—चित्तवृत्तिरूपं यत्सत्त्वं तद्भूतकायसंक्रान्तप्राणदेहधर्मतावशाद् भवदपि भावाध्याये रसाध्याये च वितत्य निरूपितमिति पुनः किं तदभिधानेन ॥ ३ ॥

किं तस्य भूतकार्यदेहधर्मतावशात्सम्भूतसत्त्वस्य रूपं वक्तव्यमित्याह अलङ्कारास्तु नाट्यज्ञैरित्यादि ।

अयमभिप्रायः—संवेदनरूपात्प्रसृतं यत्सत्त्वं तद्विचारितम् । अन्यत्तु देहधर्मत्वेनैव स्थितं सात्त्विकं, यतः सात्त्विकेष्वेवोत्तमेषु दृश्यते, तत्र स्त्रीणामुत्तमत्व श्रृङ्गाररसपर्यंतमेव, पुरुषाणां तु वीररसविश्रान्तम् । शान्तस्तु प्रधानत्वेन न प्रयोगार्हं इत्युक्तप्रायम् ।

यहाँ यह कहा गया है कि चित्तवृत्ति रूप जो सत्त्व है वह 'पञ्चमहाभूतों के कार्य में सङ्क्रान्त शरीर का धर्म होने से उत्पन्न होता है' इत्यादि का विस्तार से भावाध्याय और रसाध्याय में कह दिया है, तो फिर कहने की क्या आवश्यकता है ? ॥ ३ ॥

अभिनव—यह शरीर पञ्चभूतों का कार्य है और इसके धर्म रोमाञ्चादि सात्त्विकभाव है। अतः पञ्चभूतों के कार्य शरीर के समतावश से सम्भूत सत्त्व का क्या रूप है ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—नाट्य के ज्ञाता लोगों को रस और भावों के अनुसार अलङ्कारों को समझना चाहिए। स्त्रियों के वाचिक एवं आङ्गिक विकार यौवन में अधिक होते हैं ॥ ४ ॥

अभिनव—यहाँ पर अभिप्राय यह है कि संवेदन रूप से प्रसृत जो सत्त्व है उसका विचार किया और दूसरा जो सात्त्विक है वह देह के धर्म के रूप में स्थित है; क्योंकि वह उत्तम सात्त्विको में दिखाई देता है। वहाँ स्त्रियों में उसकी उत्तमता श्रृङ्गाररस पर्यन्त ही है और पुरुषों में उत्तमता वीररस में विश्रान्त है। शान्तरस का प्रयोग प्रधान रूप से करने योग्य है। यह सब कुछ कहा जा चुका है।

---

१. ग. सत्त्वस्था । २. ग. समाश्रयाः । ख. नाट्यरसाश्रयाः ।
३. ख. ह्यधिकाः ।

स्त्रीगतेन श्रृङ्गारेण पुरुषनिष्ठेन वीरेण च सार्वलौकिकः पुमर्थो व्याप्तः। न च सत्त्वमयमुत्तमस्त्रीरूपं विमुच्यान्यत्रामी चेष्टालङ्कारा विनिवेशं लभन्ते सात्त्विकास्तावद्राजसतामसशरीरेष्वसंभवात्। चण्डालीनामपि रूपलावण्यसम्पदो दृश्यन्ते।

ननु चेष्टालङ्कारास्तासामपि भवन्त उत्तमतामेव सूचयन्ति स्ववर्गापेक्षया वा सम्पद्भ्रंशादिना। एतदुक्तं भट्टतोतेन—न चालङ्कृतीनामत्र लक्षणं महदाश्रयमिति—ते च दृष्टाः सन्तः उत्तमेयं श्रृङ्गारसमुचितेति विभावादिषु विवेकविहीनं व्यभिचारिरूपदशान्तरसंस्पर्शशून्यं विशेषविरहितमेव सामान्यरूपं श्रृङ्गारमभिनयन्ति, सामान्याभिनया न तु लावण्यादिवदनभिनेया। एवं शरीरविकारा अनुभावा एव तेन विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादित्येवमेवैतत्। एवं पुरुषगता अपि शोभादय उत्साहप्रकृतिरयमित्येतावन्मात्रं गमयन्तः सामान्याभिनया एव।

स्त्रीगत श्रृङ्गार से और पुरुषनिष्ठ वीररस से सार्वलौकिक पुमर्थ (पुरुषार्थ) व्याप्त है। सत्त्वमय उत्तम स्त्रीरूप को छोड़कर अन्यत्र ये चेष्टालङ्कार विनिवेश को प्राप्त कर सकते हैं। सात्त्विक भावों का राजस और तामस शरीरों में अवकाश प्राप्त करना असम्भव है। रूप और लावण्यादि की सम्पत्तियाँ चाण्डाली स्त्रियों में भी दिखाई देती है।

ये चेष्टालङ्कार उनमें भी होते हुए अपने वर्ग की अपेक्षा से उत्तमता को सूचित करते हैं अथवा सम्पद्भ्रंशादि से। भट्टतौत ने ऐसा कहा है किसी महान् के आश्रय को लेकर अलङ्कारों का लक्षण यहाँ नहीं किया है। ये चेष्टालङ्कार जिस स्त्री में दिखाई पड़ते हैं उसमें यह भाव हो जाता है कि यह उत्तमा है, श्रृङ्गार के योग्य है। विभावादि के सुन्दर विवेक से युक्त व्यभिचारी भाव की भिन्न दशा के संस्पर्श से शून्य व्यभिचारी नहीं हो गया है। अतः विशेषता रहित सामान्य रूप श्रृङ्गार का अभिनय करते हैं किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि यह सामान्याभिनय रूप लावण्यादि के समान अनभिनेय है। इस प्रकार विभावानुभावव्यभिचारि भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है यह इसी प्रकार है। अतः पुरुषगत शोभादि इस बात की प्रतीति करा देते हैं कि यह पुरुष उत्तम प्रकृति हैं अतः यह सामान्याभिनय है।

किं च यत्किंचिदङ्गनानां शृङ्गारोचितं चेष्टितमभिनीयते तत्रैव चेष्टालङ्कारा अवश्यमभिनेया इति सामान्यवत्सर्वावस्थानुयायित्वेनाभिनीयत इति (च) सामान्याभिनया एव प्रधानपुरुषस्य शोभादयः, तथैते वागङ्गसत्त्वाहार्याणि स्वभेदसहितानि यथासम्भवं संभूयाभिप्रविष्टानि यथा किलिकिञ्चिते विच्छित्तौ विभ्रमे चेति सामान्याभिनया वागङ्गाहार्ययोगेऽपि च सत्त्वप्रधानातया सात्त्विका इत्युक्ताः ।

एवं तैरेव सामान्याभिनयैः प्रधानप्रमदापुरुषद्वारेण विश्वमेव व्याप्तम् । ते चात्राध्याये वक्तव्याः, तदाह—अलङ्कारास्त्विति ।

तुर्व्यतिरेके, अन्ये भावाध्याय एवोक्ताः, एते तु वक्तव्याः ते तु तत्र नोक्ताः । यत एते केवलमलंकारा देहमात्रनिष्ठाः, न तु चित्तवृत्तिरूपाः । भावसंश्रया इति रतिभावमात्रमभिनयन्तीत्यर्थः । ते हि यौवने उद्रिक्ता दृश्यन्ते बाल्ये त्वनुद्भिन्ना वार्धके तिरोभूताः । यदाह—

और भी बात है अङ्गनाओं के जिस किसी भी शृङ्गारोचित चेष्टित का अभिनय किया जाता है वहाँ चेष्टालङ्कार अवश्य अभिनेय है। अतः सामान्य की तरह सभी अवस्थाओं में अनुयायी रूप से अभिनय किया जाता है। अतः शोभादि प्रधान पुरुष के सामान्याभिनय हैं। तथा ये वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय अपने भेदों के साथ यथासम्भव मिलकर ऐसे अनुप्रविष्ट हो जाते है। अतः वाक्, अङ्ग एवं आहार्यों के योग में भी सत्त्व की प्रधानता होने से सामान्याभिनय सात्त्विक है, ऐसा कहा है।

इस प्रकार सामान्याभिनयों से प्रधान प्रमदा एवं पुरुष के द्वारा विश्व ही व्याप्त है। अतः इसे यहाँ इस अध्याय में कहना है। अतः कहते हैं कि अलङ्कारास्तु।

यहाँ पर 'तु' का अर्थ व्यतिरेक है। अन्यों को भावाध्याय में कह दिया है। इनको तो यहाँ कहना है, क्योंकि इनको तो वहाँ नहीं कहा है। क्योंकि ये अलङ्कार केवल शरीरमात्रनिष्ठ है, अतः चित्तवृत्ति रूप नहीं है। भावरसाश्रया रतिभाव का केवल अभिनय करते हैं। ये रति आदि केवल यौवन में उद्रिक्त दिखाई देते हैं बाल्यावस्था में अनुद्भिन्न रहते हैं और वार्द्धक्य में तिरोहित हो जाते हैं। जैसाकि कहते हैं—

आदौ त्रयोऽङ्गजास्तेषां[1] दश स्वाभाविकाः परे[2] ।
अयत्नजाः [3]पुनः सप्त रसभावोपबृंहिताः ॥ ५ ॥

यावन्त एते तरुणीजनस्य भावाः समं कुट्टमितादयोऽपि ।
रात्रावदृश्यानिव तान्घटादीन्कामप्रदीपः प्रकटीकरोति ॥ इति ।

वक्त्रगात्रजा इति देहविकारमात्ररूपा एव परं न हि यथा बाष्पादीनामन्तःप्राणभुवि कण्ठरोधनादिरूपं लक्ष्यते, तथा चेष्टालङ्काराणाम् वक्त्रगात्राणि वक्त्रं प्राधान्यात् पुनरुपात्तम् ॥ ४ ॥

तत्र देहविकाराः केचन क्रियात्मका अपि ते च प्राग्जन्माभ्यन्तरिता भावसंस्कारमात्रेण सत्त्वोद्बुद्धेन देहमात्रे सति भवन्ति, त एवाङ्गजा उच्यन्ते, तथा भावो हावो हेला च । अन्ये स्वद्यतनजन्मसमुचितविशिष्टविभावानुप्रवेशस्फुटीभवद्रतिभावानुविद्धे देहे परिस्फुरन्ति । ते स्वाभाविकाः स्वस्माद्रतिभावाद् हृदयगोचरीभूताद् भवन्तीति तथा कस्याश्चित् कश्चिदेव स्वभावबलाद् भवति, अन्यस्या अन्यः, कस्याश्चित् द्वौ त्रय इत्यादि, अतोऽपि स्वाभाविकाः ।

"जितने ये युवतियों के कुट्टमित आदि सभी भाव है उनको काम प्रदीप रात्रि में अदृश्य घटादि के समान प्रकट कर देता है ।"

वक्त्रगात्रजा अर्थात् वे केवल शरोर के विकारमात्र रूप ही है किन्तु वाष्पादि के जैसे अन्तःप्राणभूमि में कण्ठावरोध रूप लक्षित होता है। वैसे चेष्टालङ्कारों के वक्त्र-गात्र लक्षित नहीं होते। अव प्रश्न होता है कि क्या वक्त्र से भिन्न है जो वक्त्र को अलग कहा है और गात्र को भी अलग कहा है? इस पर कहते हैं कि वक्त्र की प्रधानता के लिए अलग से उपादान किया है ॥ ४ ॥

अनुवाद—इनमें प्रथम अङ्गज अर्थात् आङ्गिक अलङ्कार तीन प्रकार के होते हैं। बाद में ये स्वाभावज अलङ्कार दस प्रकार के होते हैं, पुनः बिना प्रयत्न के होने वाले अयत्नज अलङ्कार सात प्रकार के होते हैं। ये रस और भाव से उपबृंहित हैं ॥ ५ ॥

अभिनव—यहाँ कुछ शरोर विकार क्रियात्मक होते हुए प्राग्जन्म से अभ्यन्तरित केवल संस्कार रूप से उद्बुद्ध सत्त्व से देह में हो होते हैं। ये ही अङ्गज हाव, भाव और हेला कहलाते हैं? इनके अतिरिक्त अद्यतन जन्म में समुचित विशिष्ट नायक-नायिका रूप विभाव के सम्बन्ध से स्फुट होने वाले

१. ख. प्रोक्ता । २. ग. तथा । ३. ख. ग. तथा ।

भावहावहेलास्तु सर्वा एव सर्वास्वेव सत्त्वाधिकासूत्तमाङ्गनासु भवन्ति। तथा शोभादयः सप्त । एवमङ्गजाः स्वाभाविकाश्च क्रियाजन्मानः, अन्ते तु गुणस्वभावाः शोभादयः ते चायत्नजाः । यत्नजाताः क्रियात्मका उच्यन्ते, (इच्छातो) यत्नस्ततो देहक्रियेति हि पदार्थविदः । ततोऽन्येऽयत्नजाताः । तदेतदाह—आदौ त्रयोऽङ्गजा इति ।

तेषामलङ्काराणां मध्ये । आदाविति प्राच्यवासनानुविद्धदेहमात्र-प्रभवित्वात् पूर्वमेव भवन्तीति यावत् । भावोपबृंहिता इत्युभयशेषः ।

स्वाभाविका अयत्नजा स्वरतिभावेन प्राणिता भवन्ति । पुनरिति सत्त्वानां, पुस्तचित्रालेख्यालिखितानामेव नैते भवन्ति ॥ ५ ॥

रतिभाव से अनुविद्ध शरीर में परिस्फुरित होते हैं वे स्वाभाविक है, क्योंकि हृदय में गोचरीभूत अपने रतिभाव से होते हैं। अतः किसी नायिका का कोई विभाव होता है और दूसरी का दूसरा विभाव होता है, किसी किसी नायिका के दो या तीन नायक होते हैं, ये स्वभाव बश से होते हैं अतः स्वाभाविक हैं।

भाव, हाव और हेला ये सभी हो सत्त्वाधिक सभी अन्य अङ्गनाओं में होते हैं उसी प्रकार शोभा आदि सात होते हैं । इस प्रकार अङ्गज और स्वाभाबिक भाव क्रिया से उत्पन्न होते हैं। गुण स्वरूप शोभादि तो इनसे अन्य है अतः अयत्नज होते हैं और जो यत्न से होते हैं वे क्रियात्मक है। पहले ज्ञान होता है, तब इच्छा होती है, इच्छा से यत्न और यत्न से देहक्रिया होती है। ऐसा पदार्थवेत्ता कहते हैं। इनसे अन्य अयत्नज है। इसीलिए कहते हैं कि प्रारम्भ के तीन अङ्गज है।

इन अलङ्कारों के मध्य में 'आदौ' यह कहने का अभिप्राय है कि प्राच्य वासना से अनुविद्ध शरीर मात्र से प्रभाव होने से पहिले ही होते हैं, रस एवं भावों के उपबृंहण से होते हैं। इतना अंश उभयत्र अवशिष्ट है किन्तु अन्वय दोनों में होता है।

स्वाभाविक का अर्थ है बिना यत्न के होने वाला । ये अपने रति से अनुप्राणित होते हैं। 'पुनः...' के कहने का अभिप्राय है कि सत्त्वों के ही थे विकार होते हैं। पुस्त, चित्र, आलेख्य और लिखित ये नहीं होते ॥ ५ ॥

[1]देहात्मकं भवेत्सत्त्वं सत्त्वादभावः समुत्थितः ।
भावात्समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता ॥ ६ ॥

[2]हेला हावश्च भावश्च परस्परसमुत्थिताः ।
सत्त्वभेदे भवन्त्येते शरीरे प्रकृतिस्थिताः ॥ ७ ॥

तत्र त्रयाणां तावदुपक्षेपकर्तृपीठबन्धमाह—देहात्मकं भवेत्सत्त्वमिति ।

शरीरस्वभावं तावत्सत्त्वं संभाव्यते उत्तमशरीरतां प्राप्तमित्यर्थः। ततो भावः ततोऽपि हावः तस्मादपि हेला । एवं तीव्रतरसत्त्वे देह एव । यदा तु तथाविद्धं सत्त्वं न भवति तदा प्राक्तनरतिवासनोत्थम् ।

अत्र सहकार्यन्तरमपेक्षणीयं वर्तत इति दर्शयति—

हेला हावश्च भावश्च परस्परसमुत्थिताः ।
सत्त्वभेदे भवन्त्येते शरीरे प्रकृतिस्थिताः ॥ इति ॥

'त्रयोऽङ्गजा' मे कथित उपक्रमकर्तृक पीठबन्ध को कहते हैं—

अनुवाद—सत्त्व देहात्मक होता है, सत्त्व से भाव का समुत्थान होता है, भाव से हाव का समुत्थान होता है और हाव से हेला का समुत्थान होता ॥ ६ ॥

अभिनव—शरीर स्वभाव सत्त्व है। सम्भावना करते हैं कि उत्तम शरीर को प्राप्त हुआ है। सत्त्व से भाव, भाव से हाव और हाव से हेला। इस प्रकार तीव्रतर सत्त्व वाले शरीर में ही ये होते हैं और जब इस प्रकार आविद्ध सत्त्व नहीं होते तो प्राक्तन रतिवासना से उत्त्थित सत्त्व होता है।

यहाँ पर भिन्न-भिन्न सहकारी की उपेक्षा होती है, इस बात को दिखाते हैं—

अनुवाद—ये हाव, भाव और हेला परस्पर एक दूसरे से समुत्त्थित होते हैं। क्योंकि शरीर के प्रकृति में स्थित ये सत्त्व के भेद होने से होते हैं ॥ ७॥

---

१. इतः प्रभृति श्लोकपञ्चकस्य पाठक्रमो विभिन्नपुस्तकेषु भिन्नतया दृश्यते ।

२. ख. ग. च भावो हावश्च हेला च ।

वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥ ८ ॥

एकश्चशब्दोऽपिशब्दार्थ, अपरः समुच्चये। प्रत्येकं हि समुच्चये द्योत्ये तृतीयोऽपि चः पठितव्यः स्यात्। तदयमर्थः—प्रकृतिस्थिताः देहस्वभावमात्रापेक्षा अप्येते परस्परसमुत्थिता भवन्ति। तथा हि—कुमारीशरीरे प्रौढतमकुमार्यन्तरगतहेलावलोकने सति हावोद्भवो भावश्चेदुल्लासितपूर्वः, अन्यथा हि भावस्यैवोद्भवः। एवं हावेऽपि दृष्टे भावो हेला वा। यदा तु हावावस्थोद्भिन्ना पूर्वं परत्र च हेला दृश्यते तदा हेलातोऽपि हेला। एवं हावाद्धावो भावाद्भाव इति च वाच्यम्। एवं परकीयभावादिश्रवणात् तथाविधेयाभिधेयरमणीयकाव्याकर्णनादेरपि हेलादीनां प्रबोधो भवतीति मन्तव्यम्। एतदन्योन्यसमुत्थितत्वम्।

ननु यद्येते प्रकृतिस्थितास्तत एवाङ्गजास्तत्किमन्यापेक्षणेनेत्याह—वागङ्गेत्यादिना।

अभिनव—यहाँ पर एक 'च' शब्द 'अपि' शब्द के अर्थ में है और 'भावश्च' में दूसरा 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है। प्रत्येक 'च' से यदि समुच्चय द्योत्य है तो तीसरे 'च' का पढ़ना भी आवश्यक हो जाता। अतः इसका यह अर्थ है कि प्रकृति में स्थित ये शरीर के स्वभाव मात्र को अपेक्षा करते हुए भी परस्पर से समुत्थित होते हैं। जैसे कुमारी के शरीर में यदि अन्य प्रौढ़ कुमारी के हेला के देख लेने पर हेला का उद्भव होता है। अन्यथाभाव का ही उद्भव होता है। इस प्रकार हाव देखने पर भाव अथवा हेला उत्पन्न होती है। यदि पहले हाव की अवस्था उत्पन्न हुई दिखाई दे और बाद में हेला दिखाई दे तो हेला से भी हेला का उद्गम होता है। जब हेला से हेला होती है तो हाव से हाव और भाव से भाव उत्पन्न होता है, ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार परकीय भावादि के श्रवण से तथा विधेयभूत अभिधेय से रमणीय काव्य के श्रवण से हेलादि का प्रबोध होता है। ऐसा समझना चाहिए। यही इसमें परस्पर समुत्थितत्त्व है ॥ ७ ॥

अब प्रश्न है कि यदि ये प्रकृति में स्थित है, अतः अङ्गज है। तो अन्य की अपेक्षा करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार कहते हैं—

अनुवाद—वाणी, अङ्ग, मुखराग तथा सत्त्व के अभिनय से कवि के अन्तर्गत भावों की भावना कराने वाले के कारण को 'भाव' कहते हैं ॥ ८ ॥

भावस्यातिकृतं सत्त्वं व्यतिरिक्तं स्वयोनिषु ।
नैकावस्थान्तरकृतं [1]भावं तमिह निर्दिशेत् ॥ ९ ॥

वागङ्गमुखरागेणेत्यादिपाठः परं भावाध्यायश्लोको नास्य तुल्योऽर्थं-स्त्वन्य एव, न तु श्रीशङ्कुकेन एकार्थं मन्तव्यम् । एवं चित्तवृत्तिलक्षणं देहधर्मस्येति सर्वसंगतम् । तस्मादयमर्थः– वागङ्गमुखरागैः सत्त्वेन च लक्षितो भावः वागङ्गसत्त्वविशेष एव बालिकाया भाग इत्युच्यत इत्यर्थः । किमपि विशेषो नेत्याह । किं त्वन्तर्गतं वासनात्मतया वर्तमानं रसाख्यं भावं भावयन्नुपयन् किं सर्वस्य नेत्याह—कवेः सूक्ष्मसूक्ष्मानपि योऽर्थान् पश्यति तस्य सहृदयस्येत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—उत्तमाधमरूपे कुमारीहितये व्यवहरति (एकायाः) वाक् स्पन्दते चक्षुरादिव्यापारः क्रीडनकावहारखेदजनितमुखवैवर्ण्यं बाष्पादि च पश्यतः हृदयस्य भवति तावद्विशेषोल्लासिनी अभिनयजनितेवानुमातृरूपा अपि तु विशेषाध्यवसायिनी मतिः, महतीयं काचिन्नायिका भविष्यतीति । तथाविधं यद्रागादेरान्तररतिवासनासद्भावसमुपनतं किंचिद्विशिष्टरूपत्वं स देहविकारविशेषो भावः । चशब्द एक इवशब्दार्थे, अभिनयतुल्यो वागादिभिर्लक्षितो भाव इत्यर्थः ॥ ८-९ ॥

अनुवाद—भाव का अतिरेक सत्त्व है जो अपने कारणों में व्यतिरिक्त हैं और जो भिन्न अवस्थाओं से किया जाता है उसे 'नाटच' में 'भाव' कहना चाहिए ॥ ९ ॥

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि यहाँ पर 'वागङ्गमुखरागेण' इस प्रकार पाठ है किन्तु भावाध्याय में पठित श्लोक इसके तुल्य नहीं है। अतः अर्थ भी अन्य है। शङ्कुक के साथ एकार्थ नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार चित्तवृत्तिलक्षण शरीर भाव का धर्म है, यह सर्व सम्मत है। अतः यह अर्थ है कि वाक्, अङ्ग और मुखराग तथा सत्त्व से लक्षित होने वाला भाव वाक्, अङ्ग, मुखराग और सत्त्व विशेष ही बालिका का भाव कहा जाता है। कुछ भी विशेष नहीं है, यह कहते हैं किन्तु वासनारूप में अन्तःकरण में विद्यमान रस-भाव की भावना करने वाला क्या सबके सन्मुख नहीं है ? कहते हैं कि कवि के सूक्ष्मभूत अर्थों को जो भावना करता है, उस सहृदय का है।

1. ख. ग. हावं ।

तत्राक्षिभ्रूविकाराढ्यः शृङ्गाराकारसूचकः[1]।
सग्रीवारेचको ज्ञेयो हावः[2] स्थितसमुत्थितः ॥ १० ॥

[3]यो वै हावः स एवैषा शृङ्गाररससंभवा।
समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका ॥ ११ ॥

तत्रेति तत्पुरुष एव उत्तमाङ्गना पात्रलक्षणेन चोद्भ्रूतारकचिबुकग्रीवादेः सातिशयो विकाररूपो धर्मः, अत एव शृङ्गारोचितमाकारं सहृदयासहृदयसर्वजनहृदयं सूचयतीति। हावः—एष हि स्वचित्तवृत्तिं परत्र जुह्वतीं ददतीं तां कुमारीं हावयति। स्थितसमुत्थित इति स्थितः स्वयं समुत्थितः स्वतः उद्भिद्योद्भिद्य विश्राम्यन् हावः, स तु प्रसरणैकधर्मकः, तथा हि हेला स्यात्, अत एवायं सुकुमारपरिकरसब्रह्मचारीति दर्शितम्।

यह कहा जाता है कि कहीं पर उत्तम और मध्यम दो कन्याएँ व्यवहार करते समय एक के कथन को सुनकर, चक्षुरादि व्यापार एवं क्रीड़जनक के अवहरण, खेद से जनित मुख-वैवर्ण्य तथा आँसू आदि को देखने वाले सहृदय की विशेषता से उल्लसित अभिनय से जनित अनुमातृ रूपा विशेष का अध्यवसाय करने वाली बुद्धि होती है कि यह कन्या कोई बहुत बड़ी नायिका होगी ? इस प्रकार जो वाक् आदि के आन्तरिक रति वासना के सद्भाव से कुछ विशिष्टरूपत्व को समुपनत वह शरीर विकार विशेष भाव है। यहाँ एक 'च' शब्द 'इव' के अर्थ में है अतः अभिनय के सदृश वागादि से लक्षित भाव है ॥ ८-९ ॥

अनुवाद—नेत्र, वक्त्र, भ्रू (भौंहों) विकारों से शृङ्गारमय आकार को सूचित करने वाला तथा ग्रीवा के रेचन से युक्त भावों के स्थिति से समुत्थित भाव को 'हाव' कहते हैं ॥ १० ॥

अनुवाद—शृङ्गाररस से सम्भव तथा ललित अभिनय के अभिव्यञ्जक जो अङ्ग के विकार है उसे बुधजन 'हाव' तथा 'हेला' कहते हैं ॥ ११ ॥

---

१. ख. ग. रससूचकः।
२. ख. ग. भावः।
३. ख. ग. य एव भावाः सर्वेषां शृङ्गाररसंश्रया।

हावावस्थायां यत्स्वयं रतेः प्रबोधनं न मन्यते केवलं तत्संस्कारबलात्तथाविकारान् करोति। यैर्दृष्टा तथा कल्पयति। यदा तु रतिवासनाप्रबोधात्तां प्रबुद्धां रतिमभिमन्यन्ते केवलं समुचितविभावोपग्रहविरहान्निर्विषयतया स्फुटीभावं न प्रतिपद्यते तदा तज्जनितो देहविकारविशेषो हेला। 'हिल भावकारण' इति (धातुपाठे) पठ्यते। भावस्य सम्बन्धादिति या प्रसरता वेगवाहित्वमित्यर्थः। वेगेन गच्छत् हेलतीत्युच्यते लोके। तदाह शृङ्गारेति।

शृङ्गाररसो रतिः ततो हृदये स्थिता या हेला सम्भवतीत्यर्थः। तथा शृङ्गारस्य रसस्य मानतायां यावद्वसाधारणमिव रूपं तस्य सम्भवः सम्भावना या स्यात् सामाजिकशृङ्गाररसास्वादसदृशरूपैव सम्भावना चमत्कारमात्रप्राणा। तथा हि तस्या यावद्विषयार्जनं किञ्चदवभाति विभावविशेषापरिस्फुरणादिति वरसुन्दर रूपोत्कीर्णं ग्रावकल्पशैशवदशोत्तीर्णताख्योन्मीलना अत एव ललिता चेष्टा अभिनयरूपतामिव अस्यां विकारावेशातिशयवशात् न प्रतिलभते। क्रमेणोदाहरणान्येषाम्—

अभिनव—पुरुष में उत्तम अङ्गना पात्र के लक्षण से उद्भ्रान्त, भौंह, आँख के तारे, चिबुक तथा ग्रीवा आदि के जो अतिशय विकाररूप धर्म है। अतएव वह धर्म सहृदय और असहृदय सभी जनों के हृदय से संवेद्य शृङ्गारोचित आकार को सूचित करता है। यह हाव अपनी चित्तवृत्ति का समर्पण करती हुई कुमारी का आह्वान सूचित करता है। यह परिस्थितिवश स्वतः उठ उठ विश्रान्त होने वाला प्रसरणधर्मा है। इसे 'हेला' होती है। अतः यह हेला सुकुमार परिकारों का सहयोगी है।

अभिनव—हावावस्था में जो स्वयं रति का प्रबोधन नहीं मानता है वह संस्कारों के वश उस प्रकार के विकारों को करता है। जिनके द्वारा देखी गई वह उसी प्रकार की कल्पना करती है। जब रतिवासना के प्रबोध से वह रति का प्रबोधन नहीं मानता है वह संस्कारों के वश उस प्रकार के विकारों को करता है। जिनके द्वारा देखी गई वह उसी प्रकार की कल्पना करती है। जब रतिवासना के प्रबोध से वह रति प्रबुद्ध मानी जाती है, केवल समुचित विभाव (नायक) के अभाव से निर्विषय होने से रति स्फुट नहीं होती है तो उस समय वासना-जन्य शरीर-विकार विशेष 'हेला' है। धातुपाठ में 'हिल भावकरणे' इस प्रकार पाठ है। भाव के सम्बन्ध से जो प्रसरता अर्थात् वेगवाहिक है। क्योंकि लोक में वेग से चलता हुआ 'हेलति' (हिलता है) कहा जाता है।

उत्तालालकभञ्जनानि कबरीभारोऽथ शिक्षारसो–
दन्तानां परिकर्म नीविनहनं भ्रूलास्ययोग्याग्रहः ।
तिर्यग्लोचनवल्गितानि वचसां छेकोक्तिसंक्रान्त्यः
स्त्रीणां म्लायति शैशवे प्रतिकलं कोऽप्येष केलीक्रमः ॥ (बद्ध ?)

स्मितं किञ्चन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनयविलासोक्तिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥

अब कहते हैं कि शृङ्गाररस के कारण रति जो हृदय में स्थित है वह 'हेला' है और शृङ्गाररस की मान्यता में जैसा साधारण सा रूप है, उसकी सम्भावना हो सकती है। जो सम्भावना सामाजिक को शृङ्गार रस के आस्वाद सदृश रूप वाली है और चमत्कार ही उसका प्राण है। और उसका जितना विषयार्जन कुछ मालूम पड़ता है विभावविशेष के परिष्फुरण से जैसे—कलाकार द्वारा पाषाण में जैसा सुन्दर रूप का उत्कीर्ण न किया जाता है उसी प्रकार शैशव काल में उत्कीर्ण होने वाला यौवन का उन्मीलन होता है। अतएव जिससे विकारों के आवेश से ललित चेष्टाएँ अतिशय रूपता को प्राप्त करती हैं उनका क्रम से उदाहरण देते हैं।

अभिनव—"स्त्रियों (बालाओं) का शैशव जैसे जैसे म्लान क्षीण होता है और यौवन का विकास होता है। वैसे वैसे प्रति पल कौन ऐसा विलक्षण केलिक्रम है जो उलझे हुए अलकों (बालों) का सजाना, कबरी भार में पुष्पों का ग्रहण, दांतों का परिक्रम, नीवी-बन्धन के साथ भ्रूलता के संचालन में योग्य आग्रह, नेत्रों का तिर्यग् वलन (टेढ़ो चितवन) और वाणी में विदग्धों के कथन का सङ्क्रमण होने लगा है।"

"तारुण्य का स्पर्श करने वाली उस मृगनयिनी नायिका का क्या वस्तु रूप नहीं है ? थोड़ो सी मुसकराहट अतीव मुग्ध है, दृष्टियों का वैभव (अवलोकन) तरल और मधुर है, वाणी का अभिनय विलासमयी उक्तियों से सरस है। गतियों का उपक्रम लीला मधुर चेष्टाओं से किसलयित है।"

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमति पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्॥

अत्र हि भावान्तर्गतरतिप्रबोधमात्रमुक्तम्। न त्वभिलाषः शृङ्गार इति मन्तव्यम्। तत्पर ब्राह्मणस्योपनयनमिव भविष्यत्समस्तपुरुषार्थसद्मपीठबन्धत्वेन योषितां परमो ह्युत्सवः लोकोत्तरोऽलङ्कारः सातिशयमानन्दस्थानं परं पवित्रमित्युपश्रूयते।

यद्यपि चैते पुरुषस्यापि भवन्ति तथापि योषितां त एवालङ्कारा इति तद्गततत्वेनैव वर्णिताः। पुंसस्तूत्साहवृत्यात एव परमालङ्काराः, तथा च सर्वेष्वेव नायकभेदेषु धीरत्वमेव विशेषणतयोक्तम्। तदाच्छादितास्तु शृङ्गारादयः धीरललित इत्यादौ।

"वह बाला गीत की ध्वनियों को सुनने पर मृगी के समान अङ्गों को निश्चल कर लेती है, प्रियतम के समाचार सुनने पर भी सखी से बार-बार पूछती है और बिना नींद के भी घर के अन्दर सोती रहती है, इससे मैं समझती हूँ कि कामदेव ने इसके हृदय में अभिनव प्रेमलता का सेचन प्रारम्भ कर दिया है।"

यहाँ पर अनेक भावों में से केवल रति का प्रबोध मात्र कहा है न कि अभिलाष शृङ्गार को कहा है, ऐसी समझना चाहिए। किन्तु यह ब्राह्मण के उपनयन के समान आगामी समस्त पुरुषार्थ रूप भवन की पृष्ठ भूमि की रचना होने से परम उत्सव के समान स्त्रियों के लिए यह उत्सव लोकोत्तर अलङ्कार और अत्यन्त आनन्द का स्थान परम पवित्र है, ऐसा सुना जाता है।

यद्यपि ये हावादि पुरुष के भी होते हैं, किन्तु स्त्रियों के ही ये अलङ्कार हैं, अतः स्त्रियों के लिए ही ये वर्णित है। पुरुष में तो उत्साह वृत्ति के कारण ये परम अलङ्कार हैं। अतः सभी नायक भेदों में धीरता को ही विशेषण के रूप में कहा है। अतः इस धीरत्व से आच्छादित शृङ्गार आदि धीरललित नायक हैं।

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः[1] किलिकिञ्चितम्[2] ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बको ललितं तथा ॥ १२ ॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश स्त्रीणां स्वभावजाः ।
[3]पुनरेषां स्वरूपाणि प्रवक्ष्यामि पृथक्पृथक् ॥ १३ ॥

एवं त्रीनङ्गजान् व्याख्याय स्वाभाविकान्दशोद्दिशति ।

लीला विलास इत्यादिना ।

विशिष्टविभावलाभे रतौ सविशेषत्वेन स्फुटीभूतायां तदुपबृंहणकृता देहविकारा लीलादयः शाक्याचार्यराहुलकादिभिर्यन्मतं विशेषसौक्ष्म्यादनुपलक्ष्य हेलाहावादीन् लीलादिमध्य एव पठद्भिश्चेष्टैवालङ्कारभूतेति, एतावन्मात्रे विश्रम्य सामान्येन चेष्टा अलङ्कार इति, तदयुक्तम् ।

इस प्रकार तीन आङ्गिक अलङ्कारों की व्याख्या करके दश स्वाभाविक अलङ्कारों को कहते हैं—

अनुवाद—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत ये दश स्त्रियों के स्वाभाविक अलङ्कार है। आगे इनके पृथक् पृथक् स्वरूपों को कहूँगा ॥ १२-१३ ॥

अभिनव—विशिष्ट विभाव के लाभ होने पर रति के विशिष्ट रूप से स्फुट हो जाने पर उसमें उपबृंहण से किये हुए लीला आदि शरीर विकारों को शाक्याचार्य राहुलक आदि ने जो माना और विशेष सूक्ष्मता को न समझकर हेला, हाव आदि को लीलादि के बीच पढ़कर चेष्टा हो अलङ्कार है, ऐसा माना है, और इतने पर ही विश्राम करके सामान्यतः चेष्टा अलङ्कार है ऐसा जो कहा है, वह ठीक नहीं है ॥ १२-१३ ॥

---

१. ख. विक्रमः ।

२. ख. ग. किञ्चितः ।

३. ख. अलङ्कारास्तथै वेषां लक्षणं श्रुणुत द्विजाः ।

वागङ्गालङ्कारैः शिष्टैः प्रीतिप्रयोजितैर्मधुरैः ।
इष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेया प्रयोगज्ञैः ॥ १४ ॥

अत्रैषां दशानां क्रमेण लक्षणान्याह—

वागङ्गालङ्कारैरिति ।

प्रियतमगतैः प्रीत्या तं प्रति बहुमानातिशयेन स्वात्मनि योजितैः मधुरैः सुकुमारैः न तु यैरेवोद्धतैः मधुरैरपि विशिष्टैः न तु कल्पितत्वेनाभिमानैः अत एवानुकृतिनोद्घट्टकरूपेणाविष्कृतं बहुमानः स्वात्मनि तत्स्वात्मीकरणेन । एते च दश प्राप्तसंभोगत्वेऽपि भावयन्त्येव । शोभादयस्तु सप्त भाविनोप्राप्तसम्भोगतायामेव । एतान् लीलादीन् कवयो लोकवाचोऽत्र कीदृशा साङ्कर्येण प्रयुञ्जते । यथा—"गतेषु लीलाञ्चितविभ्रमेषु" (कुमा -३३) इति । "तत्रोपचारोऽन्वर्थत्वं लौकिकी प्रसिद्धिर्वा प्रमाणीकर्तव्या । तन्त्रज्ञैरेवं पठितव्यम्—"गतेषु लीलाञ्चितसुन्दरेषु" इति, तदसदिति भट्टेन्दुराजशिष्याः, यतो ये लीलाविभ्रमप्रभृतयो भविष्यन्त्यस्तदुचिततया तदानीं शिक्ष्यतइव । व्याहृत्य नीयते स हि अभिनय प्रयोगकालो लीलादेरिति विनयस्य तु राजहंसकर्तृत्वमुत्प्रेक्ष्यते ।

अब इन दस भेदों का क्रमशः लक्षणों को कहते हैं—

१. लीला—

अनुवाद—शिष्टों के द्वारा प्रीति से प्रयुक्त मधुर शब्दों से प्रियजन की चेष्टाओं एवं वेष-भूषादि का अनुकरण 'लीला' है ॥ १४ ॥

अभिनव—प्रियतमगत अलङ्कारों की प्रीति से प्रियतम के प्रति बहुमान के कारण अपने शरीर पर योजित मधुर सुकुमार न कि प्रियतम के पुरुष होने से उद्धत एवं मधुर होते हुए भी विशिष्ट, न कि कल्पित होने से आत्मीयता के कारण अतएव आत्मीयता के कारण अनुकर्त्ता के उद्धदृक रूप से अपने में बहुमान का आविष्कार किया है। वे दश भाव संभोग के पश्चात् संयोजक को भावित करते हैं। शोभादि सात अलङ्कारों को तो सम्भोग प्राप्त न होने पर भी भावित करते हैं। इन लीलादि अलङ्कारों का कवि लोग यहाँ लोक वाणी का किस प्रकार सौकर्य से प्रयोग करते हैं। जैसे—'लीला से अञ्चित शृङ्गारादि चेष्टाओं से युक्त गतियों में, (कुमार० १।३४)। वहाँ उपचार की अन्वर्थता अथवा

स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव ।
उत्पद्यते विशेषो यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥ १५ ॥
माल्याच्छादनभूषण विलेपनानामनादरन्यासः ।
स्वल्पोऽपि परा[1] शोभां जनयति[2] यस्मात्तु विच्छित्तिः ॥ १६ ॥

स्थानासनेति स्थानमूर्ध्वता, आसनमुपविष्टता ।
स्थानकादावप्रयत्नशिक्षितमपि श्रृङ्गारबलादुपनीय तद्रूपं विलासः, श्लिष्ट इत्यनुल्बणम् । यथा—
बाले डअंणस्सु विमण्णमअासणु (?)—इत्यादो ॥ १५ ॥

लौकिको प्रसिद्धि को प्रमाण करना चाहिए किन्तु यहाँ तन्त्रज्ञों को ऐसा पढ़ना चाहिए—'लीला से अञ्चित सुन्दर गतियों में' । किन्तु यह ठीक नहीं है, ऐसा भट्टेन्दुराज के शिष्य कहते हैं । क्योंकि जो लीला, विभ्रभ प्रभृति अलङ्कार होंगे, तदुपयोगी औचित्य से मानों सिखाये जाँयगे । अभ्याहरण करके ले जाये जाते हैं । वह लीलादि के अभिनय प्रयोग का समय है । यहाँ गमन में लीलाञ्चित राजहंसों के विनय की उत्प्रेक्षा की जाति है ॥ १४ ॥

२. विलास—

अनुवाद—स्थान (खड़े होने), आसन (बैठने), गमन, हाथ, भौंह, नेत्र की चेष्टाओं में एक श्लिष्ट विलक्षण परिवर्तन का होना 'विलास' है ॥ १५ ॥

अभिनव—यहाँ स्थान का अर्थ खड़े होना और आसन का अर्थ बैठना है । किन्तु किस प्रकार खड़ा होना और किस प्रकार बैठना के शिक्षा के लिए प्रयत्न नहीं किया है, फिर भी श्रृङ्गार के बल पर उसके रूप को प्राप्त करना 'विलास' है । वह विलास श्लिष्ट अर्थात् अनुद्धत होना चाहिए । जैसे—

"बाले ! दर्शनीयेषु विमनायमानेषु" इत्यादि ।

३. विच्छित्ति—

अनुवाद—माला, वस्त्र, भूषण (अलङ्कार) और विलेपन आदि के अनादर से थोड़ा भी धारण करना परम शोभा का जनक हो जाता है, उसे 'विच्छित्ति' कहते हैं ॥ १६ ॥

---

१. ख. अप्यधिकां ।
२. ख. या सा तु ।

विविधानामर्थानां वागङ्गाहार्यसत्त्वयोगानाम्[1] ।
मदरागहर्षजनितो [2]व्यत्यासो विभ्रमो ज्ञेयः[3] ॥ १७ ॥

स्वल्पोऽपि परामित्यल्पतयैव परां शोभां जनयति सौभाग्यगर्वमहिमा ह्यसौ । यथा—

कच उपरअभउ सस्सर इसिणिअत्थ(?)—इत्यादौ ।

यत्तु "सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं (शाकु)—इत्युदाहृतं तदसत् न । ह्यत्रानादरन्यासः सौभाग्यगर्वकृतः, अपि तु तपस्विसमुचितवेषपरिग्रहण-प्रायमित्यलम् ।

अभिनव—'स्वल्पोऽपि पराम्' अर्थात् स्वल्पता भी परा (उत्कृष्ट) शोभा को उत्पन्न कर देता है, यह सौभाग्य गर्व की महिमा है । जैसे—

'कच उपरअभउ सस्सर इतिणि अत्थ' इत्यादि में ।

और जो कि—"सरसिजमनुबिद्धं शैवलेनापि रम्यम्" (शाकु० १।) अर्थात् 'सेवार से अनुविद्ध भी कमल रमणीय है' यह उदाहरण दिया । यह असत् है । क्योंकि यहाँ सौभाग्य के गर्व से अनादर करके न्याय नहीं किया है, अपितु तपस्वियों के लिए उचित वेष का पारिग्रहण है । बस, रहने दिया जाय ॥ १६ ॥

४. विभ्रम—

अनुवाद—वाचिक, आङ्गिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयों के भेदों के विवध अर्थों (शब्दों, चेष्टाओं एवं बेश-भूषादि) का मद, राग और हर्ष आदि के कारण जो व्यत्यास अर्थात् विपरीत स्थान पर धारण करना 'विभ्रम' कहलाता है ॥ १७ ॥

---

१. ख. ग. युक्तानाम् ।

२. ग. योऽतिशयो विभ्रमः स मतः ।

३. ख. नाम ।

[1]स्मितरुदितहसितभय [2]हर्षगर्वदुःखश्रमाभिलाषाणाम् ।
सङ्करकरणं हर्षादसकृत् किलकिञ्चितं ज्ञेयम् ॥ १८ ॥

विविधानामिति योगो भेदः तेन वागादिभेदेन बहुभेदानां च बहूनां च (अर्थानां) योऽन्यथा निवेशः पूर्ववत्सौभाग्यगर्वकृतः (स) विभ्रमः, तद्यथा, वचनेऽन्यथावक्तव्येऽन्यथाभावणम्, हस्तेनादातव्ये पादेनादानम्, रशनायाः कण्ठे न्यासः इत्यादि । मद्येन कृतो रागः प्रियतमं प्रत्येव बहुमानो हर्षः । सौभाग्यगर्वो यथा—

चिरिअ बन्धिअ निच्चिवप्पटणिच्चिअ नद्धजम्म अदेसि सहि ।
सोहग्गमत्थि एक्कं चिअरिअ किप्पिण (वेण) णाहिणेवउ (?) ॥

स्मितरुदितहसितेति सङ्करेण संकीर्णतया हर्षात्गर्वाद्यत्संकरणम् । यथा—

मह""तिमललमकलति हलहलन्ति सप्पदिओ
(व) ल्लवच्चर इव इ अणेकत्ति (?) इत्यादौ ।

अत्र हि गर्वश्रमदुःखस्मितरुदितहसितानि देशीपदैः क्रमेणोक्तानि ।

अभिनव—यहाँ पर योग का अर्थ 'भेद' है । इससे वागादि भेदों के कारण बहुत से भेदों एवं बहुत अर्थों के पूर्ववत् सौभाग्य के गर्व से अन्यथा निवेश 'विभ्रम' है । जैसे—वाणी (वचन) का अन्यथा कथन के स्थान पर अन्यथा कथन करना, हाथ से लेने की जगह पैर से वस्तु का लेना, करधनी का गले में धारण करना और हार को कमर में पहिनना । मद्य-पान से उत्पन्न राग प्रियतम के प्रति बहुमान हर्ष है । सौभाग्य गर्व जैसे—

"चिरिअ बन्धिअ" इत्यादि ।

५. किलकिञ्चित—

अनुवाद—मुस्कराहट, रोना (रूदन) हंसना, भय, हर्ष, गर्व, दुःख, श्रम तथा अभिलाषा आदि भावों का एक साथ मिश्रण होना 'किलकिञ्चित' है ॥ १८ ॥

अभिनव—स्मितरुदितहसित आदि के सङ्कर से सङ्कर गर्व या हर्ष आदि से हो जाता है । जैसे—

'मह·········इत्यादि ।

यहाँ गर्व, श्रम, दुःख, स्मित, रुदित, हसित की देशीय पदों के क्रम से कहा है ॥ १८ ॥

१. ग. स्मितहसितरुदित ।
२. ख. रोगमोहदुःखसमाभिषङ्गानां । ग. बहुदुःखगर्वश्रमाभिलाषाणाम् ।

इष्टजनस्य कथायां लीलाहेलादिदर्शने वापि[1] ।
तद्भाव[2]भावनाकृतमुक्तं मोट्टायितं नाम[3] ॥ १९ ॥
केशस्तनाधरादिग्रहणादति[4]हर्षसंभ्रमोत्पन्नम् ।
कुट्टमितं विज्ञेयं सुखमपि दुःखोपचारेण ॥ २० ॥

इष्टजनस्येति कथने दर्शने वा कान्तस्य यदुत्पद्यते योषितो लीलादि तद्भाव-भावनवशान्मदनाङ्गमर्दपर्यन्तं तदङ्गमोडनान्मोट्टायितम् । यथाह—

सिइऊणथणसक्किकयहत्थऊरु ।—इत्यादौ ।

केशस्तनाधरग्रहणादिति प्रियतमेनेति शेषः । यथा—

देशिखणंमि णअथणहिअइआपडि अपुणहे तिहिं अज्ज—

णहरग्गस उकि किं दुरपसमहणाहलवंधाहिं । इत्यादौ ।

---

६. मोट्टायित—

अनुवाद—प्रियजनों की कथा में अथवा लीला, हेला आदि के दर्शन में उसके भावों की भावना करना 'मोट्टायित' है ॥ १९ ॥

अभिनव—कान्त के कथन अथवा दर्शन में स्त्रियों के जो लीलादि भाव उत्पन्न होते हैं तथा उन भावों की भावना के वश से मदनाङ्ग अर्थात् कुचमर्दन-पर्यन्त क्रियाएँ अङ्गमोटन के कारण 'मोट्टायित' है। जैसा कि कहा है—

'सिइऊणथण सक्कि.........' इत्यादि ।

७. कुट्टमित—

अनुवाद—प्रियतम के द्वारा केश के ग्रहण, स्तन के मर्दन, अधरों के पान आदि अत्यन्त हर्ष एवं सम्भ्रम से उत्पन्न औपचारिक दुःख के साथ सुख का उत्पन्न होना 'कुट्टमित' ॥ २० ॥

अभिनव—केश, स्तन, अधर का ग्रहण प्रियतम ने किया, यह शेष है।

जैसे—'देशिखणमि......' इत्यादि ।

---

१. ग दर्शनेनापि । ग. दर्शने चापि ।
२. ख. ग. भावनकृतं ।
३. ग. इत्यभिख्यातम् ।
४. ग. ग्रहणेप्यति । ख. ग्रहणेप्यति ।

इष्टानां भावानां प्राप्तावभिमानगर्वसंभूतः ।
स्त्रीणामनादरकृतो बिब्बोको नाम विज्ञेयः ।। २१ ।।
हस्तपादाङ्गविन्यासो भ्रूनेत्रोष्ठप्रयोजितः ।
लौकुभार्याद्भवेद्यस्तु ललितं तत्प्रकीर्तितम्[1] ।। २२ ।।
करचरणाङ्गन्यासः सभ्रूनेत्रोष्ठसम्प्रयुक्तस्तु ।
सुकुमारविधानेन स्त्रीभिरितीदं स्मृतं ललितम् ।। २३ ।।

इष्टानामिति वस्त्रालङ्कारादीनामिति अनादरकृत इति तद्विषय एव योऽनादरकृतस्तद्बहुलम् (बिब्बोकम् ?) । यथा—

चन्दघसि नामकोप्पेस स तु किं दु आविलं उइआ को चण्ड । इत्यादौ ।

हस्तपादाङ्गविन्यास इति कर्तव्यवशादायता एव हस्तादिकर्माणि यद्वैचित्र्यं स विलासः । ललिते तु यत्र बाह्यव्यापारयोग एव न किञ्चिदस्ति नादातव्यबुद्धिः । अथ च सुकुमारकरव्यापारणं न दुष्टस्य किञ्चित्, अत्र च तारादिकर्मेति विशेषः यथा—

---

८. बिब्बोक—

अनुवाद—प्रेमी के द्वारा अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति होने पर अभिमान और गर्व के कारण स्त्रियों के प्रति अनादर करना 'बिब्बोक' समझना चाहिए ।। २१ ।।

अभिनव—इष्ट अर्थात् वस्त्र, अलङ्कार आदि का अर्थात् वस्त्र, अलङ्कार आदि के सम्बन्ध में जो अनादर करना है वह 'बिब्बोक' है ।

जैसे—'चन्दघक्षि नामकोप्पेस'……इत्यादि में ।

९. ललित—

अनुवाद—भ्रू (भौंह), नेत्र, ओष्ठ से प्रयोजित सुकुमारता से जो हस्त-पादादि अङ्गों का विन्यास है, उसे 'ललित' कहा जाता है ।। २२ ।।

अनुवाद—भौंह, नेत्र, ओष्ठ से प्रयुक्त स्त्री के द्वारा जो सुकुमार विधान से हस्त-पादादि अङ्गों का जो विन्यास है, उसे 'ललित' कहा गया है ।। २३ ।।

---

१. ख. ग. तत्प्रकीर्तितम् ।

वाक्यानां प्रीतियुक्तानां प्राप्तानां यदभाषणम् ।
व्याजात्स्वभावतो वापि विहृतं नाम तद्भवेत् ॥ २४ ॥
प्राप्तानामपि वचसां[1] क्रियते यदभाषणं ह्रिया स्त्रीभिः ।
व्याजात्स्वभावतो वाप्येतत्समुदाहृतं विहृतम् ॥ २५ ॥

कि अणि लोपललविअरुपकिसरि इचच्चा ए स बहुमजत्ति ''' भराबहु खिसिवुपुणाखिललविलूण अ अणलक्लहिखणु अ ॥ इत्यादि ।

अन्ये तु 'लड विलास' इति (धातु) पाठं प्रमाणयन्तो विलासमेव सातिशयं ललितसंज्ञं मन्यन्ते ॥ २३-२४ ॥

वाक्यानां प्रीतियुक्तानामिति । प्राप्तानामित्यवरलाभेन कथने योग्यानामित्यर्थः । स्वभावत इति मौग्ध्याद्बाल्यादन्यचित्तत्वाद्वा ॥ २५ ॥

व्याजादिति । व्याजादिभिर्मौग्ध्यादिभिः प्रख्यापनातिशयेनेत्यर्थः । तत्प्रख्यापनमपि कासांचित् स्वभाव एव । यथा—

कविभिस्तु ।''''''''लिललिकरन्ति अ इच्छिहि पुणच्छ मरणुकरन्ति अ— इत्यादौ ॥ २४-२५ ॥

अभिनव—हस्तपादादि—कर्त्तव्यवश की गई हस्तपादादि के कर्म (क्रिया) में जो वैचित्र्य है, वह विलास है। ललित में तो जहाँ पर बाह्य व्यापार का योग कुछ भी नहीं है वहाँ आदातव्य बुद्धि नहीं होती और सुकुमार हाथ का व्यापार भी कुछ दृष्ट नहीं होगा और चरणादि का कर्म भी नहीं होता यही विशेपता है। जैसे—

'अणि लोपललविअरुपेकिसोरे इचच्चा एस बहुमुज्जीत' इत्यादि।

अन्य लोग तो 'लड विलासे' इस धातुपाठ को प्रमाण मानते हुए सतिशय विलास को ही 'ललित' संज्ञा मानते हैं ॥ २२-२३ ॥

१०. विहृत—

अनुवाद—यदि प्रीतियुक्त वचनों के अवसर आने पर भी किसी बहाने से अथवा स्वभाव के कारण न बोल पाना 'विहृत' होता है ॥ २४ ॥

अनुवाद—लज्जावश किसी व्याज से अथवा स्वभाव से प्रीतियुक्त वचनों को बोलने को अवसर आने पर भी न बोलपाना 'विहृत' होता है ॥ २५ ॥

---

१. ख. वचनं ।

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च तथा माधुर्यमेव च ।
धैर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यमित्येते स्युरयत्नजाः ॥ २६ ॥
रूपयौवनलावण्यैरुपभोगोपबृंहितैः ।
अलङ्करणमङ्गानां शोभेति परिकीर्तिता[2] ॥ २७ ॥
विज्ञेया च तथा कान्तिः शोभैवापूर्णमन्मथा ।

अथायत्नजा इति । शोभाकान्तिरित्यादि ॥ २६ ॥

एषां क्रमेण लक्षणानि । रूपयौवनलावण्यैरिति । तान्येव रूपादीनि पुरुषेणोपभुज्यमानानि छायान्तरं भवन्ति । सा चछाया मन्दमध्यतीव्रत्वं क्रमेण संभोगपरिशीलनाद्भवति शोभा कान्ति दीप्ति चेत्यर्थः ॥ २७ ॥

अभिनव—वाक्यानामिति—प्राप्तानाम् अर्थात् अवसर आने पर कहने में योग्य। स्वभावतः अर्थात् व्याज (बहाने) से अर्थात् व्याजादि एवं मौग्ध्यादि के द्वारा अतिशय प्रख्यापन से। यह प्रख्यापन भी किसी स्त्री का स्वभाव होता है। जैसे—"लिलल्मि किरन्ति" इत्यादि में ॥ २४-२५ ॥

अयत्नज अलङ्कार—

अनुवाद—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य और औदार्य ये सात स्त्रियों के अयत्नज अलङ्कार हैं ॥ २६ ॥

अनुवाद—रूप, यौवन एवं लावण्य आदि के उपभोग से उपबृंहित (विकसित) अङ्गों का अलङ्करण (सजाना) 'शोभा' कहा जाता है ॥ २७ ॥

अभिनव—ये रूप, यौवन और लावण्य आदि पुरुष के द्वारा उपभुज्यमान (उपभोग किये जाने पर) विलक्षण शोभा वाले होते हैं। वह शोभा सम्भोग के परिशीलन से क्रमशः मन्द, मध्य और तीव्र भाव को प्राप्त होती है ॥ २७ ॥

२. कान्ति—

अनुवाद—काम के पूर्ण उद्रेक से बढ़ी हुई शोभा को 'कान्ति' समझना चाहिए ॥ २८ (१) ॥

अभिनव—आसमन्तात् अर्थात् चारों ओर से पूर्ण मन्मथ अर्थात् काम के उपभोग का हेतु है जिसका, वह 'शोभा' है। अन्य लोग 'अपूर्णमन्मथा' की व्याख्या करते हुए कान्ति, दीप्ति और शोभा का क्रमशः अतिशयत्व कहा है। यह सब उपक्रम के विरुद्ध है, ऐसा उपाध्याय जो कहते हैं ॥ २८ ॥

२. ब. यत् सा शोभेति भाण्यते ।

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ २८ ॥
सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च ।
अनुल्बणत्वं चेष्टाया माधुर्यमिति संज्ञितम् ॥ २९ ॥
चापलेनानुपहता सर्वार्थेष्वविकत्थना ।
स्वाभाविकी चित्तवृत्तिर्धैर्यमित्यभिधीयते ॥ ३० ॥
प्रयोगनिस्साध्वसता प्रागल्भ्यं समुदाहृतम् ।

आ समन्तात् पूर्णो मन्मथ इति कामोपभोगो हेतुर्यस्याः सा इत्यर्थः। अन्यस्तु अपूर्णमन्मथेति व्याचक्षाणः कान्तिदीप्तिशोभानां क्रमेण सातिशयत्वमाह। तच्चोपक्रमविरुद्धमित्युपाध्यायाः ॥ २८ ॥

दीप्तेष्विति क्रोधादिषु । चशब्द इवार्थे ललितेषु रतिक्रीडादिषु यथा मासृण्यं चेष्टायास्तथा दीप्तेष्वपि यत्तन्माधुर्यम् ॥ २९ ॥

सर्वार्थेष्विव रूपयौवनादिषु वर्गत्वाच्चेयं क्रिया रूपेभ्यः पृथगेव धीरता पठिता ।

---

३. दीप्ति—

अनुवाद—कान्ति ही अत्यन्त विस्तार को प्राप्त होकर 'दीप्ति' कहलाती है ॥ २८ ॥

४. माधुर्य—

अनुवाद—दीप्त और ललित भी अवस्था-विशेष में चेष्टा का मसृणत्व 'माधुर्य' कहलाता है ॥ २९ ॥

अभिनव—दीप्तेषु अर्थात् क्रोधादि में । यहाँ 'च' शब्द का इव अर्थ में है। ललित रति-क्रीड़ादि में जिस प्रकार चेष्टा की मसृणता है। उसी प्रकार दीप्तों में भी माधुर्य है ॥ २९ ॥

५. धैर्य—

अनुवाद—चपलता से रहित तथा सभी विषयों में आत्मश्लाघा से विमुख स्वाभाविकी चित्तवृत्ति को 'धैर्य' कहते हैं ॥ ३० ॥

अभिनव—सभी रूप, यौवन आदि अर्थों में वर्गभेद से यह क्रिया धीरता का रूपों से पृथक् पाठ किया है ॥ ३० ॥

६—प्रागल्भ्य—

अनुवाद—प्रयोगों में निर्भयता 'प्रागल्भ्य' कहलाता है ।

अभिनव—प्रयोग इति—कामकला में चौसठ प्रयोग होते हैं।

प्रयोग इति कामकलादौ चातुःषष्टिक इत्यर्थः। यथाहुः—

अन्यदा भूषणं पुंसः शमो लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे प्रागल्भ्यं सुरतेष्विव॥ इति।

यत्त्वनुकर्तृविषयमेतदित्यन्यैर्व्याख्यातं तत्पूर्वमेव दूषितम्। सर्वास्वामर्षेर्ष्या-क्रोधाद्यवस्थास्वपि यत्परुषवचनाद्यनुदीरणं तदौदार्यम्। चित्तवृत्तिस्वभावा अपि केचिदेते विभावजन्यत्वाभावाद् भाववर्गे न पठिताः रसान् प्रति भाव-कत्वाभावाच्च (इत्याहुः)। तच्चैतदयुक्तम्। शोभाकान्तिदीप्तयः ता बाह्यरूप-लावण्यगता एव विशेषः आवेगचापलत्रासामर्षा भावा एव। माधुर्याद्या न चित्तवृत्तिस्वभावा इति क एषु भावत्वाशङ्कावकाशः इत्यभावोऽपि भावान्तर-तया तद्विशेषणतया प्रतिभासगोचर इति अतो भावरूपतैवेति चेदस्तु नामैवम्। तथाप्यलङ्कारत्वात्, सामान्याभिनयरूपत्वात्, बाह्यशरीरनिष्ठतापर्यवसानात्, शृङ्गारैकमात्रविषयत्वाच्च, अशेषरसविषयत्वात्, व्यभिचारिवर्गात् पृथक्त्वेनैवा-मभिधानम्।

जैसा कि कहते हैं कि—

"अन्य समय में पुरुषों का भूषण शम है। जैसे स्त्रियों का भूषण लज्जा है। परिभव होने पर पराक्रम आवश्यक है, जैसे सुरतकाल में प्रगल्भता आवश्यक है।"

जो कि अन्य लोगों ने इसको व्याख्या की है कि यह अनुकर्तृ विषयक है वह पहले ही दूषित कर दिया गया है। अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोध आदि अवस्थाओं में जो कठोर वचन का अकथन है, वह 'औदार्य' है। यह चित्तवृत्ति स्वभाव होते हुए भी कुछ लोग विभाव से जन्य न होने से और रसों के प्रति भावकत्व का अभाव होने से भाव वर्ग में नहीं पढ़ा है। यह सब अयुक्त है। क्योंकि जो शोभा, कान्ति एवं दीप्ति हैं वे सब बाह्य रूप लावण्यगत विशेषता है। आवेग चपलता, त्रास, अमर्ष भाव ही हैं। माधुर्य आदि चित्तवृत्ति रूप भाव नहीं है, अतः इनमें कौन भावत्व की आशङ्का का अवकाश है। अतः अभाव भी भावान्तर होने के कारण और भावों का विशेषण होने के कारण प्रतिभास गोचर है अतः यदि भावरूप हैं तो हों। फिर भी अलङ्कार रूप होने से, सामान्याभिनय रूप होने से बाह्य शरीर में रहने का पर्यवसाय होने से और शृङ्गार का एक मात्र विषय होने से और अशेष रसों का विषय होने से और अशेष रसों का विषय होने से व्यभिचारी वर्ग से पृथक् ही इनका अभिधान है।

न च एतावत एवैत इत्यत्र नियमो विवक्षितः। तेन मौग्ध्यमदभावविकृतपरितपनादीनामापि शाक्याचार्यराहुलादिभिरभिधानं* विरुद्धमित्यलं बहुना।

'ये भाव इतने ही हैं' यहाँ पर कोई नियम विवक्षित नहीं है। इनमें मौग्ध्य, मद, भाव, विकृत तथा परितापन आदि के सम्बन्ध में शाक्याचार्य राहुल आदि का जो कथन है वह विरुद्ध है, अतः अधिक कहना व्यर्थ है।

'राहुलादिभिः' में आदि शब्द से पद्मश्री, सागरनन्दी, मातृगुप्त प्रभृति आचार्यों का ग्रहण है। उनके मत में मौग्ध्य जैसे—

'बाल्यावस्था के बीत जाने पर रमणियों के कान्त की सन्निधि में जो मनोहारी एवं मौक्तिकमयी जो वाचोभङ्गी है, उसे 'मौग्ध्य' कहते हैं।'

मद जैसे—

"यौवन के अतिशय से उद्भूत, मद्यपान (मदिरापान) से वर्द्धित (बढ़े हुए) जो विकार की बहुलता है, उसे विद्वान् लोग मद कहते हैं।"

भाव जैसे—

"नारी कान्त के दृष्टि पथ से जैसे बचना चाहती है। लज्जा से मुख नीचा कर लेती है (मुख झुका लेती है। भोले पन से तिरछी चितवन से प्रिय को देखती है, तब रोमाञ्च कञ्चुक उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय उसमें मदनाचार्य की शिक्षामय उपदेश से जो चेष्टा होती है, शाक्याचार्य के मत में उसे **'भाव' कहते हैं।**

---

* अत्र रामकृष्णकविना राहुलादिभिरिति, आदिशब्देन पद्मश्रीसागरनन्दिमातृगुप्तप्रभृतयो गृहीताः तन्मते **मौग्ध्यं यथा**—

बाल्ये गते वचोभङ्गी रामाणां कान्तसन्निधौ।
हारिमौक्तिमयी या तु तन्मौग्ध्यं परिकीर्तितम्॥

मदो यथा—

तारुण्यातिशयोद्भूतः सुरापानविशेषितः।
विकारबहुलो यस्तु तं वदन्ति मदं बुधाः॥

भावो यथा—

कान्तस्य दृष्टिपथतस्तिरोधातुमिवेच्छति
लज्जयाधोमुखी मुग्धतिर्यग्विक्षिप्तलोचना।
प्रियं पश्यत्यतिशयजातरोमाञ्चकञ्चुका
तत्क्षणोद्भूतमदनाचार्यशिक्षोपदेशतः॥
यत्तस्या जायते चेष्टा स भावः शाक्यसंमतः।

औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सर्वावस्थानुगो बुधैः ॥ ३१ ॥

'सुकुमारा भवन्त्येते प्रयोगे ललितात्मके[1] ।

विलासललिते हित्वा दीप्तेऽप्ययेते[3] भवन्ति हि ॥ ३२ ॥

अथैषां सामान्याभिनयत्वमुपपादयितुमाह—सुकुमारे भवन्त्येत इति ॥ ३२ ॥

विकृत जैसे—

"अवसर प्राप्त होने पर भी प्रिय वचन से जो बात नहीं कहती, किन्तु क्रिया से जिसका अनुष्ठान करतो है, उसे 'विकृत' कहते हैं।"

परितपन जैसे—

'क्षणमात्र के लिए भी प्रिय को न देखने से भी जो वियोग के समय होने वाली कामिनी की तापसन्तति है, उसे 'परितापन' कहते हैं।'

यहाँ आदि शब्द से विक्षेप, केलि, व्याज भेदन आदि समझना चाहिए ॥ ३१ ॥

७. औदार्य—

अनुवाद—सभी अवस्थावों में प्रश्रय (विनम्रता पूर्वक) आचरण को विद्वान् लोग 'औदार्य कहते हैं ॥ ३१ ॥

अब इनके सामान्याभिनयत्व को प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—ये शोभा आदि विकार ललितात्मक सुकुमार प्रयोग में होते हैं। विकास और ललित को छोड़कर दीप्त में भी होते हैं ॥ ३२ ॥

विकृतम्—

वचसा प्राप्तकालेऽपि प्रियया नाभिधीयते ।
क्रियया यदनुष्ठानं विकृतं तदुदाहृतम् ॥

परितपनम्—

क्षणमात्रमदृष्टे या प्रिये सन्तापसन्ततिः ।
विरहोत्थेव कामिन्याः परितापः स कथ्यते ॥

आदिशब्देन विक्षेपकेलिव्याजप्रतिभेदनादय ऊह्याः ॥ ३१ ॥

१. क. सुकुमारे । २. ख. ललितालके ।
३. ख.; ग. अप्येते ।

शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च ।
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ॥ ३३ ॥

दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेषु जुगुप्सनम् ।
उत्तमैश्च गुणैः स्पर्धा यतः[1] शोभेति सा स्मृता ॥ ३४ ॥

ललितात्मके प्रयोगे प्रयुज्यमाने शृङ्गारे यः सुकुमारोऽन्योन्योपसम्भोगविप्रलम्भादि भेदः । तत्र सर्वत्रैते न भवन्ति । न ह्येतच्छून्यमङ्गानां चेष्टितं प्रयोगार्हम् । योऽपि तत्र शृङ्गारे ईर्ष्यामर्षदीप्तिप्रकारस्तत्रापि विलासं ललितं च वर्जयित्वा अवश्यमन्येषां क्रमयौगपद्यादिना सम्भव इति शृङ्गारभेदेषु साधारणभूतो योऽभिनयस्तेन सामान्याभिनयतास्य युक्तेति तात्पर्यम् ।

अभिनव—ललितात्मक प्रयोग अर्थात् शृङ्गार के प्रयोग में जो सुकुमार परस्पर के उपसम्भोग तथा विप्रलम्भादि भेद होते हैं। वे सर्वत्र नहीं होते। किन्तु इनसे शून्य अङ्गों की चेष्टायें प्रयोग के योग्य भी नहीं है और शृङ्गार में जो ईर्ष्या, अमर्ष एवं दीप्ति का प्रकार है उनमें भी विलास और ललित को छोड़कर अन्यों की क्रमसे अथवा यौगपद्य से सम्भावना है। अतः शृङ्गार के भेदों में जो साधारण अभिनय है। उससे उसकी सामान्याभिनयता युक्त है। यह तात्पर्य है ॥ १३२ ॥

अब पुरुषगत उद्देश्य से लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, लालित्य, तेज एवं औदार्य ये आठ सत्त्वों के भेद से पुरुषगत भाव होते हैं ॥ ३३ ॥

१. शोभा—

अनुवाद—दक्षता, शौर्य, उत्साह, गन्दी वस्तुओं में घृणा, उत्तम पुरुषों के गुणों से स्पर्धा करना 'शोभा' कहा जाता है ॥ ३४ ॥

अभिनय—जिस शरीर के विकार से दाक्ष्यादि व्यक्त होते हैं, वहाँ शोभा होता है ॥ ३४ ॥

---

१. ख.,ग. यत्र ।

[1]धीरसंचारिणी दृष्टिर्गतिर्गोवृषभाञ्चिता ।
स्मितपूर्वम[2]थालापो विलास इति कीर्तितः ॥ ३५ ॥
अभ्यासात्करणानां तु श्लिष्टत्वं यत्र जायते ।
महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥ ३६ ॥

अथ पुरुषगतानुद्दिश्य लक्षयति—शोभा विलास इत्यादि ॥ ३३ ॥
यतः शरीरविकाराद् दाक्ष्यादि गम्यते सा शोभेति सम्बन्धः ॥ ३४ ॥
गोवृषभः उत्तमा गौः ॥ ३५ ॥

महत्स्वपि विकारेष्विति युद्धनियुद्धव्यायामादिष्वभ्यासकृतं, करणानां करचरणादिक्रियाणां श्लिष्टत्वं अनुल्बणत्वं यत्र शरीरविकारो स माधुर्यम् । नटगतमेतदिति त्वसत् प्रक्रमविरोधात्, प्रयोक्तृगुणानां च प्रकृत्यध्याये भूमिकाविकल्पाध्याये च (अ ३५, ३६) वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ३६ ॥

---

२. विलास—

अनुवाद—धीर (स्थिर सञ्चारिणी दृष्टि, गौ और बैल के समान गति, मन्द मुस्कान से युक्त वार्त्तालाप 'विलास' कहा गया ॥ ३५ ॥

अभिनव—गोवृषभ का अर्थ है उत्तम गो ॥ ३५ ॥

३. माधुर्य—

अनुवाद—महान् विकारों में भी अभ्यास के कारण जहाँ पर इन्द्रियों की श्लिष्टता होती है, उसे 'माधुर्य' कहते हैं ॥ ३६ ॥

अभिनव—महान् विकारों में भी युद्ध-नियुद्ध तथा व्यायाम आदि में अभ्यासकृत, इन्द्रियों में हाथ-पैर आदि की क्रियाओं में शिलष्टता जहाँ पर शरीर का विकार हो, वहाँ 'माधुर्य' होता है। वह नट में होता है, यह कहना असत् है, प्रक्रम का विरोध होने से और प्रयोक्ता के गुणों का कथन आगे प्रकृति नामक अध्याय में और भूमिका विकल्प अध्याय में वक्ष्यमाण होने से ॥ ३६ ॥

---

१. ख. स्थिर । ग. वीर ।
२. ख. तथा वाचो ।

धर्मार्थकामसंयुक्ताच्छुभाशुभसमुत्थितात् ।
[1]व्यवसायादचलनं स्थैर्यमित्यभिसंज्ञितम्[2] ॥ ३७ ॥

धर्मादयो यस्य फलं स तैः संयुक्त इत्युक्तम् । शुभाशुभसमुत्थितादिति । शुभसंकल्पजा अशुभसङ्कल्पजाश्च । अशुभादि हि सङ्कल्पोऽस्थिराग्निवर्तते । यथैलश्चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्वहारादर्थफलाद्याशयात् ।

अन्ये तु वीरस्यैतदनुचितमिति मत्वान्यथा व्याचक्षते शुभाशुभयोः समुत्थित इति । तेन यच्छास्त्रोक्तमुचितं चारभ्यते । तत्र क्रियमाणे (शुभं) सुलभतयार्थ-लाभः, अशुभं क्षयव्ययादिरूपकमस्तु तथापि तद्विषयाध्यवसायादविचलनं स्थैर्यं देहविकाररूपमेव ॥ ३७ ॥

---

४. स्थैर्य—

अनुवाद—धर्म, अर्थ, काम से संयुक्त, शुभ या अशुभ कार्य से समुत्थित व्यवसाय से विलचित न होना 'स्थैर्य' कहलाता है ॥ ३७ ॥

अभिनव—धर्म, अर्थ, काम जिसके फल हैं, उनसे संयुक्त ऐसा कहा है। शुभ और अशुभ कर्म से समुत्थित अर्थात् शुभ संकल्प से शुभ और अशुभ संकल्प से अशुभ उत्पन्न होते हैं। अशुभ कर्म से भी सङ्कल्प अस्थिर हो जाता है। जैसे ऐल चातुर्वर्ण्य के उसंहार से, सर्वस्व आहरण से अर्थ के फल के आशय से निवृत्त हो गया।

अन्य लोग तो वीर के लिए यह अनुचित है, यह मानकर अन्यथा व्याख्या करते हैं। शुभ और अशुभ कर्मों से समुत्थित है। अतः जो शास्त्र में कहा गया है और उचित भी है। उसका आरम्भ करते हैं, अर्थात् उनके करने पर शुभ सुलभता से अर्थ का लाभ होता है और अशुभ क्षय और व्यय रूप अनिष्ट होता है, तथापि तद्विषयक अध्यवसाय से अविचलन देह का व्यापार 'स्थैर्य' है ॥ ३७ ॥

---

१. ग. व्यवसायादिवचनं ।

२. ब. अभिधीयते ।

यस्य प्रभावादाकरा हर्षक्रोधभयादिषु[१] ।
भावेषु नोपलक्ष्यन्ते[२] तद्गाम्भीर्यमिति स्मृतम्[३] ॥ ३८ ॥

अबुद्धिपूर्वकं यत्तु निर्विकारस्वभावजम्[४] ।
शृङ्गाराकारचेष्टत्वं ललितं तदुदाहृतम्[५] ॥ ३९ ॥

आक्रियते चित्तवृत्तिरेभिरित्याकारः, मुखरागदृष्टिविकारादयः तेष्वपि चासत्सु कारणसामग्र्यव्यभिचरितफलेति हर्षादिसम्भवेऽपि यत्कृतस्तत्कृतमुखरागाद्यभावः स एव निस्तिमितदेहस्वभावो गाम्भीर्यम् ॥ ३८-३९ ॥

---

५. गाम्भीर्य—

अनुवाद—जिसके प्रभाव से हर्ष, क्रोध तथा भय आदि भावों का चेहरे पर न दिखाई देना 'गाम्भीर्य' कहलाता है ॥ ३८ ॥

अभिनव—चित्तवृत्तियाँ जिनसे आकृत को जाती हैं, वे आकार है। वे मुखराग, दृष्टि विकार आदि हैं, जहाँ उनकी सत्ता नहीं है। वह समग्र कारणता से अव्यभिचरित फल है। हर्ष आदि के सम्भव होने पर भी कारणता के व्यभिचार से किया गया मुखरागादि का अभाव है। वही निस्तमित देह का अपना भाव 'गाम्भीर्य है ॥ ३८ ॥

६. ललित—

अनुवाद—अबुद्धि पूर्वक विकार रहित स्वभाव से जन्य जो शृङ्गाराकार एवं शृङ्गारिक चेष्टाएँ है, उसे 'ललित' कहा गया है ॥ ३९ ॥

---

१. ख. रोमहर्षभयादिषु । ग. क्रोधहर्षभयादिषु ।

२. ख. ग. नोपलभ्यन्ते ।

३. ख. गाम्भीर्यमिति संशितम् ।

४. ग. सुकुमारं स्वभावत। । ख. सुकुमारस्वभावजम् ।

५. ख. प्रकीर्तितम् ।

दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् ।
स्वजने च परे वापि तदौदार्यं प्रकीर्तितम्[1] ॥ ४० ॥

अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

परजनविषयं दानादिचेष्टाविकाररूपमेवौदार्यम् । स्वग्रहणन्तु लोकोक्तं-यन्नानादररूपरूपन्तु चोभयत्रौदार्यमेव स्फुटयति । अभ्युपपत्तिः परित्राणाद्यर्थिनोऽङ्गीकरणम् ॥ ४० ॥

परेणेति शत्रुणा, न तु गुरुणा मित्रादिना वा । प्राणात्ययेऽपीति न तु नीत्यनुवर्तनेन कथंचित् देशकालाद्यनुवर्तनेन सहनपूर्वक निर्यातनम् । तथा च ममैव श्लोकः—

> मूर्ध्ना कंचन पार्थिवं घृतवता छिद्रैः प्रविश्यान्तरं
> स्वं रूपं विनिगूह्य तापमतुलं दत्त्वा चिराद् भ्रंशितः ।
> यश्शङ्कुजंडरूपतापरिचितो नीत्येव बह्ने त्वया
> तन्मन्येऽत्र कथासु तिष्ठति परं निर्बन्धतेजस्विता ॥ इति ।

---

७. औदार्य—

अनुवाद—स्वजन अथवा परजन में भी भेदभाव रहित होकर जब दान करता है, अनुग्रह करता है और प्रिय भाषण करता है। वह 'औदार्य' कहलाता है ॥ ४० ॥

अभिनव—अन्य जनविषयक दानादि चेष्टा रूप जो विकार है वही 'औदार्य' है । 'स्वजन' में 'स्व' पद का ग्रहण यह स्पष्ट करता है कि जो लोकोक्त है और जो अनादर रूप नहीं है। दोनों औदार्य है। अभ्युपपत्ति का अर्थ परित्राण आदि को चाहने वाले का अङ्गीकरण ॥ ४० ॥

८. तेज—

अनुवाद—शत्रु के द्वारा प्रयुक्त अधिक्षेप वचन और अपमान को प्राणों के विनाश के अवसर भी सहन न करना 'ओदार्य' कहलाता है ॥ ४१ ॥

अभिनव—यहाँ पर का अर्थ शत्रु है, गुरु या मित्र आदि नहीं। प्राणों के नाश में भी, न कि नीति के अनुवर्त्तन से अथवा देश-काल आदि का अनुवर्त्तन करके सहन करते हुए निर्यातन करना। इस विषय में यह श्लोक है—

---

१. ख. इति स्मृतम् ।

[1]सत्त्वजोऽभिनयः पूर्वं मया प्रोक्तो द्विजोत्तमाः ।
शारीरं चाप्यभिनयं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ४२ ॥

सात्त्विकः पूर्वमुक्त इत्यर्थस्यास्य केचिच्छङ्काशमनं प्रयोजनमाहुः—एवं हि शंक्यते सात्त्विकप्रसङ्गेन कस्माद्रोमाञ्चादयो नोक्ता इति; तद्वारणार्थमाह—पूर्वमिति भावाध्याय एव ते निरूपिता—इति ।

अयं च नार्षः, यतः सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्, अतो वागङ्गसत्त्व इत्यत्र पश्चान्निर्दिष्टः सात्त्विकः सामान्याभिनयो यस्मात् पूर्वमिति आदौ प्रोक्तः ततो हेतोर्यद्विलोमक्रमेण अनुपूर्वशः आनुपूर्व्यं क्रमप्राप्तं तेन क्रमेण शारीरं सामान्याभिनयं वक्ष्यते । सत्त्वानन्तरं हि विपरीतवृत्त्या आङ्गिकस्यानन्तरं वागङ्गसत्त्व इति । शारीरमित्यादि अत्र चशब्दो यस्मादर्थं, अपिशब्दस्तत इत्यत्रार्थं ॥ ४२ ॥

"हे अग्ने ! किसी राजा को शिर से धारण करने वाले तुमने जड़रूपता से परिचित जिस शङ्कुलो नीति से सहन किया । क्योंकि जो शङ्कु अपने रूप को छिपाकर छिद्र के द्वारा अतुल ताप का देकर नष्ट हो गया । मैं समझता हू कि वह तेज केवल कथाओं में शेष रह गया है ॥ ४१ ॥

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों ! मैंने पहले सत्त्वजन्य सात्त्विक अभिनय को कहा है । अब मैं क्रम से उसी शारीराभिनय की व्याख्या करता हूँ ॥ ४२ ॥

अभिनव—सात्त्विक अभिनय को पहिले कह दिया गया है, इस अर्धांश का प्रयोजन शङ्का का शमन करना है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं । यहाँ शङ्का होती है कि सात्त्विक का प्रसङ्ग होने से रोमाञ्च आदि को क्यों नहीं कहा । उसके कारण के लिए कहते हैं कि पहिले भावाध्याय में इसका निरूपण किया जा चुका है ।

यह आर्ष' नहीं है । क्योंकि सत्त्व में नाट्य प्रतिष्ठित है । अतः 'वागङ्गसत्त्व' इस पद में पश्चात् निर्दिष्ट सात्त्विक सामान्याभिनय को जिसमें पहिले प्रारम्भ में कह दिया है, इसलिए जो विलोमक्रम से अनुपूर्वशः क्रम प्राप्त है, उस क्रम से सामान्याभिनय को कहेंगे । विपरीत क्रम से पहिले सात्त्विक अभिनय के अनन्तर आङ्गिक अभिनय, आङ्गिक के अनन्तर वाचिक 'वागङ्गसत्त्व' है । 'शारीरं च' में कथित 'च' शब्द यस्मात् अर्थ में है और अपि शब्द 'तत' इस अर्थ में है ॥ ४२ ॥

---

१. ग. सत्त्वतोऽभिनयाः पूर्वं मयोक्ता द्विजसत्तमाः ।

षडात्मकस्तु शारीरो वाक्यं सूचाङ्कुरस्तथा ।
[1]शाखा नाट्यायितं चैव निवृत्त्यङ्कुर एव च ॥ ४३ ॥

तत्रोद्देशमाह—

षडात्मकस्त्विति।

यः पूर्वं शारीरोऽभिनयो बहुना प्रकारवैचित्र्येणोक्तः तस्यावान्तर-सामान्याभिनयरूपा हि षड् भवन्तीति, स एव षडात्मकतयाऽवान्तरसामान्या-भिनयरूपा हि षड् भवन्तीति, स एव षडात्मकतयाऽवान्तरजातियोगात् सात्त्विकवाचिकाभिनयैश्च सम्भूय क्रमतां प्राप्तैश्च व्यामिश्रतायां सामान्याभिनयः सम्पाद्यत इति तुशब्दस्यार्थः ।

वाक्यमिति वाक्यसहचरितः शारीरोऽभिनयो वाक्यम् । न हि शरीरा-भिनयमध्ये च निर्वर्तकानि गणितानीति चिरन्तनाः ॥ ४३ ॥

शारीरस्वरा (अ० १९) इति यद्व्यवहाराद्वा भावश्च शारीरत्वेन प्रसिद्धे वाक्यमेवाभिनयान्तरनिरपेक्षमिति, सद्वृत्तभाषागुणः स्फुटतमां स्वार्थप्रतीतिं यदा विधत्ते तत एव रसभावानुभावकं तदा तदेव वाक्याभिनय इति तु काव्यकौतुक-ग्रन्थः। अत्र तु पाठ्यरूपः सामान्याभिनयः कथमिति चिन्त्यम् । शरीरानुप्रवेशा-दितिचेत् स्वरितानपेक्ष (तदितरानपेक्ष ?) एव । न चाभिनयशून्याभिनेयकाव्ये वाक्यं किञ्चिद्भवति । न चाभिनेये वाक्याभिनयव्यवहार इत्युपाध्यायेनायमेकीयोऽ-भिप्रायो वर्णितः न त्वस्यायं स्वपक्ष इति भ्रमितव्यम् ।

शारीराभिनय—

अनुवाद—शारीराभिनय छः प्रकार के हैं। वाक्य, सूचा, अङ्कुर, शाखा, नाट्यायित और निवृत्यङ्कुर ॥ ४३ ॥

अभिनव—शारीराभिनय छः प्रकार का होता है। पहिले जिस शारीरा-भिनय को बहुत विचित्र प्रकारों से कहा है उसके शारीराभिनय रूप अवान्तर भेद छः प्रकार के होते हैं, इस प्रकार वही अवान्तर भेदों के योग से छः प्रकार का होता है, फिर क्रम प्राप्त सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक अभिनयों के व्यामिश्रण से सामान्याभिनय होता है। ऐसा 'तु' शब्द के अर्थ से प्राप्त होता है।

वाक्यमिति—वाक्य सहचरित शारीराभिनय वाक्य है। शारीराभिनय के बीच में निवृत्यङ्कुरों की गणना नहीं की है, ऐसा चिरन्तन लोग कहते हैं ॥ ४३ ॥

---

1. ब. शाखो ।

नाना[1]रसार्थयुक्तैर्वृत्तनिबन्धैः[2] कृतः [3]सचूर्णपदैः ।
प्राकृतसंस्कृतपाठो[4] वाक्याभिनयो बुधैर्ज्ञेयः ॥ ४४ ॥

तत्र वाक्याभिनयस्य लक्षणमाह—

नानारसार्थयुक्तैर्वृत्तनिबन्धैः कृतः स चूर्णपदैः ।
प्राकृतसंस्कृतपाठो वाक्याभिनयो बुधैर्ज्ञेयः ॥ इति ।

वाक्याभिनय—

अनुवाद—नाना प्रकार के रसों से ओत-प्रोत अर्थों से युक्त चूर्णपदों अर्थात् गद्य-पद्यात्मक रचनाओं से युक्त तथा प्राकृत एवं संस्कृत पाठ से युक्त छन्दों की रचना जहाँ हो, उसे 'वाक्याभिनय' समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

अभिनव—'शारीरस्वरा' इस व्यवहार से शरीरत्वेन प्रसिद्ध भाव और अभिनयान्तर निरपेक्ष वाक्य ही है। सद्वृत्तों से सम्पन्न भाषा गुण जब अत्यन्त स्पष्टरूप से अपने अर्थ की प्रतीति को करता है तभी रस और भाव का अनुभावक है, तब वही वाक्याभिनय कहलाता है। ऐसा काव्यकौतुक ग्रन्थ में कहा है । यहाँ सामान्याभिनय पाठचरूप के होगा, यह चिन्तनीय है। यदि कहा जाय कि शरीर का अनुप्रवेश होने से, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि पहिले कहा जा चुका है कि अभिनयान्तर निरपेक्ष वाक्य है और अभिनय शून्य अभिनेय विशिष्ट काम में अभिनय निरपेक्ष वाक्य कुछ नहीं होता। अभिनेय पदार्थ में वाक्याभिनय का व्यवहार नहीं होता है, ऐसा उपाध्याय जी ने एक किसी का अभिप्राय दिखाया है, किन्तु यह उनका अपना पक्ष है यह भ्रम नहीं करना चाहिए ।

---

१. ग. भावरगार्थैर्वृत्तनिबद्धैः कृतस्य ।
२. ख. निबद्धैः ।
३. ख. सचूर्णकृतैः ।
४. ख. ग. पाठ्यो ।

नानारसविशेषो वाक्यार्थः। तेन युक्तानि वाक्यानि यानि तानि च वृत्तरचितानि चूर्णपदात्मकानि वा पुनरपि संस्कृतानि वा प्राकृतानि वा तैर्युक्तः सहचरितः शारीरो वाक्येन सहैव प्रयुज्यमानः शारीरो वाक्याभिनय इति यावत्। प्राकृतः संस्कृतश्च पाठोऽस्मिन्निति बहुव्रीहिः। स चायं वाक्याभिनयश्चतुर्धा संस्कृत-प्राकृतयोर्गद्यपद्यभेदात्।

अत्र केचिदाहुः योऽर्थः सदैव हृदये वर्तते अत एव विमर्शानुबन्धनादिनिरपेक्ष एव स सततं स्फुरति। यथा भीमसेनस्य कुरुकुलविषयः क्रोधातिशयः तद्विषये वाक्ये "चञ्चद्भुजभ्रमित" (वेणी—अ १) इत्यादौ पाठसमकालः यो भ्रुकुट्यादिमयः शारीरोऽभिनय इति। एतच्चासत्। सूचायां विमर्शपूर्वकवस्तुविषयामपि प्रवृत्तायां यद्वाक्यं बध्यते तत्सहचरितोऽपि शारीरः किमिति न वाक्याभिनयः तथापि चतुर्विधवाक्याभिनयोगात् सूचादीनां बहुभेदत्वं वक्ष्याम इत्यास्तां तावत्।

अब वाक्याभिनय का लक्षण कहते हैं—

अभिनय—नाना प्रकार के रसों से युक्त, वृत्तों से रचित अथवा बिखरे हुए (चूर्ण) पद-स्वरूप, संस्कृतमय अथवा प्राकृत पाठ से युक्त, वह वाक्याभिनय कहलाता है। यहाँ वाक्य के साथ प्रयुज्यमान शारीर ही वाक्याभिनय है। प्राकृत और संस्कृत पाठ है जिसमें, इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। यह वाक्य चतुर्विध है। संस्कृत और प्राकृत भाषा में निबद्ध गद्य और पद्य भेद से चार प्रकार का होता है।

यहाँ पर कुछ लोग कहते हैं कि जो अर्थ यहाँ सदैव हृदय में है। इसलिए विसर्ग की अपेक्षा अनुबन्ध आदि से निरपेक्ष निरन्तर स्फुरित होता है। जैसे भीमसेन के हृदय में कौरवों के विषय में क्रोधातिशय है। उस विषय के वाक्य 'चञ्चद्भुजभ्रमित' इत्यादि वेणीसंहार नाटक के वाक्य पढ़ने के समय में भ्रुकुटीसञ्चालन रूप अभिनय होने लगता है। इस पर कहते हैं कि यह सब असत् है। सूचा में विमर्श पूर्वक प्रवृत्त होनेवाली सूच्य में जो वाक्य निबन्धन है। तत्सहचरित ही शारीर अभिनय है। तो वह वाक्याभिनय क्यों नहीं कहलायेगा। तब भी चार प्रकार के वाक्याभिनय भेद से सूच्य के अनेक भेदों को हम कहेंगे।

वाक्यार्थो वाक्यं वा सत्त्वाङ्गैः सूच्यते यदा पूर्वम् ।
पश्चा[1]द्वाक्याभिनयः [2]सूचेत्यभिसंज्ञिता सा तु ॥ ४५ ॥

वाक्यार्थो वाक्यं वा सत्त्वाङ्गैः सूच्यते यदा पूर्वम् ।
पश्चाद्वाक्याभिनयः सूचेत्याभिसंज्ञिता सा तु ॥ इति ॥

यदा तु निपातः यदित्यत्रार्थे इह वर्तते । तेन यैः सात्त्विकाङ्गिकैः भावि-वक्तव्यं सूच्यते, येषामन्तरोऽभिनयः प्रवर्तत एव सूचाभिनयः । "आत्मबुद्ध्या समेत्यार्थां" निति हि न्यायो वा प्रसरेत् । तत्रोत्तमानां बाहुल्येनाभिसंधान-विचारपूर्वकं एवमिति चिरतरोऽसावभिसन्धिकालः तत्राविष्टस्यैवेहोपयोग इति—विचार्यमाणं तथाभूतवस्तुविशेषावेशजनितेन शरीरविकारेणावश्यं भवितव्यं सममेव सूचाभिनयः । तत्र च द्वयो गतिर्विद्यते ।

अनुवाद—जब पहिले ही सात्त्विक अङ्गों के सञ्चालन से वाक्य अथवा वाक्यार्थ की सूचना दे दी जाय और बाद में अभिनय किया जाय तो वह 'सूचा-भिनय' कहलाता है ॥ ४५ ॥

अभिनय—'जहाँ पर पहिले ही सात्त्विक अङ्गों के द्वारा वाक्य अथवा वाक्यार्थ की सूचना दे दी जाय और फिर अभिनय किया जाय, उसे 'सूचा-भिनय' कहते हैं ।'

यहाँ पर 'यदा' और 'तु' निपात 'यत्' इस अर्थ में है । इसलिए जिस सात्त्विक अङ्गों से भावी अर्थ सूचित होता है, जिसके अन्तर में अभिनय प्रवृत होता है । वही 'सूचाभिनय' है । अथवा आत्मा 'बुद्धि से अर्थों को समेट कर' यह न्याय प्रसृत होता है, उसमें उत्तम पुरुषों के बाहुल्येन पूर्वापर के अभिसंधान के साथ विचार पूर्वक इस प्रकार वह प्राचीन अभिसन्धि काल है । उसमें आविष्ट का यहीं उपयोग है । ऐसा जब विचार करते हैं तो उस तरह के वस्तु-विशेष के आवेश से उत्पन्न शरीर-विकार अवश्य होने चाहिए तथा उसके साथ ही सूचाभिनय होता है । वहाँ पर दो गतियाँ हैं—पूर्वस्थित से जैसा क्रम आक्षिप्त है । उसी क्रम से परतः शब्द का उच्चारण अभिसन्धान होता है ।

१. ख. हृदयस्थैः ।
२. ग. अङ्गविकारैः ।

यथा—'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवन्यस्तः समस्तो भरः, (रत्ना०—अ० ४) इत्यादौ।

तत्र हि पूर्वपूर्वावान्तरवाक्यांशाभिधेयभागप्रभावित एवोत्तरोत्तरावान्तर-वाक्यार्थ इति यादृगभिसन्धानक्रमस्तादृगेव तत्र क्रमः। यत्र त्वन्यथाभिसन्धान-मन्यथा च क्रमस्तत्र निर्विभागभेदकं सन्धानोपवाक्यार्थसन्धानम्। यथा मायापुष्पके सुग्रीवस्य—

दुर्गं भूमिरमात्यभृत्यसुहृदो दाराः शरीरं धनं
मानो वैरिविमर्दसौख्यममरप्रख्येन सख्येन किम् ?
यस्मात्सर्वमिदं प्रियाविरहितैस्तस्मादशक्ता वयं
न स्वेच्छासुलभैः पथोऽपि घटने शैलाश्मखण्डैरपि॥

अत्र हि शरीरं दारा भूमिर्धनं भृत्या दुर्गं वैरिविमर्दसुखं रामस्य मित्र-मितिप्रसिद्धिरित्यभिसन्धानक्रम उचितो, निकटार्थ परामर्शक्रमेण प्रकरणा-र्थवशादिदं लब्धं दूरं प्रसृत्य क्रमेण यद्वा इदं तावदास्तां, इदमपि तत इति न्यायेनान्तःप्रवेश, तथापि रामस्य मित्रमितिप्रसिद्धिरित्यादिना विलोमक्रमेण भाव्यम्। तत्र प्रथमे पक्षे वाक्यं सूच्यत इत्युक्तम्, क्रमो हि वाक्यमिति तद्विदो मन्यते। 'एको नववचः ......शब्दः क्रमो युध्यतः सुहृद्भि' रित्यादौ। द्वितीयपक्षे तूक्तं वाक्यार्थः सूच्यत इति।

जैसे—'राज्यं निर्जितशत्रुयोग्यसचिवन्यस्तः समस्तो भरः"

अर्थात् 'राज्य के समस्त शत्रुओं को पराजित कर दिया है। योग्य सचिवों पर समस्त राज्यभार सौंप दिया है।'

इत्यादि में पूर्व-पूर्व अवान्तर वाक्यांश के अभिधेय (प्रतिपाद्य) भाग से प्रभावित हो उत्तरोत्तर वाक्यार्थ है, इस अभिधान जैसा क्रम है, वही क्रम यहाँ है। जहाँ पर अभिसन्धान अन्य है वहाँ क्रम अन्य है, वहाँ अभिधेय भाग से प्रभावित भेद नहीं है वहाँ अभिसन्धानीय वाक्यार्थ का सन्धान होता है। जैसे—मायापुंष्पक में सुग्रीव का कथन है—

"दुर्ग, भूमि, अमात्य मित्र, भृत्य, स्त्रियाँ, शरीर, धन, मान, शत्रु के विमर्द से जनित सुख एवं अमरप्रख्य सख्य अर्थात् राम की मित्रता से क्या अर्थात् कुछ भी नहीं है। क्योंकि यह सब राम को प्रिया सोता से रहित है। अतः स्वेच्छा से रहित है। अतः स्वेच्छा से सुलभ इस पर्वत के पाषाण खण्डों से मार्ग की रचना में हम लोग अशक्त है।"

अन्यस्त्वाह—यदा स्वयमेव विमृश्यते तदा वाक्यार्थः सूचितः, यदा तु परवचनमाकर्ण्यते, यथा 'भो वयस्य पेक्ख पेक्ख' (रत्ना०) इत्यादावुद्यानवर्णनं पूर्यते तदा तदुक्तोऽर्थः सूच्यते तस्य पश्चाद्वचनाभिनयो भविष्यति 'वयस्य सम्यगुपलक्षित' मित्यादि, तत्र सूचाभिनये वाक्यं सूच्यत इति। तच्चासत्—परवाक्यापेक्षया हि तत्र निवृत्यङ्कुराभिनयः भाविवाक्यापेक्षया तु ततोऽन्यैव सूचा। अभिनेय एवाभिनयनलक्ष्यं प्रत्यपरिचयोऽयमपराध्यति। किंचिद्वाक्यार्थप्रग्रहणेन किमयमर्थो न स्वीकर्तुं शक्यो येन पुनर्वाक्यशब्दोपादानं स्यात्, तस्मात्परोदीरितवाक्यार्थ एव ह्यसौ सूचितो न तु वाक्यमित्यास्ताम्।

यहाँ शरीर, दारा, भूमि, धन, भृत्य, अमात्य, सुहृद्, दुर्ग, वैरिवर्ग से सुख और राम की मित्रता यह प्रसिद्ध है, अतः अभिसन्धान क्रम उचित है। निकटवर्त्ती के परामर्श क्रम से अथवा प्रकरण के द्वारा यह उपलब्ध होता है अथवा दूर जाकर क्रम से मिलता है अथवा इसे रहने दिया जाय। यह भी तो उसी वाक्य से मिलता है, इस न्याय से अन्तःप्रवेश अर्थात् पदार्थ को बनाया जा सकता है। तथापि राम की मित्रता इसकी प्रसिद्धि है, इस विलोम क्रम से होना चाहिए। यहाँ प्रथम पक्ष में वाक्य सूच्य होता है, ऐसा लोग कहते हैं। जैसे—क्रमविद् और वाक्य वेत्ता जानते हैं, इत्यादि में। द्वितीय पक्ष में तो कह दिया है कि वाक्यार्थ सूचित किया जाता है।

दूसरे लोग कहते हैं कि जब स्वयं परामर्श करते हैं। तब वाक्यार्थ सूचित है, यह उचित है। जब दूसरे के बचन को सुनते हैं, जैसे—'भो वयस्य ! देखो देखो' इत्यादि उद्यान वर्णन की पूर्त्ति की जाती हैं। तब कहाँ वाक्यार्थ सूचित होता है। तदनन्तर वाक्याभिनय होता है। जैसे—'वयस्य ! सम्यगुपलक्षितं भवता' अर्थात् अपने अच्छी तरह समझ लिया यहाँ सूचाभिनय में वाक्य सूचित होता है। यह सब असत् है—परवाक्य की अपेक्षा से यहाँ निवृत्यङ्कुर अभिनय होता है और भावी वाक्य की अपेक्षा से उससे भिन्न सूचा होती है। यह अनभिधेय है। इससे अथवा दोष नहीं है किन्तु अभिनयन के विषय में जो यह अपरिचय है वह अपराधी है। यहाँ वाक्यार्थ के ग्रहण से क्या यह इस अर्थ का जान लेना सम्भव नहीं है जिससे पुनः वाक्य शब्द का उपादान हो, अतः परोदीरित वाक्य का अर्थ ही यहाँ उचित है न कि वाक्य। अतः रहने दिया जाय ॥ ४५ ॥

[1]हृदयस्थो निर्वचनैरङ्गाभिनयः[2] कृतो निपुणसाध्यः ।
सूचैवौत्पत्तिकृतो विज्ञेयस्त्वङ्कुराभिनयः ॥ ४६ ॥

तदिदमुक्तपूर्वं संस्कृतप्राकृतयो गद्यपद्येतरचतुःप्रकारं वाक्यं तदर्थसूचने भेदादष्टधा सूचाभिनयादनुगतं षोडशधा युक्तम् । परवाक्यस्य न भिन्नाङ्गतेत्यधुनैवोपपादितम् ।

हृदयस्थो निर्वचनैरङ्गाभिनयः कृतो निपुणसाध्यः ।
सूचैवोत्पत्तिकृतो विज्ञेयस्त्वङ्कुराभिनयः ॥ इति ॥

अपरेऽपि वाक्ये यद्गर्भीभूतं हृदयस्थं वस्तु तन्निष्ठो योऽभिनयोऽङ्गविकारैर्वचनशून्यैः सम्पादितः सूचातुल्यः सोऽङ्कुरो नाम शारीरः ।

यथा सागरिका – जाव अहं पि कुसुमाइं अवचाइअ कामदेवं पूअइस्सं— इत्यभिधायैतद्वाक्ये गर्भीभूतं कुसुमापचयमङ्गविकारैर्दर्शयति । यच्चायमङ्कुरो निपुणैरेव प्रयोक्तृभिः सामाजिकैश्च साध्यः आपाद्यः चेतसा ध्यात उत्पत्त्या स्वबुद्धिकल्पनयापचितः । यद्यपि कविवाक्यान्येवात्रोपजीव्यानि, तथापि यादृक् कुसुमापचयकर्म सागरिकायाः सौभाग्यसौन्दर्यप्रेमसाध्वसाविगर्भं न तादृशं तापसस्य तदुभयविलक्षणं 'य……वेद्या (?)' इत्येवमादि तत्सर्वं वचनेभ्य एवाकृष्यते तथा विस्पष्टं च न तथावचनतो लभ्यमेतत् । अपि तु पर्यालोचनातिशयगम्यमिति निपुणसाध्यमित्ययुक्तम् ॥ ४६ ॥

अभिनय—यह जो पहिले कहा जा चुका है कि वाक्यार्थाभिनय संस्कृत और प्राकृत में गद्य एवं पद्य के भेद से चार प्रकार का होता है। वह अर्थ सूच्य में भी उतने प्रकार का होने से आठ प्रकार का होता है और सूचा अभिनय के अनुगत करा देने से सोलह प्रकार का होता है। परवाक्य अर्थात् अन्य वाक्यों में भी भिन्नाङ्गता नहीं है, अभी कहा है।

अनुवाद—जब निपुण अभिनेताओं द्वारा हृदयस्थ भावों को शब्दों के द्वारा अभिनीत किया जाता है उसे 'अङ्कुराभिनय' समझना चाहिए ॥ ४६ ॥

अन्यार्थक वाक्य में जो गर्भीभूत हृदयस्थ वस्तु है, तद्विषयक जो वाचिक अभिनय से रहित अङ्गविकारों से सम्पन्न किया सूचातुल्य अभिनय है वह अङ्कुरनायक अभिनय कहलाता है।

१. ग. ख. वाच्या ।
२. ख. सा सूचा सूरिभिर्ज्ञेया ।

[1]यत्तु शिरो मुखजङ्घोरुपाणिपादैर्यथाक्रमं क्रियते ।
शाखादर्शन[2]मार्गः शाखाभिनयः स विज्ञेयः ॥ ४७ ॥

अन्ये तु सूचाया उत्पत्तिभागेन तुल्योऽङ्कुरस्तस्याः प्राग्भावे वचनशून्यत्वादिति । इदं त्वनुक्तसमानं निर्वचनशब्देनोक्तत्वादर्थस्य ।

यत्तु शिरोमुखजङ्घोरुपाणिपादैर्यथाक्रमं क्रियते ।
शाखादर्शनमार्गः शाखाभिनयः स विज्ञेयः ॥

समस्तेन शाखाव्यापारेण वर्तनप्रधानतया प्रयुक्तः शाखाभिनयः शिरोमुखजङ्घोरु' इत्यादिना कृतैकवद्भावेन द्वन्द्वपदसमूहेन पुनः श्लोक द्वन्द्वेन नाटयायित मित्यादि स्थान इत्यादि च ॥ ४७ ॥

जैसे—

सागरिका—मैं भी कुसुमों का अवचयन कर कामदेव की पूजा करूँगी। ऐसा कहकर इस वाक्य में गर्भीभूत कुसुम का अवचयन अङ्गविकारों से दिखती है। यह जो अङ्कुर का अभिनय है वह निपुण प्रयोक्ता और सामाजिक का साध्य है, आपाद्य है, चित्त से ध्यात है, अपनी बुद्धि से उद्भावित की कल्पना के द्वारा उपचित है। यद्यपि कवियों के वाक्य ही यहाँ उपजीव है तथापि जैसा कुसुमावचय कर्म सागरिका सौभाग्य, सौन्दर्य, प्रेम और साध्वसादि से गर्भीकृत है वैसा, तापस का नहीं, अतएव जो सहृदय संवेद्य है वह तो दोनों से विलक्षण है। इस प्रकार इत्यादि कुछ वचनों से आकृष्ट किया जाता है तथा वह सब बचनों से आकृष्ट किया जाता है। अतः उस प्रकार के बचन से लय नहीं है। अतएव प्रर्यालोचन लय है इस प्रकार निपुणसाध्य ऐसा कहा गया है ॥ ४६ ॥

अभिनव—सूचा के उत्पत्ति भाग के सदृश अङ्कुर है क्योंकि उसके पहिले वह वचन शून्य है। अतः वह नहीं कहने के समान है। इसका अर्थ निर्वचन शब्द से कहा गया है।

अनुवाद—जो कि क्रमशः शिर, मुख, जङ्घा, ऊरु, पाणि, पाद, आदि के द्वारा जो शाखा के देखने का मार्ग क्रमानुसार प्रशस्त कर दिया गया है उसे शाखाभिनय कहते हैं ॥ ४७॥

अभिनव—"जो शिरस् मुख, जङ्घा, ऊरु, पाणि, पाद आदि द्वारा यथा क्रम किये गये शाखा के देखने का मार्ग क्रमानुसार प्रस्तुत किया जाता है। उसे 'शाखाभिनय' समझना चाहिए।

१. ख. ब. यस्तु । २. ख. ग. दर्शित ।

नाट् यायितमुपचारैर्यः क्रियतेऽभिनयसूचया[1] नाट्ये ।
काल[2]प्रकर्षहेतोः प्रवेशकैः संगमो यावत् ॥ ४८ ॥

पूर्वप्रविष्टस्य पात्रस्यापरपात्रं प्रविश्य तद्रूपमुदीक्षमाणस्य प्रवेशोऽपि तद्ध्रुवागानतत्सूचापरिक्रमणादिकालेन किञ्चिन्नाटचमस्तीति तत्काले पूर्वपात्रेण ये समुचिता उपचाराः क्रियन्ते नाटचयायितमित्याद्यार्यायास्तात्पर्यम् । पूर्वप्रविष्टेन पात्रेण सह सङ्गमं विधाय पश्चात्प्रविष्टस्य पात्रस्य पूर्वप्रविष्टिपात्रपरिक्रमणादिकाले स्थानकेनैवासीनस्य तूष्णीं स्थितौ प्राप्तायामभिनयः तदपि नाटचायितमित्यपरार्यायास्तात्पर्यमिति श्रीशङ्कुकाद्याः । तच्चायुक्तम् । अन्योन्यसङ्गमावधि यत्पात्रस्य चेष्टितं तदपरोक्तिवाक्यार्थसूचनोचितत्वं वा निर्वचनकादौचित्यमात्रादेवोपनतं वा, पूर्वत्र पक्षे निवृत्यङ्कुरः उत्तरत्राङ्कुरः इत्युभयं न नाटचायितम् ।

समस्त शाखा व्यापार के द्वारा वर्तना-प्रधान मानकर शाखाभिनय का प्रयोग किया जाता है वह शाखाभिनय है । 'शिरोभूषणजङ्घा' इत्यादि के द्वारा कृत एकवद्भाव से द्वन्द्व पद समूह से प्रयुक्त शाखागीतये से पुनः श्लोकबद्ध द्वन्द्व से 'नाटचायित' तथा 'स्थान' इत्यादि दो श्लोकों के द्वारा समस्तशाखा व्यापार से बर्तना को प्रधान मानकर शाखाभिनय को प्रयोग किया जाता है ।

विशेष—वस्तुतः शाखा का अर्थ 'वर्त्तना' है तथा 'शाखादर्शितमार्गः' का अर्थ है शाखा के व्यापार अर्थात् बर्त्तनाक्रम इनको सम्पादन करते हुए प्रस्तुत करना। नाटचशास्त्र में वर्त्तनाक्रम से संशोधित अभिनय की 'सौष्ठवपूर्वं' बतलाया गया है। संगीतरत्नाकर में शाखाभिनय का अर्थ 'करवर्तना' वताया गया है। शार्ङ्गदेव के अनुसार भाषण के पूर्व अथवा कथोपथन के समय पात्रों का विभिन्न रूपों से हाथों का सञ्चालन 'शाखा' कहलाता है ।

अनुवाद—नाट्य के प्रारम्भ में अभिनय के द्वारा उपचारों से जो पात्र प्रवेश करता है, वहाँ काल के प्रकर्ष का हेतु संगम पात्रों का होता है उसे 'नाट्यायित' कहते हैं ॥ ४८ ॥

अभिनव—पूर्व में प्रविष्ट पात्र के स्वरूप की उत्कृष्टता देखते हुए अपरबक्त्र के प्रवेश के समय उस सादृश ध्रुवागान एवं तादृश सूचा, परिक्रमादि कुछ नाटच होता है अतः उस समय में पूर्वप्रविष्ट पात्र जो उपचार करता है ऐसा नाटचायित, इस आर्या का अभिप्राय है, पूर्वप्रविष्ट पात्र के साथ संगम करके स्थानक विधि से बैठे हुए पश्चात् प्रविष्ट पात्र का जो पूर्व प्रविष्ट पात्र के

---

१. ख. ग. सूचना। २. ग. काव्यप्रकर्षहेतोः ।

तथा हि प्रयोगकुशलाः प्राहुः एवंविधे विषये धर्मी—लिखति इति, प्रतिपालयन्नास्ते इति, तथा पुष्पापचयं नाटयतीति । नाट्यस्य सन्धानरूपत्वं च वाक्यं सूचादीनामपि सम्भवत्येव । न वा नाट्येन नाट्यं सन्धीयत इति नाट्यायितवाचोयुक्तिरपि कथम् । तस्मादित्थमेतत् व्याख्यातव्यम्—इह यदा स्वप्नोऽप्येकघनो दृश्यते तन्मध्यत एव च किं दृश्यमानं परस्य स्वप्न एव स्वप्नोऽयं मया दृष्ट इति वर्ण्यते, तदा जाग्रदपेक्षया स्वप्नजाग्रद्रूपतामापादि ते स्वप्नोऽयं मया दृष्ट इति वर्ण्यते, तदा जाग्रदपेक्षया स्वप्नव्यवहारः, न तत्र पारमार्थिक इत्यौपचारिकं तदपेक्षं तस्य स्वप्नत्वमिति तस्य स्वप्नायितव्यवहारो दृष्टः ।

एवमिहापि नाट्य एकघनस्वभावे हि स्थिते तत्रैवासत्यनाट्यानुप्रवेशान्नाट्यपात्रेषु सामाजिकीभूतेषु तदपेक्षया यदन्यं नाट्यं तस्य तदपेक्षया नाट्यरूपत्वं पारमार्थिकमिति नाट्यायितमुच्यते ।

परिक्रमण के समय में प्राप्त तूष्णी स्थिति के रूप में अभिनय है वह भी नाट्यायित है ऐसा अपर मार्गी का अभिप्राय है। इसका जो शङ्कुक आदि कहते हैं किन्तु वह अयुक्त है। परस्पर के संगम पर्यन्त जो पात्र का व्यापार है वह दूसरे पात्र के द्वारा कथित वाक्य के अर्थ की सूचना के अनुसार है अथवा निर्वचन के औचित्य से उपनत है—पूर्व पक्ष में निवृत्यङ्कुर है और उत्तर में अङ्कुर है अतः ये दोनों ही नाट्यायित नहीं है।

जैसा कि प्रयोग में कुशल लोग कहते हैं कि इस प्रकार के विषय में धर्मी लिखता है, कहीं प्रतिपालन करता हुआ बैठा है, तथा कभी पुष्पापचय का नटन करता है इत्यादि इस प्रकार नाट्य का सन्धान रूपता सूचादि के भी वाक्य में होती है अथवा नाट्य का अनुसन्धान नहीं होता है। अतः वह नाट्यायित है और वह वाचोयुक्ति कैसे हो सकती है? इसलिए इसकी व्याख्या ऐसी करनी चाहिए। यहाँ जब स्वप्न भी एक रूप में निरन्तर दिखाई देता है। जैसे स्वप्न के मध्य में ही दूसरे को कुछ दीख रहा है कि मैंने यह स्वप्न देखा क्योंकि यह स्वप्न ही जाग्रत् अवस्था को प्राप्त हो गया तभी तो वह कहता है कि मैंने यह स्वप्न देखा वहाँ जाग्रत् अपेक्षा से स्वप्न व्यवहार होता है, किन्तु यह पारमार्थिक व्यवहार नहीं है। यह औपचारिक है। अतः इसको स्वप्न कहते हैं। इसका स्वप्न की तरह व्यवहार होता हुआ देखा गया है।

इस प्रकार यहाँ भी एकघन स्वरूप नाट्य स्थित है वहाँ असत्य (मिथ्या) नाट्य के अनुप्रवेश होने से सामाजिक रूप नाट्य पात्रों जो अन्य नाट्य है। उसका पूर्वापेक्षा से नाट्यरूपत्व पारमार्थिक है। अतः उसे नाट्यायित कहते हैं।

तच्च द्विविधं नाट्यरूपकनिष्ठमेव वा कार्यान्तरनिष्ठं वा। तस्य क्रमेण लक्षणमार्याद्वितयेनोच्यते। नाट्ये यत्प्रवेशकैर्नाट्यान्तरगतैरिव पात्रैः अत एव ततः प्रविशतीत्युक्तैः सङ्गमः क्रियते तन्नाट्यायितम्। कीदृशैरभिनयद्वारेण यत्सूचनं तयोपचारैः परमार्थतयोपचर्यमाणैः।

ननूभयमपि नाट्यं कस्मान्न भवति नत्वेकघनतेत्याशङ्क्याह—कालप्रकर्षलक्षणाद्धेतोरन्योन्यभिन्नकालत्वात् कथं तत्रैकघनता युक्तेति भावः।

यावदिति भूयस्तरं प्रबन्धं व्याप्नोति परिमितं वा तत्सर्वं नाट्यायितमित्यर्थः। तथा यावदिति स्वप्ने स्वप्नान्तरं तत्राप्यन्यत् स्वप्नान्तरमित्यादिन्यायेन वा भवत्वेकघनस्वप्नायितवृत्त्या वा सर्वथा तन्नाट्यायितम्। तत्रास्य बहुतरव्यापिनो बहुगर्भस्वप्नायिततुल्यस्य नाट्यायितस्योदाहरणं महाकविसुबन्धुनिबद्धो वासवदत्तानाट्यधाराख्यः समस्त एव प्रयोगः।

यह नाट्यायित दो प्रकार का होता है—एक नाटक नामक रूपकनिष्ठ होता है दूसरा कार्यान्तर में। इन दोनों के लक्षणों को क्रमशः दो आर्याओं से कहते हैं। रूपकों में जो नाट्यान्तर्गत प्रवेशकों को 'ततः प्रविशति' इस प्रकार कहे गये अभिनयान्तर प्रविष्ट पात्रों के साथ संगम किया जाता है, वह 'नाट्यायित' है। कैसे? पात्रों के साथ जिसका अभिनयों के साथ जो सूचना है, उसे परामार्थ रूप से उपचर्यमाण है।

ये दोनों नाट्य क्यों नहीं होते? एकघनता नहीं होती है तो मत होवे, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि एक को अपेक्षा दूसरे से काल का प्रकर्ष है। इस कालप्रकर्षरूप हेतु से दोनों के काल में भेद होने से यहाँ एकघनता कैसे युक्त हो सकती है?

यावदिति—जो अति महान् प्रबन्ध को व्याप्त करता है अथवा परिमित सम्बन्ध को व्याप्त करता है, वह सब नाट्यायित है, अथवा यावत् का अर्थ है—जैसे 'स्वप्न में स्वप्नान्तर को देखना, उसमें भी अन्य स्वप्नान्तर को देखना' इस न्याय से अथवा एकघन से स्वप्नायित वृत्ति से प्राप्त है। यह सर्वथा नाट्यायित है। उक्त दोनों प्रकार के नाट्यायित का उदाहरण महाकवि सुबन्धु के द्वारा रचित वासवदत्ता नामक गद्य काव्य के आधार पर बने स्वप्नवासवदत्ता नाटक आदि समस्त प्रयोग है।

तत्र हि बिन्दुसारः प्रयोज्यवस्तुक उदयनचरिते सामाजिकीकृतः, असावप्युदयनो वासवदत्ताचेष्टिते। एष चार्थः—स्वस्मिन् सूत्ररूपके दृष्टे सुज्ञानो भवति। अतिवैतत्यभयात्तु न प्रदर्शितः। एकस्तु प्रदेश उदाह्रियते तत्र ह्युदयने सामाजिकीकृते सूत्रधारप्रयोगः—"तव सुचरितैरेव जयति" इति, तत उदयनः 'कुतो मम सुचरिता' इति सास्त्रं विलपति—

एह्यम्ब किं कटकपिङ्गलपालकैस्तैर्भक्तोऽहमप्युदयनः सुतलालनीयः।
यौगन्धरायण ममानय राजपुत्रीं हा हर्षरक्षित गतस्त्वमपप्रभावः॥

यत्रैव बिन्दुसारः सामाजिकीभूतः परमार्थतामभिमन्यमानो "धन्या खलु (ईदृशैर्भक्तस्य) प्रलापैः" इत्युच्छ्वसति। प्रतीहारी आत्मगतं—"अअणिदपरमत्थकलणेहिं पिच्छइ खु देवो" इत्यादि।

परिमितव्यापिनो निर्गर्भस्य नाट्यायितस्योदाहरणं यथा बालरामायणे गर्भाङ्के सीतास्वयंवरे। एवं तावन्नाट्यरूपकनिष्ठं नाट्यायितं व्याख्यातम्।

वहाँ बिन्दुकार प्रयोज्य वस्तु वाले, उदयन के चरित से सामाजिक है, यह उदयन भी वासवदत्ता के चेष्टित से सामाजिक है। यहाँ पर अर्थ है कि अपने को सूत्रधार के रूप में देखे जाने पर सुज्ञान होता है। अत्यन्त वितत (विस्तृत) हो जायगा। अतः सब कुछ नहीं दिखाया है। तब भी उसके एक प्रसङ्ग का उदाहरण देते हैं। जब उदयन सामाजिक है तब सूत्रधार का प्रयोग—'जैसे आपके मुख से ही यह विजय करता है। इस पर उदयन कहते हैं कि—कहाँ मेरे पुण्य है। ऐसा कहकर अश्रुधारा गिराते हुए विलाप करता है।

'हे अम्ब! आइये! इन कटक पिङ्गल पालकों से क्या हो सकता है? पुत्रवत् पालनीय मैं उदयन आपका भक्त हूँ। हे यौगन्धरायण! राजपुत्री को मेरे सामने लाओ। हा! हर्षरक्षित! तुम प्रभाव रहित होकर चले गये।'

यहाँ पर बिन्दुसार सामाजिकीभूत परमार्थता का अभियान करता हुआ भक्त के इस प्रकार के प्रलापों से हम लोग धन्य है। इस प्रकार उच्छ्वास लेता है। प्रतिहारी मन में—'अ अणिदपरम्...' इत्यादि कहता है।

अब परिमित व्यापी निर्गर्भ नाट्यायित का उदाहरण—जैसे—'बालरामायण' में गर्भाङ्क में सीता स्वयम्वर में। इस प्रकार नाटक नामक रूपक में निष्ठ नाट्यायित का व्याख्यान कर दिया॥ ४८॥

स्थाने ध्रुवास्वभिनयो [1]यः क्रियते हर्षशोकरोषाद्यैः[2] ।
भावरससंप्रयुक्तैर्ज्ञेयं नाट्यायितं तदपि[3] ॥ ४३ ॥

कार्यान्तरनिष्ठं तूच्यते। इह यदाभ्यन्तररसाविष्टता भवति तदा ध्रुवायोगाभिनयः स्वतुल्यतामापाद्यमानः परस्परमिलिताकारकतां काकतालीयेनोपनिपातात् (संभाव्यते) । यथा—

नलिनीदलए णोसहसुकदेहिं आतथा मुच्चइ ।
पलइ विअडभइ विज्जइ हंसो णलिणीवणे वि णत्थिज्जइ ॥

इत्यादौ । तत्र हि प्रयोक्तुरेवमभिसन्धिध्रुवामभिनयेन दर्शयामीति । किं तु प्रासादिक्यध्रुवायां गीयमानायां, "यत्र काव्येन (वाक्येन ?) नोक्तं स्यात् तत्तु गीतेन प्रसाधयेत्" (अ ३२) इति वचनात् ध्रुवार्थस्तत्रोचित आपातः, प्रयोगो हि बहुविधां मदनावस्थां नाटयतीति । एवंभूतोऽङ्कुरस्वभावः पौर्वापर्यपर्यालोचनवशात् तथाभूत एवोपनिपतित इति, अप्रयुज्यमानापि (ध्रुवा) काकतालीयेन प्रयोगमुपांशुरूपा नाट्यमिव शासत इति तथाविधनाट्यायितत्वापादकः शारीराभिनयो नाट्यायितमिति दर्शयति —स्थाने ध्रुवास्वभिनयो यः क्रियत इति ।

अनुवाद—रसों के अभिव्यञ्जक हर्ष, शोक, रोष आदि भावों के सम्यक् प्रयोग ध्रुवाओं के सभा जो अभिनय प्रस्तुत किया जाता है, उसे 'नाटचायित' अभिनय समझना चाहिए ॥ ४९ ॥

अभिनव—अब कार्यान्तरनिष्ठ नाटचायित को कहते हैं। जब अन्तः-करण में रस का आवेश होता है। तब काकतालीय न्याय के उपनिपात के परस्पर मिलिताकार स्वतुल्यता को आपाद्यमान ध्रुवागान को अभिनय की सम्भावना होती है। जैसे—"नलिनीदले" आदि में।

यहाँ प्रयोक्ता की इस प्रकार की अभिसन्धि है कि ध्रुवा को अभिनय के द्वारा दिखलाऊँ। किन्तु प्रासादिकी ध्रुवा में गाये जाने पर 'जो वाक्य से सिद्ध नहीं हो सकता उसे गीत से सिद्ध करे।' इस वचन के अनुसार ध्रुवा का आपात उचित ही है। प्रयोग में बहुविधा मदनावस्थाओं का अभिनय होता है। जिस प्रकार अङ्कुर का स्वभाव है, वैसा ही पूर्वापर के पर्यालोचन से उपनिपतित हो जाता है। अतएव अप्रयुज्यमान भी अतएव उपांशुरूपा भी ध्रुवा काकतालीयन्याय से प्रयोग का भी नाटच के समान शासन करती है। इस प्रकार के नाटचायितत्व का आपादन करने वाला शारीराभिनय नाटचायित होता है उसे दिखाते हैं स्थाने इत्यादि ।

१. ख. ग. यत् । २. ख. हर्षरोषशोकाद्यैः । ३. ख-ग. तच्च ।

[1]यत्रान्योक्तं वाक्यं सूचाभिनयेन योजयेदन्यः ।

तत्सम्बन्धार्थं [2]कथं भवेन्निवृत्यङ्कुर सोऽथ ॥ ५० ॥

भावैर्व्यभिचारिभिः रसैः स्वस्थायिभिः ये संप्रयुक्ता आविष्टाः तत्संपादनैक-मनसः प्रयोक्तारस्तैर्यो ध्रुवास्विति ध्रुवार्थविषयोऽभिनयः क्रियते । कथं, स्थाने प्रसङ्गे सति काकतालीयवशादित्यर्थः । योऽभिनयः शारीरो नाट्यायितम् ।

ननु किं प्रतिपदमभिनयता, नेत्याह हर्षादिभिरिति तत्सूचकैरङ्गसत्त्वैरित्यर्थः । तदपीति न केवलं पूर्वं यावदिदमपीति ।

यत्रान्योक्तं वाक्यं सूचाभिनयेन योजयेदन्यः ।

तत्सम्बधार्थंकथं भवेन्निवृत्यङ्कुरः सोऽथ ॥

भावों से अर्थात् व्यभिचारी भावों से रसों से अर्थात् उस रस के अपने स्थायिओं से आविष्ट प्रयोक्ता लोग उसके सम्पादन में एकमनस्क है, वे ध्रुवार्थ अभिनय करते हैं । कैसे करते हैं ? इसको बतलाते है कि स्थाने अर्थात् काकतालिय न्याय से संगम होने पर । यह शरीराभिनय नाटचायित है ।

अब प्रश्न होता है कि क्या प्रत्येक पद में अभिनयता है ? उत्तर देते हैं नहीं । हर्षादि के सूचक अङ्गों और उपाङ्गों में निष्ठ सत्त्व से होता है । यह अर्थ है । यह भी केवल पहिले हो चुका है, उतना ही नहीं, अपितु 'वह भी है' यहाँ तक है ॥ ४९ ॥

निवृत्यङ्कुर—

अनुवाद—जहाँ किसी अन्य पात्र द्वारा कहे गये अन्य पात्र सूचाभिनय के द्वारा योजित करता है । उस योजना से अर्थ का सम्बन्ध कैसे हुआ ? इसी को 'निवृत्यङ्कुर' कहते हैं ॥ ५० ॥

---

१. ख. यस्तु ।

२. ख. कृतं निवृत्तमेवाङ्कुरं विद्यात् । ग. कृतं यत् ।

अन्योक्तं वाक्यं कथमन्यसूचाभिनये चित्तवृत्तिसूचकेनाङ्गोपाङ्गसत्त्वक्रमेण दर्शयेदित्याशङ्क्य हेतुमाह—तत्सम्बन्धकर्थामिति बीजादेर्निवृत्तिं यथाङ्कुरः सूचयति, एवं निवृत्ते वाक्ये तदङ्कुरयति निवृत्त्यङ्कुरे उक्तः। तथा हि विदूषकेण वत्सराजे "अवि मुहयवि दे लोअणाणं" इति पृष्टे सागरिका—"सच्चं जीविद-मरणाणं अन्तरं वट्टामि" इति, ततो राजा—"सुखयतीति किमुच्यते। कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं" इत्यादि पठति। तस्मिन् क्रमेणाकर्ण्यमाने सागरिकाया यथाभूत (संशयोत्कण्ठारागोदयजनितो) व्यभिचारिसत्त्वयोजितः सत्त्वाङ्गोपाङ्गपरिस्पन्दो दृश्यमानो निवृत्त्यङ्कुरो नाट्यायितं च वासवदत्तानाट्यधारे प्रतिपदं दृश्यते। एतेषां च सर्वाभिनयैः सम्भूय वृत्तित्वात् सर्वत्र चाभिनेये प्रायशः सद्भावात् सामान्याभिनयत्वं तदर्थमेव च वितत्यैतत्स्वरूपाभिधानम्, यत्पूर्व-मुक्तम्—

अभिनव—जहाँ पर अन्योक्त वाक्य को अन्य सूचना के अभिनय में चित्तवृत्ति के सूचक अङ्गोपाङ्ग के सत्त्व क्रम से कैसे दिखाये? इस प्रकार आशङ्का करके हेतु को कहते हैं—तत्सम्बन्ध इति। अर्थात् जैसे अङ्कुर के उत्पन्न होने से बीज की निवृत्ति सूचित होती है। इस प्रकार वाक्य के निवृत्त होने पर जो अङ्कुर निकलता है उसे निवृत्यङ्कुर कहा गया है जैसे विदूषक ने वत्सराज में "अरे! देखना यह तुमको सुख दे रहा है" इस प्रकार पूछे जाने पर सागरिका कहती है कि—"सचमुच जीवन और मरण के मध्य मे मैं हूँ।" इसके बाद राजा—'सुख' देता है। यह क्या कहतो हो? बड़े कष्ट से उरुयुगल का व्यत्यय चिरकाल तक' इत्यादि पढ़ते हैं। क्रम से उसके सुनने पर सागरिका के तथाभूत व्यभिचारियों के सम्बन्ध से जो सात्त्विक अङ्ग एवं उपाङ्गों का परिस्पन्द दिखाई दे रहा है वह निवृत्यङ्कुर है। वह दृश्यमान निवृत्यङ्कुर और नाट्यायित वासवदत्ता के आधार पर बने हुए नाटक में पद-पद में दिखाई दे रहा है। इनके सभी अभिनयों से मिलकर रहने से सभो अभिनेय में रहने से सामान्याभिनय यह है। इसीलिए वे विस्तार के साथ उनके स्वरूप का कथन किया है। जो पहले कहा जा चुका।

[1]एतेषां तु [2]भवेन्मार्गो यथाभावरसान्वितः ।
काव्यवस्तुषु निर्दिष्टो द्वादशाभिनयात्मकः ॥ ५१ ॥

अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च ।
त्रिविधं वस्त्वभिनय .... ।

इति तेन सहास्य यथा न विरोधस्तथैवोपपादितमुपाङ्गाभिनय इति तत एवावधार्यम् । किं पुनरुक्ताभिधानेन ॥ ५० ॥

एवमाङ्गिकं सामान्याभिनयमुपपाद्य वाचकमुपपादयति—एतेषां तु भवेन्मार्गं इति विषय इत्यर्थः ।

वाक्यभावे यद्यप्यात्मापि शरीरो निर्विषय एव तेन यदेके शाखाङ्कुर-यायितानां च वाक्यविरहितत्वं मन्यमाना एतेषामिति सर्वेषामित्यादि वाक्यसूचानिवृत्यङ्कुरमात्रविषयत्वेनैव संकोचयन्ति, ते न तत्वज्ञाः, सर्वोऽप्यभिनयो वाक्योपजीवनमन्तरेण नियमहेत्वभावादसमञ्जसतामभ्येति । केवलं तत्तत्कालिकातत्कालिकादिमात्रे वाक्यं भिन्नतां नाम । एतच्चोपाङ्गाभिनये विवत्योपपादितम् ।

जिसको शाखा नृत्त अङ्कुर ये तीन प्रकार के वस्तु अभिनय है। इसका इसके साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं ? उसी प्रकार से उपाङ्ग अभिनय प्रसङ्ग में उपपादन किया है। वहीं से समझना चाहिए। तो फिर कहने से क्या लाभ है ? ॥ ५० ॥

इस प्रकार आङ्गिक सामान्याभिनय का उपपादन करके वाचिक सामान्याभिनय का उपपादन करते हैं—

अनुवाद—इनका जो मार्ग अर्थात् विषय है । वह योग्यता के अनुसार रस एवं भावों से समन्वित मार्ग है। उसे वाक्य में बारह प्रकार का अभिनय कहा है ॥ ५१ ॥

अभिनव—वाक्य भाव अर्थात् वाचिक अभिनय में शरीर अभिनय का विषय नहीं हो सकता, तथापि जो कोई शाखाङ्कुर एवं नाट्यायित को मानते हुए इत्यादि का वाक्य, सूचा और निकृत्यङ्कुर मात्र के रूप में संकोच करते हैं व तत्त्वज्ञाता नहीं है। क्योंकि सभी अभिनय वाक्योपजीवन के बिना नियामक हेतु के अभाव में असमञ्जस हो जाता है। भले ही तात्कालिक यह वाक्य है, वह वाक्य असामायिक है, उस प्रकार भेद होना यह इन सबका उपादान उपाङ्गाभिनय में विस्तार से कर किया है ।

---

१. ब. एते मार्गास्तु निर्दिष्टा । २. ग. च स्मृता ।

आलापश्च प्रलापश्च विलापः 'स्यात्तथैव च ।
अनुलापोऽथ संलाप'स्त्वपलापस्तथैव च ॥ ५२ ॥

सन्देशश्चातिदेशश्च निर्देशः स्यात्तथापरः' ।
उपदेशोऽपदेशश्च व्यपदेशश्च कीर्तितः ॥ ५३ ॥

'आभाषणं तु यद्वाक्यमालापो नाम स स्मृतः ।
अनर्थकं वचो यत्तु प्रलापः स तु कीर्तितः ॥ ५४ ॥

काव्यवस्तुष्विति दशरूपकभेदेषु द्वादशरूपोऽभिनयात्मको वाचिकाभिनयस्य भाव इत्यर्थः ।

द्वादशप्रकारानुद्दिशति ।

आलापश्चेत्यादिना तानेव क्रमेण लक्षयति—आभाषणं त्वित्यादिना ।

काव्य वस्तुओं में अर्थात् विभिन्न दशरूपकों में वाक्याभिनय का बारह भेद अभिनयात्मक भाव है ॥ ५१ ॥

वाचिक अभिनय—

अनुवाद—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, और व्यपदेश ये बारह वाचिक अभिनय के भेद हैं ॥ ५२-५३ ॥

अभिनव—आलाप आदि से उन्हीं आलापादि बारह प्रकारों को क्रमशः कहते हैं ।

आलाप और प्रलाप—

अनुवाद—संभाषण करना 'आलाप' कहा जाता है और जो अनर्थक वाक्य ही वह 'प्रलाप' है ॥ ५४ ॥

---

१. ख. अन्य ।
२. ख. ह्यय ।
३. ख. च तथैव च ।
४. ख. आभागणे ।

[1]करुणप्रभवो यस्तु विलापः स तु कीर्तितः[2]।
बहुशोऽभिहितं वाक्यमनुलाप इति स्मृतः[3] ॥ ५५ ॥

युष्मदर्थविषयमुपदेशादिशून्यं यद्वचनं तदालाप इत्यर्थः । "विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती" (रत्ना-१), यथा वा "जयतु भवान्" इत्यादि । अनर्थकं वचो यत् स प्रलाप इति परस्परसम्बद्धं मौर्ख्यादिवशादित्यर्थः । यथा दरिद्रचारुदत्ते शकारः -"शुणामि मल्लगन्धं, अन्धआलशच्चिददावो उण् णोसआवो हिवुत्तं एलामि (शृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारसंचयता पुनर्नासिकया तवुक्तं आलोकयामि) (मृच्छ-१) ॥ ५४ ॥

करुणप्रभवो यस्तु स विलाप । इति । करुणग्रहणं दुःखोपलक्षणम्, तेन विप्रलम्भोऽपि गृह्यते । तत्र करुणरससम्बन्धं वचनं, (दुःखे) यथा—क्वासि प्रयच्छ मे प्रतिवचनम्, विप्रलम्भे । यथा—बाणाः पञ्च मनोभवस्य (रत्ना-३) इत्यादि । एतत्प्रधानादेव कामावस्थाविशेषो विलापः तासु वक्ष्यवस्था इति वक्ष्यते । बहुशोऽभिहितं वाक्यमनुलाप इति । अनुवादार्थं तदेव पुनरुच्यमानमित्यर्थः । यथा— "द्वीपादन्यस्मादपि" (रत्ना १) इति सूत्रधारणोक्ते नेपथ्ये यौगन्धरायणः— एवमेतत्, दीपादन्यस्मादपीत्यनुवदति ।

अभिनव—अब आभाषण आदि से उन्हीं आलापियों का क्रमशः लक्षण कहते हैं। उपदेश रहित जो सम्बोधनात्यक वचन है वह 'आलाप' है। 'युष्मदर्थे विषयक का अर्थ है' सम्बोधनात्मक है, क्योंकि 'सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः' ऐसा आचार्यों का निर्देश है। जैसे—'मकरकेतन की पूजा करती हुई चमक रही हो। और जैसे—'जयतु भवान् इति' जो तो अनर्थक वचन है वह प्रलाप है अर्थात् मूर्खता से परस्पर असम्बद्ध बोलना है। जैसे 'दरिद्रचारुदत्त' में शकार का प्रलाप है। माला की गन्ध को सुनता हूँ और अन्धकार से संचित नासिका से उसके वाक्य को देखता हूँ ॥ ५४ ॥

विलाप और अनुलाप—

अनुवाद—करुणा से प्रभव जो वाक्य है वह विलाप कहा गया है। और जो वाक्य बार-बार कहा गया हो 'अनुलाप' कहा जाता है ॥ ५५ ॥

---

१. भ. दुःखशोकोद्भवं यत्तु ।

२. ब. इति स स्मृतः ।

३. ब. प्रकीर्तितः ।

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तः संलाप इति कीर्तितः[1]।
पूर्वोक्तस्यान्यथाभावो[2] ह्यपलाप इति स्मृतः ॥ ५६ ॥

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तः संलाप इति। यद्विषाण्युदाहरणानि (?)। पूर्वोक्तस्यान्यथा वादोऽप्यपलाप इति। यथा कृत्यारावणे गौतमीरूपच्छन्ना रामाक्रन्दितं लक्ष्मणे श्रावयितुकामा शूर्पणखा पूर्वमाह—"अवि सुदं ते" (अपि श्रुतं त्वया)। ततः सीता (ससंभ्रमम्)—"अये किंति" (अये किमिति)। ततः सा—"अं वञ्चिदते, सत्यं गौतमीमेव मामियं सीता जानातीत्यस्येवं ह्याह—"णं मए णक्क हण्णिदं, अवि सुदं ते" (इति)।

अभिनव— रुणा से जो बचन निकलता है वह 'विलाप' कहा जाता है। करुण पद के उपन्यास का अर्थ है दुःख। इससे विप्रलम्भ को भी लेना चाहिए और उनमें करुण सम्बन्धी वचन। जैसे—कहाँ हो मुझे उत्तर दो। विप्रलम्भ में जैसे—'मनोभाव' के बाण आदि। इसके प्रधान होने से ही विलाप काम की अवस्था विशेष है। उनमें छठी अवस्था को कहेंगे। वहुशः अभिहित अर्थात् एक ही बात को बार-बार कहना वाक्य अनुलाप है। जैसे—'द्वीपादन्यस्मादिति' ऐसा सूत्रधार के कहने पर नेपथ्य यौगन्धरायण यह ऐसा ही है। 'द्वीपादन्यस्मात्' इससे अनुवाद करता है ॥ ५५ ॥

संलाप और अपलाप—

अनुवाद—उक्ति और प्रत्युक्ति से संयुक्त संभाषण को 'संलाप' कहा गया है ॥ ५६ ॥

अभिनव—संलाप—उक्ति-प्रत्युक्ति युक्त वचन संलाप है। पहले जो वाक्य कहा गया है उसका उलटा (अन्यथा) कथन 'अपलाप' है ॥ ५६ ॥

इसके उदाहरण बहुत है। **अपलाप—**पूर्वोक्त का अन्यथा कथन 'अपलाप' है। जैसे—कृत्यारावण में गौतमी के रूप में छिपी हुई सूर्पणखा लक्ष्मण को राम का आक्रन्दन सुनाने की इच्छा से पहले कहती है कि क्या सुना तुमने? तब सीता घबराकर कहती है 'अरे क्या है?' उसके बाद वह सूर्पणखा 'अरे मैं ठगी गई।' 'सीता सचमुच ही मुझे गौतमी समझती है' फिर कहती है कि मैंने जो कहा उसे तुमने सुना ॥ ५६ ॥

१. ख-ग. इति स स्मृतः। २. क. वादो।

[1]तदिदं वचनं ब्रूहीत्येष सन्देश उच्यते[2] ।
[3]यत्त्वयोक्तं मयोक्तं तत्सोऽतिदेश इति स्मृतः ॥ ५७ ॥
[4]स एषोऽहं ब्रवीमीति निर्देश इति कीर्तितः ।
व्याजान्तरेण कथनं व्यपदेश इहोच्यते[5] ॥ ५८ ॥

तदिदं वचनं ब्रूहीत्येष सन्देश इति । उदाहरणेन लक्षणमुन्नेयम् । ततः परमुखेनान्यस्य स्ववचोऽर्पणं सन्देश इति । अतिदेशस्त्वयोक्तं युक्तं मयोक्तमिति सिद्धेनासिद्धस्य तुल्यतापादनमतिदेश इत्यर्थः । अत्रोपदेशातिदेशयोरुपमानस्य च साहित्यविषये तार्किकमीमांसकविषये विशेषप्रतिपादनं यत् टीकाकारैः कृतं तत्सुकुमारमनोमोहनं वृथा भ्रमणिकामात्रं प्रकृतानुपयोगाविहोपेक्ष्यमेव ।

सन्देश और अतिदेश—

अनुवाद—जाओ और जाकर ऐसा कहो, वह 'सन्देश' है और जो तुमने कहा वैसा मैंने कहा, वह 'अतिदेश' है ॥ ५७ ॥

अभिनव—सन्देश—उदाहरण के द्वारा सन्देश के लक्षण का उन्नमन करना चाहिए । अतः परमुख से दूसरों को अपना वचन का अर्पण करना 'सन्देश' है । जो तुमने कहा नहीं और मैंने कहा युक्त है । इस प्रकार सिद्ध पदार्थ के साथ असिद्ध पदार्थ को तुल्यता का अनुवादन करना अतिदेश है । यह इसका अर्थ है । यहाँ टोकाकारों ने जो अतिदेश, उपदेश एवं उपमान को साहित्यकों की अपेक्षा से तार्किक एवं मीमांसको के मत में विशेष का प्रतिपादन किया है वह सुकुमारमति बालकों को मोहने के लिए वृथा भ्रम को उत्पन्न करता है । अतः प्रकृत के अनुपयोगी होने से उपेक्षणीय है ॥ ५७ ॥

निर्देश एवं व्यपदेश—

अनुवाद—वह यह मैं बोल रहा हूँ इस कथन को 'निर्देश' कहते हैं । किसी व्याज से कहीं जाने वाला कथन 'व्यपदेश' हैं ॥ ५८ ॥

---

१. ग. त्वमिदं । २. ख. ग. इष्यते ।
३. ख. ग. अतिदेशस्त्वयोक्तं तन्मयोक्तमिति स स्मृतः ।
४. ख. स एकोऽहं ब्रवीमीति निर्देशः स तु संज्ञितः ।
ग. लोकं ब्रवीम्यहमीति यो निर्देशः स उच्यते ।
५. ख. भवेत् सः । ग. प्रकीर्तितः ।

इदं कुरु गृहाणेति ह्यु पदेशः[1] प्रकीर्तितः ।
अन्यार्थकथनं यत् स्यात् सोऽपदेशः प्रकीर्तितः ॥ ५९ ॥
एते मार्गास्तु[2] विज्ञेयाः सर्वाभिनययोजकाः ।
सप्त[3] प्रकारमेतेषां पुनर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ६० ॥

स एवैषोऽहं ब्रवीमीति निर्देश इति लक्षणम् । व्याजान्तरेण कथनं व्यपदेश इति व्याजविशेषेणेत्यर्थः । यथा मुद्राराक्षसे क्षपणकस्य राक्षसदूषणार्थं तावन्नगरान्निर्वासनं तत्र च चाणक्येन व्याजेन वचनं कृतम्—अयं पापीयान् जीवसिद्धिः राक्षसप्रयुक्तविषकन्या पर्वतेश्वरं घातितवान् ततो निर्वास्यते" इति ॥ ५८ ॥

इदं कुरु गृहाणेति ह्यु पदेश इति नियोग इत्यर्थः । अन्यार्थकथनमपदेश इति स्वयं विवक्षितस्यान्य एव वक्तीत्यन्यकथनमित्यर्थः । यथा भीमं प्रति सहदेवः—एवं गुरुणा सन्दिष्टं सुयोधनस्येति (वेणी–१) ।

अभिनव—वह यह मैं बोल रहा हूँ, यह निर्देश का लक्षण है। किसी व्याज विशेष से कथन व्यपदेश है। जैसे—मुद्राराक्षस में क्षपणक राक्षस को दूषित करने के लिए क्षपणक का निर्वासन किया। उस विषय में चाणक्य ने छल करके कहा कि—यह जीवसिद्धि क्षपणक अतिशय पापी है। इसने विषकन्या के द्वारा पर्वतेश्वर को मरवा डाला, अतः इसे नगर से निर्वासित करते हैं ॥ ५८ ॥

उपदेश और अपदेश—

अनुवाद—यह करो, ऐसा करो, इसे ग्रहण करो, यह 'उपदेश' कहलाता है, जो अन्यार्थ कथन है उसे अपदेश कहा गया है ॥ ५९ ॥

अभिनव—'यह करो, इसे ग्रहण करो' यह कथन उपदेश है अर्थात् उपदेश का अर्थ है नियोग। अपदेश अर्थात् जिसको कहना चाहता है, उस विषय में अन्य कहता है ऐसा अन्य को कहना। जैसे भीम के प्रति सहदेव कहता है कि ऐसा गुरुजी ने सुयोधन को सन्देश दिया है ॥ ५९ ॥

अब उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—समस्त प्रकार के अभिनयों के प्रयोजक को मार्ग समझने चाहिए। अब मैं इनके सात प्रकार के लक्षणों को कहूँगा ॥ ६० ॥

---

१. ख. ग. इदमुपदेश इति स्मृतः । २. ख. ग. हि ।
३. ग. प्रकारास्तेषां च पुनर्वक्ष्यामि तत्त्वतः ।

प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च तथा कालकृतास्त्रयः ।
आत्मस्थश्च परस्थश्च प्रकाराः सप्त एव तु[1] ॥ ६१ ॥
[2]एष ब्रवीमि नाहं भो वदामीति च यद्वचः ।
[3]प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च वर्तमानश्च तत्भवेत् ॥ ६२ ॥
अहं करोमि गच्छामि वदामि वचनं तव ।
आत्मस्थो वर्तमानश्च प्रत्यक्षश्चैव स स्मृतः ॥ ६३ ॥

उपसंहरति—सर्वेषु षट्स्वपि शारीरेरिध्वस्यर्थः । तथा अभिनीयन्त इत्यभिनया नाटकादिकाव्यविशेषाः तेषु, यत सामान्येन भवन्त्यत एवैते सामान्याभिनया इति तात्पर्यम् ॥ ५९ ॥

अथात्रैव भेदान्तराण्याह—आत्मस्थश्च परस्थश्चेत्यादि । अत्रोदाहरणविश-माह—एष ब्रवीमि इति, अहं करोमीत्यादि ।

अभिनव—इन छहों प्रकार के शारीर अभिनयों में अभिनीत किये जाते हैं वे नाटकादि काव्यविशेष अभिनय हैं उनमें। क्योंकि ये सामान्य रूप से होते हैं। अतएव सामान्याभिनय है, यह तात्पर्य है ॥ ६० ॥

अनुवाद—प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा तीन कालकृत और आत्मस्थ एवं परस्थ ये सात प्रकार हैं ॥ ६१ ॥

अभिनव—इसी के भेदान्तरों को कहते है—आत्मस्थ और परस्थ आदि। अब इनके उदाहरणों को उद्देशक्रम से कहते हैं । एवं प्रवीमि, एवं करोमीति इत्यादि ॥ ६१ ॥

अनुवाद—यह मैं बोलता हूँ, भोः मैं नहीं बोलता हूँ, इत्यादि जो वर्तमान कालिक वचन है वह प्रत्यक्ष है। जो वैसा नहीं है वह परोक्ष है ॥ ६२ ॥

अनुवाद—मैं करता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं तुमसे कहता हूँ, ऐसा जो आत्मस्थ वर्तमानकालिक वचन है, वह प्रत्यक्ष है ॥ ६३ ॥

---

१. ख. ग. चैव तु ।
२. एष इत्यादि श्लोकचतुष्टयस्य विभिन्नपुस्तकेषु पाठक्रमो भिन्नतया दृश्यते। अत्र तु पाठान्तरमात्रमेव गृह्यते ।
पाठक्रमस्तु गायकवाड-ओरियन्टलसीरिजमुद्रितपुस्तकानुसारि ।
३. ग. आत्मप्रत्यक्षसंस्थश्च वर्तमानश्च स स्मृतः ।

करिष्यामि[1] गमिष्यामि वदिष्यामीति यद्वचः ।
आत्मस्थश्च परोक्षश्च भविष्यत्काल एव च ।। ६४ ।।

हता जिताश्च भग्नाश्च मया सर्वे द्विषद्गणाः ।
आत्मस्थश्च परोक्षश्च वृत्तकालश्च स स्मृतः ।। ६५ ।।

त्वया हता जिताश्चेति[2] यो वदेन्नाटयकर्मणि ।
परोक्षश्च परस्थश्च वृत्तकालश्च स स्मृतः ।। ६६ ।।

एष ब्रवीमि कुरुते गच्छतीत्यादि यद्वचः ।
परस्थो वर्तमानश्च प्रत्यक्षश्च भवेत्तथा ।। ६७ ।।

स गच्छति करोति वचनं यदुदाहृतम् ।
परस्थ वर्तमानं च परोक्षं चैव तद्भवेत् ।। ६८ ।।

अनुवाद—मैं करूँगा, मैं जाऊँगा, मैं कहूँगा, यह जो आत्मस्थ, परोक्ष भविष्यत्कालिक बचन है ।। ६४ ।।

अनुवाद—मैंने अपने सारे शत्रुओं को मारा, जीता और नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, ऐसा जो आत्मस्थ भूतकालिक तथा वर्तमानकालिक वचन है । वह परोक्ष है ।। ६५ ।।

अनुवाद—नाट्यकर्म अर्थात् नाट्यप्रयोग में तुमने मार दिया, तुमने जीत लिया ऐसा जो दूसरे का भूतकालिक वचन है, वह परोक्ष है ।। ६६ ।।

अनुवाद—यह कहत्ता है, करता है, जाता है, इत्यादि जो परस्थ वर्तमान—कालिक वचन है, वह प्रत्यक्ष है ।। ६७ ।।

अनवाद—वह जाता है, वह करता है, ऐसा वचन जो किसी ने कहा है वह परस्थ वर्तमानकालिक वचन है वह परोक्ष है ।। ६८ ।।

---

१. वदिष्यामि गमिष्यामीति ।

२. ग. चैव ।

करिष्यन्ति गमिष्यन्ति वदिष्यन्तीति यद्वचः ।
परस्थमेष्यत्कालं च परोक्षं चैव तद्भवेत् ॥ ६९ ॥
[1]हस्तमन्तरतः कृत्वा यद्वदेन्नाट्यकर्मणि ।
आत्मस्थं हृदयस्थं च परोक्षं चैव सम्मतम् ॥ ७० ॥
परेषामात्मनश्चैव कालस्य च विशेषणात् ।
सप्तप्रकारस्यास्यैव भेदा ज्ञेया अनेकधा ॥ ७१ ॥

इदानीं विषयभेदकृतमात्मस्थस्यापि परोक्ष्यं दर्शयति—हस्तमन्तरतः कृत्वेत्यादि ।

स्वगतजनान्तिकापवारितकेषु वक्तुरात्मस्थं पात्रान्तराणां चाप्रत्यक्षं नाट्यधर्मीवशादित्यात्मस्थमपि तत्परोक्षम् । लोकधर्म्यामप्यात्मस्थं परोक्षम् । यथा—"सुप्तो मत्तो ग्वहं किल विललाप" इति । यदाहोत्तमविषयेऽपि चित्तव्याक्षेपादिभ्यो लिट् भवतीति ॥ ७० ॥

अनुवाद—करेगा, जायेगा, कहेगा, ऐसा जो परस्थ भविष्यत्कालिक वचन है वह परोक्ष है ॥ ६९ ॥

अभिनव—इस समय विषय भेद से होने वाले आत्मस्थ वचन को भी परोक्ष कहते हैं—

अनुवाद—नाट्यप्रयोग में अभिनेता अपने और दूसरे के मध्य हाथ का व्यवधान करके बोलता है वह वचन अपने में (आत्मस्थ) हृदयस्थ वचन परोक्ष कहलाता है ॥ ७० ॥

अभिनव—स्वगत, जनान्तिक एवं अपवारितक जो वस्तु है वह वक्ता के लिए आत्मस्थ है और पात्रान्तर के लिए परोक्ष है। इस प्रकार नाटचधर्मी के वश से आत्मस्थ भी परोक्ष होता है लोकधर्मी आत्मस्थ भी परोक्ष ही है। जैसे—'मैं सोता हुआ एवं मत्त हुआ विलाप करता था।' आदि जैसा कि कहा है कि चित्त के विक्षिप्त होने पर उत्तम पुरुष में भी लिट् लकार का प्रयोग होता है ॥ ७० ॥

अनुवाद—दूसरे के और स्वयं के तथा काल को विशेषता से कारण सात प्रकार वाले इसके अनेक भेद किये जा सकते हैं ॥ ७१ ॥

---

१. ब. हस्तमन्तरितं ।

एते प्रयोगा विज्ञेया मार्गाभिनययोजिताः।
[1]एतेष्विह विनिष्पन्नो विविधोऽभिनयो भवेत् ॥ ७२ ॥

अन्यभेदानां कार्येण सम्भवमाह—
परेषामात्मनश्चैव कालस्य च विशेषणात्।
सप्तप्रकारस्यास्यैव भेदा ज्ञेया अनेकधा ॥
एते प्रयोगा विज्ञेया मार्गाभिनययोजिताः।
एतेष्विह विनिष्पन्नो विविधोऽभिनयो भवेत् ॥

इह तावद्वाक्यं द्वादशधा तत्राप्यात्मस्थपरस्थयोः प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वाभ्यां चतुर्विधत्वं चतुर्णां कालत्रयेण गुणने द्वादशभेदाः। भूतभविष्यतोरपि प्रत्यक्षत्वं योगिप्रत्यक्षादिदृशा भवति। एवं द्वादशानां तावद्भिर्गुणने चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतम्। संस्कृतेतरभेदेन गुणने द्विपञ्चाशदधिकानि नवशतानीति वाक्याभिनयस्य भेदाः। सूचाया वाक्यतदर्थभेदाद् द्वैगुण्यम्। तेन एकोनविंशतिशतानि चतुराधिकानि सूचाभेदाः। वाक्यतुल्या एवाङ्कुरभेदाः सूचाभेदैर्गुणनीयास्तैः, पुनः शाखाभेदास्तैरपि द्विविधानाट्यायितभेदस्तावद्भिर्निवत्यङ्कुरभेदा इति कोटिशतान्यनेकानि भवन्ति। न तु यथा श्रीशङ्कुकेनोक्तं चत्वारिंशत्सहस्राणीत्यादि ॥७१-७२॥

अनुवाद—ये मार्गाभिनय की योजना से किये गये प्रयोगों को समझने चाहिए। इनके द्वारा विभिन्न अभिनय विभिन्नता होता है ॥ ७२ ॥

अभिनव—अन्य भेदों का वर्णन करते हैं—'दूसरे भेदों के और स्वयं के तथा काल के विशेषण से इसके सात प्रकार के भेद होते हैं, इस प्रकार इसके अनेक भेद होते हैं। मार्गाभिनय को योजना के लिए किये गये इन प्रयोगों को जानना चाहिए। इनमें विविध अभिनय निष्पन्न होते हैं।'

यहाँ पर वाक्य के बारह भेद होते हैं। उसमें भी आत्मस्थ और परस्थ के प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व भेद से चार भेद हैं। उन चारों को तीन कालों में गुणा करने पर बारह भेद होते हैं। भूत और भविष्य का भी योगी की प्रत्यक्ष दृष्टि से प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार बारह भेदों के बारह से गुणा करने पर एक सौ चौवालीस भेद होते हैं। उसको भी संस्कृत और संस्कृतेतर प्राकृत आदि भेदों से गुणा करने पर वाक्याभिनय के ९५२ भेद हो जांयगे। इसके बाद सूचा के वाक्य और वाक्यार्थ रूप से दो भेद होते हैं उनके गुणा करने पर सूचा के कुल १९०४ भेद होते हैं। वाक्य भेद के समान अङ्कुर के भी भेद होते हैं। उनके सूचा के भेदों से गुणा करने पर फिर शाखा के भेदों से गुणा कर फिर द्विविध नाट्यायित भेदों का उतने ही प्रकार के अङ्कुर भेदों से गुणा करने पर अनेक भेद होने से शत कोटि या अनन्त भेद हों जांयगे। किन्तु जैसा कि शङ्कुक ने चालीस हजार भेद कहे हैं वे ठीक नहीं है ॥७१-७२॥

1. ख. एभिरेव।

[1]शिरोहस्तकटीवक्षोजङ्घोरुकरणेषु तु ।
समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु सः ॥ ७३ ॥
ललितैर्हस्तसंचारै[2]स्तथा मृद्वङ्गचेष्टितैः ।
अभिनेयस्तु[3] नाट्यज्ञै रसभावसमन्वितैः । ७४ ॥
अनुद्धतमसंभ्रान्तमनाविद्धाङ्गचेष्टितम् ।
लयतालकलापात[4]प्रमाणनियतात्मकम्[5] ॥ ७५ ॥
सुविभक्तपदालापमनिष्ठुरमकाहलम्[6] ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं ज्ञेयमाभ्यन्तरं तु तत् ॥ ७६ ॥

एवं विशिष्टः सामान्येनाभिनीयमानः संभूयाभिनयैर्युक्तः सर्वाभिनयेषु सामान्यभूत इत्येवं यः सामान्याभिनयः ॥ ७३-७४ ॥

सामान्याभिनय—

अनुवाद—जहाँ पर शिर, हस्त, कटी, वक्षस्, जङ्घा, ऊरु और करणों में समान रूप से कर्म-विभाग प्रस्तुत किया जाय, वहाँ 'सामाम्याभिनय' समझना चाहिए ॥ ७३ ॥

अनुवाद—रस भाव से युक्त नाट्य के वेत्ता लोगों को कोमल आङ्गिक चेष्टाओं और ललित हस्त संचारों के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ७४ ॥

अभिनव—इस प्रकार विशिष्ट जो सामान्यतः अभिनीयमान है वह अन्य अभिनयों से मिलकर सभी अभिनयों से जुड़ गया है, इस प्रकार सामान्यभूत सामान्याभिनय कहलाया ॥ ७३-७४ ॥

अनवाद—जो अभिनय अनुद्धत अर्थात् उद्धत स्वतन्त्रता से रहित तथा घबड़ाहट रहित हो, ऐसे अङ्गों की चेष्टाएँ आविद्ध न हो लय, ताल, कला एवं पात्र अर्थात् संगीत की ध्वनियों के प्रमाण अपने रूप में नियत हो, पदों का गाये जाने लायक पदों और ध्रुवाओं का आलाप विभक्त हो, निष्ठुरता से रहित हो और जहाँ कोलाहल न हो अर्थात् भीड़ के कारण बड़बड़ी जहाँ न हो, ऐसा नाट्य यदि है तो वह आन्तरिक नाट्य है ॥ ७५-७६ ॥

१. ब. वदनपादोरुजङ्घोदरकटीगतः । समकर्मविभागो ।
ग. वदनहस्तोरःकट्यूरुचरणाश्रयः । समः कर्मविभागे यो विविधाभिनयो तु स ।
२. ग. विन्यासैः । ३. ग. अभिनेयं तु ।
४. ग. काल । ब. कलापादि । ५. ब. नियतात्मजम् । ६. ब. अनाकुलम् ।

एतदेव विपर्यस्तं स्वच्छन्दगतिचेष्टितम् ।
अनिबद्धगीतवाद्यं[1] नाट्यं बाह्यमिति स्मृतम् ॥ ७७ ॥

[2]लक्षणाभ्यन्तरत्वाद्धि तदाभ्यन्तरमिष्यते ।
[3]शास्त्रबाह्यं भवेद्यत्तु तद्बाह्यमिति भण्यते[4] ॥ ७८ ॥

अस्या एकीभावनिबन्धनभूताया अलातचक्र [मण्डल] संनिभत्वसम्पादिकाया सामान्याभिनयक्रियायाः प्राधान्यप्रदर्शनार्थमाह—अनुद्धतमसंभ्रान्तमित्यादि ॥ ७५-७६ ॥

अनाविद्धशब्देनाङ्गिकविषयं सामान्यं दर्शयति । एतद्भावं दुष्टत्वमिति दर्शयन् व्यतिरेकक्रमेणापि सामान्याभिनयस्यावश्योपादेयतामाह—एतदेव विपर्यस्तमित्यादिना ॥ ७७ ॥

आभ्यन्तरमिति (स्वयमेव विवृणोति) लक्षणाभ्यन्तरत्वादिति ॥ ७८ ॥

अभिनव—इसके एकीभाव का निबन्धन बनने वाली तथा अलातचक्र सन्निभत्व की सम्पादिका सामान्य अभिनय की प्राथमिकता दिखलाने के लिए कहते हैं कि 'अनुद्धतम् सम्भ्रान्तम्' इत्यादि ॥ ७५-७६ ॥

बाह्य अभिनय—

अनुवाद—यही पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त नाट्य विपर्यस्त अर्थात् स्वतन्त्र आचरण वाले पात्रों की चेष्टाएँ स्वच्छन्द हो गीत, वाद्य, ताल, लय आदि अपने नियम में बँधे हुए न हो, इसे बाह्य नाट्य कहते हैं ॥ ७७ ॥

अभिनव—अनाविद्ध शब्द से आङ्गिक सामान्याभिनय को दिखाते हैं। इसका अभाव दोषपूर्ण है, इसे दिखाते हुए व्यतिरेक के क्रम से भी सामान्याभिनय की उपादेयता को कहते हैं—एतदेव हि ॥ ७७ ॥

अनुवाद—नाट्याचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों से युक्त तथा आभ्यन्तर लक्षणों से सम्पन्न वह नाट्य अभ्यन्तर माना जाता है और आचार्यों के शासन से बाह्य जो होता है उसे 'बाह्य' कहा जाता है ॥ ७८ ॥

---

१. ख. वाद्यैः ।
२. ग. लक्षणाभ्यन्तरं यत् स्यात् तमोदार (तदेवा) भ्यन्तरं स्मृतम् ।
३. ग. शास्त्रार्थवाह्याभावार्थं बाह्यमित्यभिधीयते ।
४. ख. संज्ञितम् ।

अनेन लक्ष्यते यस्मात् प्रयोगः कर्म चैव हि[1]।
तस्माल्लक्षणमेतद्धि नाट्येऽस्मिन् संप्रयोजितम्[2] ॥ ७९ ॥

अनाचार्योषिता[3] ये च ये च शास्त्रबहिष्कृताः।
[4]बाह्यं प्रयुञ्जते ते तु अज्ञात्वाचार्यकी क्रियाम् ॥ ८० ॥

ननु वागङ्गाभिनयोपेत इति लक्षणं तस्य बाह्योऽप्यस्तीत्याशङ्क्याह— सामान्याभिनयरूपमेव लक्षणमिति तात्पर्यम्। संप्रयोजितमिति नाट्यविषयाः प्रत्येकं तावत् क्रिया एकीभावं नेयाः, एकीभावगतश्च क्रिया समूहोऽप्येकीभावं नेय इत्येतत्। कर्मप्रयोगशब्दाभ्यां नाट्य इति सप्तम्या कथमिति—अनेन विना स्फुटं नाट्यरूपत्वमेव साक्षात्काराध्यवसायरूपं रसानुप्राणितं तत्र संपद्यत इति ॥ ७९ ॥

व्युत्पत्तिदूरीभावं त्वनधीयानां, भट्टपुत्रादौ तदभावात्तदाह—अनाचार्योषिता ये चेत्यादिना ॥ ८० ॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि 'वागङ्गाभिनयोपेत' इत्यादि बाह्य भी तो उसका लक्षण है, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—इन लक्षणों के द्वारा प्रयोग (अभिनय) एवं कर्म पात्रों की चेष्टाएँ लक्षित होती है। अतः नाट्य में लक्षणों वाले अभिनय का सम्यक् प्रयोग होता है ॥ ७९ ॥

अभिनव—सामान्याभिनय रूप लक्षण है, ऐसा भाव है। सम्प्रयोजित का अर्थ है। नाट्य सम्बन्धो समस्त क्रियाएँ, उन सबका एकीभाव करना चाहिए। कर्म और प्रयोग शब्दों में सप्तमी विभक्ति कहते है। इस एकीभाव के विना रस अनुप्राणित साक्षात्कार सम्पन्न नहीं होता है ॥ ७९ ॥

अभिनव—जो अध्ययन नहीं करते, क्या उनसे व्युत्पत्ति दूर हो जाती है। उसका अभाव भट्टपुत्र आदि में है, इसको कहते हैं—

अनुवाद—जिन्हों ने आचार्य की सेवा में निवास नहीं किया है। जो शासन से बहिष्कृत है, वे आचार्यों की क्रिया विज्ञान में प्रयोग करते है, अतः वह बाह्य प्रयोग है ॥ ८० ॥

---

१. ग. चैव हि। २. ख. तस्मिन् नियोजितम्। ३. ख. ग. उषिताः।
४. ग. बाह्यस्ते (न्ते) (?) तु प्रयोज्यन्ति क्रियामात्रैः प्रयोजिते।
ख. बाह्यं ते तु प्रयोक्ष्यन्ते क्रियामन्त्रैः प्रयोजितम्।

शब्दं स्पर्शं च रूपं च रसं गन्धं तथैव च।
[1]इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च भावैरभिनयेद्बुधः ॥ ८१ ॥
कृत्वा साचीकृतां दृष्टिं शिरः [2]पार्श्वानतं तथा।
[3]तर्जनी कर्णदेशे च बुधः शब्दं विनिर्दिशेत् ॥ ८२ ॥

अथ संभूयाभिनयरूपत्वमेव सामान्याभिनयमाह—शब्द स्पर्शं चेत्यादि। इन्द्रियशब्दस्येन्द्रियार्थशब्देन स्पर्शादिविशेषणस्यासम्भवम्, स्वविषयग्रहणावेशः स्वकरणग्राह्यतावेशश्च सर्वेषामिन्द्रियाणां विषयाणां च प्रदर्श्यते, अत एवेष सामान्याभिनयनेयेऽर्थद्वयेऽभिनस्य साधारण्यम्। भावैरिति क्रियाविशेषैरित्यर्थः ॥ ८१ ॥

तानाह—

अभिनव—सामान्याभिनय संभूयाभिनय रूप ही है, इसको कहते हैं—

अनुवाद—इन्द्रियों के अर्थ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन इन्द्रियों के अर्थ विषयों एवं इन्द्रियों के अभिनय को बुध जन भाव के साथ अभिनय करें ॥८१॥

अभिनव—इन्द्रियों का इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श आदि विशेष अर्थों के साथ सम्भूयमान हो सकता है। क्योंकि इन्द्रियों में ग्राहकता और विषयों में ग्राह्यता दिखाई पड़ती है, इन्द्रियों की अपने विषय में ग्राहकता है और विषयों को अपने इन्द्रियों के लिए ग्राह्यता है। अतः सामान्य और अभिनेय इन दो अर्थों में अभिनय की साधारणता है। भाव अर्थात् क्रियाविशेषण के साथ विशेषता है ॥ ८१ ॥

अब उन भावों को कहते हैं—

अनुवाद—दृष्टि को साचीकृत (तिरछी) करके (शिर को कन्धे की ओर झुका कर तथा कर्ण पर तर्जनी को रखकर अभिनयवेत्ता लोग शब्दों का अभिनय करे ॥ ८२ ॥

---

१. ब. इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च।
२. क. पार्श्वनतं। ग. पार्श्वाञ्चितं।
३. ब. तर्जनी कर्णदेशे तु शब्दं त्वभिनयेद् बुधः।
   ग. तु शब्दान्नियोजयेत् बुधः।

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च[1] ।
[2]तथाऽसंगण्डयोः स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिर्दिशेत् ॥ ८३ ॥

कृत्वा पताकौ मूर्धस्थौ किञ्चित्प्रचलिताननः[3] ।
निर्वर्णयन्त्या दृष्ट्या च[4] रूपं त्वभिनयेद् बुधः ॥ ८४ ॥

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वोत्फुल्लां च नासिकाम् ।
[5]एकोच्छ्वासेन चेष्टौ तु रसगन्धौ विनिर्दिशेत् ॥ ८५ ॥

अनेनादरवशात्समस्तो भरः श्रोत्रदेशमनुयाति, यथोक्तं –

तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां
सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ (रघु० ७-१२) इति ।

चकाराच्छ्रोत्रमपि शब्दग्रहणाविष्टमनेनाभिनीतं भवतीत्याह—एवमुत्तरत्र ।

अभिनव—दृष्टि का साचीकरण करके अनादर से समस्त भार कर्ण देश पर रखकर शब्दों का निर्देश करे। जैसा कि कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि—'ऐसा लगता है कि अज को देखने के समय इन नायिकाओं की सभी इन्द्रियों की वृत्ति नेत्र में ही घुस गई है। यहाँ पर 'कर्ण देशे च' में 'च' शब्द से यह अभिनीत होता है कि कर्ण का भी शब्द ग्रहण करने से आवेश है। इसी प्रकार आगे भी समझें ॥ ८२ ॥

अनुवाद—स्पर्श का अभिनय करते समय नेत्रों को किञ्चित् आकुञ्चित करके भ्रूक्षेप अर्थात् भ्रूकुटियों का विक्षेपण और कपोलों के स्पर्श का अभिनय करे ॥ ८३ ॥

अनुवाद—पताका को शिर पर मुख को किञ्चित् प्रचलित करते हुए दृष्टि से किसी को देखने का भाव प्रदर्शित करते हुए बुध लोग रूप का अभिनय करे ॥ ८४ ॥

अनुवाद—नेत्रों को किञ्चित् आकुञ्चित करके और नासिका को फुला कर एक ही श्वांस में ही अपने अभीष्ट रस और गन्ध का अभिनय करे ॥ ८५ ॥

---

१. ख. भ्रुवोरुत्क्षेपणेन च । २. ख. तथाऽङ्ग ।
३. ख. ग. पताके मूर्ध्निस्थे किंचित्प्रचलिताङ्गुलिः ।
४. ख. तु । ५. ख. एकोल्लासेन हृष्टेष्टौ ।

पञ्चानामिन्द्रियार्थानां भावा ह्येतेऽनुभाविनः[1] ।

[2]श्रोत्रत्वङ्नेत्रजिह्वानां घ्राणस्य च तथैव हि ॥ ८६ ॥

[3]इन्द्रियार्थाः समनसो भवन्ति[4] ह्यनुभाविनः ।

न वेत्ति ह्यमनाः किंचिद्विषयं पञ्चधागतम्[5] ॥ ८७ ॥

एतदुपसंहरति—पञ्चानामिन्द्रियार्थानामित्यादि ॥ ८६ ॥

इन्द्रियार्थाः समनस इति यथाशब्दादिग्रहणक्रियाभिः शब्दः श्रोत्रे प्रतीयते, तन्मनोऽपि तदधिष्ठातृक्रमेणाधिष्ठानं कुर्वदित्यतोऽपि सामान्याभिनयः । तदुक्तम्—युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति ॥ ८७ ॥

अब इन पांच इन्द्रियों का उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और घ्राण इन पांचों इन्द्रियों से तथा पांचों इन्द्रियों के विषयों के अनुभावी उपरिनिर्दिष्ट भाव हैं ॥ ८६ ॥

अनुवाद—इन्द्रियों के ये पांचों विषय मन के अनुगत होने पर ही अनुभूत हो सकते हैं । मनरहित अमनस्क पुरुष पांच प्रकार के विषयों का अनुभव नहीं कर सकता ॥ ८७ ॥

अभिनव—इन्द्रियार्थाः अर्थात् इन्द्रियों के विषय समनस्क इन्द्रियों के विषय । जैसे शब्द ग्रहण क्रियाओं से शब्द कर्ण देश जाता है । उसी प्रकार मन भी इन्द्रियों के अधिष्ठाता के क्रम से अधिष्ठान करता है अतः यह सामान्याभिनय है । आचार्य ने कहा है कि एक साथ दो ज्ञानों का न होना मन का लिङ्ग (चिह्न) है । मन का किसी एक इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है अतः युगपत् ज्ञानद्वय की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ८७ ॥

---

१. ख. अनुभावजाः ।

२. ख. ग. त्वक्चक्षुर्घ्राणजिह्वानां श्रोत्रस्य तु तथैव च ।

३. ख. ग. इन्द्रियार्थाश्च मनसा ।

४. ख. भाव्यते ।

५. ख. ग. पञ्चहेतुकम् ।

मनसस्त्रिविधो भावो विज्ञेयोऽभिनये बुधैः[1] ।
[2]इष्टस्तथा ह्यनिष्टश्च मध्यस्थश्च तथैव हि ॥ ८८ ॥
[3]प्रह्लादनेन गात्रस्य तथा पुलकितेन च ।
[4]वदनस्य विकासेन कुर्यादिष्टनिदर्शनम् ॥ ८९ ॥

मनसस्त्रिविधो भाव इति वैशेषिकादिदृशि मनस्संयोगजो य आत्मन इच्छाद्वेषमाध्यस्थ्यलक्षणो भावः स मनस इत्युक्तः । कापिलदृशि तु विन्ध्यवासिनो मनस एव, ईश्वरकृष्णादिमते मनःशब्देनात्र बुद्धिः ॥ ८८ ॥

प्रह्लादनेन गात्रस्येत्यादिकं विषयग्रहणक्रियास्वभीष्टविषये निदर्शयितव्यम् । अतोऽपि चास्य सामान्याभिनयत्वं द्रष्टव्यम् ।

अनुवाद—इस प्रकार नाट्याभिनय में इष्ट, अनिष्ट और मध्यस्थ भेद से मन के तीन भाव होते हैं, विद्वानों को ऐसा समझना चाहिए ॥ ८८ ॥

अभिनव मन के तीन प्रकार के भाव हैं। वैशेषिको की दृष्टि में मन के संयोग से उत्पन्न जो आत्मा की इच्छा, द्वेष, एवं माध्यस्थ रूप भाव है वह मन का कहा गया है। कपिल की दृष्टि में विन्ध्यवासी मन से ही है। ईश्वरकृष्ण आदि के मत में मनस् शब्द से यहाँ बुद्धि ग्राह्य है ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इनमें इष्ट भाव का अभिनय शरीर के प्रह्लादन अर्थात् आनन्दमय चेष्टाओं, रोमाञ्च तथा रोमाञ्च एवं मुख के विकास से करना चाहिए ॥ ८९ ॥

अभिनव—शरीर के प्रह्लादन से इत्यादि विषयों के ग्रहण में अभीष्ट के विषय में निदर्शन है। इससे भी यह सामान्याभिनय है। यह समझना चाहिए ॥ ८९ ॥

---

१. ख. ग. अभिनय प्रति ।

२. ग. इष्टोऽनिष्टश्च मध्यश्च तस्याभिनय उच्यते ।

ख. इष्टोऽनिष्टस्तथा चैव मध्यस्थश्च तथैव हि ।

३. ख. गात्रप्रह्लादनेनेह ।

४. ख. आननप्रक्रियाभिश्च सर्वमिष्टं निरूपयेत् ।

इष्टे शब्दे तथा रूपे स्पर्शे[1] गन्धे तथा रसे[2]।
इन्द्रियैर्मनसा[3] प्राप्तैः सौमुख्यं संप्रदर्शयेत् ॥ ९० ॥
[4]परावृत्तेन शिरसा नेत्रनासाविकर्षणैः[5]।
[6]चक्षुषश्चाप्रदानेन ह्यनिष्टमभिनिर्दिशेत् ॥ ९१ ॥
नातिहृष्टेन मनसा न चात्यर्थंजुगुप्सया।
मध्यस्थेनैव भावेन मध्यस्थमभिर्दिशेत् ॥ ९२ ॥

एतदेव स्फुटयति इष्टे शब्द इत्यादिना।

सुमुखत्वं प्रसादादियुक्तं वदनमित्यर्थः ॥ ९० ॥

विकर्षणानि सङ्कोचनानि च। बहुवचनेन मध्ये ग्रहणसिद्धये विकासासंभिन्न इति दर्शयति।

अभिनव—इष्ट शब्द से इत्यादि के द्वारा इसी को स्पष्ट करते हैं—

अनुवाद समनस्क इन्द्रियों से प्राप्त किये गये इष्ट रूप रस, स्पर्श, शब्द एवं गन्ध के विषय में सौमुख्य प्रदर्शित करे ॥ ९० ॥

अभिनव—सुमुखित्व अर्थात् प्रसन्नता से युक्त मुख है ॥ ९० ॥

अनुवाद—शिर को घुमाकर नेत्र और नासिका का विकर्षण करके चक्षुष्का सम्पात न करके अनिष्ट अर्थ का अभिनय करे ॥ ९१ ॥

अभिनव—विकर्षण का अर्थ है सङ्कोचन। यहाँ बहुवचन से मध्य में ग्रहण की सिद्धि के लिए यह विकास से असंभिन्न है ॥ ९१ ॥

अनुवाद—न अत्यन्त हर्षित मन से, न अत्यन्त जुगुप्सा भाव से मध्यस्थ भाव से मध्यस्थ का अभिनय करे ॥ ९२ ॥

---

१. ग. घ्राणे।
२. ब. रसेऽपि वा।
३. ग. मनसि।
४. ब. अप्रदानेन च चक्षुषा।
५. ग. नेत्रभाषा विविक्ततैः।
६. ब. नेत्रनानाश्रितया।

तेनेदं तस्य वापीदं स एवं प्रकरोति वा[1]।
परोक्षाभिनयो यस्तु मध्यस्थ इति स स्मृतः ॥ ९३ ॥
आत्मानुभावी योऽर्थं स्यादात्मस्थ इति स स्मृतः।
[2]परार्थवर्णना यत्र परस्थः स तु संज्ञितः[3] ॥ ९४ ॥

अथात्रैव पूर्वोक्तप्रकारसम्भवं दर्शयति—तेनेदमित्यादि।

कृतं कर्तव्यमिति वाक्यशेषे भूतता भविष्यत्ता च ॥ ९३ ॥

आत्मनि सुखादयोऽर्थाः समवायिन इति सर्व एव ते आत्मस्थाः स्युः, रूपादीनां चान्यत्र समवायात् सदैव परस्थता स्यादित्याशङ्क्याह—आत्मानुभावी योऽर्थः स्यादिति। परशब्दसन्निधानादात्मशब्दोऽत्राहं-भावास्पदे प्रत्यगात्मनि वर्तते। तमात्मानमनुभावयति यदार्थः स आत्मस्थः। रूपाद्योऽपि चैवं भवन्तीति कथं नात्मस्थाः परसुखादयश्च नैवमिति कथमात्मस्थाः ॥ ९४ ॥

अनुवाद—मध्यस्थ अभिनय वह होता है जिसमें अर्थ, अभिनेय, वस्तु उसका यह है, उसने ऐसा किया, वह ऐसा करता है, ऐसी परोक्ष स्थिति हो ॥ ९३ ॥

अभिनव—यदि पूर्वोक्त प्रकार के सम्भव को दिखाते हैं—तेनेदमिती प्रकरोति इस वाक्य का शेष है। कृतं कर्त्तव्यम् इस वाक्य शेष में भूतता और भवितव्यता भी है ॥ ९३ ॥

अनुवाद—जो पदार्थ अपने द्वारा स्वयं अनुभूत हो, उन्हें 'आत्मस्थ' और जो दूसरे व्यक्ति के द्वारा अनुभव की जाती है, वह 'परस्थ' कहलाती है ॥ ९४ ॥

अभिनव—सुखादि अर्थ आत्मा में समवायी हैं अतः वे सब आत्मस्थ है और रूपादि का अन्यत्र समवाय होने से सदैव परस्थता रोगी, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं जो अर्थ आत्मा का अनुभव कराता है (आत्मानुभावो)। यहाँ परार्थ वर्णना में पर शब्द के सन्निधान से आत्म शब्द अहं भावस्थ हूँ प्रत्यक्ष आत्मा में है। अतः जो अर्थ आत्मा का अनुभावक है वह आत्मस्थ क्यों नहीं है। परगत मुखादि ऐसे नहीं तब आत्मस्थ कैसे हो सकते हैं ॥ ९४ ॥

---

१. ग. च।
२. ख. परस्य वर्णनीयश्च। ग. परार्थवर्णनायां च।
३. ब. इति स स्मृतः।

प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते ।
स चेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा परिकल्पितः[1] ॥ ९५ ॥

अथ कामोपचारस्य सामान्याभिनयत्वमुपपादयति–प्रायेण सर्वभावानामिति । कामादिति इच्छातः । यद्यप्यनिच्छोः किञ्चिद्भवति तदपि प्राक्तनं च कर्माधिपत्यात् । कर्मस्थापूर्वकमिति प्रायग्रहणं व्याप्त्यर्थः कामादेव निष्पत्तिरित्यर्थः ।

ननु कोऽयं कामो नामेत्याह—स चेच्छेति । न चेच्छामात्रादेव कार्यविनिष्पत्तिरित्याह—गुणेन कार्यप्रयत्नादिना कार्यव्यापारादिसहितेन सम्पन्नः सहकृतः सर्वकार्यकारी । नन्वेकैव चेदिच्छा कथमनेकं कार्यं प्रसूयत इत्याशङ्क्याह—बहुधा परिकल्पितः । भूयस्यः इच्छा इति ॥ ९५ ॥

अनुवाद—प्रायः सभी भावों की निष्पत्ति काम से होती है, कामना से किया जाता है। वह इच्छागुणों से सम्पन्न व्यक्ति बहुत प्रकार का परिकम्पित किया गया है ॥ ९५ ॥

अब कामोपचार के सामान्याभिनयत्व का उपपादन करते हैं—प्रायेण सर्वभावानामित्यादि। काम से इच्छा से। यद्यपि अनिच्छु का भी किञ्चित् कर्म होता है तथापि किया हुआ होने से, आधिपत्य होने से प्राक्तन कर्म है। प्राय ग्रहण व्याप्ति के लिए है। काम से ही कर्म निष्पत्ति होती।

अब प्रश्न होता है कि वह काम कौन है? कहते हैं कि वह इच्छा है यह ठीक नहीं कि इच्छा मात्र से ही कार्य की निष्पत्ति होती है। इस पर कहते हैं कि कार्य इच्छा से ही होता है, विना इच्छा के कार्य नहीं होता है किन्तु उस इच्छा के साथ गुण रहता है उस गुण से कार्य के लिए किये जाने वाले प्रयत्न से सम्पन्न होता है अतः गुण सहकृत काम सब कामों का करने वाला है। अब प्रश्न होता है कि इच्छा एक ही तो अनेक कार्य क्या होते हैं? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि इच्छाएँ बहुत हैं ॥ ९५ ॥

---

१. ख. काम इष्यते ।

धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।
[1]स्त्रीपुंसयोस्तु योगो यः[2] स तु काम इति स्मृतः ॥ ९६ ॥
[3]सर्वस्यैव हि लोकस्य सुखदुःखनिबर्हणः[4]।
भूयिष्ठं दृश्यते कामः स[5] सुखं व्यसनेष्वपि ॥ ९७ ॥

यावन्तमुदाहरति—धर्मकाम इत्यादि। धर्मः कामः अर्थे मोक्षे च तत्र कामो नामेच्छा सा च सुखे तत्साधने वा भवति। तत्र धर्मार्थयोः स्वयं सुखरूपत्वं नास्ति सुखसाधनतापि च। साक्षाद्धर्मेण ह्यप्सरोगतादि सुखसाधनमुपार्ज्यते। एवमर्थेऽपि मन्तव्यम्। मोक्षो यद्यप्यबहिस्साधनाधीनपरमान्दविश्रान्तिलक्षणः सुखात्मैव, तथापि दुर्लभ इति न तत्र सम्मोहितं लोकस्य हृदयम्। स्त्रीपुरुषयोस्तु संयोगः साक्षादेव सुखसाधनमिति तस्यैवेच्छाविषयतेति निरुपपदेन कामशब्देन स एव वाच्यः। तेन च सर्वोऽर्थोऽनुरज्यते, यदाह—स्त्रीति नामापि संह्लादीति (कामसू० ४·५२) तथापि तत्स्पृष्टे लोकोत्तरेऽप्यर्थो लोकस्य हृदयसंवादावयस्तेनैव हृदयंगमत्वमभ्युपगच्छति। यथा—

अनुवाद—धर्मकाम, अर्थकाम और मोक्ष की कामना से स्त्रियों और पुरुषों का जो योग है, वह काम कहा जाता है ॥ ९६ ॥

अनुवाद— सभी लोगों की इच्छा, काम जो सुख-दुःख का निर्वाहकारी है वही काम इच्छा सुख है ॥ ९७ ॥

अभिनव—सबको उदाहृत कहते हैं—

अभिनव—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में। काम इच्छा का नाम है, वह सुख और उसके साधन में होती है। वे धर्म और अर्थ स्वयं सुख रूप नहीं है और सुख-साधनता भी नहीं है। अप्सराओं से प्राप्त होने वाले सुख का साक्षात् धर्म साधन बनता है। इसी प्रकार अर्थ के सम्बन्ध में भी मानना चाहिए। मोक्ष यद्यपि बहिः साधन के अधीन नहीं है उसके साधन अन्तरङ्ग है तथापि वह सुख दुर्लभ है। अतः लोक का हृदय इस सुख के लिए संमुग्ध नहीं होता।

---

१. ग. यत्तु स्त्रीपुंसयोर्योगः समो योग इति स्मृतः।
२. ख. संयोगो यः कामः स तु संस्मृतः।
३. ख. सर्वस्यैव। ४. ग. निबर्हणम्।
५. ग. सुखदो दुःखदेष्वपि।

यः स्त्रीपुरुषसंयोगो[1] रतिसंभोगकारकः ।
स शृङ्गार इति ज्ञेय [2]उपचारकृतः शुभः ॥ ९८ ॥

मोहदुर्दिननिशाभिसारिका मानिनी समदना मदोद्धता ।
घोरियं प्रणयतस्त(स्त्व?)दुन्मुखी खण्डितां रमण मास्म तां कृथाः ॥ इति ॥
अनेनैवाशयेन रहस्योऽप्यर्थो मया रहस्येषु (मुख्ययैव वृत्या) निबद्धः कैशिक्या ह्येतदर्थमेवादरेण विनिवेशः प्रतिपादितः। अत एह्यस.... ..॥ ९६-९७ ॥

कामोपचारस्य सामान्याभिनयत्वं बहुतरलक्ष्यव्यापकत्वात् तदेव दर्शयति—यः स्त्रीपुरुषसंयोग इति ।

इच्छामात्रमपि तत्र सुखे चोपचारकृतमित्यत इच्छालक्षणं सम्भोगं करोतीत्याह—उपचारोऽन्योन्यहृदयग्रहणोचितैर्व्यापारैः परिपूर्णः । इह चोक्त उत्तम प्रकृतिर्यदि तत्रसाध्यायोक्तदृशा शृङ्गार इत्युच्यते ॥ ९८ ॥

स्त्री-पुरुष का संयोग साक्षात् सुख का साधन है। अतः उसी में सब की इच्छा होती है। अतः धर्मादि उपपदों से रहित काम शब्द से वही वाच्य है। इसी लिए उससे सभी अनुरक्त होना है, जो कहा है कि 'स्त्री' यह नाम भी सुखदायक है तब भी उससे स्पष्ट लोकोत्तर अर्थ में भी लोक के हृदय का संवाद है, अतः विना प्रयत्न के उस सुख को लोक हृदयंगम मानता है। जैसे—

"मोहरूपी दुर्दिन में पड़ी हुई निशारूपी अभिसारिका नायिका अर्थात् घोर मोह में विह्वल अभिसार करने चली अभिसारिका कामार्त्त हुई मदोद्धत आपके सङ्केत देकर नहीं आने से मानिनी हो गई है, किन्तु उसकी धारणा प्रणय के उन्मुख है। अतः हे रमण ! उसको खण्डिता मत करो।"

इसी आशय से मैंने रहस्यभूत अर्थ को रहस्यों में मुख्य वृत्ति से निबद्ध किया, बड़े आदर के साथ कौशिकी रीति से प्रतिपादित किया ॥ ९६-९७ ॥

अभिनव—कामोचार का सामान्याभिनयत्व बहुतर लक्ष्यों में व्याप्त होने से उसे दिखाते हैं—

अनुवाद—जो स्त्री और पुरुष का पारस्परिक संयोग रतिभाव का निष्पादक है वह शृङ्गार कहलाता है वह शृङ्गार अतिशय सुखद होता है जब निकटता आधारित होती है ॥ ९८ ॥

१. ख. संयोगे रतिसंयोगकारकः । २. उपकार ।

[1]भूयिष्ठमेव लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा ।
सुखस्य[2] हि स्त्रियो मूलं नाना[3] शीलाश्च ताः पुनः ॥ ९९ ॥

एतमेवार्थमुपोद्बलयति—भूयिष्ठमेव लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा इति। भूयिष्ठमिति प्राप्तादधिकमिति यावत्। अत एव परमानन्दलाभमन्तरेण न कुत्रचित् संतुष्यति लोकः। सर्वदेति दुःखाभावमपि सुखार्थमेवेच्छति, सर्वदुःख-निवृत्ति हि कामयते सुखेन यथेच्छमश्नीयात्, यथाभीष्टं च रमणीमुपभुञ्जीयादिति। हारमपि त्यजति मृदुशीतलसमीरस्पर्शजनितसुखसिद्ध्यर्थमेव। अत एव। शून्य-रहस्यविदः कणादसुगतादिसंमतमिमं मोक्षं न रोचयन्ते प्रेक्षावतां तत्राप्रवृत्ति-प्रसङ्गादिति दर्शितमित्यलं बहुना।

सुख की इच्छा उपचारकृत है अतः इच्छा लक्षण संभोग को करता है। इसलिए कहते हैं कि उपचार अन्य के हृदय को ग्रहण करने योग्य व्यापारों से परिपूर्ण है यहाँ यदि उत्तम प्रकृति है तो इसे रसाध्याय में कथित दृष्टि से शृङ्गार कहा जाता है।

इस अर्थ का उद्वोलन करते हैं।

अनुवाद—इस संसार में सभी मनुष्य अधिक सुख को चाहते हैं। सुख की मूल हेतु स्त्रियाँ और वे नाना शील वाली होती है ॥ ९९ ॥

भूयिष्ठमिति—भूयिष्ठम् अर्थात् प्राप्त किये हुए से अधिक। इसलिए परमानन्द की प्राप्ति के विना वह सन्तुष्ट नहीं होता। सर्वदा अर्थात् दुखाभाव को भी सुख के लिए चाहता है। समस्त दुखों की निवृत्ति चाहता है कि सुख से यथेच्छ उपभोग करूँ। यथा अभीष्ट उपभोग करूँ। मृदु, शीतल वायु के स्पर्श से जनित सुख की सिद्धि के लिए हार को भी छोड़ देता हूँ। इसलिए शून्य के रहस्य के वेत्ता कणाद, सुगत आदि सम्भव इस मोक्ष को नहीं चाहते। बुद्धिमानों को उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। अतः दिखा दिया। अतः अधिक कहने से क्या लाभ ?

---

१. ग. सर्वः प्रायेण। ख. इह प्रायेण लोकोऽयं शुभमिच्छति नित्यशः।
२. ख-ग. च। ३. ग. शीलधराश्च ताः।

[1]देवदानवगन्धर्वरक्षोनागपतत्रिणाम् ।
पिशाचयक्षव्यालानां नरवानरहस्तिनाम् ॥ १०० ॥
मृगमीनोष्ट्रमकर[2] खरसूकरवाजिनाम् ।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः ॥ १०१ ॥
[3]स्निग्धैरङ्गैरुपाङ्गैश्च स्थिरा मन्दनिमेषिणी ।
अरोगा दीप्त्युपेता च [4]दानसत्त्वार्जवान्विता ॥ १०२ ॥
अल्पस्वेदा समरता [5]स्वल्पभुक् सुरत[6]प्रिया ।
[7]गन्धपुष्परता हृद्या देवशीलाङ्गना स्मृता ॥ १०३ ॥

उपचारकृतमित्युक्तम्, तत्रोपचारज्ञानाय स्त्रीणामाशयं दर्शयति, आशयग्रहणपूर्वकत्वादुचितस्योपचारस्य नानाशीलाः (इति) । शीलं सत्त्वं चैतन्यं बुद्धिपूर्वकं स्वभावो हेवाक इति पर्यायाः ॥ ९९ ॥

देवदानवेत्यादिना तानि शीलान्युद्दिश्य यथोद्देशं लक्षयति ॥ १०० ॥

आदि ग्रहणेनान्यदपि शीलमस्तीत्याह ॥ १०१ ॥

समरतेति नातिमृद्वी नातिखरेत्यर्थः ॥ १०३ ॥

उपचार से किया। ऐसा कहा गया है। वहाँ उपचार ज्ञान के लिए स्त्रियों के आशय को दिखाते हैं। उचित उपचार आशय ग्रहण पूर्वक होने से नानाशील कहा गया है। शील सत्त्व, चैतन्य, बुद्धि पूर्वक स्वभाव हे वाक् आदि के पर्याय है।

अनुवाद—देव, दानव, असुर, गन्धर्व, राक्षस, नाग, पक्षी, पिशाच, यक्ष, व्याल, नर, वानर, हाथी, मृग, मीन, ऊँट, मगर, सूकर, गधा, घोड़ा, भैंसा, बकरा एवं गौ ये शील के तुल्य शील स्वभाव वाली स्त्रियाँ होती हैं ॥ १००-१०१ ॥

देव, दानव इत्यादि के द्वारा उन शीलों को लक्ष्यकर यथाक्रम लक्षण कहते हैं ॥ १०० ॥

अभिनय—आदि ग्रहण से ज्ञात होता है कि और भी शील है।

---

१. ख-ग. देवतासुर । २. ख. वन ।
३. ख. स्निग्धा चाङ्गै...स्थिर । ग. स्निग्धाङ्गीपाङ्गीपाङ्गनयना ।
४. ग. सत्यार्जवदयान्विता । ख. दानशक्त्यार्जवान्विता ।
५. ग. स्वल्पशुक्ररतप्रिया । ६. ख. सुरभिप्रिया ।
७. ख. गान्धर्ववाद्याभिरता हृद्या देवाङ्गना ।

अधर्मशाठ्याभिरता[1] स्थिरक्रोधातिनिष्ठुरा ।
मद्यमांसप्रिया नित्यं कोपना चातिमानिनी[2] ॥ १०४ ॥
चपला चातिलुब्धा च पुरुषा कलहप्रिया ।
[3]ईर्ष्याशीला चलस्नेहा चासुरं शीलमाश्रिता[4] ॥ १०५ ॥

स्वङ्गीदि सुखसन्निवेशान्यङ्गानि यथा इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

देवशीला नारी—

अनुवाद—जिसके अङ्ग और उपाङ्ग सुकुमार हों, स्थिर और मन्द-मन्द निमेष वाली, निरोग और कान्तियुक्त हो, दान, सत्त्व और आर्जव से समन्वित हो कम पसीने युक्त, समरस, थोड़ा भोजन करने वाली, सुरतप्रिय, गन्ध-पुष्प रत हो तो ऐसी स्त्री को देवशीला अङ्गना समझना चाहिए ॥ १०२-१०३ ॥

अभिनव—न अति कोमल और न अति कठोर ।

असुरशीला नारी—

अनुवाद—जो अधर्म और शठता में रत हो, स्थिर क्रोध वाली और अत्यन्त निष्ठुर, मद्य, मांस को प्रिय, नित्य कुपित होने वाली, अत्यन्त मान धारण करने वाली, चञ्चला, अत्यन्त लोभ करने वाली, परुषा (कठोर वचन बोलने वाली) कलह प्रिया, ईर्ष्या करने वाली, चल स्नेह वाली अङ्गना को 'असुरशीला' समझनी चाहिए ॥ १०४-१०५ ॥

---

१. ग. अधमा साम्यनिरता ।

२. ग. क्रोधना यातिमानिनी ।

३. ग. ईर्ष्याशीलाथ निस्नेहा शीलमासुरं ।

४. ख. शीलमास्थिताः ।

[1]क्रीडापरा चारुनेत्रा नखदन्तैः सुपुष्पितैः ।
[2]स्वङ्गी च स्थिरभाषी च मन्दापत्या रतिप्रिया ॥ १०६ ॥
[3]गीते वाद्ये च नृत्ते च [4]रता हृष्टा मृजावती ।
गन्धर्वसत्त्वा[5] विज्ञेया स्निग्धत्वक्केशलोचना ॥ १०७ ॥
बृहद्व्यायतसर्वाङ्गी रक्तविस्तीर्णलोचना ।
[6]खररोमा दिवास्वप्ननिरतात्युच्चभाषिणी ॥ १०८ ॥
नखदन्तक्षतकरी क्रोधेर्ष्या कलहप्रिया ।
निशाविहारशीला च राक्षसं [7]शीलमाश्रिता ॥ १०९ ॥

गान्धर्वशीला नारी—

अनुवाद—क्रीड़ा में तत्पर रहने वाली, सुन्दर नेत्रों वाली, सुपुष्पित खिले नख एवं दांतों वाली, सुन्दर अङ्गों वाली, स्थिर भाषण करने वाली, मन्द अपत्यों वाली, रतिप्रिया, नृत्य, गीत, वाद्य में रत, हृष्ट और कोमल स्वभाव वाली, चिकने केश एवं नेत्रों वाली नायिका 'गान्धर्वशीला' होती है ॥ १०६-१०७ ॥

राक्षसशीला नारी—

अनुवाद—बृहद् और व्यायत (विस्तार युक्त) समस्त अङ्गों वाली लाल (रक्त) और विस्तीर्ण नेत्रों वाली, गर्दभ जैसे, लोम (रोम) वाली, दिन में सोने वाली और उच्च (जोर से) भाषण करने वाली, नखक्षत और दन्तक्षत करने वाली, क्रोध, ईर्ष्या और कलह से प्रेम करने वाली, निशा (रात्रि) में विहार करने वाली नारी 'राक्षसशीला' होती है ॥ १०८-१०९ ॥

१. ग. क्षिप्रापरा । ख. अतेकारामभोग्या च ।
२. ख. स्मिताभिभाषिणी तन्वी मन्दाचारा । ग. तन्वङ्गी स्मितभाषा च ।
३. ग. नृत्ते गीते च नाटये च ।
४. ख. नित्यं । ५. ख-ग. शीला ।
६. ख. निवृत्या । ग. स्वभावोत्फुल्ल ।
७. ख-ग. सत्त्वं ।

तीक्ष्णनासा[1]प्रदशना सुतनुस्ताम्रलोचना ।
नीलोत्पलसवर्णा च [2]स्वप्नशीलाऽतिकोपना ॥ ११० ॥
तिर्यग्गतिश्चलारम्भा [3]बहुश्वासातिमानिनी ।
गन्धमाल्यासवरता[4] नागसत्त्वाऽङ्गना स्मृता ॥ १११ ॥
[5]अत्यन्तव्यावृतास्या च तीक्ष्णशीला सरित्प्रिया[6] ।
सुरासवक्षीररता[7] बह्वपत्या फलप्रिया ॥ ११२ ॥
नित्यं श्वसनशीला च [8]तथोद्यान [9]वनप्रिया ।
[10]चपला बहुवाक्छीघ्रा शाकुनं सत्त्वमाश्रिता ॥ ११३ ॥

व्यावृतं विस्तीर्णमास्यमन्तर्मुखं यस्याम् ॥ ११२ ॥

नागशीला नारी—

अनुवाद—तीक्ष्ण नासाग्र और तीखे नुकीले दांत वाली, सुन्दर शरीर वाली लाल (रक्त) नेत्रों वाली, नील कमल के समान वर्ण वाली, निद्रालु स्वभाववाली, अत्यन्त क्रोध करने वाली तिर्यग् (तिरछी) गतिवाली अधिक श्वास-प्रश्वास से युक्त, अधिक मान वाली, गन्धयुक्त माला धारण करने वाली तथा आसव का सेवन करने वाली अङ्गना 'नागशीला' नारी कहलाती है ॥ ११०-१११ ॥

पक्षिशीला नारी—

अनुवाद—मुख को अत्यन्त खुला रखने वाली, तीक्ष्ण स्वभाव वाली, नदी में विहार करने का शौक वाली, मदिरा, आसव और क्षीर पीने में रत, बहुत सन्तानों वाली, अधिक फलों को पसन्द करने वाली निरन्तर सांस लेने वाली, उद्यान और वन से प्रेम रखने वाली, चञ्चल, और अत्यन्त बोलने वाली नारी 'पक्षिशीला' कहती है ॥ ११२-११३ ॥

अभिनव—अत्यन्त खुले मुख वाली ।

---

१. ग. नासोग्र । २. ब. स्वप्नोद्देशाऽति ।
३. ब. बहुसत्त्वाभिनन्दिनी । ग. बहुबिम्बातिमानिनी ।
४. ब. माल्याविनिरता । ग. माल्यातिनिरता ।
५. ग. अत्यर्थं घटितास्या च । ६. ग. रतिप्रिया ।
७. ब. रसा । ८. ब-ग. सदोघार ।
९. रतिप्रिया । १०. ब. ग. सत्त्वमाश्रिता ।

[1]ऊनाधिकाङ्गुलिकरा रात्रौ निष्कुटचारिणी ।
बालोद्वेजनशीला च पिशुना क्लिष्टभाषिणी ॥ ११४ ॥
सुरते कुत्सिताचारा रोमशाङ्गी महास्वना ।
पिशाचसत्त्वा विज्ञेया मद्यमांस[2]बलप्रिया ॥ ११५ ॥
स्वप्नप्रस्वेदनाङ्गी च स्थिरशय्यासनप्रिया ।
[3]मेधाविनी बुद्धिमती मद्यगन्धामिषप्रिया ॥ ११६ ॥
चिरदृष्टेषु हर्षं हर्षं च कृतज्ञत्वादुपैति सा[4] ।
अदीर्घं [5]शायिनी चैव यक्षशीलाऽङ्गना स्मृता[6] ॥ ११७ ॥

निष्कुटे गृहारामे चरतीति (निष्कुटचारिणी) तच्छीलेति ॥ ११४ ॥
अशेषाविस्मरणं बुद्धिः प्रतिभा ॥ ११६ ॥

पिशाचशीला—

अनुवाद—जिसके हाथों की अंगुलियाँ कम या वेशी हो। रात में घर के उद्यान में निर्भयता पूर्वक घूमती हुई बालकों को उद्वेजन करने वाली चुगल खोर और कटुभाषिणी हो, सुरत में कुत्सित आचरण वाली शरीर में अधिक रोम वाली, जोर से आवाज करने वाली, मदिरा मांस और बलि के खाने से प्रेम करने वाली अङ्गना 'पिशाचशीला' नारी कहलाती है ॥ ११४-११५ ॥

अभिनव—घर के उद्यान में विचरण करने वाली कुत्सित आचरण वाली।

यक्षशीला नारी—

अनुवाद—स्वप्न में पसीना युक्त अङ्गों वाली, स्थिर-शय्या और आसन प्रिय, मेधाविनी, मृद्वङ्गी, मद्य, गन्ध और आमिषप्रिय, बहुत समय बाद दृष्ट पदार्थों पर कृतज्ञता प्रकट करती हुई, हर्ष का अनुभव करती हुई, देर तक सोने वाली नारी को 'यक्षशीला' कहलाती है ॥ ११६-११७ ॥

१. ख-ग. जनाधिकाङ्गुलि ।
२. ग. रतिप्रिया ।
३. मिषप्रिया ।
४. ख-ग. या ।
५. गमना याच ।
६. ख-ग. ज्ञेया यक्षाङ्गनान्वया ।

[1]तुल्यमानावमाना य परुषत्वक् खरस्वरा[2] ।
शठानृतोद्धतकथा व्यालसत्त्वा च पिङ्गदृक्[3] ॥ ११८ ॥
आर्जवाभिरता नित्यं [4]दक्षात्यन्तगुणान्विता ।
विभक्ताङ्गी कृतज्ञा च गुरुदेवद्विजप्रिया[5] ॥ ११९ ॥
धर्मकामार्थ[6] निरता ह्यहङ्कारविवर्जिता ।
सुहृत्प्रिया सुशीला च मानुषं [7]सत्त्वमाश्रिता ॥ १२० ॥

प्रसह्येति कामुकमभियुज्येत्यर्थः ॥ १२२ ॥

व्याघ्रशीला नारी—

अनुवाद—जो तुल्य मान और अपमान में समान भाव वाली, कठोर त्वक् (चमड़ा) वाली और कठोर स्वरवाली, शठ, झूठ और उद्धत कथा वाली हो, वह पिङ्गलवर्ण नारी 'व्यालशीला' कहलाती है ॥ ११८ ॥

मनुष्यशीला नारी—

अनुवाद—जो आर्जव (सरलता) में अभिरत हो, नित्य दक्ष और क्षान्ति गुणों से अन्वित हो, विभक्त अङ्गों वाली, कृतज्ञ, गुरु, देवता और द्विजों के प्रति सम्मान करने वाली, धर्म अर्थ, काम में निरत, अहङ्कार से रहित, स्वजनों से प्रेम करने वाली सुशीला नारी 'मनुष्यशीला' नारी कहलाती है ॥ ११९-१२० ॥

---

१. ग. मानापमानयोस्तुल्या परुषा कटुकाक्षरा ।

२ ख. खरस्वना । पिङ्गदृक् व्यालवंशजा ।

३. ग. पिङ्गदृक् व्यालवंशजा ।

४. ख. दक्षा शान्ति ।

५. ख-ग. गुरुदेवार्चने रता ।

६. ग. नित्या च वयाहङ्कार वर्जिता ।
ख. नित्या च अहंकारविवर्जिता ।

७. प. हतु ।

संहताल्पतनुर्हृष्टा[1] पिङ्गरोमा [2]छलप्रिया ।
प्रगल्भा चपला तीक्ष्णा वृक्षाराम [3]वनप्रिया ॥ १२१ ॥
स्वल्पमप्युपकारं तु नित्यं या बहुमन्यते ।
[4]प्रसह्यरतिशीला च [5]वानरं सत्त्वमाश्रिता ॥ १२२ ॥
महाहनुर्ललाटा च [6]शरीरोपचयान्विता ।
पिङ्गाक्षी रोमशाङ्गी च गन्धमाल्यासवप्रिया ॥ १२३ ॥
कोपना स्थिरचित्ता[7] च जलोद्यानवनप्रिया ।
मधुराभिरता चैव हस्तिसत्त्वा प्रकीर्तिता[8] ॥ १२४ ॥

निवास इति सौधाविः ॥ १२६ ॥

वानरशीला नारी—

अनुवाद—जिसका शरीर गठीला हो, कद छोटा हो, जिसके रोम पीले हों, जो छल प्रिय हो, जो प्रगल्भा (धृष्ट स्वभाव वाली), चपला, तीक्ष्णा (तेज मिज़ाज) वृक्ष, आराम और वन से प्रेम करने वाली, थोड़े भी उपकार को अधिक मानने वाली, बलात् तीव्र रति करने वाली अङ्गना वानरशीला कहलाती है ॥ १२१-१२२ ॥

हस्तिसत्त्वा नारी—

अनुवाद—जिसका ललाट और हनु विशाल हो, शरीर पुष्ट और मांसल हो, जो पिङ्गाक्षी और रोमशाङ्गी हो, जो गन्ध, माला और आसव के प्रिय हों, जो कोपना, स्थिरचित्त, जल, उद्यान और वन में विहार करने वाली मधुर पदार्थों तथा रति क्रीड़ा में अभिरत हो, वह नायिका 'हस्तिसत्त्वा' नारी कहलाती है ॥ १२३-१२४ ॥

---

१. ख. ग. धृष्टा ।
२. ख. ग. फलप्रिया । ३. ग. रतिप्रिया ।
४. ग. अप्रह्य । ५. ग. कपिसत्त्वं समाश्रिताः ।
६. ख. मांसलोपचयान्विता ।
७. ख. ग. स्थिरसत्त्वा ।
८. ख. रतिप्रिया ।

स्वल्पोदरी भग्ननासा तनुजङ्घा वनप्रिया ।
[1]चलविस्तीर्णनयना चपला शीघ्रगामिनी ॥ १२५ ॥
[2]विवात्रासपरा नित्यं गीतवाद्यरतिप्रिया ।
[3]निवासस्थिरचित्ता [4]मृगसत्त्वा प्रकीर्तिता ॥ १२६ ॥
दीर्घपीनोन्नतोरस्का [5]चला नातिनिमेषिणी ।
बहुभृत्या बहुसुता मत्स्यसत्त्वा जलप्रिया ॥ १२७ ॥
लम्बोष्ठी स्वेदबहुला किञ्चिद्विकटगामिनी ।
कृशोदरी [6]पुष्पफल[7]लवणाम्लकटुप्रिया ॥ १२८ ॥
[8]उद्बन्धकटिपार्श्वा च [9]खरनिष्ठुरभाषिणी ।
अत्युन्नतकटीग्रीवा उष्ट्रसत्त्वाऽटवीप्रिया ॥ १२९ ॥

मृगशीला नारी—

अनुवाद—पतले उदर वाली, भग्ननासिका (चिपटी नाक), पतली जङ्घा वाली, वन में विहार करने में प्रिय, चञ्चल विशाल नेत्र वाली, चपला, शीघ्रगामिनी घबराने वाली नारी 'मृगशीला' नारी कहलाती है ॥ १२५-१२६ ॥

मीनशीला नारी—

अनुवाद—दीर्घ, पीन, उन्नत वक्षस् (छाती) वाली, चञ्चल, बार-बार झेंपने वाली नेत्रों वाली, बहुत से भृत्यों एवं बहुत से पुत्रों वाली, जलप्रिया नारी 'मीनशीला' नारी कहलाती है ॥ १२७ ॥

१. ख. रक्त ।
२. ख. परित्रासपरा भीरुर्गीतवादारतिप्रिया ।
ग. परित्रासपरा भीरू रोमशा गीतलोभिनी ।
३. ख. कोपनास्थिरसत्त्वा । ग. कोपनाय (च) लसत्त्वा ।
४. ख. ग. मृगसत्त्वाङ्गना स्मृता ।
५. ग. (श्र) ख. चपला निर्निमेषिणी ।
६. ख. फुल्लफल । ७. ग. वर्णांशुकबहुप्रिया ।
८. ख. ग. उद्बद्ध । ९. ख. अभ्युन्नतखर ।

स्थूलशीर्षाञ्चितग्रीवा दारितास्या महास्वना ।
ज्ञेया मकरसत्त्वा च क्रूरा मत्स्यगुणैर्युता ॥ १३० ॥
स्थूलजिह्वोष्ठदशना[1] रूक्षत्वक्कटुभाषिणी ।
रतियुद्धकरी[2] धृष्टा[3] नखदन्तक्षतप्रिया ॥ १३१ ॥
सपत्नीद्वेषिणी दक्षा चपला शीघ्रगामिनी ।
[4]सरोषा बह्वपत्या च खरसत्त्वा प्रकीर्तिता ॥ १३२ ॥

रतियुद्धकरीति रतौ युद्धमिव । (नखेति) नखदशनप्रकारादि करोति स्वयं च तदात्मनि ॥ १३२ ॥

उष्ट्रसत्त्वा नारी—

अनुवाद—लम्बे ओष्ठों वाली, अधिक पसीने वाली, थोड़ी विकट चाल वाली, कृशोदरी अर्थात् पतली कमर वाली, पुष्प, फल, नमकीन, अम्ल और कटु चीजें जिसे प्रिय हों, कमर और कोख थोड़े कसे हों, कर्कश और निष्ठुर बोलने वाली ऊची और लम्बी कटि और ग्रीवा वाली नायिका 'उष्ट्रसत्त्वा' नारी कहलाती है ॥ १२८-१२९ ॥

मकरशीला नारी—

अनुवाद—जिसका शिर स्थूल और ग्रीवा अञ्चित हो, मुख खुला हुआ और दीर्घ (मोटी) आवाज करने वाली, क्रूर और मत्स्य के गुणों से युक्त अस्थिर (चंचल) हो वह 'मकरशीला' नारी कहलाती है ॥ १३० ॥

खरशीला नारी—

अनुवाद—जिसके जिह्वा, ओष्ठ, दांत स्थूल और अर्थात् मोटे हों, जिसका त्वक् (चमड़ा) रूखा हो और जो कटु भाषिणी हो, जो रति कार्य में युद्ध करने वाली, धृष्ट, नख, दांत अर्थात् नखक्षत, दन्तक्षत प्रिय हो, जो सौत से द्वेष रखने वाली, दक्ष, चपल और तेज चलने वाली, रोगिणी तथा अधिक बच्चों वाली, वह 'खरसत्त्वा' नारी कहलाती है ॥ १३१-१३२ ॥

अभिनव—रति में युद्ध के समान प्रवृत्त । नखक्षत और दन्तक्षत प्रकृष्ट रूप से करने वाली ।

---

१. ख. रसना । ग. वदना । २. ग. प्रिया ।
३. ख. ग. हृष्टा । ४. क. सरोगा ।

दीर्घपृष्ठोदरमुख रोमशाङ्गी बलान्विता ।
सुसंक्षिप्तललाटा च कन्दमूलफलप्रिया ॥ १३३ ॥

कृष्णदंष्ट्रोत्कटमुखी [1]ह्रस्वोदरशिरोरुहा ।
हीनाचारा बह्वपत्या सौकरं सत्त्वमाश्रिता ॥ १३४ ॥

स्थिरा विभक्तपार्श्वोरुकटीपृष्ठशिरोधरा ।
[2]सुभगा दानशीला च ऋजुस्थूलशिरोरुहा ॥ १३५ ॥

[3]कृशा चञ्चलचिता च [4]स्निग्धवाक्छीघ्रगामिनी ।
कामक्रोधपरा [5]चैव ह्यसत्त्वाङ्गना स्मृता ॥ १३६ ॥

सूकरशीला नारी—

अनुवाद—जिसका पीठ और उदर विशाला हो, जिसके अङ्ग रोमयुक्त हो, कन्द, मूल फल आदि जिसे प्रिय हो, दान्त काले और मुख भद्दा हो, बाल और उदर छोटे हो, जो आचार हीन, बहुत अपत्यों से युक्त हो वह 'सूकरशील' नारी कहलाती है ॥ १३३ ॥

ह्यसत्त्वा नारी—

अनुवाद—जो स्थिर स्वभाव वाली हो, जिसका पार्श्व, उरु, कटि, पृष्ठ, शिर, गर्दन विभक्त हो, सुन्दर स्वरूप वाली, दानशीला, सरल और मोटे बालों वाली, दुबली, चञ्चल चित्तवाली, चिकनी-चुपड़ी बात करने वाली और शीघ्रता से गमन करने वाली, कामातुर और क्रोध से व्याकुल अङ्गना 'ह्यसत्त्वा' नारी कहलाती है ॥ १३५-१३६ ॥

---

१. ख. ग. पीवरोरु ।

२. सुरूपा ।

३. ख. गूढा चपलचित्ता । ग. कृशा च चलचित्ता च ।

४. ख. तीक्ष्णवाक् ।

५. नित्यं ह्यसत्त्वा प्रकीर्तिता ।

स्थूलपृष्ठाक्षि[1]दशना तनुपार्श्वोदरा स्थिरा[2] ।
[3]हरिरोमाञ्चिता रौद्री लोकद्विष्टा रतिप्रिया ॥ १३७ ॥
किञ्चिदुन्नतवक्त्रा च जलक्रीडावनप्रिया ।
बृहल्ललाटा सुश्रोणी महिषं सत्त्वमाश्रिता ॥ १३८ ॥
कृशा तनुभुजोरस्का [4]निष्टब्धस्थिरलोचना ।
संक्षिप्तपाणिपादा च [5]सूक्ष्मरोमसमाचिता ॥ ४३९ ॥
भयशीला जलोद्विग्ना[6] बह्वपत्या वनप्रिया ।
चञ्चला शीघ्रगमना [7]ह्यजसत्त्वाङ्गना स्मृता ॥ १४० ॥

महिषशीला नारी—

अनुवाद—स्थूल पीठ, अक्षि और दशन वाली, क्षीण पार्श्व और उदर वाली, स्थिर, हरित रोमाञ्च से युक्त, क्रोधी स्वभाव वाली, लोकद्विष्ट, रतिप्रिय, थोड़ा ऊँचे मुख वाली, जलक्रीडा और वन प्रिय, बृहत् ललाट से युक्त, सुन्दर नितम्ब वाली नारी 'महिषशीला' नारी कहलाती है ॥ १३७-१३८ ॥

अजाशीला नारी—

अनुवाद—अत्यन्त दुबली-पतली, क्षीण भुजा एवं वक्षःस्थल वाली, अत्यन्त स्थिर नेत्रों वाली, हाथ और पैर जिसके छोटे हों, घुंघुराले बालों वाली, डरपोक स्वभाव वाली, जल से डरकर भागने वाली, बहुत सी सन्तान वाली वन में विहार करने वाली, चञ्चला, तेज चाल वाली नारी 'अजाशीला' नारी कहलाती है ॥ १३९-१४० ॥

---

१. ख. ग. अस्थि ।
२. ग. स्निग्धत्वङ् मधुरा च या ।
३. ख. ग. खररोमाञ्चिता रौद्रा ।
४. ख. विष्टब्धेतर । ग. निष्टब्धतर ।
५. ग. रूक्षा रोमसमाञ्चिताः ।
६. ख. जडोन्मत्ता ।
७. ख. ग. ह्यजाशीलाङ्गना ।

[1]उद्बन्धगात्रनयना विजृम्भणपरायणा ।
[2]दीर्घाल्पवदना स्वल्पपाणिपादविभूषिता[3] ॥ १४१ ॥
उच्चः स्वना स्वल्पनिद्रा क्रोधना सुकृतप्रिया[4] ।
हीनाचारा कृतज्ञा च अश्वशीला[5] परिकीर्तिता ॥ १४२ ॥
पृथुपीनोन्नतश्रोणी तनुजङ्घा सुहृत्प्रिया ।
संक्षिप्तपाणिपादा च [6]दृढारम्भा प्रजाहिता ॥ १४३ ॥
पितृदेवार्चनरता [7]सत्यशौचगुरुप्रिया ।
स्थिरा परिक्लेशसहा गवां सत्त्वं समाश्रिता[8] ॥ १४४ ॥

संक्षिप्तपाणीति संक्षिप्तं परिमितम् ।

अश्वशीला नारी—

अनुवाद—जिस अङ्गना का शरीर और नेत्र उत्कृष्ट रूप से बंधा हुआ हो, जो बार-बार जँभाई लेने वाली, लम्बा और पतला मुख वाली, छोटे हाथ और पैर से विभूषित, ऊँची आवाज वाली, स्वल्प निद्रावाली क्रोधी स्वभाव वाली और अच्छे कर्म करने वाली, हीन आचणवाली कृतज्ञा नारी 'अश्वशोला' नारी समझनी चाहिए ॥ १४१-१४२ ॥

गोशीला नारी—

अनुवाद—विशाल और उन्नत नितम्ब वाली, पतली जांघ वाली, मित्रों से प्रेम करने वाली, छोटे हाथ-पैर वाली, दृढ़ आरम्भ वाली, प्रजा का हित करने वाली, पितर और देवताओं के अर्चन (पूजन) रत, सत्य, शौच (पवित्र) और गुरुजन का सम्मान करने वाली, स्थिर और क्लेशों को सहन करने वाली अङ्गना 'गशीला' नारी कहलाती है ॥ १४३-१४४ ॥

अभिनव—संक्षिप्तपाणि अर्थात् परिमित हाथ ।

---

१. ख. ग. उद्वद्ध ।
२. ख. दीप्राल्प । ग. दीर्घान्त ।
३. ख. विभूषणा ।
४. ख. ग. बहुभाषिणी ।
५. ख. साश्वशीला प्रकीर्तिताः ।
६. ग. इष्टारम्भा ।
७. ग. शुचिसत्त्वा । ख. नित्यशौचा ।
८. ग. उपाश्रिता ।

नानाशीलाः स्त्रियो ज्ञेयाः स्वं स्वं सत्त्वं समाश्रिताः ।
विज्ञाय च यथातत्त्वमुपसेवेत ताः पुनः[1] ॥ १४५ ॥
उपचारो यथासत्त्वं स्त्रीणामल्पोऽपि हर्षदः[2] ।
महानप्यन्यथायुक्तो नैव तुष्टिकरो भवेत् ॥ १४६ ॥
यथा सम्प्रार्थितावाप्त्या[3] रतिः समुपजायते ।
स्त्रीपुंसयोश्च रत्यर्थमुपचारो विधीयते ॥ १४७ ॥

शीलज्ञानस्योपयोगमाह—विज्ञाय च यथासत्त्वमुपसेवेतेति ।

सत्त्वानुसारेण से वायाः प्रयोजनमाह—उपाचारो यथासत्त्वमिति । एवं च सतोस्येतदेव व्यतिरेकेणाह—महानप्यन्यथेति ।

महानिति पूर्णः । अन्यथेति अयथासत्त्वम् ।

अनुवाद—अपने अपने सत्त्व के अनुसार स्त्रियाँ नाना स्वभाव की होती है। अतः उनकी प्रकृति के अनुसार उनको सेवा करनी चाहिए। क्योंकि प्रकृति के अनुसार उनका थोड़ा सा उपचार इनको पसन्द कर देता है। स्वभाव के अनुकूल न होने पर महान् उपचार भी तुष्टिकर नहीं होता ॥ १४५-१४६ ॥

अभिनव—शील ज्ञान उपयोगिता को कहते हैं विज्ञायेति। सेवा के अनुसार सेवा के प्रयोजन को कहते हैं। इस प्रकार होने पर इसको व्यतिरेक से कहते हैं। महान् अर्थात् पूर्ण। अन्यथा अर्थात् सत्त्व के अनुरूप ॥ १४५-१४६॥

अनुवाद—जो सम्प्रार्थित हो उसकी प्राप्ति से रति (काम) उत्पन्न हो जाती है। अतः स्त्री और पुरुष का अत्यन्त उपचार किया जाता है ॥ १४७ ॥

---

१. च. उपसर्पेत्यथागुणम् । ख. उपसर्पेत् ततो बुधः ।

२. च. प्रयुक्तो हर्षवर्धनः ।

३. ग. सम्प्रार्थिताः बाह्यरतिः । ख. सम्प्रार्थितायाः बाह्यरतिः ।

धर्मार्थं हि तपश्चर्या सुखार्थं धर्म इष्यते ।
सुखस्य मूलं प्रमदास्तासु सम्भोग इष्यते ॥ १४८ ॥
कामोपभागो[1] द्विविधो नाट्यधर्मेऽभिधीयते[2] ।
[3]बाह्याभ्यन्तरतश्चैव नारीपुरुषसंश्रयः[4] ॥ १४९ ॥
आभ्यन्तरः पार्थिवानां [5]स च कार्यस्तु नाटके ।
बाह्यो वेश्यागतश्चैव[6] स च प्रकरणे भवेत् ॥ १५० ॥

पुरुषार्थान्तरे कस्मादित्यव्युत्पत्तिर्न कृतेति वेदप्रामाण्यादि दर्शयति—धर्मार्थं हीत्यादि ।

अस्येदानीं सामान्याभिनस्य प्रकृत उपयोगं दर्शयति—कामोपभोगो द्विविध इति । (नाट्यधर्म इति) नाट्योपाये इतिवृत्त इत्यर्थः ॥ १९४ ॥

अभ्यन्तरमन्तःपुरं तत्र भवः (आभ्यन्तरः) । नाटक इति नाटिकायां चेत्यर्थः ॥ १५० ॥

अभिनव—अन्य पुरुषार्थ में क्या प्रवृत्ति होती है, इसकी व्युत्पत्ति नहीं की वेद के प्रामाण्य से पुरुषार्थ में प्रवृत्ति होती है—

अनुवाद—धर्म के लिए तप किया जाता है और सुख के लिए धर्म की इच्छा होती है, सुख का मूल इन्द्रियाँ होती है अतः उसे सम्भोग की इच्छा होती ॥ १४८ ॥

अभिनव—सामान्याभिनय का प्रकृत में उपयोग दिखाते हैं—

अनुवाद—नाट्य धर्म में कामोपभोग दो प्रकार का कहा गया है—आभ्यन्तर और बाह्य भेद से ॥ १४९ ॥

अनुवाद—नाटक में वेश्यागत बाह्य दिखाना चाहिए ॥ १५० ॥

अभिनव—अभ्यन्तर अर्थात् अन्तःपुर में होने वाला आभ्यन्तर है। नाटक और नाटिका में ऐसा करना चाहिए ॥ १५० ॥

---

१. ख. उपचारो ।
२. ख. ग. विधीयते ।
३. ख. ग. बाह्याभ्यन्तर ।
४. ख. ग. संभवः ।
५. ग. कर्तव्यः स च ।
६. ख. कृतश्चैव । ग. वेश्याङ्गनानां तु ।

[1]तत्र राजोपभोगं तु व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
उपचारविधिं सम्यक् कामतन्त्र[2]समुत्थितम् ॥ १५१ ॥
[3]त्रिविधा प्रकृतिः स्त्रीणां नानासत्त्वसमुद्भवा ।
बाह्या चाभ्यन्तरा चैव स्याद्बाह्याभ्यन्तरापरा ॥ १५२ ॥
कुलीनाभ्यन्तरा ज्ञेया बाह्या वेश्याङ्गना स्मृता ।
कृतशौचा तु[4] या नारी सा बाह्याभ्यन्तरा स्मृता ॥ १५३ ॥

अनुपूर्वंश इति (वक्ष्यमाणग्रन्थे मुनिना) स्त्रीणां त्रैविध्यम्, राजोपचारे नायिकायाः कामोपपत्तिः, इङ्गितं इष्टवेदनम्, कामावस्थाः, विप्रलम्भोपचारः, दूतीप्रेषणम्, सन्देशः रत्युपायचिन्ता [कन्यामित्रम्], प्रच्छन्नकामितम्, अन्तः-पुरभोगः, [नि] वासकः इत्यादिना क्रमेणेत्यर्थः। राज्ञामभ्यन्तर एव नाटके भोगः, न तु राज्ञामेवेति ॥ १५१-१५२ ॥

अनुवाद—अब मैं कामतन्त्र में बताये गये राजोपभोग को उपचार को विधि क्रम से बतलाऊँगा ॥ १५१ ॥

अभिनव—अनुपूर्वशः=आगे के वक्ष्यमाण ग्रन्थ में मुनि ने स्त्रियों की तीन विधियाँ कही है। राजोपचार में नायिका के काम की उत्पत्ति, इङ्गित को सङ्केत से बतलाना, विप्रलम्भोपचार, दूती-प्रेषण, सन्देश रत्युपाय चिन्तन, कन्यामित्र, प्रच्छन्नकामित, अन्तःपुरभोग, निवास करना आदि क्रम से। नाटक में राजाओं का सम्भोग भीतर ही होना चाहिए, राजाओं के लिए यह नियम नहीं है।

अनुवाद—विभिन्न सत्त्वों के अनुसार स्त्रियों की प्रकृति तीन प्रकार की होती है। १. बाह्य, २. आभ्यन्तर और ३. बाह्याभ्यन्तर प्रकृति ॥ १५२ ॥

अनुवाद—कुलीन स्त्रियाँ आभ्यन्तर प्रकृति की कहलाती हैं, वेश्या बाह्यन्तर प्रकृति की होती है और कृतशौचा नारी बाह्याभ्यन्तरा या मिश्र प्रकृति की होती है ॥ १५३ ॥

---

१ अयं श्लोकः । ग. पुस्तके न दृश्यते ।
२. ख. पूव । ३. ख. विविधा । ४. क. तु ।

अन्तःपुरोपचारे तु कुलजा कन्यकापि वा[1] ।
न हि राजोपचारे तु[2] बाह्यस्त्रीभोग इष्यते ॥ १५४ ॥
आभ्यन्तरो भवेद्राज्ञो बाह्यो[3] बाह्यजनस्य च[4] ।
दिव्यवेशाङ्गनानां हि राज्ञां भवति सङ्गमः ॥ १५५ ॥

वेशो गणिकानां स्थानं तत्र भवाः वेश्याः । (कृतशौचेति) कृतं शौचं शुद्धशीलत्वमेकान्तावरुद्धत्वेन यस्याः, सा च वेश्या पुनर्भवा ॥

कन्येति गणिका कुमार्यपीत्यर्थः । न हि राजोपचारे तु बाह्यस्त्रीभोग इत्यस्यापवादमाह—दिव्यवेश्येत्यादि । यथा पुरूरवसः उर्वश्या ॥ १५७ ॥

अभिनव—वेश अर्थात् गणिकाओं का स्थान वहाँ निवासिनी वेश्या है । कृतशौचा एकान्तवास से अवरुद्ध होने से शुद्ध शील है जिसका । वह वेश्या पुनर्भवा है ।

अनुवाद—अन्तःपुर में किये जाने वाले उपचार में कुलजा कन्या भी उपभोग के योग्य है और राजा के द्वारा किये गये उपचार में वेश्या का अन्तःपुर में उपभोग नहीं होना चाहिए ॥ १५४ ॥

अनुवाद—राजा का आभ्यन्तर उपभोग आभ्यन्तर प्रकृति में और बाह्य-जनों का बाह्य प्रकृति में बतलाया गया है किन्तु राजा का दिव्याङ्गनाओं के साथ सङ्गम (उपभोग) होना चाहिए ॥ १५५ ॥

अभिनव—कन्या, कुमारी, गणिका भी भोग के योग्य है । राजोपचार में बाह्य स्त्री के साथ उपभोग इष्ट नहीं है । इसके अपवाद को कहते हैं कि दिव्य वेश्याङ्गना के साथ राजा का उपभोग हो सकता है । जैसे पुरुरवा का उर्वशी के साथ ॥ १५५ ॥

---

१. ख. ग. न हि राजोपचारेषु कुलजा कन्यकाऽपि वा ।
२. ख. ब. उपचारेषु । ३. ख. ग. बाह्ये ।
४. ख. ब. वा ।

[1]कुलजाकामितं यच्च तज्ज्ञेयं कन्यकास्वपि ।
या चापि वेश्या साप्यत्र यथैव कुलजा तथा ।। १५६ ।।

इह कामसमुत्पत्तिर्नानाभव[2]समुद्भवा ।
स्त्रीणां वा पुरुषाणां वा उत्तमाधममध्यमा ।। १५७ ।।

श्रवणाद्दर्शनाद्रूपादङ्गलीलाविचेष्टितैः ।
मधुरैश्च समालापैः[3] कामः समुपजायते ।। १५८ ।।

रूपगुणादिसमेत कलार्थिविज्ञानयौवनोपेतम् ।
दृष्ट्वा पुरुषविशेषं नारी मदनातुरा भवति ।। १५९ ।।

कामोपचार इति प्रस्तुतस्तत्र कामस्य कथमुत्पत्तिरित्याह—
श्रवणादिति सर्वत्र शेषः। सीतायाः श्रवणाद्रावणस्य, शकुन्तलादर्शनाद् दुष्यन्तस्य।

अनुवाद—कुलीन स्त्रियों के लिए जो इष्ट है वह कन्या के लिए भी होना चाहिए जो वेश्या अथवा कुलजा है उसके विषय में भी वैसा समझना चाहिए ।। १५६ ।।

अनुवाद—स्त्री और पुरुषों में अनेक भावों से समुत्पन्न होने वाली काम की समुत्पत्ति उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार की होती है ।। १५७ ।।

अभिनव—कामोपचार प्रस्तुत है तो काम की उत्पत्ति कैसे होती है? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—श्रवण से, दर्शन से, रूप से, अङ्गों की लीलापूर्वक चेष्टाओं से और मधुर आलाप से काम समुत्पन्न होता है ।। १५८ ।।

अभिनव—सीता के श्रवण से रावण का और शकुन्तला के दर्शन से दुष्यन्त का।

अनुवाद—रूपादि गुणों से युक्त और कला, विज्ञान और यौवन से युक्त पुरुषविशेष को देखकर नारी कामातुरा हो जाती है ।। १५९ ।।

---

१. ख. ग. कुलजानां मतं ।
२. ख. ग. बीज ।
३. ख. ग. मधुरैः सम्प्रलापैश्च ।

ततः कामयमानानां[1] नृणां स्त्रीणामथापि च।
कामभावेङ्गितानीह तज्ज्ञः समुपलयेत् ॥ १६० ॥

रूपं चित्रादि प्रतिकृतिः, ततो वत्सेशस्य दृष्टेऽप्याकारे कामोऽनुत्पद्यमानोऽङ्गलीलालक्षणाद्विचेष्टितादुपजायते, नष्टरागप्रत्यानयनं वा ततो भवति, यथा विशाखदेवस्य निबद्धेऽभिसारिकावञ्चितके (वञ्चितके ?) वत्सेशस्य पद्मावतीभर्तृशबरीवेषाद्याचरणरूपाल्लीलाचेष्टितात् कामावृत्तिराख्याता। एवं मधुरेऽप्यालापे मन्तव्यम्। माधुर्यमर्थद्वारेण स्वरूपतः। चकारेणान्यदपि निमित्तं दर्शयति। यथा तापसवत्सराजचरिते पद्मावतीं प्रति कामोत्पत्तिर्वत्सेश्वरस्य निमित्तमत्यन्तानुवृत्तिर्नाम। तथा चाह—

मयि मनः प्रणिधाय धृता जटा
न गणितः स्वजनो न नवं वयः।
अनुगमैरिति मामनुरागिणी
व्यवसितन्तदपनेतुमिवेच्छति ॥ इति। (४-८)

अभिनव—रूप अर्थात् सुन्दर चित्रादि प्रकृति। जैसे चित्र में नायिका के आकार के देखने पर भी वत्सराज को काम की उत्पत्ति नहीं हुई इस पर कहते हैं कि अङ्गलीला रूप लक्षण चेष्टा से काम की उत्पत्ति हुई। चेष्टाओं से नष्ट राग कर प्रत्यायन होता है। जैसे विशाखदेव के निबन्ध में अभिसारिका के द्वारा वत्सराज के वञ्चित किये गये निबन्ध में वत्सराज को पदमावती के द्वारा धारण किये गये शबरी वेष से और तदनुकूल आचरण रूप चेष्टा से कामोत्पत्ति कही गई है इस प्रकार मधुर आलाप से भी मानना चाहिए। मधुरता अर्थ के द्वारा स्वरूप से। चकार से अन्य निमित्त भी दिखाते है। जैसे वापस वत्सराज चरित में पद्मावति के प्रति वत्सेश्वर की कामोत्पत्ति अत्यन्त अनुवर्तन रूप निमित्त से होती है। जैसा कि कहा है कि "वत्सराज मुझे मन को लगाकर जटा को धारण कर लिया न अपने जन को और न अपने अवस्था की परवाह की। इतना अनुगम किया कि मैं अनुरागिणो हो गई। अन्य व्यापारों से मानो अपनयन करना चाहते हैं ॥ १५८-१५९ ॥

अनुवाद—कामवासना में लिप्त मनुष्य और स्त्रियों के कामभाव और इङ्गितों को कामशास्त्रज्ञ लोग समझे ॥ १६० ॥

---

१. ख. ग. ततः कामयमानानां।

ललिता चलपक्ष्मा च [1]तथा च मुकुलेक्षणा ।
त्रस्तोत्तरपुटा[2] चैव काम्या दृष्टिर्भवेदिह ॥ १६१ ॥
[3]वलितान्ता सलालित्यसंमितैर्व्यञ्जितैस्तथा[4] ।
दृष्टिः सा ललिता नाम स्त्रीणामर्धावलोकने ॥ १६२ ॥
[5]ईषत्संरक्त[6]गण्डस्तु सस्वेदलवचित्रितः ।
[6]प्रस्पन्दमानरोमाञ्चो मुखरागो भवेदिह[7] ॥ १६३ ॥
काम्येनाङ्गविकारेण सकटाक्षनिरीक्षितैः ।
तथाभरणसंस्पर्शैः[8] कर्णकण्डूयनैरपि[9] ॥ १६४ ॥
अङ्गुष्ठाग्रविलिखनैः[10] स्तननाभिप्रदर्शनैः[11] ।
नखनिस्तोदनाच्चैव[12] केशसंयमनादपि ॥ १६५ ॥

कामभाव: कामाख्यश्चित्तवृत्तिः, तत्कृतानीङ्गितानि शरीरविकारा इत्यर्थः ।

अभिनव—कामभाव अर्थात् काम नामक चित्तवृत्ति । कामभाव से किये गये इङ्गित शरीर की चेष्टाएँ ।

अनुवाद—ललित, चल पक्ष्मों (पलकों), मुकुलित नेत्र वाली पुष्प के सदृश गिरे हुए उत्तरपुट वाली दृष्टि 'काम्या' दृष्टि कहलाती है ॥ १६१ ॥

अनुवाद—वलित नेत्र कोण वाली अथवा संकुचित तथा लालित्य से व्यञ्जित स्त्रियों के अर्धावलोकन में 'ललिता' दृष्टि होती है ॥ १६२ ॥

अनुवाद—जिसके कपोल स्थल पर थोड़ी लालिमा हो, स्वेद के कण से चित्रित हो, रोम खड़े हुए हों वह मुखराग है ॥ १६३ ॥

अनुवाद—कामोद्रेक से, अङ्गों के विकार से, सकटाक्ष निरीक्षण से आभरण के संस्पर्श से, कानों की कण्डूति (खुजलाहट) से, अंगूठे के अग्रभाग से विलेखन से, स्तन और नाभि को दिखाने में निस्तोदन से, बालों के संयमन से इस प्रकार मदनातुरा वेश्या को इस प्रकार के भावों से लक्षित करे ॥ १६४-१६५ ॥

---

१. ख. ग. सास्रा मुकुलितेक्षणा । २. ख. ग. यदा ।
३. ख. ग. पलितान्ता । ४. ख. ग. सदा ।
५. ख. ग. कण्ठश्च स्वेदबिन्दुविचित्रः । ६. ख. ग. प्रस्यन्द ।
७. ख. ग. तु कामजः । ८. ख. ग. संस्पर्शात् ।
९. ख. ग. कण्डूयनाद । १०. ख. ग. विलिखेन ।
११. ख. ग. प्रदर्शनात् । १२. ख. ग. चापि ।

वेश्यामेवंविधैर्भावैर्लक्षयेन्मदनातुराम् ।
कुलजायास्तथा चैव [1]प्रवक्ष्यामीङ्गितानि तु ॥ १६६ ॥

प्रहसन्ती च नेत्राभ्यां प्रततं च निरीक्षते ।
स्मयते [2]सा निगूढं च [3]वाचं चाधोमुखी वदेत् ॥१६७॥

स्मितोत्तरा मन्दवाक्या स्वेदाकारनिगूहनी[4] ।
प्रःपन्दिधारा चैव चकिता च कुलाङ्गना ॥ १६८ ॥

एवंविधैः कामलिङ्गैरप्राप्तसुरतोत्सवा ।
[5]दशस्थानगतं कामं नानाभावैः[6] प्रदर्शयेत्[7] ॥ १६९ ॥

अप्राप्तसुरतोत्सवेति प्राप्तसंभोगत्वे तु नैते विकाराः प्रादुर्भवन्ति । यदा तु काम उदितस्तदावेः प्राप्तसंभोगता कामावस्थानामुदय एव तथा च प्राप्त-संभोगतायामपि विप्रलम्भे *कुसुमसवृक्षादिमहिमानं प्राप्ते कामिजनसंभोगे भवन्त्येवैता अवस्थाः । तथा च भट्टतोतेनोक्तम्—

कामावस्था न शृङ्गारः क्वचिदासां तदङ्गता । इति

पूर्वप्राप्तसंभोगतायामति शृङ्गाराङ्गतेति यावत् । अप्राप्तसंभोगित्वेऽपि हि सागरिकावत्सराजयोर्दर्शितः शृङ्गारो रसाध्याये ॥ १६९ ॥

और कुलजा के इङ्गित को आगे कहूँगा ।

अनुवाद—हँसती हुई नेत्रों से देर तक देखती है, चुपचाप हँसती है, नीचे मुख कर बोलती है, हँस-हँस कर थोड़ा मुस्कराती है, मन्द वचन बोलती है, चेहरे के पसीने को बार-बार पोंछती है। कांपते हुए अधर वाली, घबड़ाई हुई कुलाङ्गना चकित होकर देखती है ॥ १६६-१६८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कुलजा सुरतोत्सव को प्राप्त नहीं कर सकी, नाना भावों से दश स्थलगत काम को नाट्यभावों से प्रदर्शित करे ॥ १६९ ॥

---

१. ख. विज्ञेयानि । २. ख. च ।
३. ख. ग. वाक्यं ।
४. ख. निगूहना । ५. ख. ग. दशावस्थागतं ।
६. ख. नानाभावं । ७. ख. प्रकाशयेत् ।
*कामसूत्रं—III-२. (कुसुमसधर्माणो हि योषितः)

प्रथमे त्वभिलाषः स्याद् द्वितीये चिन्तनं भवेत् ।
अनुस्मृतिस्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम् ॥ १७० ॥
उद्वेगः पञ्चमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते ।
उन्मादः सप्तमे ज्ञेयो भवेद्व्याधिस्तथाष्टमे ॥ १७१ ॥
नवमे जडता चैव दशमे मरणं भवेत् ।
स्त्रीपुंसयोरेष विधिर्लक्षणं च निबोधत ॥ १७२ ॥

अभिलाषात्मकः कामः क्रमाद्वीदृशीर्दशाः प्रतिपद्य इत्याह—

प्रथमे त्वभिलाष इत्यादि ।

अत्र व्यभिचारिण एव (केचित्) कामावस्था लक्षणान्तरयोगादिह पुनस्ताः ॥ १७०-१७२ ॥

अभिनव—अप्राप्तसुरतोत्सवा अर्थात् जिसने सुरतोत्सव को प्राप्त नहीं किया है उसके ये कामविकार है और जिसने सुरतोत्सव को प्राप्त कर लिया है उसको ये काम विकार नहीं होते । जब काम उदित हो जाता है तो प्रारम्भ में संभोग के न होने से काम सम्बन्ध अवस्थाओं का उदय होता है, संभोग हो जाने पर विप्रलम्भावस्था में स्त्रियाँ पुष्प के समान कोमल एवं ललित होती है (पुष्पसधर्माणोहि योषितः) । कुसुम के समान महिमा को प्राप्त करने वाले कामियों में ये अवस्थाएँ होती है । और भट्टतौत ने कहा है कि—

'काम की अवस्था ही होती है वह शृङ्गार नहीं है ।' कहीं पर शृङ्गार कामावस्थाओं का अङ्ग होता है ।

पूर्व में संभोग को प्राप्त होने पर शृङ्गार होती है, संभोग प्राप्त न होने पर सागरिका और वत्सराज की शृङ्गार की अङ्गला रसाध्याय में दिखलाई है ।

काम की दश अवस्थाएँ—

अनुवाद—इनमें पहली अवस्था 'अभिलाष, होती है, दूसरी 'चिन्तन' अवस्था होती है, तीसरी 'अनुस्मृति' और चौथी अवस्था'गुणकीर्त्तन' पांचवी अवस्था 'उद्वेग' छटी अवस्था 'विलाप', सातवीं 'उन्माद' और आठवीं 'व्याधि' नवीं 'जड़ता' और दसवीं 'मरण' नामक अवस्था होती है । ये स्त्री और पुरुषों समान रूप से होती हैं । लक्षण बतलाता हूँ, समझिये ॥ १७०-१७२ ॥

व्यवसायात्समारब्धः संकल्पेच्छासमुद्भवः ।
समागमोपायकृतः सोऽभिलाषः प्रकीर्तितः ॥ १७३ ॥

निर्याति विशति च मुहुः[1]करोति चकारमेव मदनस्य ।
तिष्ठति च दर्शनपथे प्रथमस्थाने स्थिता कामे ॥ १७४ ॥

केनोपायेन संप्राप्तिः कथं वासौ[2] भवेन्मम ।
दूतीनिवेदितैर्भावै[3]रिति चिन्ता निदर्शयेत् ॥ १७५ ॥

व्यवसायादिति काम्यजनज्ञानं तत्संकल्पपूर्वकेच्छा तत उद्भव उद्रिक्तत्वमस्येति समागमोपायस्य तद्विषयस्य चिन्ता विषयस्य द्वितीयावस्थात्मनः कृतं करणं यतो वक्ष्यति हि केनोपायेन संप्राप्यत इति ॥ १७३ ॥

चिन्तनीयाद्यवस्थासहचरितं कार्यं, वाग्व्यापाराद्युचितः शब्दश्चाम्यसाहचर्यादित्याह निर्याति विशति चेत्यादि । मदनस्याकार अपाक्रियते येन दृष्ट्यादिविशेषेण दर्शनपथ इति तं यत्र पश्येत तेन वा दृश्येतेत्यर्थः । दूतीनिवेदितैर्भावैः मनोरथैरित्युपलक्षणं स्वकल्पितैरपीत्यर्थः ॥ १७४ ॥

अभिनव—अभिलाषात्मक काम क्रम से ऐसी दशा प्राप्त करता है, इस पर कहते हैं कि प्रथम स्थान में अभिलाष इत्यादि । यहाँ व्यभिचारी ही होते हैं, ऐसा कोई कहते हैं । अन्य लक्षणों के सम्बन्ध में कामावस्था होती है ।

अनुवाद—व्यवसाय से अर्थात् काव्यजनज्ञान, तत्संकल्पपूर्वक इच्छा फिर काम का उद्भव, फिर उद्रेक, फिर उद्रेक होने पर समागम के लिए उपाय से काव्यजन की प्राप्ति होती है ॥ १७३ ॥

अनुवाद—बार-बार घर के भीतर जाना और फिर बाहर आना, मदन की चेष्टाओं को करती है, फिर प्रिय के दर्शन पथ पर ठहर जाती है । अतः नायिका काम की प्रथम अवस्था में स्थित है ॥ १७४ ॥

अनुवाद—किस उपाय से वह मुझे मिल जाय ? कैसे वह मेरा हो जाय ? दूती के बताए भावों के अनुसार चिन्ता प्रकट करे ॥ १७५ ॥

---

१. ख. निर्गच्छति प्रविशति च ।

२. ख. ब. संभवेत् ।

३. वाक्यैः ।

आकेक[1]राधंविप्रेक्षितानि वलयरशनापरामर्शः ।
नीवी[2]नाभ्योः संस्पर्शनं च मार्यं द्वितीये तु ॥ १७६ ॥
मुहुर्मुहुर्निःश्वसितैर्मनोरथविचिन्तनैः ।
[3]प्रद्वेषाच्चान्यकार्याणामनुस्मृतिरुदाहृता ॥ १७७ ॥
नैवासने न शयने धृतिमुपलभते स्वकर्मणि विहस्ता ।
[4]तच्चिन्तोपगतत्वात् तृतीयमेवं प्रयुञ्जीत ॥ १७८ ॥

आकेकरमिति विचलमविचलं विप्रेक्षितम् ॥ १७६ ॥

अभिनव—चिन्तीय अवस्था के सहचरित वाक्व्यापार करना चाहिए। अर्थात् वार्तालाप के अनुकूल शब्द अन्य साहचर्य से निकलता है, घुसता है (प्रवेश करता है) जिस दृष्टि से मदन के आकार का अपाकरण होता है, वह है दर्शनपथ। उसे जहाँ देखते हैं, दूती के द्वारा बतलाए हुए भावों से मनोरथों से। यह उपलक्षण है अपने कथित उपायों से भी ॥ १७४-१७५ ॥

अनुवाद—काम की द्वितीय अवस्था में आकेकर दृष्टि से आधा देखना, करधनी का स्पर्श करना, नीवी और नाभि संस्पर्श करना होता है ॥ १७६ ॥

अभिनव—आकेकरा दृष्टि विचल, अविचल और विप्रेक्षित है।

अनुवाद—काम की अनुस्मृति नामक अवस्था में बार-बार सांस लेना, मनोरथ का चिन्तन, अपने प्रिय मिलन से भिन्न कार्यों से प्रद्वेष होता है ॥ १७७ ॥

अनुवाद—अपने कार्य में व्याकुल न तो आसन पर बैठती है, न शयन में स्थिर रहती है और न अपने कर्म में धैर्य धारण करती है, चित्त के प्रिय में उपगत होने से यह तृतीय अवस्था के व्यवहार है ॥ १७८ ॥

---

१. ब. अक्षि ।
२. ब. नाभ्यूरुणा स्पर्शः कार्यो ।
३. ख. ग. प्रद्वेषस्त्वन्य ।
४. ब. म. न ।

अङ्गप्रत्यङ्गलीलाभिर्वाक्चेष्टाहसितेक्षितैः[1] ।
नास्त्यन्यः सदृशस्तेनेत्येतत् स्याद् गुणकीर्तनम् ॥ १७९ ॥

गुणकीर्तनोत्सुकासनै[2]रश्रुस्वेदापमार्जनैश्चापि ।
[3]दूत्यविरहविस्रम्भैरभिनयोगश्चतुर्थे तु ॥ १८० ॥

आसने शयने चापि न तुष्यति न तिष्ठति[4] ।
नित्यमेवोत्सुका च स्यादुद्वेगस्थानमाश्रिता[5] ॥ १८१ ॥

चिन्तानिःश्वासखेदेन हृद्दाहाभिनयेन च ।
कुर्यात्तदेव[6]मत्यन्तमुद्वेगाभिनयेन च ॥ १८२ ॥

विहस्तेति अशक्ता ।
दूत्या अविरह इति समासः । उद्वेगाख्यं स्थानमवस्था ।
उद्वेगाभिनयो निर्वेदे दर्शितः ।

अनुवाद—अङ्ग-प्रत्यङ्ग की लीलापूर्ण चेष्टाओं से वाणी से बोलने में देखने में, हँसने में यह साबित करना कि उसके प्रिय के समान संसार में कोई दूसरा नहीं है 'गुण कीर्त्तन' कहलाता है ॥ १७९ ॥

अनुवाद—गुणों की प्रशंसा करने में फूली न समाना, आँसू और पसीने को पोंछना, दूती के मिलन के लिए विश्वनास दिलाना ये चतुर्थ अवस्था के अभिनय है १८० ॥

अभिनव—दूतो का मिलना दूती का अविरह है ।

अनुवाद—आसन पर बैठने या शयन पर लेटने में प्रसन्न नहीं होती, न ठहरती है, नित्य ही प्रिय से मिलने के लिए उत्सुक रहती है, इसे 'उद्वेग' की दशा समझती है ॥ १८१ ॥

अनुवाद—चिन्ता, निश्वास, खेद एवं हृदय की पीड़ा, कलेजे के जलन के अभिनय से जो कार्य करती है उसे 'उद्वेग' की दशा अभिनय कहके हैं ॥ १८२ ॥

---

१. ख. ग. ईक्षणैः ।
२. ख. ग. कुशलैः ।
३. ख. ग. दूत्या विरहविशुम्भैः ।
४. ख. ग. वापि न कुष्यति न हृष्यति ।
५. ख. ग. एव तु ।
६. तदेव कुर्यात् ।

इह स्थित इहासीन [1]इह चोपगतो मया ।
इति तैस्तै[2]र्विलपितैर्विलापं संप्रयोजयेत्[3] ॥ १८३ ॥
उद्विग्नात्यर्थमौत्सुक्याद्धृत्या च विलापनी ।
ततस्ततश्च भ्रमति विलापस्थानमिश्रता ॥ १८४ ॥
[4]तत्संश्रितां कथां युङ्क्ते सर्वावस्थागतापि हि ।
[5]पुंसः प्रद्वेष्टि चाप्यन्यानुन्मादः संप्रकीर्तितः ॥ १८५ ॥
तिष्ठत्यनिमिषदृष्टिर्दीर्घं निश्वसिति गच्छति ध्यानम् ।
रोदिति विहारकाले नाट्यमिदं स्यात्तथोन्मादे ॥ १८६ ॥

रुदितनिःश्वसितादिः पूर्वावस्थाया उत्तरावस्थान्तरीभवतीति दर्शयति—सर्वावस्थागतापीति गुरुजनसन्निधावपीति, अनेनोन्मादत्वं स्फुटयति ।

अनुवाद—यहाँ पर मेरा प्रिय स्थित था, यहाँ पर बैठा था और यहाँ पर मुझसे मिला था, इस प्रकार विभिन्न वचनों द्वारा विलाप करते हुए अभिनय करे ॥ १८३ ॥

अभिनव—रुदित, निःश्वसित आदि पूर्वापस्थाएँ उत्तर अवस्थाओं में अन्तरित हो जाती, यह दिखाते हैं—

अनुवाद—प्रेमी से मिलने के लिए अत्यन्त उद्विग्न रहती है तथा धैर्य के छूट जाने से विलाप करती है और इधर-उधर घूमती है। ऐसी नायिका विलाप दशा का अभिनय करती है ॥ १८४ ॥

अनुवाद—सभी अवस्थाओं में उससे सम्बन्धित बातें करती है, अन्य पुरुषों से द्वेष करती है और अन्य से उन्माद करती है ॥ १८५ ॥

अभिनव—सारी अवस्थाओं में गुरुजनों की सन्निधि में भी इससे उन्माद स्फुट होता है।

अनुवाद—निर्निमेष दृष्टि लगाये अर्थात् बिना पलक झपाए बैठी रहती है, लम्बा-लम्बा सांस लेती है, ध्यान लगाये रहती है, विहार के समय रोती है, इस प्रकार उन्माद में अभिनय करती है ॥ १८६ ॥

---

१. ख. ग. इहायापगते ।
२. ख. ग. विलापेऽपि ।
३. ख. ग. प्रयोजयेत् ।
४. ख. ग. आपि हि (?) ।
५. ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
६. ख. ग. प्रद्वेष्टि चापरान्पुंसो यत्रोन्मादः स उच्यते ।

सामदानार्थ[1]संभोगैः काम्यैः [2]संप्रेषणैरपि ।
सर्वै[3]र्निराकृतैः पश्चाद् व्याधि समुपजायते ॥ १८७ ॥
[4]मुह्यति हृदयं क्वापि प्रयाति शिरसश्च वेदना तीव्रा ।
न धृति चाप्युपलभते ह्यष्टममेवं प्रयुञ्जीत[5] ॥ १८८ ॥
पृष्टा न किंचित् प्रब्रूते न शृणोति न पश्यति ।
[6]हाकष्टवाक्या तूष्णीका जडतायां गतस्मृतिः ॥ १८९ ॥

विहारकाल इति क्रीडोचितेषु कालेषु रोदितीत्यर्थः । नाट्यमिति न तु पटशकलवक्रशरावाद्यत्रोन्मादोक्तमिति भावः ॥ १८६ ॥

इत्यत्युन्मादपर्यन्ते प्राप्ते चित्तवृत्तिभवे कामे शरीरमप्यन्यथाभवतीत्याह— सर्वैर्निराकृतै पश्चाद्व्याधिरिति । निराकृतैः विफलिभूतैः ॥ १८७ ॥

मुह्यतीत्यत्र हेतुः, यतो हृदयं नावतिष्ठति ॥ १८८ ॥

अभिनव—विहार काल अर्थात् क्रीड़ा के उचित समय में रोती हैं । यह नाट्य है न कि उन्माद में कपड़े के टुकड़े करना, शराब को उलट देना आदि उन्मादोक्ति है ॥ १८६ ॥

अनुवाद—साम, दान आदि उपायों से, काम्य वस्तुओं के भेजने पर सबके निराकरण करने के बाद 'व्याधि' की दशा उत्पन्न होती है ॥ १८७ ॥

अभिनव—चित्तवृत्ति जन्य काम को इतनी उन्माद पर्यन्त अवस्था में प्राप्त होने पर शरीर भी अन्यथा हो जाता है, इस पर कहते हैं कि सब के निराकृत अर्थात् विफलीभूत हो जाने के बाद ॥ १८७ ॥

अनुवाद—हृदय कभी मुग्ध हो जाता है, कभी शिर में तीव्र वेदना हो जाती है और कहीं भी चैन नहीं मिलता, इस प्रकार काम अष्टम अवस्था का अभिनय करे ॥ १८८ ॥

अभिनव—मुग्ध हो जाती है, इसमें हेतु है । हृदय स्थिर नहीं होता ।

अनुवाद—पूछने पर कुछ नहीं बोलती, कुछ नहीं सुनती, कुछ नहीं देखती है । हाय ! बहुत कष्ट है, यह कहकर चुप हो जातीं है, यह 'जड़ता' की अवस्था है ॥ १८९ ॥

---

१. ख. ग. साभोगैः । २. सम्प्रेक्षणैः ।
३. ख. ग. अवशीकरणात् । ४. ख. ग. युध्यति ।
५. ख. ग. त्वभिनयेत् । ६. ख. ग. हा कष्टाष्टमतूष्णीका ।

अकाण्डे दत्तहुंकारा तथा प्रशिथिलाङ्गिका ।
[1]श्वासप्रस्तानना चैव जडताभिनये भवेत् ।। १९० ।।
सर्वैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि नास्ति समागमः ।
कामाग्निना प्रदीप्ताया जायते मरणं ततः ।। १९१ ।।
एवं स्थानानि कार्याणि कामतन्त्रं समीक्ष्य तु[2] ।
अप्राप्तौ यानि काम्यस्य वर्जयित्वा तु नैधनम् ।। १९२ ।।
विविधैः पुरुषोऽप्येवं विप्रलम्भसमुद्भवैः ।
भावैरेतानि कामस्य नानारूपाणि योजयेत् ।। १९३ ।।
एव कामयमाननां स्त्रीणां नृणामथापि वा ।
सामान्यगुणयोगेन युञ्जीताभिनयं बुधः[3] ।। १९४ ।।

हा कष्टमिति एतद्व्यतिरेकेण तूष्णीका एतदेष भाष्यत इति यावत् ।।१८९।।
प्रतीकारैरिति समागमोपायैरित्यर्थः । नैधनं मरणम् ।। १९२ ।।
नानारूपाणीति अवस्था इत्यर्थः ।। १९३ ।।

अभिनव—हा कष्टम् ! इस प्रकार कष्ट के व्यतिरेक से चुप हो जाती है । बस, इतना ही बोलती है ।। १८९ ।।

अनुवाद—अनवसर पर हुंकारी मारने लगता है और अङ्गों की शिथिल कर लेती है, सांस लेने में मुख ग्रस्त दिखाई देता है, जड़ता दशा में ऐसा अभिनय होता है ।। १९० ।।

अनुवाद—समस्त प्रकार के प्रतिकारों के करने पर भी यदि प्रिय समागम नहीं होता है । कामाग्नि से प्रदीप्त हो जाने पर नायिका का 'मरण' नामक दशा होती है ।। १९१ ।।

अनुवाद—इस प्रकार इन सभी अवस्थाओं की कामतन्त्र के अनुसार विचार करके मरण को छोड़कर प्रिय के अभाव में ये दशाएँ होती है ।। १९२ ।।

अभिनव—प्रतिकार का अर्थ है कि समागम के उपायों से । नैधनम् का अर्थ है मरण ।

---

१. ख. ग. श्वासाग्रे स्थाननसेव । २. ख. ग. समीक्षया ।
३. ख. ग. इतोऽग्रे पुस्तकयोः 'ललिता चलपक्ष्मा.........' इत्यादि श्लोकद्वयमधिकं वर्तते ।

चिन्ता[1]निश्वासखेदेन हृद्दाहाभिनयेन च।
[2]तथानुगमनाच्चापि तथैवाध्वनिरीक्षणात् ॥ १९५ ॥
आकाशवीक्षणाच्चापि तथा दीनप्रभाषणात्।
स्पर्शनाम्मोटनाच्चापि तथा [3]सापाश्रयाश्रयात् ॥ १९६ ॥
एभिर्नानाश्रयोत्पन्नैर्विप्रलम्भसमुद्भवैः।
कामस्थानानानि सर्वाणि भूयिष्ठं संप्रयोजयेत् ॥ १९७ ॥

पुरुषस्य सुलभोपायत्वान्मध्य एव समागमः शक्यक्रियः, न तु योषितामित्या-शयेन कामावस्थाः स्त्रीषूपदिष्टाः, पुरुषेष्वतिदिष्टाः ॥ १९४-१९७ ॥

अनुवाद—विप्रलम्भ से समुद्भूत नाना प्रकार के भावों के कारण पुरुष काम की नाना अवस्थाओं का अभिनय करे ॥ १९३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार की अवस्था से युक्त स्त्री और पुरुष के सामान्य गुणों के योग से इन अवस्थाओं का विद्वान् प्रुरुष अभिनय करे ॥ १९४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार काम की अवस्थाओं का चिन्ता, निःश्वास, खेद, हृदयदाह, प्रिय का अनुगमन, प्रिय के मार्ग का अवलोकन आकाश की ओर देखना, दीन हीन होकर बोलने का भाव, स्पर्शन, मोटन, अन्य अवस्थाओं नाना प्रकार के आश्रण से उत्पन्न वियोग जनित काम की अवस्थाओं का अभिनय करे ॥ १९५-१९७ ॥

अभिनव—पुरुषों के लिए सुलभ उपाय होने से मध्य में समागम किया जा सकता है, स्त्रियों के लिए सुलभ न होने से कायावस्था स्त्रियों के लिए उपदेश किया जाता है और अतिदेश पुरुषों में ॥ १९७ ॥

---

१. ख. ग. अतित्रास।
२. ख. म. तथागुणनाया।
३. ख. ब. पापा समाश्रयेत्।
४. ख. समभिवः।

स्रजो भूषणगन्धांश्च गृहान्युपवनानि च ।
कामाग्निना बह्यमानः शीतलानि निषेवते ॥ १९८ ॥
प्रदह्यमानः कामार्तो बहुस्थान समर्दितः ।
प्रेषयेत्कामतो दूतीमा त्मावस्थाप्रदर्शिनीम् ॥ १९९ ॥
सन्देशं चैव दूत्यास्तु प्रदद्याम्मदनाश्रयम् ।
तस्येयं [1]समवस्थेति कथयेद्विनयेन सा ॥ २०० ॥
[2]अथावेदितभावार्थो रत्युपायं विचिन्तयेत् ।
अयं विधिर्विधानज्ञैः कार्यः प्रच्छन्नकामिते[3] ॥ २०१ ॥

स्त्रजो भूषणगन्धांश्चेत्यादिना यदुक्तं तद्यथायोगमवस्थातुं योज्यम् ॥ १९८-२०० ॥

प्रच्छन्नकामितं नायिकान्तरेभ्यः सन्धियमाणमित्यर्थः ।

अनुवाद—कामाग्नि से अत्यन्त संतप्त हुए स्त्री और पुरुषों को शीतल पदार्थ माला, भूषण, गन्ध, गृह और उपवन का सेवन करना चाहिए ॥ १९८ ॥

अनुवाद—काम को अवस्थाओं से पीड़ित काम से जलते हुए स्त्री और पुरुष अपनी अवस्था को बतलाने वाली दूती को प्रिय के पास भेजे ॥ १९९ ॥

अनुवाद—दूती के द्वारा काम सम्बन्धी सन्देश भेजे और दूती भी नायक की समवस्था प्रिय के पास जाकर विनय से कहे ॥ २०० ॥

अभिनव—माला, अलङ्कार और सुगन्धित वस्तु आदि के द्वारा जो कहा गया है वह यथा योग्य अवसर पर उपभोग करे ॥ १९८-२०० ॥

अनुवाद—इस प्रकार नायक-नायिका के भावों को बता दिये जाने पर रति के उपायों का चिन्तन करे। इस प्रकार काम के विधान को समझने वाले विद्वान् प्रच्छन्न कामित इस विधि को करे ॥ २०१ ॥

अभिनव—प्रच्छन्नकामित का अर्थ है दूसरी कामिनी से सम्बन्ध करना।

---

१. ख. ग. समयस्थ । २. ख. ग. अथ वेदितभावार्थः ।
३. ख. ग. कामाभिः ।

विधिं राजोपचारस्य पुनर्वक्ष्यामि तत्त्वतः ।
अभ्यन्तरगतं सम्यक् कामतन्त्रसमुत्थितम्[1] ॥ २०२ ॥

[2]सुखदुःखकृतान् भावान् नानाशीलसमुत्थितान् ।
यान्यान् प्रकुरुते राजा तांस्तान् लोकोऽनुवर्तते ॥ २०३ ॥

न दुर्लभाः पार्थिवानां स्त्र्यर्थमाज्ञाकृता[3] गुणाः ।
दाक्षिण्यात्तु समुद्भूतः कामो रतिकरो भवेत् ॥ २०४ ॥

ननु राज्ञां किमशक्यं येन दूतीप्रेषणादिप्रयासमनुभवन्तीत्याह—न दुर्लभाः पार्थिवानामित्यादि । आज्ञाकृता गुणा उपायाः उप प्रलम्भादुदाहरणात् अय इत्यर्थः । राज्ञां ये उपाया इति सम्बन्धषष्ठी तेन बलार्थेऽभिमतनिषेधः । दाक्षिण्यादित्युभयविषयम्, पूर्वनायिकासु च दाक्षिण्यं, अभिलषणीयप्रमदाकृतं च दाक्षिण्यम्, तस्या राजविषयं प्रेमेत्यर्थः ।

अनुवाद—कामतन्त्र से प्राप्त राजोपचार की आभ्यन्तर विधि तत्त्वतः सम्यक् प्रकार से कहूँगा ॥ २०२ ॥

अनुवाद—नानाशीला से समुत्थित सुख-दुःख कृत जिन-जिन भावों को राजा करता है उन-उन का लोक अनुवर्तन करता है ॥ २०३ ॥

अनुवाद—स्त्रियों के सम्बन्ध में राजाओं के आज्ञाकारी गुण दुर्लभ नहीं है । दाक्षिण्य भाव (अनुकूलभाव) से समुत्थित काम रतिकर होता है ॥ २०४ ॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि राजाओं के लिए क्या वस्तु दुर्लभ है ? जो जिससे दूती प्रेषण आदि का प्रयास करते हैं, इस पर कहते हैं कि ठीक है, राजाओं के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है । किन्तु उनके द्वारा किये जाने वाले उपाय गुण है, उपाय का अर्थ है जिससे श्रेष्ठ को प्राप्ति हो, वही इष्ट वस्तु की प्राप्ति उत्कृष्ट है । 'राजाओं के जो उपाय' इसमें सम्बन्ध में षष्ठी है । अतः उपाय और राजा का शुभत्व सम्बन्ध है । अतः फल अभिमत वस्तु का निषेध है । अतः दाक्षिण्य दोनों तरफ होनी चाहिए । पूर्व नायिका में राजा का दाक्षिण्य होना उचित है । अर्थात् अभिलषणीय नायिका का दाक्षिण्य राजा में होना उचित है ॥ २०४ ॥

---

१. ख. ग. कामतन्त्रे समुपस्थितम् ।
२. ख. ग. सुखदः स्वकृतान् । ३. ख. ग. कृतो गुणः ।

बहुमानेन [1]देवीनां वल्लभानां भयेन च ।
[2]प्रच्छन्नकामितं राज्ञा कार्यं परिजनं प्रति ॥ २०५ ॥

यद्यप्यस्ति नरेन्द्राणां[3] कामतन्त्रमनेकधा ।
[4]प्रच्छन्नकामितं यत्तु तद्वै रतिकरं भवेत् ॥ २०६ ॥

यद्वामाभिनिवेशित्वं [5]यतश्च विनिवार्यते ।
दुर्लभत्वं च [6]यन्नार्याः सा कामस्य परारतिः ॥ २०७ ॥

कुतः प्रच्छन्नत्वमित्याह—बहुमानेनेतिकर्मंषष्ठी । देव्यो हि प्राप्ताभिषेका अवश्यं राज्ञा बहुत्वेनोत्कृष्टत्वेन माननीयः ।

अनेकधेति विवाहितावरुद्धेत्यादिनेत्यर्थः । वामाभिनिवेशित्वमिति "सुलभाव-मानो हि मदन" इति विघ्नः, तथाप्य भिलष्यमाणं वस्तु प्राप्तं चेत् कोऽभिलाषः, तेन प्राप्तं प्राप्तमपहारितमिव गतं, गतं प्राप्तमिवेत्येवम् । (दुर्लभत्वमित्यादि) पराक्रमेण (विद्धि) विष्णुरयं काम उत्तमतमां प्रीतिं प्रतिप्रतनोति न ह्यत्र यायामिव (भयादिव ?) निवृत्तिः साध्या, अपि तु भौमात्मकं सुखं भोगस्त्वसति कामे तेन (केन ?) प्रत्युत संभवनोयः रतिरिति तद्धेतुत्वादित्यर्थः ।

अनुवाद—देवी अर्थात् पटरानी का सम्मान दिखाते हुए तथा अन्य वल्लभाओं के भय के कारण राजा का परिजन के प्रति प्रच्छन्नकामित का अभिनय करना चाहिए ॥ २०५ ॥

अभिनव—कहाँ प्रच्छन्नता है, इस पर कहते हैं कि देवीनाम् में कर्म में षष्ठी है । क्योंकि देवियाँ वे होती हैं जिनका राजा के साथ अभिषेक होता है । अतः राजा उसका सम्मान करे ॥ १०५ ॥

अनुवाद—यद्यपि राजाओं का कामतन्त्र विषयक सिद्धान्त अनेक प्रकार का होता है किन्तु प्रच्छन्नकामित वह है जो सभी के लिए रतिकर होता है ॥ २०६ ॥

अनुवाद—जो नायिकाओं का विरुद्ध अभिनिवेश है, जो उसका दूर होना तथा उसकी दुर्लभता है, वह काम के विषय में उत्कृष्ट रति है ॥ २०७ ॥

---

१. ख. ग. देवानां । २. ख. ग. प्रच्छन्नकामिनांराज्ञां ।
३. ख. ग. नृपाणां तु । ४. ख. ग. प्रच्छन्ने कामिनं वक्तुं ।
५. ख. ग. यतश्चैव निवार्यंते । ६. ख. ग. यत्र ।

राज्ञामन्तः पुरजने दिवासंभोग इष्यते ।
वासोपचारो यश्चैषां[1] स रात्रौ परिकीर्तितः ॥ २०८ ॥

अथ स्पष्टकामितमाह—राज्ञामन्तःपुरजने (दिवा) संभोग इति। संभोगः परस्परावलोकनप्रणयकलहसङ्गीतकादि। यथोक्तम्—"तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः"* इति। अन्तपुरजनोऽत्र ऊढा पुनर्भूः अवरुद्धगणिका, कन्यकाप्रेष्याविषयं तु प्रच्छन्नकामितमुक्तम्।

अभिनव—अनेकधा अर्थात् विवाहिता अथवा अवरुद्धा इत्यादि। कामतन्त्र के अनुसार नायक-नायिका में काम का अभिनिवेश वाम होता है। 'मदन (काम) में अविमान सुलभ है।' यह विघ्न है। यदि अभिलष्यमाण वस्तु प्राप्त है तो कैसी अभिलाषा? जो प्राप्त है उसका किसी ने अपहरण कर लिया है, जो गया इसे मिला हुआ समझा। पराक्रम के प्रयोग से नायिका का मेल होना दुर्लभ है। काम बिष्णु है अतः उत्कृष्ट रति का आतनन करती है। इसे छोड़कर चला जाऊँ, इस भावना से निवृत्ति नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सम्भोग भोम सुख है, लौकिक भोग है। यह भौमिक सुख काम के विना किससे प्राप्त होगा? इस विषय में प्रेम ही कारणमय है न कि निवृत्ति ॥ २०७ ॥

अनुवाद—राजाओं का अन्तःपुर के परिजन के साथ सम्भोग दिन में इष्ट है और जो वासोपचार है अथवा बाह्योपचार है वह रात्रि में इष्ट है ॥ २०८ ॥

अभिनव—अब स्फुटकामित को कहते हैं, राजाओं को अन्तःपुर के साथ दिन में सम्भोग अच्छा लगता है। सम्भोग का अर्थ है परस्पर में अवलोकन प्रणय कलह संगीत आदि। जैसा कि कहा गया है कि 'मुख रूपी चन्द्र को विलोकन से दिन बिता दिया। अन्तःपुर जन, ऊढ़ा, पुनर्भू, और अवरुद्धा गणिका। कन्यका और प्रेष्या आदि के विषय में प्रच्छन्नकामित कहा गया है ॥ २०८ ॥

---

१. ब. ग. चैव।

* तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं पुनः किमथवा प्रेमा समाप्तोत्सवः ॥ तापस १–१९.

[1]परिपाट्यां फलार्थे वा नवे प्रसव एव वा ।
दुःखे चैव [2]प्रमोदे च षडेते वासकाः स्मृताः ॥ २०९ ॥
उचिते वासके स्त्रीणामृतुकालेऽपि वा नृपैः[3] ।
प्रेष्याणामथवेष्टानां कार्यं चैवोपसर्पणम् ॥ २१० ॥

प्रभूतान्तरपूर्वस्य वासकवृत्तान्तमाह—
परिपाट्यां फलार्थे वा नवे प्रसव एव वा ।
दुःखे चैव प्रमोदे च षडेते वासकाः स्मृताः ॥ इति ।

परिपाटिर्यथाकल्पितानुपूर्वी अस्या एकेन भिन्नेन वारः, अस्या द्वाभ्यामित्यादि । तदपवादमाह—फलार्थं इति ऋताविति यावत् । नव इति नवत्वे प्रसवे वृत्ते चिरविरहखिन्ना सुखायितं दुःखे तदीयबन्धुव्यापत्त्या दुःखिता आश्वासनीयेति । प्रमोद इति तदीयपुत्रोत्सवादौ 'उत्सवो हि माननीय' इत्युक्तम् ।

वासयति तत्र स्थाने रात्रिमिति वासः अत्र उचितः कामोपचारः फलार्थं इत्यस्य हेतोः सर्वापवादकत्वं दर्शयितुं धर्मवृत्तिना राज्ञा परिचार्यो द्वेष्या दुर्भगा अपि सेव्या इति निरूपयितुमाह –
उचिते वासके स्त्रीणामृतुकालेऽपि वा नृपैः ।
प्रेष्याणामपि सर्वासां कार्यं (चैवोपसर्पणम्) ॥ इति

अनुवाद—परिपाटी, पुत्र प्राप्ति, नव प्रसव के समय, दुःख के समय प्रमोद के समय ये छः प्रकार के वासक कहे गये हैं ॥ २०९ ॥

अभिनव—प्रभूत अन्तरपूर्वक वासक के वृत्तान्त को कहते हैं—परिपाटी अर्थात् यथाकल्पित आनुपूर्वी के अनुसार इसका एक दिन छोड़कर अवसर है, इसका दो दिन बाद अवसर है, इत्यादि । उसके अपवाद को कहते हैं—फलार्थ अर्थात् ऋतुकाल में सन्तान प्राप्ति की आशा से नवीन प्रसव के समय चिरविरह के कारण खेद (खिन्न होना) किन्तु सन्तति की प्राप्ति से सुखी होना । दुःख में उसके बन्धु की व्यापत्ति का आश्वासन करना । प्रमोद में उसके पुत्रोत्सव 'उत्सव माननीय' है ।। २०६ ।।

अनुवाद—स्त्रियों के ऋतुकाल में राजाओं के उचित वास में प्रेष्या स्त्री अथवा इष्ट स्त्री के समीप अभिसरण करना चाहिए ॥ २१० ॥

---

१. ख. ग. परिपाचा फलार्थे वा न च प्रमद एव च ।
२. ख. ग. प्रमादे । ३. ख. ग. नृपः ।

आर्तवकालो हि भूयानपि फलतः परमिति भवति । यथोक्तम्—

ऋतुः षोडश तत्राद्याश्चतस्रो दशमात्परा
त्रयोदशी च निन्द्याः स्युरयुगाः कन्यकोद्भवाः ।
षष्ठ्यष्टमी च दशमी द्वाभ्यां वर्णेश्च साधिका
युग्मा पुत्राय रात्रिः स्यात् ॥ इति ।

तत्रापि नक्षत्रविशेषपरिवर्जनम् । पुत्रश्च राज्ञां मुख्यफलम्, यथाह 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' (रघु-१) इति । अत्र तु वृद्धपशुप्यो (पशवा ?) वदन्ति—

मासपसूआ·······(अण्) मासगब्भिणो एकदिअहज्जरमुहे·······।* (इति यतन्निषिद्धं स्मृतौ वैद्यके च ।)

अभिनव—उस स्थान में रात्रि भर वास करता है अतः वह वासक है। फल के लिए कामोपचार उचित है। इसलिए सबका अपवाद दिखाने के लिए धर्मप्रवृत्ति से राजा को परिचार करना चाहिए। इसलिए द्वेष्या और दुर्भगा भी सेव्य है, इसका निरूपण करने के लिए कहते है—'स्त्रियों के ऋतुकाल में राजाओं को उचितवास में रहना चाहिए, चाहे प्रष्या हो अथवा इष्ट प्रिया, इसके साथ उपसर्पण करना चाहिए।' यह निरूपण करने के लिए कहते हैं। "सोलह दिन का ऋतुकाल होता है, उसमें पहली चार रात, दसवीं से परा ग्यारहवी रात, तेरहवी रात निन्द्य है। विषम रात कन्या को जन्म होता है छठीं, आठवी, दसवी रात दोनों अर्थात् पति-पत्नी को साधिका है, युग्म रात्रियाँ पुत्र को उत्पन्न करने वाली है।"

वहाँ भी नक्षत्र विशेष का परिवर्जन करना होता है। पुत्र तो राजाओं के लिए मुख्य फल है। जैसा कि कहा है कि 'प्रजा (सन्तान) के लिए गृहस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिए।' यहाँ वृद्ध पाराशर कहते हैं—

* अपूर्णा चास्फुटार्थेयं गाथा कोक्कोकवचनस्य मूलं स्यात् । यथा—

रङ्गादिश्रान्तदेहा चिरविरहवती मासमात्रप्रसूता
गर्भालस्या च नव्यज्वरयुततनुका त्यक्तमानप्रसन्ना ।
स्नाता पुष्पावसाने नवरतिसमये मेघकाले वसन्ते
प्रायस्संपन्नरागा मृगशिशुनयना स्वल्पसाध्या रते स्यात् ॥

तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि वा ।
स्वाधीनभर्तृका चापि[1] कलहान्तरितापि वा ॥ २११ ॥
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका ।
तथाभिसारिका चैव ज्ञेयास्त्वष्टौ तु नायिकाः[2] ॥ २१२ ॥
उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा ।
[3]मण्डनं कुरुते हृष्टा स वै वासकसज्जिका[4] ॥ २१३ ॥

वासकभावाभावभाविताम्नायिकाभेदान्दर्शयति अत्र (तत्र?) वासकसज्जेति । एताः क्रमेण लक्षयति उचिते वासक इत्यादिना । उचितः पूर्वोक्तेन नयेनायातः लालसा साभिलाषा ।

"प्रसव किये हुए अभी मास भर हुआ । छः मास से गर्भिणी है, एक दिवसीय ज्वर अर्थात् अतरिया ज्वर से पीड़ित है । रङ्गादि में नर्तन, वादन, गायन से देह श्रान्त हो गया है, चिर विरहवती है, मास भर प्रसव हुए हुआ, गर्भ के कारण अलसयुता है, नव्य ज्वर से शरीर युक्त है, अभिमान छोड़ देने से प्रसन्न है, रजो ऋतु काल के समाप्त होने स्नान कर चुकी है। नवीन रति के समय में, मेघकाल में, बसन्त ऋतु में राग प्रायः सम्पन्न हो गया है । मृगशिशु के समान नेत्रवाली नायिका अल्प प्रयास से साध्य है ।"

अभिनव—वासक भाव अथवा वासक अभाव से भावित नायिक के भेदों को बतलाते हैं—

अनुवाद—उनमें वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनपतिका कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका अभिसारिका, ये आठ प्रकार की नायिकाएँ हैं ॥ २११-२१२ ॥

इस प्रकार क्रम से उनका लक्षण करते हैं—

१. वासकसज्जा—

अनुवाद—जो उचित वासक में रति सम्भोग की लालसा से मण्डन करती है और प्रसन्न रहती है, वह 'वासक सज्जा' नायिका कहलाती है ॥ २१३ ॥

---

१. ख. ग. पतिका वापि । २. ख. ग. इत्यष्टौ नायिका स्मृताः ।
३. ख. ग. मङ्गलं । ४. ख. ग. सज्जिता ।

अनेककार्यव्यासङ्गाद्यस्या नागच्छति प्रियः ।
[1]तदनागतदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा[2] ॥ २१४ ॥
सुरतातिरसैर्बद्धो यस्याः [3]पार्श्वे तु नायकः ।
[4]सान्द्रामोदगुणप्राप्ता भवेत् स्वाधीनभर्तृका ॥ २१५ ॥
ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
[5]सामर्षवशसंप्राप्ता कलहान्तरिता भवेत् ॥ २१६ ॥

स्वाभिलाषा । आमोदगुणो हर्षः सौभाग्याभिमानश्च । व्यासङ्गा-दित्यन्यनारीविषयादित्यर्थः । (प्र) रूढाः प्रलम्बीभूता अलकाः, केशान्तश्च कबरीभारः । प्ररूढ एकवेणीभूते यस्याः । अन्ये स्वकृतकर्मतया केशान्ते ललाटे

---

२. विरहोत्कण्ठिता—

अनुवाद—अनेक कार्यों में व्यासक्त (व्यस्त) रहने के कारण जिसका प्रिय लौटकर नहीं आता है, उसके न आने से वह दुःखी हो जाती है, उसे 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका कहते हैं ॥ २१४ ॥

३. स्वाधीनपतिका—

अनुवाद—सुरत (मैथुन) के आनन्द में निमग्न नायक जिसके पास सदा बना रहे, अत्यन्त हर्ष और सौभाग्य को प्राप्त नायिका 'स्वाधीनपतिका' कहलाती है ॥ २१५ ॥

४. कलहान्तरिता—

अनुवाद—ईर्ष्या और कलह के कारण जिसका पति दूर चला जाता है और लौटकर न आ रहा हो, वह नायिका 'कलहान्तरिता' कहलाती है ॥ २१६ ॥

---

१. ख. ग. तस्यानुगम । २. ख. ग. मता ।
३. ख. ग. पार्श्वगतः प्रियः ।
४. ख. ग. सामोदेगुणसंयुक्ता । ५. ख. ग. आमर्षवेषसंतप्ता ।

व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।
तदनागमदुःखार्त्ता[1] खण्डिता सा प्रकीर्तिता ॥ २१७ ॥

[2]यस्या दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्त्वा संकेतमेव वा ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा भवेत्[3] ॥ २१८ ॥

[4]नानाकार्याणि सन्धाय यस्या वै प्रोषितः प्रियः ।
सा (प्र?) रूढालककेशान्ता भवेत् प्रोषितभर्तृका ॥ २१९ ॥

रोम्णामुद्भेदमुत्प्ररूढं वर्णयन्ति । मदो मद्यकृतः, चकाराद् द्वयं वदन्मदनस्यैव प्राधान्यमाह । अभिसरः सहायः तस्य व्यापारेण प्रियतममतिक्रामति, "तत्करोति तदाचष्टे तेनातिक्रामति धातुरूपं" चेति स्पष्ट (सू-टेः ?) इत्यस्य वृद्धिः । कुप्यन्ती

---

५. खण्डिता—

अनुवाद—जिसका पति अन्य नायिका की आसक्ति के कारण जिसके पास समय पर नहीं आता है, तो उसके न आने से दुःखी नायिका 'खण्डिता' कहलाती है ॥ २१७ ॥

६. विप्रलब्धा—

अनुवाद—जिसका प्रिय दूती को भेजकर अथवा सङ्केत स्थान बतला कर भी समय पर वहाँ न पहुंच पाता है तो अपमानित वह नायिका 'विप्रलब्धा' कहलाती है ॥ २१८ ॥

७. प्रोषितपतिका—

अनुवाद—जिसका पति (प्रिय) अनेक कार्यों का अनुसन्धान कर परदेश चला गया है, पति के वियोग में केशादि को न संवारने वाली नायिका 'प्रोषित-भर्तृका' कहलाती है ॥ २१९ ॥

---

१. ख. ग. तदनागमनार्ता तु खण्डितेत्यभिधीयते ।

२. तस्माद्भूतां प्रियः प्राप्य गत्वा ।

३. ख. ग. मता । ४. ख. ग. गुरुकार्यान्तरवशाद्यस्या विप्रोषितः ।

हित्वा लज्जां [1]तु या श्लिष्टा मदेन मदनेन च[2]।
अभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका ॥ २२० ॥
आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रया।
एतासां [3]चैव वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा ॥ २२१ ॥

प्रशान्तेत्यादयस्तु नायिकाभेदे नेहोक्ताः, तेषां वासकाभावनिवृत्तस्वाभावत्। नाटकाश्रया इति नाट्यविषया इत्यर्थः।

तत्र विप्रलम्भजीवितं शृङ्गारेण वासकाभावभावितनायिकाभेदाश्रयं प्रथमं दर्शयति।

अभिनव—लम्बे-लम्बे हैं बाल जिसके। केशान्त अर्थात् कबरीभाररूढ़ है एक वेणी के रूप में जिसके। अन्य लोग तो केशकर्म न करने से, केश प्रान्त में रोम उत्पन्न होने का वर्णन करते हैं ॥ २१९ ॥

८. अभिसारिका—

अनुवाद—जो यौवन के मद अथवा काम के आवेश के वश लज्जा को छोड़कर कान्त के पास अभिसरण करती है उसे 'अभिसारिका' नायिका कहते हैं ॥ २२० ॥

अभिनव—मद अर्थात् मदकृत विकार। 'मदनेन च' ये चकार से मदन (काम की प्रधानता) होती है। अभिसर अर्थात् सहायक व्यापार से प्रियतम के पास अतिक्रमण करती है। यहाँ अभि उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से 'तत्करोति तदाचष्टे' सूत्र से णिच् प्रत्यय होकर वृद्धि होती है। नायिकाओं के भेद में कुप्यन्ती, प्रशान्ता आदि भेदों को यहाँ नहीं कहा है। क्योंकि इसमें वासभाव की निवृत्ती का अभाव है ॥ २२० ॥

अनुवाद—इन अवस्थाओं में नाटकाश्रित नायिकाओं को समझना चाहिए। इनके सम्बन्ध में कामतन्त्र की अनेक प्रकार कामविधान को बतलाता हूँ ॥ २२१ ॥

---

१. ख. ग. समाकृष्टा। २. ख. ग. या।
३. ख. ग. ये च।

चिन्तानिःश्वास[1]खेदेन [2]हृद्दाहाभिनयेन च।
सखीभिः सह संलापै[3]रात्मावस्थावलोकनैः ॥ २२२ ॥
ग्लानिदैन्याश्रुपातैश्च रोषस्यागमनेन च।
[4]निर्भूषणभुजात्वेन दुःखेन रुदितेन च ॥ २२३ ॥
खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरितापि वा।
तथा प्रोषितकान्ता च [5]भावानेतान् प्रयोजयेत् ॥ २२४ ॥
विचित्रोज्ज्वलवेषा तु प्रमोदोद्द्योतिताननाः।
उदीर्णशोभा च[6] तथा कार्या स्वाधीनभर्तृका ॥ २२५ ॥

चिन्तानिःश्वासखेदेनेत्यादिना। सामान्याभूते सकलहृदयसंवादिनि मदनोपचारे चायमभिनय इत्यपि सामान्याभिनयः। भावानेतानिति पठितान् भावव्यभिचारिसंसूचिता ये भावा व्यभिचारिस्थायिरूपा (णामि) ह्यपठितमप्यनुभावजातं प्रदर्शयति यावत्। वासकसज्जा अभिसारिका च स्वावसरे स्वाधीनभर्तृकयैव तुल्य इति पृथङ्नोक्ते।

अनुवाद—खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता तथा प्रोषितपातिका नायिका का अभिनय प्रस्तुत करने में चिन्ता, निःश्वास, खेद, हृद्दाह के अभिनय, सखियों के साथ संलाप, अपनी अवस्था का अवलोकन, ग्लानि, दैन्य, अश्रुपात, क्रोध के आगमन, भुजाओं को भूषणहीन होने, दुःख एवं रोदन के भावों को प्रकट करे ॥ २२२-२२४ ॥

अनुवाद—जिसका वेष विचित्र एवं उज्ज्वल है, वह प्रमोद से विकसित मुखवाली, शोभा को प्रकट करने वाली स्वाधीन भर्तृका नायिका रङ्गमञ्च पर अभिनय प्रदर्शित करे ॥ २२५ ॥

---

१. ख. ग. खेदैश्च। २. ख. ग. हृदया।
३. ख. ग. संप्रलापैश्च। ४. ख. ग. निर्भूषणाङ्गी विमृजा।
५. ख. ग. भावैरेवं। ६. ख. ग. अतिशया।

[1]वेश्यायाः कुलजायाश्चप्रेष्याश्च प्रयोक्तृभिः ।
एभिर्भावविशेषैस्तु कर्तव्यमभिसारणम् ॥ २२६ ॥
समदा मृदुचेष्टा च तथा परिजनावृत्ता ।
नानाभरणचित्राङ्गी गच्छेद्वेश्याङ्गना शनैः[2] ॥ २२७ ॥
संलीना[3]स्वेषु गात्रेषु त्रस्ता [4]विनमितानना ।
अवकुण्ठनसंवीता गच्छेत्तु कुलजाङ्गना ॥ २२८ ॥
[5]मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।
आविद्धगतिसंचारा गच्छेत्प्रेष्या समुद्धतम्[6] ॥ २२९ ॥

अथाभिसारणस्वरूपमाह—वेश्याया इत्यादि । भावविशेषैरिति वस्तुविशेषैरित्यर्थः । संलापो दूत्या सख्या सहोक्तिप्रत्युक्तिः । (अलङ्कारेणेति) अलङ्कारशब्दो नूपुरादि (वि)शिष्टः (तत्) ।

अभिसरण के स्वरुप को कहते हैं—

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को वेश्या, कुलजा तथा प्रेष्या इन नारियों के भावों से अभिसरण प्रदर्शित करे ॥ २२६ ॥

अनुवाद—प्रिय का अभिसरण करने में वेश्या मद से विह्वल हुई कोमल चेष्टाओं से युक्त होकर, परिजनों के साथ विविध आभूषणों से चित्रित होकर धीरे-धीरे अभिसरण करे ॥ २२७ ॥

अनुवाद—कुलाङ्गना अपने शरीरों में लीन त्रस्त होकर मुख को झुकाए हुए घूंघट काढे हुए अभिसरण करे ॥ २२८ ॥

अनुवाद—मद से स्खलित वार्तालाप करती हुई, विभ्रम से उत्फुल्ल नेत्रों वाली आविद्ध गति संचार वाली प्रेष्या नायिका उद्धत गति से अभिसार करे ॥ २२९ ॥

अभिनव—सखी के साथ उक्ति-प्रत्युक्ति ।

---

१. ख. ग. वेश्यानां कुलजायां वा प्रेष्यायां वा ।
२. ख. ग. स्वेषु गात्रेषु । ३. ख. ग. विप्रेक्षित ।
४. ख. ग. च । ५. मदस्त्वभिनयालापा ।
६. ख. ग. प्रेष्याङ्गनानया ।

[1]गत्वा सा चेद्यदा तत्र पश्येत्सुप्तं प्रियं तदा[2] ।
[3]अनेन तूपचारेण तस्य कुर्यात्प्रबोधनम् ॥ ३० ॥
अलङ्कारेण कुलजा वेश्या गन्धैस्तु शीतलैः ।
प्रेष्या तु वस्त्रव्यनैः कुर्वीत प्रतिबोधनम् ॥ २३१ ॥
कुलाङ्गनानामेवायं [4]नोक्तः कामाश्रयो विधिः ।
सर्वावस्थानुभाव्यं हि[5] यस्माद्भवति नाटकम् ॥ २३२ ॥

ननु राज्ञां वेश्याविसंभोगो निह्नवकारापायसङ्कुलत्वात् किमिहानेन दर्शितेनेत्याशङ्क्याह—सर्वावस्थानुभाव्यं हि कार्यं नाटकमिति नाट्य इति यावत् । सर्वावस्था अनुभाव्या प्रत्यक्षायमाणत्वं नेया, यत्र प्रकरणादौ वेश्यासंभोगोऽप्यस्तीत्युक्तं दशरूपके (अध्या—१८) यदि तर्हि सर्वतः प्रकारो नाटके प्रदर्श्यस्तदा वासके यदा प्रकटप्रकार उक्तः ।

अनुवाद—वह नायिका वहाँ पहुंचकर अपने प्रिय को सोया हुआ जब देखती है तो इस आगे कहे हुए उपकार से उसका प्रबोधन करे ॥ २३० ॥

अनुवाद—कुलजा नायिका अलङ्कार पहिन कर, वेश्या शीतल सुगन्ध से प्रेष्या नारी वस्त्र के व्यञ्जन से (आँचल डुलाकर) प्रतिबोधन करे ॥ २३१ ॥

अभिनव—अलङ्कार शब्द से नूपुर आदि का ग्रहण है ।

अनुवाद—यह कामाश्रय की विधि केवल कुलाङ्गना के लिए नहीं कही गई है, अपितु नाटक में सभी अवस्थाओं के अनुभवनीय कही गई है ॥ २३२ ॥

अभिनव—राजाओं का वेश्याओं के साथ सम्भोग निह्नव करण रूप अयाय से व्याकुल है, अतः उसके यहाँ दिखाने से क्या लाभ ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते है—सभी अवस्थाओं में अनुभाव नाट्य है । सभी अवस्थाएँ अनुभाव्य है । प्रत्यक्ष करने योग्य है । यदि प्रकरणादि में वेश्याओं के सम्भोग दशरूपक में बतलाया गया है, सभी प्रकारों को नाटक में दिखाना चाहिए । वासक में उनके प्रकारों को प्रकट रूप में कहा है ॥ २३२ ॥

---

१. स्यादयं शयितो व्यक्तं । ८. ख. ग. यदा ।
२. ख. ग. प्रिया यथोत्थापयति तथा वक्ष्याम्यहं पुनः ।
३. ख. ग. बोधयेत् स्थायिनं प्रियम् ।
४. ख. ग. प्रोक्तः । ५. ख. ग. भावं तु ।

[1]नवकामप्रवृत्ताया क्रुद्धाया वा समागमे ।
[2]सापदेशैरुपायैस्तु वासकं संप्रयोजयेत्[3] ॥ २३३ ॥
[4]नानालङ्कारवस्त्राणि गन्धमाल्यानि चैव हि ।
प्रियायोजितभुक्तानि निषेवेत मुदान्वितः ॥ २३४ ॥

एवं व्याजप्रकारोऽपि वाच्य इत्याशयेनाह—नवकामप्रवृत्ताया इति ।
नवे पुरुषसम्भोगे या प्रवृत्ता प्रथमसमागमनीया वेश्या पूनर्भूर्गान्धर्वविवाह-विवाह्या कन्या वा तस्या. समागमे चिकीर्षिते, सव्याजैः उपायैः वासको व्याजश्च यथा तथैव प्रकटं नाङ्गीकरोति, नायिकान्तरेभ्यश्च झटिति भीरुर्नायको भवति। अवरुद्धापि खण्डिता कलहान्तरिता वा वासकमनङ्गीकुर्वती व्याजतो-ऽङ्गीकार्यते। तत्र नायिकाहृदयग्रहणोचितविदग्धतानिमित्तं नायकस्योपचारमाह—नानालङ्कारेत्यादि ।

इस प्रकार व्याज प्रकार को भी कहना चाहिए, इस आश्रय से कहते हैं—

अनुवाद—नये अथवा प्रथम बार काम मे प्रवृत्त हुई नई नायिका अथवा क्रुद्धा नायिका के समागम में किसी व्याज अथवा किन्हीं उपायों से वासक का सम्प्रयोग करे ॥ २३३ ॥

अभिनव—नूतन काम अर्थात् पुरुष के सम्भोग में प्रवृत्त होने वाली प्रथम समागम के योग्य वेश्या, पूनर्भू, अथवा गान्धर्व विवाह से विवाह करने योग्य कन्या अथवा इनके साथ समागम की इच्छा से सव्याज उपायों से वासक होता है। व्याज से भो जैसे तैसे वह कन्या प्रकट सम्भोग स्वोकार नहीं करती है तथा नायक भो अन्य नायिकाओं से डरता है। अवरुद्ध, खण्डिका अथवा कलहान्तरिता को वासक का अङ्गोकार नहीं करती, व्याज से अङ्गोकार कराया जाता है ॥ २३३ ॥

अभिनव—नायिका के हृदय के ग्रहण के योग्य विदग्धता के लिए नायक के उपचार को कहते हैं—

अनुवाद—प्रियतमा के द्वारा उपभोग करके छोड़ दिये गये नाना प्रकार के वस्त्र, गन्ध और मालाओं का बड़ी प्रसन्नता के साथ सेवन करे ॥ २३४ ॥

१. ख. ग. भयकामप्रणेता । २. ख. ग. सत्यादेशैः ।
३. ख. ग. सम्प्रकल्पयेत् ।
४. ख. ग. नावालङ्कारमाभ्याभिधूपगन्धाम्बराणि च ।
नित्यं सुखान्युदात्तानि सेवेत मदनान्वितः ।

न तथा भवति मनुष्यो मदनवशः कामिनीमलभमानः ।
द्विगुणोपजातहर्षो भवति यथा सङ्गतः [1]प्रियया ॥ २३५ ॥
विलासभावेङ्गितवाक्यलीला[2]माधुर्यविस्तारगुणोपपन्नः ।
परस्परप्रेमनिरीक्षितेन समागमः कामकृतस्तु कार्यः ॥ २३६ ॥

ननु प्राप्ता चेत् प्रमदा तर्हि निवृत्तकामः, तत् कोऽयमुपचारिप्रतिभर इत्याशङ्कयाह न तथा भवतीति । मदनः कामभवः इति काम एव । मदि हर्षग्लपन-योरिति पठति, तेन समागमे द्विगुणीभवति कामः, ततश्चो पचारे यत्न उचित इत्याह—विलासभावेति । विलासः स्त्रीणां च व्याख्यातः 'स्थानासनगमनाना'मिति, (२२-१५) (स्त्रियाः), 'धीरसंचारिणी दृष्टिः (२२-३५) इति (पुरुषस्य) च । तत्प्रधानभावाः चेष्टितानि ।

इङ्गितं प्रेमसूचका व्यापाराः व्याख्याताः 'काम्येनाङ्गविकारेणेत्यादि', 'चकिता भवेत्' इत्यन्ततेन (२२-१६७-१७२) ।

अभिनव—जब प्रमदा मिल गई और सम्भोग भी हो चुका तो यह उपचार का प्रतिभा क्या है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—काम के वश होकर मनुष्य कामिनी को प्राप्त न करके उतना दुःखी नहीं होता जितना प्रियतमा के संगम होने पर द्विगुणित प्रसन्न होता है ॥ २३५ ॥

अभिनव—मदन अर्थात् काम से होने वाला काम है। मदि हर्षे धातु हर्ष और ग्लपन अर्थ में पठित है। अतः पुरुष के साथ समागम में काम द्विगुणित होता है ॥ २३५ ॥

उपचार में यत्न उचित है, इसको कहते हैं—

अनुवाद—परस्पर प्रेम से निरीक्षण से विलास भाव, इङ्गित, वाणी, लीला माधुर्य, के विस्तार रूपी गुण उपपन्न कामकृत समागम करना चाहिए ॥ २३६ ॥

अभिनव—स्थान, आसन और गमन से स्त्रियों के विलास की व्याख्या कर दी गई। और धैर्य संचारिणी दृष्टि से पुरुष के विलास की व्याख्या कर दी है। इङ्गित अर्थात् प्रेम सूचक व्यापार की व्याख्या काम्य अङ्गविकारों से

---

१. ख. ग. विशेषो ।
२. ख. ग. विशेषमाधुर्यं ।

ततः प्रवृत्ते मदने उपचारसमुद्भवे ।
वासोपचारः कर्तव्यो नायकागमनं प्रति ॥ २३७ ॥

गन्धमाल्ये[1] गृहीत्वा तु चूर्णवास[2]स्तथैव च ।
[3]आदर्शो लोलया गृह्यश्छन्दतो वा पुनः पुनः ॥ २३८ ॥

वासोपचारे नात्यर्थं भूषणग्रहणं भवेत् ।
रशनानूपुरप्रायं स्वनवच्च प्रशस्यते ॥ २३९ ॥

वाक्यलीलेति अङ्गासाध्याविषूक्ता । माधुर्यं "सर्वावस्थाविशेषे"ष्विति (२२-२९) नृणां च, "अभ्यासात् करणानां" (२२-३६) इति । एषां विस्तारगुणेन कविवर्णनाकृतेनोपपन्न एतस्मादुपचारस्सम्यगुद्भवो यस्य । चूर्णः पटवासः । वासो वस्त्रम् । नात्यर्थमिति खेदावहत्वात् । रात्रावदृश्यत्वात्तु वरिद्राणां दीपशून्यं वासगृहं दृष्टवतां हेतुत्वेन स्वनवत्वं, चेति हेतौ यतः प्रशस्तेन सुरतलीलोपयोगिना शब्देन युक्तम् ।

लेकर 'चकित हो जाती है' तब कर दी गई है । जो आङ्गिक अभिनय से साध्य नहीं है वहाँ वाक्यलीला अर्थात् वाचिक अभिनय किया जाता है । सभी अवस्थाओं में स्त्रियों का माधुर्य होता है और इन्द्रियों के अभ्यास से पुरुषों का माधुर्य होता है । कार्य-वर्गना से किये गये विस्तार गुण से इनकी उपपत्ति होती है । उपचार से काम का सम्यक् उद्भव होता है ॥ २३६ ॥

अनुवाद—तब उपचार समुद्भूत काम-वासना के प्रवृत्त होने पर नायक के आगमन के प्रति निवास की व्यवस्था करनी चाहिए ॥ २३७ ॥

अनुवाद—गन्ध, माला और चूर्णवास लगाये हुए वस्त्र को ग्रहण कर लीला के साथ आदर्श (दर्पण) को ग्रहण करे अथवा स्वेच्छा से बार-बार दर्पण ग्रहण करे ॥ २३८ ॥

अभिनव—चूर्ण अर्थात् पटवास । वास अर्थात् वस्त्र ।

अनुवाद—वासोपचार के समय अलङ्कारों का अधिक मात्रा में ग्रहण नहीं करना चाहिए । रशना और नूपुर जैसे मधुर ध्वनि करने वाले भूषण प्रसस्त होते हैं ॥ २३९ ॥

---

१ ब. ग. माल्यं । २. ब. ग. द्वार ।
३. ब. ग. स्थापयेन्नायककृते कुर्याच्चात्मप्रसाधनम् ।

[1]नाम्बरग्रहणं रङ्गे न स्नानं न विलेपनम् ।
नाञ्जनं[2] नाङ्गरागश्च केशसंयमनं तथा ॥ २४० ॥
[3]नाप्रावृत्ता नैकवस्त्रा न रागमधरस्य तु ।
उत्तमा मध्यमा वापि [4]कुर्वीत प्रमदा क्वचित् ॥ २४१ ॥
अधमानां भवेदेष सर्व एव [5]विधिः सदा ।
[6]कारणान्तरमासाद्य तस्मादपि न कारयेत् ॥ २४२ ॥

नाम्बरग्रहणं रङ्गे इत्यादिना प्रसङ्गतो निषेधमाह—

वासोपचारसिद्धये तु रङ्गेऽप्येतदुपचारोपयोगि कर्तव्यमिति हि कोपसंभावनयेति नाम्बरग्रहणमिति सामान्योक्तावपि प्रकारादुत्तमाया मध्यमायाश्चेति

अभिनव—नात्यर्थमिति—अर्थात् खेदजनक होने के कारण अधिक धारण नहीं करना चाहिए। रात्रि में अदृश्य होने से दरिद्रों का दीपशून्य वाहगृह देखने वालों के लिए संभोग की प्रतीति में हेतु है। 'स्वप्नत्वं च' यहाँ हेतु अर्थ में है। अर्थात् प्रशस्त सुरतरूपी लीला के उपयोगी शब्द से युक्त है ॥ २३९ ॥

अनुवाद—उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के स्त्रियों को रङ्गमञ्च पर खुले तौर पर (बिना ढंके हुए) वस्त्रों को धारण न करे, न स्नान करे, न गन्ध विलेपन करे, न अञ्जन लगाए, न अङ्गराज धारण करे, न केशों का संयमन करे, न नंगा रहे, न एक ही वस्त्र धारण करे, न ओठों पर राग लगावे ॥ २४०-२४१ ॥

अनुवाद—किन्तु अधम प्रकृति के स्त्रियों को यह विधि सर्वदा कर सकती है, किन्तु किसी कारण विशेष उपस्थित होने पर अधम प्रकृति की स्त्रियों को उक्त विधि नहीं करे ॥ २४२ ॥

---

१. ख. ग. नाम्बरग्रहणं रङ्गे नानुरङ्गे विलेपनम् ।
२. ख. ग. नानुरागं च न च केशोपसंग्रहम् ।
३. ख. ग. नानावृत्तानेकवस्त्रा । ४. ख. ग. प्रकुर्यात् ।
५. ख. ग. एवं विधिः प्रकृतिसंभवः ।
६. ख. ग. तासामपि ह्यसभ्यं यन्न तत्कार्यं प्रयोक्तृभिः । प्रमदाभिर्नरैर्वापि नानाभावं तु नाटके ।

प्रेष्यादीनां च नारीणां नराणां वापि नाटके ।
भूषणग्रहणं कार्यं पुष्पग्रहणमेव च[1] ॥ २४३ ॥
गृहीतमण्डना [2]चापि प्रतीक्षेत प्रियागमम् ।
लीलया [3]मण्डितं वेषं कुर्याद्यन्न विरुध्यते ॥ २४४ ॥

गम्यते । अधमायाश्च भवत्येतद्रङ्गेऽपि । एवं निषेधमधमासु पुनर्विधिमुक्त्वा प्रकृतमुपचारमेवाभिसन्धत्ते भूषणग्रहणमित्यादि । उक्तपूर्वेऽत्रोपचारे आदरं दर्शयति विधिवद्वासकं कुर्यादिति वासकोचितमुपचारमित्यर्थः ।

अभिनव—प्रसङ्गतः रङ्गमञ्च पर अम्बर ग्रहण नहीं करना चाहिए, इत्यादि से निषेध को कहते हैं। वासोपचार की सिद्धि के लिए रङ्गमञ्च पर भी उपचार ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार सामान्य रूप से कहने पर भी प्रकारान्तर उत्तमा, और मध्यमा अम्बर ग्रहण कर सकती है। अध्यमा स्त्री तो रङ्ग में भी अम्बर धारण कर सकती है ॥ २४०-२४२ ॥

अनुवाद—नाटक में रङ्गमञ्च पर दास आदि पुरुषों तथा दासी स्त्रियों को भूषणों को धारण कर सकती है तथा फूलों को भी धारण कर सकती है ॥ २४३ ॥

अनुवाद—वेष-भूषा से सुसज्जित होकर नायिका प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करे। लीला से मुण्डित वेष को धारण कर सकती है जो प्रकृत के विरुद्ध न हो ॥ २४४ ॥

अभिनव इस प्रकार निषेध को अधमा नायिका के लिए विधि से कह कर प्रकृत के उपचार को कहते हैं।

पहले बतलाए हुए उपचार में आदर दिखाते हैं और वासक के उचित उपचार करे।

---

१. ख. ग. पुष्पाणां ग्रहणं तथा ।

२. ख. ग. किंचित् प्रतीच्छेत ।

३. ख. ग. मण्डनं ।

विधिवद्वासकं कुर्यान्नायिका नायकागमे ।
[1]प्रतीक्षमाणा च ततो नालिकाशब्दमादिशेत् ॥ २४५ ॥

श्रुत्वा तु नालिकाशब्दं[2] नायकागमविक्लवा ।
[3]विषण्णा वेपमाना च गच्छेत्तोरणमेव च ॥ २४६ ॥

[4]तोरणं वामहस्तेन कवाटं दक्षिणेन च[5] ।
[6]गृहीत्वा तोरणाश्लिष्टा संप्रतीक्षेत नायकम् ॥ २४७ ॥

ननु समाप्त उपचारे यदि प्रियो नागतः किं कुर्यादित्याह प्रतीक्षमाणेति । नालिकाशब्दमादिशेदिति इयांश्च कालो गतः किमित्यादि न प्राप्तः स्यादिति, ततोऽप्यनागतेऽयं विधिरित्याह श्रुत्वा तु नालिकशब्दमिति तैस्तैर्विचारणोपायैरिति

अनुवाद—नायक के समाचाम के समय नायिका विधिपूर्वक तैयार होकर उपस्थित रहे और प्रतीक्षा करती हुई नालिका (घण्टी) बजाने का आदेश दे ॥ २४५ ॥

अभिनव—यदि उपचार समाप्त हो जाने पर भी प्रिय न आवे तो क्या करे ? इस पर कहते हैं कि प्रतीक्षा करे ।

नायिका शब्द का आदेश करे, इतना समय बोत गया आया नहीं ॥ २४५ ॥

अनुवाद—नालिका शब्द को सुनकर नायक के आगमन के लिए विह्वल हुई खिन्न और कांपती हुई तोरण की ओर जाय ॥ २४६ ॥

अनुवाद—वहां बायें हाथ से तोरण को और दाहिने हाथ से कपाट को ग्रहण कर तोरण से सटकर नायक को प्रतीक्षा करे ॥ २४७ ॥

---

१. ख. ग. वीक्षमाणा प्रियपश्यं (?) शृणुयान्नाडिकाध्वनिम् ।

२. ख. ग. नादं ।

३. ख. ग. वेपन्ती त्रस्तहृदया तोरणाभिमुखी व्रजेत् ।

४. ख. ग. वामेन तोरणं ग्राह्यं । ५. ख. ग. तु ।

६. ख. ग. हस्तेन संमुखीभूय उदीक्षेत प्रियागमम् ।

[1]शङ्कां चिन्तां भयं चैव प्रकुर्यात्तोरणाश्रिता ।
अदृष्ट्वा रमणं नारी विषण्णा च क्षणं भवेत् ॥ २४८ ॥
दीर्घं चैव विनिःश्वस्य नयनाम्बु निपातयेत् ।
सन्नं च हृदयं कृत्वा विसृजेदङ्गमासने ॥ २४९ ॥
व्याक्षेपाद्विमृशेच्चापि नायकागमनं प्रति ।
तैस्तैर्विचारणोपायैः[2] शुभाशुभसमुत्थितैः ॥ २५० ॥
गुरुकार्येण मित्रैर्वा मन्त्रिणा[3] राज्यचिन्तया ।
अनुबद्धः प्रियः किं नु वृतो[4] वल्लभयापि वा ॥ २५१ ॥

यदुक्तं तत्रोदाहरणम् । अनागतोपायानाह गुरुकार्येणेत्यादि । अनुभाववर्गस्त्वसूयाखेदार्थचिन्तादिव्यभिचारिसंभवो यथायोगं योज्यः ।

अनुवाद—तोरण से सटी हुई अर्थात् दरवाजे का सहारा लेकर नायिका शङ्का, चिन्ता और भय से खिन्न हो तथा प्रिय को न देखकर क्षण भर के लिए दुःखी हो जाय ॥ २४८ ॥

अनुवाद—दीर्घ श्वास लेकर नेत्रों से आँसुओं को गिरावे और हृदय से खिन्न होकर अपने शरीर को आसन पर गिरा दे ॥ २४९ ॥

अनुवाद—नायक के न आने के विषय में विघ्न को देखकर शुभ और अशुभ परिस्थितियों के उद्गम से उपायों का विचार करे ॥ २५० ॥

अनुवाद—नायक के न आने के सम्बन्ध में सोचे कि किसी बड़े कार्य के आजाने से, मित्रों के द्वारा रोक लिए जाने से, मन्त्रियों के साथ राज्य के सम्बन्ध में चिन्ता के कारण अथवा किसी अतिप्रिय वल्लभा (प्रेयसी) ने रोक लिया है ॥ २५१ ॥

अभिनव—उन-उन विचार करने के उपायों से इस प्रकार जो कहा है उसमें उदाहरण है। प्रिय के अनागत (न आने के) उपायों को कहते हैं—तु किसी भारी कार्य के आ जाने से। यह अनुभाववर्ग है। असूया, खेद, अर्थचिन्ता आदि व्यभिचारी भाव है। यथायोग योजना करनी चाहिए ॥ २५१ ॥

१. ख. ग. वेमां शङ्कां भये चैव कुर्यात् तोरणसंस्थितम् ।
२. ख. ग. विचारणैश्चापि ।
३. ख. ग. मन्त्रिणां ।
४. ख. ग. तु वृतो ।

उत्पातान्निर्दिशेच्चापि शुभाशुभसमुत्थितान् ।
निमित्तै[1]रात्मसंस्थैस्तु स्फुरितैः [2]स्पन्दितैस्तथा ॥ २५२ ॥

शोभनेषु तु कार्येषु निमित्तं वामतः स्त्रियाः[3] ।
[4]अनिष्टेष्वथ सर्वेषु निमित्तं दक्षिणं भवेत् ॥ २५३ ॥

सव्यं नेत्रं ललाटं [5]च भ्रूनासोष्ठ तथैव च ।
ऊरुबाहुस्तनं चैव स्फुरेद्यदि समागमः ॥ २५४ ॥

उत्पातः सहसाऽशुभसूचको महाभूतपरिस्पन्दः स च परस्थः स्फुरितं चलनं स्पन्दितमेतदितित्वेते स्वदेहस्थे इति भेदेनोक्ते। नेत्रमित्यादि सव्यं वाममिति मन्तव्यम् तथा बाहू ।

अनुवाद—वह अपने चक्षुः स्फुरण तथा अङ्गस्पन्दन निमित्तों से शुभ और अशुभ के सूचक उत्पातों का निर्देश करे ॥ २५२ ॥

अभिनव—उत्पात सहसा अशुभ का सूचक महाभूतों का परिस्पन्द वह परस्थ है। स्फुरित, चलन और स्पन्दित ये सब अपन शरीर में होते है, अतः भेद से कहे गये हैं।

अनुवाद—शुभ कार्यों में स्त्रियों के बायें से अङ्ग का फड़कना होता है और सभी अनिष्ट कार्यों में दाहिने अङ्ग का फड़कना में निमित्त होता है ॥ २५३ ॥

अनुवाद—यदि नायिका की बायीं आँख, ललाट, भौंह, नासिका ओष्ठ, जङ्घा, बाहु, स्तन फड़के तो प्रिय का समागम अवश्य होता है ॥ २५४ ॥

अभिनव—सव्य नेत्र अर्थात् वामनेत्र मानना चाहिए।

---

१. ख. ग. राज्य । २. ख. ग. भेदितैः ।

३. ख. ग. प्रियाः ।

४. ख. ग दुरुक्तेषु तु कार्येषु ।

५. ख. ग. भ्रूरधरोष्ठः ।

[1]एतेषामन्यथाभावे दुर्निमित्तं विनिर्दिशेत् ।
दर्शने दुर्निमित्तस्य मोहं गच्छेत्क्षणं ततः ॥ २५५ ॥

[2]अनागमे नायकस्य कार्यो गण्डाश्रयः करः ।
भूषणे चाप्यवज्ञानं रोदनं च समाचरेत् ॥ २५६ ॥

[3]अथ चेच्छोभनं तत्स्यान्निमित्तं नायकागमे ।
सूच्यो नायिकयासन्नो [4]गन्धाघ्राणेन नायकः ॥ २५७ ॥

दृष्ट्वा चोत्थाय संहृष्टा[5] प्रत्युद्गच्छेद्यथाविधि[6] ।
ततः कान्तं निरीक्षेत प्रहर्षोत्फुल्ललोचना ॥ २५८ ॥

अन्यथाभाव इति दक्षिणस्फुरणे । प्रत्युद्गच्छेदिति नायिकेति प्रथमया योज्यम् ।

अनुवाद—इन अङ्गों के विपरीत फड़कने पर दुर्निमित्त (अनिष्ट) की सूचना मिलती है और अशकुन को देखने पर क्षण भर के लिए मोह को प्राप्त होता है ॥ २५५ ॥

अभिनव—अन्यथाभाव अर्थात् दक्षिण नेत्र का फड़कना ।

अनुवाद—नायक के अनागमन पर हाथ को कपोल पर रखे, और अलङ्करण के प्रति ध्यान न दे और रोने लगे ॥ २५६ ॥

अनुवाद—यदि नायक के आगमन के अवसर पर अङ्गस्फुरण निमित्त यदि शुभ हो तो प्रिय का समागम आसन्न है। यह जानकर उत्तम सुगन्धित पदार्थों को ग्रहण करे ॥ २५७ ॥

अनुवाद—प्रिय को आया हुआ देखकर प्रसन्न हो उठकर यथाविधि अगवानी करे, फिर खिले हुए नेत्रों से प्रिय को देखे ॥ २५८ ॥

---

१. ख. ग. अतोऽन्यथा स्पन्दमाने दुरितं दक्षिणे भवेत् ।
२. ख. ग. अप्राप्ते चैव कर्तव्यः प्रिये गण्डार्पितं करः ।
३. ख. ग. ततश्चेच्छोभनं पश्यत् निमित्तं वै प्रियागमे ।
४. ख. ग. गत्वा । ५. ख. ग. हृष्टाङ्गी ।
६. ख. ग. हि नायकम् ।

सखीस्कन्धार्पितकरा कृत्वा स्थानकमायतम् ।
दर्शयेत् ततः कान्तं सचिह्नं सरसव्रणम् ॥ २५९ ॥
यदि स्यादपराद्धस्तु [1]कृतस्तैस्तैरुपक्रमैः ।
उपालम्भकृतैर्वाक्यै[2]रुपालभ्यस्तु नायकः ॥ २६० ॥
मानापमानसम्मोहैरवहित्थभयक्रमैः[3] ।
वचनस्य समुत्पत्तिः स्त्रीणामीर्ष्याकृता[4] भवेत् ॥ २६१ ॥

एवमियता वासकसज्जया वागङ्गसत्त्वव्यामिश्रः सामान्याभिनयः प्रियसंप्राप्त्यवधिर्दर्शितः । अथ खण्डितादीनां संदर्श्यंते यदि स्यादपराद्धस्त्विति तैस्तैरिति मानावहित्थवस्त्रभङ्गाभिव्यन्दादिभिः । अन्यथाभाषणे कोपादुचिते तदपवादमाह—

अनुवाद—सखी के कन्धे पर अपना हाथ रखती हुई आयत स्थान में व्यवस्थित करके चिह्न के साथ सरस दन्तक्षत और नखक्षत नायक को दिखाये ॥ २५९ ॥

अनुवाद—यदि उपक्रमों से अपराधी प्रिय की दशा में उपालम्भ के वाक्यों से नायक को उलाहना दे ॥ २६० ॥

अनुवाद—ईर्ष्या के कारण मान, अपमान, सम्मोह, अवहित्था (आकारगोपन), भय और प्रचलन हेतुओं से नायिका बड़बड़ाती रहे ॥ २६१ ॥

अभिनव—इस प्रकार इतने प्रबन्ध से वासक सज्जा के वाचिक आङ्गिव्य और सात्त्विक व्यामिश्र सामान्य अभिनय को दिखाकर अब खण्डिल्य आदि सामान्याभिनय दिखाते हैं। यदि अपराधी है तो उन उन उपक्रमों से मान, अवहित्था, आकारगोपन, वस्त्रभङ्ग में वस्त्र का गिरना आदि।

अपराधी कोप से अनुचित भाषण करता है, उसके अपवाद को कहते हैं—

---

१. ख. ग. ततः । २. ख. ग. अभिभाष्यः स ।
३. ख. ग. अवहित्थैर्यथाक्रमम । ४. ख. ग. गाथाकृता ।

विस्त्रंभस्नेहरागेषु सन्देहे प्रणये तथा ।
परितोषे च [1]वर्षे च दाक्षिण्याक्षेपविभ्रमे[2] ॥ २६२ ॥
धर्मार्थकामयोगेषु प्रच्छन्नवचनेषु च ।
हास्ये कुतूहले चैव संभ्रमे व्यसने तथा ॥ २६३ ॥
[3]स्त्रीपुंसयोः क्रोधकृते पृथङ्‌मिश्रे तथापि वा ।
अनाभाष्योऽपि संभाष्यः प्रिय[4] एभिस्तु कारणैः ॥ २६४ ॥

विस्रम्भेत्यादि कस्मिश्चित् कार्ये निरूप्ये विस्रम्भसात्मिका कार्या, शरीरापाटवादि पश्यती वार्ताप्रश्नादौ स्नेहः, तद्वशाद्योऽनुरागो लक्षितः, कृतापराधः सत्यतो न वेति सन्देहः, प्रणय प्रार्थना, अपत्याद्यभ्युदयः परितोषः कलास्थित्यादि (कलाशिल्पादि ?) निकृतिपक्षेण स्पर्धा संघर्षः, पक्षस्य सखी-जनादेर्यद्वा कार्यः प्रियेण सम्पाद्यः पश्यति तदा सखीकार्यविवादविषयाद्दाक्षिण्यम्-इन्द्रजालादिकृते विस्मयः, धर्मार्थकामोपयोगिनि नगगृहकृत्यकौमुदीहर्षोत्सवादाव, वश्यं कर्तव्ये चाप्रियं प्रति स्मरणाकर्तव्या, तेन वा स्मरणम्, उपालम्भद्वारेण किमयं वदेदिति परीक्षणम्, यथा नायकोऽत्यादरात् किंचित्पृच्छति तत्कुतूहलम्, सर्वो यदा हसति तदा हास्यम्, अग्न्याद्युत्पातः संभ्रमः, बक्षु (बन्धु) वियोगादि व्यसनम्, एतेष्वनाभावजे सर्वथैव निस्स्नेहता स्यात् । क्रोधकृत इति युगपदित्यर्थः ।

अनुवाद—विस्रम्भ, स्नेह, राग, सन्देह, प्रणय, परितोष, संघर्ष, दाक्षिण्य-आक्षेप से होने वाले विभ्रम, धर्म, अर्थ काम के प्रयोग में, प्रच्छन्न में, हास्य, कुतूहल, सम्भ्रम और व्यसन, स्त्री और पुरुष के परस्पर क्रोध में इन कारणों से असंभाषण भी सम्भाष्य हो जाता है ॥ २६२-२६४ ॥

अभिनव—किसी कार्य के निरूपण में विसृम्भ अर्थात् विश्वास का स्वरूप करना चाहिए, विना विश्वास के कोई कार्य नहीं हो सकता है। शरीर के असामर्थ्य को देखने वाले को वार्त्तालाप एवं प्रश्न करने में स्नेह दिखाना चाहिए। स्नेहवश जो अनुराग लक्षित किया है, वह सचमुच अपराधी है अथवा नहीं, इस प्रकार सन्देह, प्रणय, प्रार्थना सन्तान आदि का अभ्युदय परितोष है।

---

१. ख. ग. हर्षे । २. पातेन ।
३. ख. ग. हास्योपस्थानसंप्राप्तौ दोषप्रक्षेप निह्नवे ।
४. ख. ग. प्रियेति ।

यत्र स्नेहो भवेत्तत्र ह्येर्ष्या मदनसम्भवा ।
चतस्रो योनयस्तस्याः कीर्त्यमाना निबोधत ॥ २६५ ॥
वैमनस्यं व्यलीकं च विप्रियं मन्युरेव[1] च ।
एतेषां संप्रवक्ष्यामि लक्षणानि यथाक्रमम्[2] ॥ २६६ ॥

अपराद्ध इत्युक्तं तत्रापराधं दर्शयितुमुपक्रमं करोति यत्र स्नेह इति । योनयो हेतवश्चत्वारः—वैमनस्यं, व्यलीकं, विप्रियं, मन्युरिति, तान् क्रमेण

कला, शिल्प निकृति पक्ष से स्पर्धा । सखी का कोई कार्य जब उपस्थित हो जाय तो प्रिय को उसे करना चाहिए । किन्तु वह प्रिय करने की अपेक्षा देखता है । तथा सखी के कार्य के विवाद के विषय में अनुकूलता करनी चाहिए और इन्द्र-जालादि के विषय में विस्मय करना चाहिए ॥ २६३ ॥

धर्मोपयोगी व्रत, अर्थोपयोगी गृहकार्य तथा कामोपयोगी कौमुदीमहोत्सव आदि प्रिय के विषय में अवश्य स्मरण करना चाहिए । अथवा प्रिय का स्मरण करना चाहिए यहाँ स्मृति है । उलाहना देने पर यह क्या कहेगा ? ऐसा परिक्षण है । यदि नायक अत्यन्त आदर से कुछ पूछता है वह कुतूहल है सभी कोई जब हँसते हैं, तब हास्य है, अग्नि आदि का उत्पात सम्भ्रम है, धन का वियोग व्यसन है इसमें कुछ न बोलने पर स्नेह श्रून्यता है । क्रोध से एक साथ किया, ऐसा है ॥ १६४ ॥

अनुवाद—जहाँ स्नेह होता है वहाँ काम के कारण ईर्ष्या होती है । स्नेह होने पर ईर्ष्या के चार कारण होते हैं जिसे बतलाता हूँ, आप समझे ॥ २६५ ॥

अनुवाद—ये चारण हैं—वैमनस्य, व्यलीक, (झूठ बोलना) विरोध और क्रोध । यथा क्रम हमने लक्षण को कहता हूँ ॥ २६६ ॥

वैमनस्य—

अभिनव—अपरुद्ध ऐसा कहा था वहाँ अपराध क्या है ? अतः अपराध को दिखाने का उपक्रम करते हैं जहाँ स्नेह है, ईर्ष्या के चार कारण है—वैमनस्य व्यहतीक, विप्रिय और मन्यु । इनके क्रम से लक्षण कहता हूँ ॥ २६६ ॥

---

१. ख. ग. भयं तत्र यत्रेष्यति च मन्मथः ।
२. ख. ग. समुत्पत्तिः प्रयोगं च निबोधत ।

निद्राखेदालसगतिं सचिह्नं सरसव्रणम् ।
एवंविधं प्रियं दृष्ट्वा वैमनस्यं भवेत् स्त्रियाः ॥ २६७ ॥

[1]निद्राभ्यसूयितावेक्षणेन रोषप्रकम्पमानाङ्ग्या ।
साध्विति सुष्ठिवति [2]वचनैः शोभत इत्येवमभिनेयम् ॥२६८॥

बहुधा वार्यमाणोऽपि यस्तस्मिन्नेव दृश्यते ।
[3]संघर्षमत्सरात्तत्र व्यलीकं जायते स्त्रियाः ॥ २६९ ॥

कृत्वोरसि वामकरं दक्षिणहस्तं[4] तथा विधुन्वन्त्या ।
चरणविनिष्ठम्भेन[5] च कार्योऽभिनयो व्यलीके तु ॥ २७० ॥

लक्षयति निद्राखेदालसगतिमित्यादिना (सुरते) गतया निद्रया । (असूयितेति) यदसूयितेनावेक्षणं तेन । (बहुधेति) यतो नायिकातो वार्यते तस्यामेव दृश्यत इति सम्बन्धः । (संघर्षेति) सम्यक् कृतोः घर्षः संघर्षः । (उक्त्वैवमित्यादि

अनुवाद—निद्रा, खेद, अलस गमन, रतिचिन्ह, ताजा घाव से युक्त प्रिय को देखकर स्त्री को वैमनस्य हो जाता है ॥ २६७ ॥

अनुवाद अभ्यसूया से निरीक्षण करके रोष से काँपते हुए आपने अच्छा किया है, इससे आपकी शोभा बहुत अच्छी लग रही है, इस प्रकार के वचनों से अभिनय करे ॥ २६८ ॥

व्यलीक—

अनुवाद—बार बार रोकने पर भी जो वहीं पर सदा दिखाई देता है। वहाँ संघर्ष से, ईर्ष्या से, मत्सरता से स्त्रियाँ झूठ बोलने लगती है ॥ २६९ ॥

अनुवाद--बायाँ हाथ छाती पर रखकर और दाहिना हाथ क्रोध से हिलाती हुई नायिका पैसे की गति को रोक लेना व्यलीक अभिनय कहा जाता है ॥ २७० ॥

अभिनव—जिस नायिका के सम्बन्ध करने पर बार-बार रोकने पर भी उसी में प्रेमासक्त होना संघर्ष है।

---

१. ख. ग. तीव्रासूयितवचनाद्रोषाद्बहुशः प्रकम्पमानोष्ठी ।
२. ख. ग. वाक्यैः शोभनमित्यभिनयं युज्यात् ।
३. ख. ग. संहर्षात्तत्र मात्सर्याद्व्यलीकं तु भवेत् स्त्रियाः ।
४. ख. ग. रुषा विधुन्वाना ।
५. ख. ग. विनिक्षेपेण च तस्मिम् कुर्वीत साभिनयम् ।

जीवन्त्यां त्वयि जीवामि दासोऽहं तवं च मे प्रिया।
उक्त्वैवं योऽन्यथा कुर्याद्विप्रियं तत्र जायते[1] ॥ २७१ ॥

दूतीलेखप्रतिवचनभेदनैः क्रोधहसितरुदितैश्च।
विप्रियकरणेऽभिनयः सशिरः कम्पैश्च कर्तव्यः[2] ॥२७२॥

प्रतिपक्षसकाशात्तु[3] यः सौभाग्यविकत्थनः।
उपसर्पेत् सचिह्नस्तु मन्युस्तत्रोपजायते[4] ॥ २७३ ॥

प्रतिज्ञातस्यापरिपालनं विप्रियम्। दूतलेखादिमुखेन यानि प्रसादनार्थं प्रति वचनानि तेषां भेदः दूषणमनङ्गीकरणम्। (वलयेत्यादि) मन्युना तत्क्षण एव तनुत्वं गात्रे भवतीति वलयानां परिवर्तनं, वाससो रशनायाश्चोत्क्षेप इति।

विप्रिय—

अनुवाद—तुम्हारे जीते रहते मैं जीता हूँ, मैं तुम्हारा दास हूँ, तुम मेरी प्रिया है। ऐसा कहकर जो विपरीत आचरण करता है, वह 'विप्रिय' अब कहलाता है ॥ २७१ ॥

अनुवाद—दूती-लेख तथा प्रतिवचन भेद दिखाने के लिए क्रोध करना, हँसना, रोना, शिरःकम्पन के द्वारा विप्रिय का अभिनय करना चाहिए ॥ २७२ ॥

अभिनव—प्रतिज्ञा का परिपालन न करना विप्रिय है। दूती के द्वारा पत्रादि भेज कर प्रसन्न करने के लिए जिन वचनों को कहा है उन्हें स्वीकार न करना ॥ २७२ ॥

मन्यु—

अनुवाद—जो प्रिय अन्य नायिका के यहाँ से सौभाग्य की प्रशंसा करता हुआ सव्रण चिन्हों से युक्त होकर लौटता है उस पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है ॥ २७३ ॥

---

१. ख. ग. तद्विप्रियमिति स्त्रियाः।
२. ख. ग. कम्पः प्रयोक्तव्यः।
३. ख. ग. विकाशात्तु।
४. ख. ग. चिह्नस्य पत्युस्तत्र भवेत् स्त्रियाः।

वलयपरि[1]वर्तनैरथ सुशिथिलमुत्क्षेपणेन रशनायाः ।
[2]मन्युस्त्वभिनेतव्यः सशङ्कितं [3]बाष्पपूर्णाक्ष्या ॥ २७४ ॥
दृष्ट्वा स्थितं प्रियतमं [4]सशङ्कितं सापराधमतिलज्जम् ।
ईर्ष्यावचनसमुत्थैः खेदयितव्यो ह्यु पालम्भैः ॥२७५॥
न च निष्ठुरमभिभाष्यो न चाप्यतिक्रोधनस्तु परिहासः[5]।
बाष्पो[6]न्मिश्रैर्वचनैरात्मोपन्याससंयुक्तैः ॥२७६॥
मध्याङ्गुल्यङ्गुष्ठाग्रविच्यवात्पाणिनोरसि कृतेन[7] ।
उद्वर्तितनेत्रतया[8] प्रतीतैरभिवीक्षणैश्चापि ॥ २७७ ॥

केचित्सहृदयास्त्वाहुः—मन्युना सखीजनमध्य एवास्यावहुमानलक्षणा भवत्यप्रतिपत्तिरिति तत्कृतानि च वलयस्य परिवर्तनं योज (लोच ?) नभ्रमणादिकं,

---

अनुवाद—अश्रुपूर्ण नेत्र से सशङ्कित होकर नायिका वलय के बार-बार घुमाने और करधनी को ढीली करके उछालते हुए मन्यु का अभिनय करे ॥ २७४ ॥

अनुवाद—जब प्रियतम को अपने सामने संशङ्कित, अपराधी और लज्जित होकर पास में बैठा हुआ देखकर ईर्ष्यापूर्ण वचनों से उपालम्भ (उलाहना) देती हुई खिन्न करे ॥ २७५ ॥

अनुवाद—प्रियतम के प्रति न तो निष्ठुर शब्द कहे, न अति क्रोध पूर्वक परिहास करे, किन्तु आत्मोपन्यास से युक्त आसुओं के लिए वचनों से रोती हुई उपालम्भ करे ॥ २७६ ॥

अभिनव—कुछ सहृदय लोग कहते हैं कि मन्यु (क्रोध) के द्वारा सखियों के मध्य में हो उसके बहुमान लक्षणा अप्रतिप्रत्ति होने लगती है, उसके कारण वलय का परिवर्त्तन, नेत्र का भ्रमण रशना का उत्क्षेपण एवं यन्त्रोतक्षेपण होता है ।

अनुवाद—अंगूठे से मध्य की अंगुली को दबाकर छाती पर रखे हुए नेत्रों को घुमाते हुए, टकटकी लगाकर देखने से बार-बार प्रदर्शित करे ॥ २७७ ॥

---

१. ख. ग. वर्तनेन च सशिथिल...रसनयोः ।
२. ख. ग. मधुस्य । ३. ख. ग. चास्य मोक्षेऽस्य ।
४. ख. ग. शाशङ्कं । ५. ख. ग. परिहार्षः ।
६. ख. ग. निम्नैः । ७. उरःस्थेन । ८. ख. ग. भावैरभिवीक्षणैः ।

कटिहस्तविवर्तनया[1] विच्छिन्नतया तथाऽञ्जलेः[2] करणात् ।
मूर्धभ्रमण[3] निकुञ्चितनिपातसंश्लेषणाच्चापि ॥ २७८ ॥
अवहित्थवीक्षणाद्वा[4] अङ्गुलिभङ्गेन तर्जनैर्ललितैः ।
एभिर्भावविशेषैर[5]नुनयनेष्वभिनयः कार्यः ॥ २७९ ॥
[6]शोभसे साधु दृष्टोऽसि गच्छ त्वं किं बिलम्बसे ।
मा स्प्राक्षीः [7]प्रिया तत्र या ते हृदि स्थिता ॥ २८० ॥
गच्छेत्युक्त्वा परावृत्य [8]विनिवृत्तान्तरेण तु ।
केनचिद्वचनार्थेन[9] प्रहर्षं योजयेत्पुनः ॥ २८१ ॥

रशनोत्क्षेपणं यन्त्रोत्क्षेपणं चेति । मध्याङ्गुल्यङ्गुष्ठाप्रविच्यवाविति तत्स्थं मूलं व्यापारं स्मारयति । (कटीति) कटीपार्श्वगतस्य हस्तस्य विवर्तमानाया अञ्जलेर्हस्तस्य पताकाभ्यां तु संश्लेषावित्यस्य विश्लेषणम्, अवहित्थेन गाम्भीर्येण

अनुवाद—हाथों को कमर पर रखकर घुमाते से हुए, विच्छिन्न रूप से अञ्जलि को बार-बार करने से मस्तक पर घुमाते हुए निपात द्वारा संश्लेषण करने से, अवहित्थ (आकार) गोपन करते हुए देखने से, अङ्गुलि को भङ्ग करते हुए ललित तर्जनी से उत्पन्न हुए विशिष्ट भावों से नायक को प्रसन्न करने के लिए अभिनय करे ॥ २७८-२७९ ॥

अभिनव—कटि के पार्श्व में रखे हुए हाथ के विवर्त्तन से। हाथों के अञ्जलि के कारण पताकाकार हाथ के संश्लेषण का विश्लेषण अर्थ है। अवहित्थ के गाम्भीर्य से जो देखना, उससे आयत स्थानक अशिप्त है। वहाँ पर उसका विनियोग कह दिया है ॥ २७८-२७९ ॥

अनुवाद—आप सुशोभित हो रहे हैं। अच्छे दिखाई दे रहे हैं, जाओ, तुम विलम्ब क्यों कर रहे हो, मुझे मत छुओ, जाओ अपनी प्रिया के पास जाओ, जो तुम्हारे हृदय में है। हटिये, जाइये, ऐसा कहकर परिहास करते हुए लौटकर दूसरे शब्दों द्वारा हर्ष को योजना करे ॥ २८०-२८१ ॥

१. ख. ग. निविष्टस्य । २. ख. ग. अङ्गुलैः ।
३. ख. ग. निकुञ्चितनखादिसन्दर्शन्नाच्चापि । ४. ख. ग. वीक्षणेन सा ।
५. ख. ग. अस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः । ६. ख. ग. शोभने ।
७. ख. ग. प्रियां या हि तव या हृदि संस्थिता ।
८. ख. ग. विनिवृत्तोत्तरेण । ९. व्यसनार्दनं ।

रभसग्रहणाच्चापि हस्ते वस्त्रे च मूर्धनि ।
कार्यं [1]प्रसादनं नार्यां ह्यपराधं समीक्ष्य तु ॥ २८२ ॥

हस्ते वस्त्रेऽथ केशान्ते नार्याप्यथ गृहीतया ।
कान्तमेवोपसर्पन्त्या कर्तव्य मोक्षणं शनैः ॥ २८३ ॥

गृहीतयाथ केशान्ते हस्ते वस्त्रेऽथवा पुनः ।
[2]हुं मुञ्चेत्युपसर्पन्त्या वाच्यः स्पर्शालसं प्रियः ॥ २८४ ॥

पादाग्रस्थितया नार्या [3]किंचित्कुट्टमितोत्कटम् ।
अश्वक्रान्तेन कर्तव्यं केशानां मोक्षणं शनैः ॥ २८५ ॥

[4]अमुच्यमग्ने केशान्ते [5]संजातस्वेदलेशया ।
हं हु मुञ्चापसर्पेति वाच्य[6] स्पर्शालसाङ्गया ॥ २८६ ॥

यद्बोक्षणं, तेन चायतं स्थानकमाक्षिप्तम् । तत्र हि तस्य विनियोग उक्तः (१२-१६४) निरपेक्षभावता सम्भवतीत्याह गच्छेत्युक्त्वेति । विनिवृत्तिप्राधान्यमुत्तरं येनासौ

अनुवाद—अपराध को देखकर हाथ, वस्त्र और मस्तक को बलपूर्वक ग्रहण करते हुए नायिका को प्रसन्न करना चाहिए ॥ २८२ ॥

अनुवाद—हाथ, वस्त्र और केशों को पकड़कर अपने पास आती हुई नायिका को कान्त (नायक) के पास ले जाकर धीरे से छोड़ दे ॥ २८३ ॥

अनुवाद—हाथ, वस्त्र और केश के ग्रहण किये जाने पर 'हुँ छोड़ दो' ऐसा कहकर जाती हुई नायिका प्रिय से कहे कि तुमको छूने में भी आलस्य होता है ॥ २८४ ॥

अनुवाद—पैर के अग्रभाग (अर्थात् पञ्जे पर) स्थित नारी के द्वारा प्रियतम को प्रेम से तिरस्कार करते हुए अश्वक्रान्त चारी से धीरे से बालों को मोक्षण करना चाहिए ॥ २८५ ॥

अनुवाद—केशों को नहीं छोड़ने से थोड़ा पसीने से युक्त, स्पर्श करने में अलसाई अङ्गों वाली नायिका 'हुँ हुँ, छोड़ दो, भागो' इस प्रकार वचन को कहे ॥ २८६ ॥

---

१. ख. ग. प्रणमनं । २. ख. ग. यथा प्रियो न पश्येद्धि स्पर्शो ग्राह्यस्तथा स्त्रिया ।
३. ख. ग. तथैवाकुञ्चिताङ्गया । ४. ग. विमुच्य ।
५. ख. नार्या सस्वेद । ६. ग. वाच ।

गच्छेति रोषवाक्येन गत्वा[1] प्रतिनिवृत्य च ।
केनचिद्वचनार्थेन [2]वाच्यं यास्यसि नेति च ॥ २८७ ॥
[3]विधूननेन हस्तेन[4] हुंकारं [5] संप्रयोजयेत् ।
स चावधूनने कार्यः [6]शपथैर्व्याज[7] एव च ॥ २८८ ॥
अक्ष्णोः संवरणे[8] कार्यं [9]पृष्ठतश्चोपगूहनम् ।
नार्यास्त्वपहृते वस्त्रे [10]दीपाच्छादनमेव च ॥ २८९ ॥
[11]तावत् खेदयितव्यस्तु यावत्पादगतो[12] भवेत् ।
ततश्चरणयोर्याते[13] कुर्याद्दूतीनिरीक्षणम् ॥ २९० ॥

विलम्बते । अपराधमिति, अल्पेऽपराधे मूर्धनि मध्ये हस्ततले भूषितवस्त्रे । व्याज इति व्रतोपवासोऽद्य मया प्रस्तुत इत्यादि ।

ननु वस्त्रापहारशयनादि रङ्गे निषिद्धमिति (किं) तेनोक्तेन, सत्यं लास्यदाने (स्थाने ?) तु तस्योपयोगः । इह तु कामोपचारप्रसङ्गादित्युक्तं, तदाह

अनुवाद—'जाओ' इस प्रकार क्रोधपूर्ण वचन कहती हुई नायिका थोड़ी दूर जाकर फिर लौटकर फिर कुछ कहती हुई 'जाओगे कि नहीं ?' ऐसा कहे ॥ २८७ ॥

अनुवाद—हाथों के सञ्चालन से 'हुँकार' (हुं हुं) भरे, फिर हाथ के अवधूनन पर बहाना बनाते हुए शपथ खाय ॥ २८८ ॥

अनुवाद—पीछे से धीरे से आकर नायिका के नेत्रों को ढांपले, नायिका का भी वस्त्र का अपहरण करने पर दीपक को ढांक देना चाहिए ॥ २८९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नायिका तब तक प्रिय को तंग करे जब तक वह पैरों पर न गिर जाय और पैरों पर गिर जाने पर दूती का निरीक्षण करे ॥ २९० ॥

---

१. ख. प्रतिनिवर्त्यं । ग. अत्र विनिवृत्य ।
२. ख. चालापं योजतेत् पुमान् । ग. त्वालापं सम्प्रयोजयेत् ।
३. ख. विधूनश्च ।
४. ख. ग. हस्तस्य ।
५. ख. स्त्री प्रयोजयेत् ।
६. ग. शपथे ।
७. ख. वाच्य ।
८. ख. ग. संवरणं ।
९. ग. मृष्टतल्प ।
१०. ख. नीवी ।
११. तादृशे दयितव्येस्तु ।
१२. ख. हतो ।
१३. ख. ग. पाते ।

[1]उत्थाप्यालिङ्गयेच्चैव नायिका नायकं ततः ।
[2]रतिभोगगता हृष्टा शयनाभिमुखी व्रजेत्[3] ॥ २९१ ॥

एतद्गीतविधानेन सुकुमारेण योजयेत् ।
यदा शृङ्गारसंयुक्तं [4]रतिसंभोगकारम् ॥ २९२ ॥

यदा चाकाशपुरुष[5] परस्थवचनाश्रयम्[6] ।
[7]भवेत्काव्यं तदा ह्येव कर्तव्योऽभिनयः स्त्रिया ॥ २९३ ॥

एतद्गीतविधानेनेति, न च नाट्येऽस्य सर्वात्मनानुपयोगः तथाहि यथा भाणकादौ । आकाशपुरुष इति (प्रविष्टपात्रेण) भावितः प्रधानोऽप्रविष्टः पुरुषो भवति तदा इदमिदं मया दृश्यत इति ब्रूयात् । एवं परस्थं वा यदा व्याख्यायते न च प्रत्यक्षत्वेनैतदुपयुज्यत इति दर्शयति यदन्तः पुरसंबन्धमिति ।

अनुवाद—उसके बाद नायिका पैरों पर गिरे हुए नायक को उठाकर आलिङ्गन करे, फिर रतिभोग से प्रसन्न हुई नायिका शयन के लिए अभिमुख हो ॥ १९१ ॥

अभिनव—वस्त्र का अपहरण और शयन करना रङ्गमञ्च पर वर्जित है ऐसा कहने से क्या अभिप्राय है ? सत्य है कि लाक्ष्य स्थान में उसका उपयोग है। यहाँ कामोपचार प्रसङ्ग से कह दिया है उसको कहते हैं—

अनुवाद—सुकुमार गीत विधान से ऐसी योजना करे जिससे रति सम्भोग के हेतु शृङ्गार से युक्त हो जाय ॥ २९२ ॥

अभिनव—ऐसा नहीं है कि नाट्य में इसका सर्वथा अनुपयोग है जैसे भाण आदि में ॥ २९२ ॥

अनुवाद—जब परपुरुष के वचन पर काव्य आश्रित हो तो स्त्रीपात्र को इस प्रकार अभिनय करना चाहिए ॥ २९३ ॥

---

१. ख. तथाप्यालिङ्गयेदेनं । ग. स्पर्शस्य ग्रहणं कृत्वा ।
२. ग. उत्थाप्य विधिना हृष्टा । ख. रतिभोगहृता भृष्टा ।
३. ग. भवेत् । ४. संयुक्तो रतिसंयोग ।
५. ख. काशपरुषं । ६. श्रयम् ।
७. ग. तयेत्काव्ये । ख. भवेत् कार्यं ।

यदन्तः पुरसंबन्धं [1]काव्यं भवति नाटके ।
शृङ्गाररससंयुक्तं [2]तत्राप्येष विधिर्भवेत् ॥ २९४ ॥

न कार्यं शयनं रङ्गेनाट्यधर्मं विजानता ।
केनचिद्वचनार्थेन [3]अङ्कच्छेदो विधीयते ॥ २९५ ॥

[4]यद्वा शयोतार्थवशादेकाकी सहितोऽपि वा ।
[5]चुम्बनालिङ्गनं चैव तथा गुह्यं च यद्भवेत् ॥ २९६ ॥

नन्वेवं सर्वमत्र प्राप्तमिति ननूत्पलचेटादौ दृश्यते शयनमित्याशङ्कयाह—यद्वाशयोतेति नात्र शयननिषेधस्तात्पर्यम्, अपि तु चुम्बनादिनिषेध इति भावः ।

अभिनव—इस प्रकार जब परस्थ में इसकी व्याख्या करते है तब प्रत्यक्ष रूप से इसका उपयोग नहीं होता, इसको दिखाते हैं—

अनुवाद—जब नाटक में अन्तःपुर से सम्बन्धित काव्य शृङ्गार रस से युक्त काव्य होता है तो इसी नियम के अनुसार अभिनय करे ॥ २९४ ॥

अनुवाद—नाट्यधर्म के जानकार अभिनेता को रङ्गमञ्च पर शयन नहीं करना चाहिए किन्तु किसी विलक्षण अर्थयुक्त वाक्य से अङ्क का विच्छेद कर देना चाहिए ॥ २९५ ॥

अभिनव—उत्कल देशीय चेट आदि का रङ्ग मञ्च पर शयन करना देखा जाता है, इस पर आशङ्का करके कहते हैं—अच्छा, सोया करे, यहाँ शयने निषेध से तात्पर्य नहीं है बल्कि चुम्बन, आलिङ्गन के निषेध से है ॥ २९५ ॥

अनुवाद—अथवा किसी कारणवश कोई पात्र अकेला या प्रिय के साथ शयन कर सकता है और गोपनीय ढंग से चुम्बन, आलिङ्गन भी किये जा सकते हैं ॥ २९६ ॥

---

१. ख. कार्यं । २. ग. तदा ।
३. ग. छेदमत्र प्रयोजयेत् ।
४. ख. ग. यदा स्वपेदर्थवशात् ।
५. ग. चुम्बनालिङ्गनादीति रङ्गमध्ये न कारयेत् ।

दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यं नीवीसंस्रनमेव च ।
[1]स्तनान्तरविमर्दं च रङ्गमध्ये न कारयेत् ॥ २९७ ॥
भोजनं सलिलक्रीडा तथा लज्जाकरं च यत् ।
एवंविधं भवेद्यद्यत्तत्तद्रङ्गे न कारयेत् ॥ २९८ ॥
[2]पितापुत्रस्नुषाश्वश्रूदृश्यं यस्मात्तु नाटकम् ।
तस्मादेतानि सर्वाणि वर्जनीयानि यत्नतः ॥ २९९ ॥
वाक्यैः सातिशयैः [3]श्रव्यैर्मधुरैर्नातिनिष्ठुरैः ।
हितोपदेशसंयुक्तै[4]स्तज्ज्ञः[5]कुर्यात्तु नाटकम् ॥ ३०० ॥
[6]एवमन्तःपुरकृतः कार्यस्त्वभिनयो बुधैः ।
समागमेऽथ नारीणां वाच्यानि मदनाश्रये ॥ ३०१ ॥

पितापुत्रेत्यादि । ततश्च रसो भज्येत, स हि साधारणान्योन्यानुप्रवेशप्राण इति प्रत्यपि (प्रतिपदं ?) वदामः । एतत्सामान्याभिनयमध्ये वाचिकोऽप्यभिनयो-

---

अनुवाद—दन्तक्षत, नखक्षत, नीवीस्रसन, स्तनों के मध्यमर्दन का अभिनय रङ्गमञ्च पर नहीं करना चाहिए ॥ २९७ ॥

अनुवाद—भोजन, जल क्रीड़ा और जो लज्जा जनक कार्य हो इस प्रकार और भी लज्जाजनक कार्य रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित नहीं करना चाहिए ॥ २९८ ॥

अनुवाद—क्योंकि पिता, पुत्र, बहू, सास सभी एक साथ बैठकर देखते हैं अतः इन सब कार्यों को प्रयत्नपूर्वक वर्जन करना चाहिए ॥ २९९ ॥

अनुवाद—नाटककार अतिशय सम्पन्न, श्रव्य, मधुर, निष्ठुरता-रहित और हितोपदेश से संयुक्त नाटक का अभिनय करे ॥ ३०० ॥

अनुवाद—इस प्रकार विद्वानों के अन्तःपुर सम्बन्धी अभिनय करे। इसी प्रकार कामदेव सम्बन्धी स्त्रियों के समागम के समय में भी करना चाहिए ॥३०१॥

---

१. ख. ग. स्तनाधर । २. ख. ग. पितृ ।
३. ग. हृद्यैः । ४. ख. जननैः ।
५. ग. प्राज्ञः कुर्वीत तज्ज्ञैः कार्यं तु । ६. ख. म. पुरगतः ।

प्रियेषु वचनानोह यानि तानि निबोधत ।
प्रियः कान्तो विनीतश्च नाथः स्वाम्यथ जोवितम् ।।३०२।।
नन्दनश्चेत्यभिप्रोते वचनानि भवन्ति हि ।
दुःशीलोऽथ दुराचारः शठो वामो विकत्थनः ।। ३०३ ।।
निर्लज्जो निष्ठुरश्चैव [1]प्रियः क्रोधेऽभिधोयते ।
यो विप्रियं न कुरुते न चायुक्तं प्रभाषते ।। ३०४ ।।
तथार्जवसमाचारः [2]स प्रियस्त्वभिधीयते ।
अन्यनारीसमुद्भूतं चिह्नं [3]यस्य न दृश्यते ।। ३०५ ।।
अधरे वा शरीरे वा स कान्त इति भाण्यते[4] ।
संक्रुद्धेऽपि हि यो नार्या नोत्तरं[5] प्रतिपद्यते ।। ३०६ ।।

ऽस्तीत्याशयेनाह प्रियेषु वचनानीति ।

अभिनव—इस सामान्याभिनय के मध्य में वाचिक अभिनय भी होता है इस आशय से कहते हैं—

अनुवाद—प्रिय को जिन वचनों से पुकारे, उन्हें समझे, प्रिय, कान्त विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित, नन्दन आदि शब्द नायक के सम्बन्ध में प्रयुक्त करने चाहिए। क्रोध में प्रिय को नायिका दुःशील, दुराचार, शठ, वाम, विकत्थन, निर्लज्ज, निष्ठुर शब्दों से सम्बोधित करे ।। ३०२-३०३ ।।

अनुवाद—जो न किसी का अप्रिय करने वाला है और न अयुक्त वचन बोलता है किन्तु सरलता से मृदु आचरण करता है वह 'प्रिय' कहलाता है ।।३०४।।

अनुवाद—जिस पुरुष के अधरोष्ठ और शरीर पर अन्य नारी के समागम के चिह्न न दिखाई दे, वह 'कान्त' कहलाता है ।। ३०५ ।।

अनुवाद—जो स्त्री के क्रुद्ध होने पर भी उत्तर नहीं देता है अथवा न कठोर शब्द कहता है वह 'विनीत' कहलाता है ।। ३०६ ।।

---

१. ग. प्रियं क्रोधेऽभिनिर्दिशेत् । ख. प्रायः क्रोधेऽभिधीयते ।
२. ख. प्रिय इत्युच्यते बुधैः । ग. प्रिय इति । ३. ग. यत्र प्रदृश्यते ।
४. ख. भण्यते । ५. ख. नोत्तरोत्तरभाषणम् ।

परुषं वा न वदति विनीतः सोऽभिधीयते ।
हितैषी रक्षणे शक्तो न यानो न च मत्सरी ॥ ३०७ ॥
सर्वकार्येष्वसंमूढः [1]स नाथ इति संज्ञितः ।
सामदानार्थभोगैस्तथा लालनपालनैः ॥ ३०८ ॥
नारीं [2]निषेवते यस्तु स स्वामीत्यभिधीयते ।
नारीप्सितै[3]रभिप्रायैर्निपुणं शयनक्रियाम् ॥ ३०९ ॥
करोति यस्तु संभोगे [4]स जीवितमिति स्मृतः ।
कुलीनो [5]धृतिमान्दक्षो दक्षिणो वाग्विशारदः ॥ ३१० ॥

नारीप्सितैरिति न तु स्वोचितैरिति यावत् । (रतिप्रीतोति) रतौ सत्यां

अनुवाद—जो हितैषी है, जो रक्षा करने में समर्थ है, जो कभी मान नहीं करता है और न मत्सरता करता है, जो किसी काम में संमूढ़ नहीं है वह 'नाथ' कहलाता है ॥ ३०७ ॥

अनुवाद—जो साम दान, अर्थ के संभोग से, लालन, पालन से नारी का सेवन करता है वह 'स्वामी' कहलाता है ॥ ३०८ ॥

अनुवाद—जो पुरुष नारी के हर ईप्सित संभोग को उसके अभिप्रायों के अनुसार निपुणता से शयन क्रिया को करता है, वह 'जीवित' कहलाता है ॥ ३०९ ॥

अनुवाद—जो कुलीन है, धृतिमान् है, दक्ष है, जो बोलने में कुशल है जो सखियों के बीच में श्लाघनीय है वह 'नन्दन' कहलाता है ॥ ३१० ॥

---

१. ख. यः स स्वामीति कीर्तितः ।
२. ख. संभजते स नाथ इति संज्ञितः ।
३. ग. स्थितैः ।
४. ख. जीवितः सोऽभिसंज्ञितः ।
५. ख. नीतिमान् ।

श्लाघनीयः सखीमध्ये नन्दनः [1]सोऽभिधीयते ।
एते वचनविन्यासा रति[2]प्रीतिकराः स्मृताः ॥ ३११ ॥
तथा चाप्रीतिवाक्यानि गदतो मे निबोधत ।
निष्ठुरश्चासहिष्णुश्च मानी धृष्टो विकत्थनः ॥ ३१२ ॥
[3]अनवस्थितचित्तश्च दुःशील इति स स्मृतः[4] ।
ताडनं बन्धनं चापि यो विमृश्य समाचरेत् ॥ ३१३ ॥
तथा परुषवाक्यश्च दुराचारः स तव्यते[5] ।
वाचैव मधुरो यस्तु कर्मणा नोपपादकः[6] ॥ ३१४ ॥

या प्रीतिः परितोषः, रतौ क्रोधोऽपि हि भवति परितोषश्च सुतावावुभयमप्युपात्तम् सहसेत्यप्रसाद्य । अन्येऽपीति उदाहरणमेतदित्यर्थः ।

अनुवाद—ये सब वचन-विन्यास रति और प्रीति को करने वाले कहे गये हैं और जो अप्रीतिकर वाक्य हैं उनको मैं कहता हूँ, आप उन्हें समझें ॥ ३११ ॥

अभिनव—रति में प्रीति होती है, रति में क्रोध भी होता है और परितोष भी होता है और पुत्रादि में दोनों होते हैं ॥ ३११ ॥

अनुवाद—जो निष्ठुर है, असहिष्णु है, मानी, धृष्ट, विकत्थन (आत्मश्लाघी) है, तथा जिसका चित्त अनवस्थित है वह 'दुःशील' कहलाता है ॥ ३१२ ॥

अनुवाद—जो ताड़न और बन्धन को विचार करके करता है और परुष (कठोर) वचन का प्रयोग करता है वह 'दुराचार' कहलाता है ॥ ३१३ ॥

अनुवाद—जो वाणी से केवल मधुर है और जो कर्म से इष्ट का उपपादक नहीं है, योषित (नारियों) के अभिप्रेत किसी प्रयोजन का सम्पादन नहीं करता है वह 'शठ' कहलाता है ॥ ३१४ ॥

---

१. ख. नाम संज्ञितः ।
२. ख. स्मृति ।
३. ख. उत्तरोत्तरमानी ।
४. ग. कथ्यते ।
५. ख. संज्ञितः ।
६. ख. ग. नोपपादयेत् ।

[1]योषितः किञ्चिदप्यर्थं स शठः परिभाष्यते[2] ।
वार्यते यत्र यत्रार्थं [3]तत्तदेव करोति य ॥ ३१५ ॥
[4]विपरीतनिवेशो च स वाम इति संज्ञितः ।
सरसव्रणचिह्नो यः स्त्रीसौभाग्यविकत्थनः ॥ ३१६ ॥
अतिमानी तथा स्तब्धो [5]विकत्थन इति स्मृतः ।
वार्यमाणो दृढतरं यो नारी[6]मुपसर्पति ॥ ३१७ ॥
सविह्नः सापराधश्च स [7]निर्लज्ज इति स्मृतः ।
[8]योऽपराद्धस्तु सहसा नारीं सेवितुमिच्छति ॥ ३१८ ॥
अप्रसादनबुद्धिश्च निष्ठुरः सोऽभिधीयते ।
एते वचनविन्यासाः प्रियाप्रियविभाषिताः[9] ॥ ३१९ ॥

अनुवाद—जो मना करने पर भी उसी कार्य को बार-बार करता है। अथवा विपरीत कार्यों का आग्रह रखता है वह 'वाम' कहलाता है ॥ ३१५ ॥

अनुवाद—जो ताजा दन्तक्षत और नखक्षत के चिह्नों से युक्त होकर अपनी स्त्री के सौभाग्य का प्रशंसक, अतिमानी तथा स्तब्ध रहता है वह 'विकत्थन' कहलाता है ॥ ३१६ ॥

अनुवाद—जो अत्यन्त दृढ़ता के साथ रोके जाने पर भी नारी के पास अपराध और चिह्न होने पर भी चला जाता है वह 'निर्लज्ज' कहलाता है ॥३१७॥

अनुवाद—जो अपराधी सहसा नारी के सेवन (संभोग) की इच्छा करता है और प्रसन्न किये बिना बलात् भोग करता है वह 'निष्ठुर' कहलाता है ॥ ३१८ ॥

अनुवाद—ये वचन-विन्यास प्रिय और अप्रिय के विषय में कह दिया है ॥ ३१९ ॥

---

१. ग. योषितां ख. योषितं ।
२. ख. ग. परिकीर्तितः ।　　३. ख. ग. तं तमेव ।
४. ख. भवेदभिनिवेशी । ग. विपरीतनिषेवी ।
५. ख. ग. स विरूप ।　　६. ख. अभिसर्पति ।
७. ख. ग. विलज्ज इति संज्ञितः ।　　८. ख. ग. सापराधस्तु ।
९. ख. विभूषिता ।

नर्तकीसंश्रिताः[1] कार्या बहवोऽन्येऽपि नाटके ।
एष गीतविधाने तु सुकुमारे विधि[2]र्भवेत् ॥ ३२० ॥
शृङ्गाररससंभूतो[3] रतिसंभोगखेदनः ।
यच्चैवाकाशपुरुषं परस्थवचनाश्रयम् ॥ ३२१ ॥
शृङ्गार [4]एवं वाच्यं स्यात्तत्राप्येष क्रमो[5]भवेत् ।
यद्वा पुरुषसंबन्धं कार्यं भवति नाटके ॥ ३२२ ॥
शृङ्गाररससंयुक्तं तत्राप्येष क्रमो भवेत् ।
एवमन्तःपुरगतः प्रयोज्योऽभिनयो भवेत् ॥ ३२३ ॥

पूर्वोक्तमेवोपसंहरति एष गीतविधान इति शृङ्गारे रसे आकाशपुरुषावौ ।

अनुवाद—नाटक में नर्तकी के आश्रित अन्य बहुत से वचन-विन्यास सुकुमार गीत-विधान विषय में यही विधान है ॥ ३२० ॥

अनुवाद—शृङ्गार रस से सम्भूत, रति रुपी संभोग से खेदजनक, आकाश पुरुष के वचन के परपुरुष के वचन के सहारे होते हैं ३२१ ॥

अनुवाद—शृङ्गार रस में भी पूर्वोक्तविधि से कहना चाहिए वहाँ भी यही विधि है । अथवा नाटक में पुरुष से सम्बन्धित जो कार्य है । वह नायक के सम्बन्ध में होता ॥ ३२२ ॥

अनुवाद—शृङ्गार रस से संयुक्त जो कार्य है उसमें भी यही क्रम है । अन्तःपुरगत अभिनय इसी प्रकार प्रयोज्य है ॥ ३२३ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्रीति अथवा कोप से जब वाच्य वचन हो तो वहाँ भी वही वचन का क्रम रहेगा । पुरुष के प्रत्यक्ष योग है ।

---

१. ख. नानावस्थां समासाद्य विपरीतां समाचरेत् ।
२. ख. मारो विधिः ।
३. ख. शृङ्गाररसवाच्यः स्यात्तत्राप्येष विधिर्भवेत् ।
४. ख. रस । ५. ख. विधिः ।

दिव्याङ्गनानां तु विधिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
नित्यमेवोज्ज्वलो वेषो नित्यं प्रमुदितं मनः ॥ ३२४ ॥
[1]नित्यमेव सुखः कालो [2]देवानां ललिताश्रयः ।
[3]न चेर्ष्या नैव च क्रोधो नासूया न प्रसादनम्[4] ॥ ३२५ ॥
[5]दिव्यानां दृश्यते पुंसां शृङ्गारे योषितां तथा[6] ।
ये भावा मानुषाणां स्युर्यदङ्गं यच्च चेष्टितम् ॥ ३२६ ॥
[7]सर्वं तदेव कर्तव्यं दिव्यैर्मानुषसङ्गमे ।
यदा मानुषसंभोगो [8]दिव्यानां योषिता भवेत् ॥ ३२७ ॥

एवमिति प्रीत्या कोपेन वा, यदा वाच्यवचनं स्यात् तत्राप्येष एव वचन क्रमः । पुरुषसंबन्धमिति प्रत्यक्षपुरुषयुक्तमित्यर्थः । दिव्यवेश्याङ्गनाभिस्तु राज्ञां भवती सम्भोग इति तत्र सामान्याभिनयमाह नित्यमेवेत्यादि ।

अब मैं क्रमशः दिव्याङ्गनाओं की विधि को कहूँगा ।

अनुवाद—नित्य ही देवताओं का वेष उज्जवल होता है, उसका मन नित्य ही प्रसन्न रहता है, देवताओं के ललित क्रियाओं के कारण उसका काल भी नित्य सुखमय होता है, क्योंकि देवताओं में न ईर्ष्या होती है न क्रोध होता है, न असूया होता है और न प्रमाद होता है ॥ ३२४-३२५ ॥

अनुवाद—शृङ्गार के विषय में जो भाव दिव्य पुरुषों के होते हैं वही भाव स्त्रियों के होते हैं, जो मनुष्य में जो आङ्गिक व्यवहार और चेष्टाएँ होती है दिव्य मनुष्यों के सङ्गम में वही सब सम्भोग होता है । दिव्याङ्गनाओं के साथ मनुष्यों

---

१. ग. सुखकालः सदा नित्यं । २. ख. ग. देवीनां ।
३. ग. ईर्ष्या लिप्सा न च क्रोधो । ४. ग. प्रसाधनम ।
५. ख. ग. दृश्यते दिव्यपुंसां हि । ६. ख. ग. प्रति ।
७. तत्सर्वं मानुषी प्राप्य कार्यं दिव्यैरपि द्विजाः ।
८. ख. ग. संयोगो ।

[1]तदा सर्वाः प्रकर्तव्या [2]ये भावा मानुषाश्रयाः ।
[3]शापभ्रंशात्तु दिव्यानां तथा चापत्यलिप्सया[4] ॥ ३२८ ॥
[5]कार्यो मानुषसंयोगः शृङ्गाररससंश्रयः[6] ।
पुष्पैर्भूषणजैः शब्दैरदृश्यापि प्रलोभयेत् ॥ ३२९ ॥
पुनः संदर्शनं दत्त्वा क्षणादन्तरिता[7] भवेत् ।
[8]वस्त्राभरणमाल्याद्यैर्लेखसंप्रेषणैरपि ॥ ३३० ॥
ईदृशैरुपचारैस्तु[9] [10]समुन्माद्यस्तु नायकः
उन्मादनात्समुद्भूतः [11]कामो रतिकरो भवेत् ॥ ३३१ ॥

अत्र श्लोकद्वये यद्यपीत्यध्याहारेण ये भावा इत्यत्र च तथापोत्यध्याहारेण सङ्गतिः कार्या । विप्रलम्भो हि जीवतेऽभिमान इति भावः। समुन्माद्य इत्यत्र हेतुमाह उन्मादनादिति एतच्च विक्रमोर्वश्यां स्फुटमेव दृश्यतां इति शिवम् ।

के सम्भोग होते हैं। मनुष्यों में जो भाव होते हैं वही देवताओं में भी होते है। शाप से पदच्युत होने पर तथा सन्तान की लिप्सा देवताओं के मनुष्य जैसे कार्य होते हैं ॥ ३२६-३२९ ॥

अनुवाद—शृङ्गार रस के सम्बन्ध से देवताओं और मनुष्यों का संयोग कर देना चाहिए। पुष्पों के सुगन्ध तथा भूषणों के झंकार से अदृश्या नायिका को लुब्ध करे फिर दिखाई देकर क्षण भर में छिप जाना चाहिए ॥ ३३० ॥

अनुवाद—वस्त्र, आभूषण, माला तथा लेख का सम्प्रेषण रूपी उपचारों से नायक को उन्मत्त कर देना चाहिए, क्योंकि उन्मत्त करके होने वाला काम रतिकर होता है ॥ ३३१ ॥

---

१. ब. सर्वं एव तदा कार्याः ।
२. ग. भावा मानुषसंश्रयाः । ३. ख. शापाद् भ्रंशस्तु ।
४. ख. ग. अङ्गनानां यदा भवेत् ।
५. ग. मानुषैः सहसंयोगः । ६. ख. तथाचैवोपसर्पणम् ।
७. ख. अदृश्यात्रापि या भवेत् । ८. ख. ग. अन्तर्हिता ।
९. ख. ग. अभ्युपगमैः । १०. ख. ग. समुन्मादस्तु नाटके ।
११. ख. ग. समुत्पन्नः ।

स्वभावोपगतो यस्तु नासावत्यर्थभाविकः[1] ।
एवं राजोपचारे हि कर्तव्योऽभ्यन्तराश्रयः ॥ ३३२ ॥
बाह्यमप्युपचारं तु [2]प्रवक्ष्याम्यथ वैशिके ।

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे सामान्याभिनयो
नामाध्यायो द्वाविंशः[3] ।

सामान्याभिनयः सोऽयं ग्रन्थिस्थानेषु सङ्गतः ।
कृतोऽभिनवगुप्तेन शिवस्मरणशालिना ॥

इति महामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचितायां
नाट्यवेदवृत्तावभिनवभारत्यां
सामान्याभिनयो द्वाविंशः ।

अनुवाद—जो स्वभाव उपगत कार्य है वह अत्यन्त भावनाश्रम नहीं होता । इस प्रकार राजोपचार अन्तःपुर में ही करना चाहिए, बाह्य उपचार वैशिक प्रकरण में कहूँगा ॥ ३३२ ॥

अभिनव—यह सामान्यभिनय ग्रान्थिस्थान में संगत है। शिव के स्मरण-शाली अभिनवगुप्त ने कर दिया ।

इस प्रकार डा० पारसनाथ द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र तथा अभिनवभारती
की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥२२॥

●

---

१. ख. ग. भावकः ।

२. ख. ग. व्याख्यास्याम्यथ ।   ३. ख. चतुर्विंशोऽध्यायः ।

त्रयोविंशोऽध्यायः[1]

वैशिकोपचाराध्यायः

विशेषयेत्कलाः सर्वा यस्मात्तस्मात्तु वैशिकः।
वेशोपचारे[2] साधुर्वा वैशिकः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

अभिनवभारती—त्रयोविंशोऽध्यायः

पुंसामशक्तापि तदेकभावमादर्शयन्ती बहुभावपूर्णा।
वेश्यामतिर्निर्वृतिधाम यस्था तस्मै नमस्तात्परमेश्वराय ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

वैशिकोपचाराध्यायः

वैशिकपुरुषस्वरूप

अनुवाद—जो पुरुष सभी कलाओं को विशेष रूप से वर्णन करता है अतः उसे वैशिक पुरुष कहा जाता है अथवा जो वेशोपचार में कुशल है उसे 'वैशिक' कहा गया है ॥ १ ॥

अभिनव–भारती

हिन्दी–व्याख्या

अभिनव—जो पुरुषों को अपेक्षा अशक्ता भी उसी वाणी में भाव को दिखाती हुई अनेक भावों से पूर्ण वेश्या को मति जिस परमेश्वर में स्थित हुई निर्वाण को धाम हो जाती है उस परात्पद परमेश्वर को नमस्कार है ॥ २३ ॥

---

१. ख. पञ्चविंशः।
२. ग. वेशोपचरणाद्वापि वैशिकः स उदाहृतः। ख. वेशोपचारतो वापि।

यो हि सर्वकलोपेतः सर्वशिल्पविचक्षणः ।
स्त्रीचित्तग्रहणाभिज्ञो [1]वैशिकः स भवेत्पुमान् ॥ २ ॥

सामान्याभिनयशेष एव वैशिक इत्युपसंहृतं वृत्तपूर्वेऽध्याये—बाह्यमप्युपचारं तु प्रवक्ष्याम्यथ वैशिके—इति, वैशिको वक्तव्य इति सङ्गतिः। तदुपक्रममाणो ......माद्येन तावन्निरुक्तमाह—विशेषयेदिति। विशेषणं जानाति, तेनातिकामयतीति च धात्वर्थो लक्षणमिति हि तद्विदो वैशेषिका (वैशिका ?) :। (वैशिकः) वेश्याकामुकः, स च सर्वान् कामान् विशेषयत्यतिवैदग्ध्यात्। अथ व्याकरणोचितमस्य निर्वचनमाह वेश्योपचारे साधुरिति। वेशो वेश्या उपचारस्तत्रभव इत्यर्थः। भवार्थमेव विभजति साधुरित्यनेन। तस्मादसौ कलासु विशेषज्ञ इत्याह यो हि सर्वकलोपेत इति।

अभिनव—सामान्याभिनय शेष हो वैशिक के विषय में पूर्व अध्याय में उपसंहृत है, इस प्रकार बाह्य उपचार को कहूँगा, वैशिके इति, अतः वैशिक वक्तव्य है यह अध्याय की संगति है। उसका उपक्रम करते हुए आचार्य प्रमाण से निर्वचन करते हैं। 'विशेषयेदिति' विशेष रूप से जानता है, तब ज्ञान के अनुसार इच्छा करता है, फिर यत्न करता है। वि उपसर्ग पूर्वक शेष धातु का अर्थ ही जानता है, तब इस जानने के आधार पर कामना करता है, धात्वर्थ ही लक्षण होता है। ऐसा लक्षण शास्त्र के ज्ञाता लोग करते हैं। अतः धात्वर्थ के आधार पर वैशिका अर्थ बाह्य उपचार है, अतः प्रकृत में केवल कामुक नहीं, बल्कि वेश्याकामुक है। वह समस्त कामों को विशेष रूप से करता है, विराधान के पाँच कारणों में एक कारण वेश्या है। व्याकरण के अनुसार निर्वचन करते हो—'वेश्योपचारे साधुः' वेश का अर्थ है वेश्याजन का आश्रय, उससे होने वाली वेश्या है 'तत्र साधुः' के द्वारा 'भवः' अर्थ का विभाग करते हैं ॥ १ ॥

अनुवाद—जो समस्त कलाओं से उपेत (युक्त) है, और समस्त शिल्प कलाओं में विचक्षण है और जो स्त्रियों के चित्त को ग्रहण करने में विचक्षण है वह पुरुष 'वैशिक' पुरुष कहलाता है ॥ २ ॥

अभिनव—यह काम की कलाओं में विशेषज्ञ है, इसलिए कहते हैं कि वह काम की कलाओं से युक्त है ॥ २ ॥

---

१. ख. ग. स्त्रीचित्त ग्राहकश्चैव ।

गुणास्तस्य तु विज्ञेयाः स्वशरीरसमुत्थिताः[1] ।
आहार्याः सहजाश्चैव त्रयस्त्रिंशत्समासतः ॥ ३ ॥
शास्त्रविच्छिल्पसम्पन्नो रूपवान् प्रियदर्शनः ।
विक्रान्तो धृतिमांश्चैव वयोवेषकुलान्वितः[2] ॥ ४ ॥
सुरभिर्मधुरस्त्यागी सहिष्णुरविकत्थनः ।
[3]अशङ्कितः प्रियाभाषी चतुरः शुभदः [4]शुचिः ॥ ५ ॥
कामोपचारकुशलो दक्षिणो देशकालवित् ।
[5]अदीनवाक्यः स्मितवान् वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ॥ ६ ॥
[6]स्त्रीलुब्धः संविभागी च श्रद्दधानो दृढस्मृतिः[7] ।
गम्यासु चाप्यविस्रम्भी मानी चेति [8]हि वैशिकः ॥ ७ ॥

आहार्याः शास्त्रज्ञतादयः । सहजा रूपलावण्यादयः । गम्यासु चाप्यविस्रम्भीति सहसैव नाभियुक्तः, अपि तु स्फुटभावमन्वेष्यति । भवेत् चित्राभिधायीति वक्रोक्तिकुशलः । तस्येति वैशिकस्य । कथिना बृहत्कथाविलम्भ(न)

अनुवाद—उस वैशिक पुरुष के शरीर से उत्पन्न होने वाले शारीरिक, आहार्य और सहज (स्वाभाविक) तैंतीस गुण होते हैं ॥ ३ ॥

अनुवाद—शास्त्रवित्, शिल्प कला में निपुण, रूपवान्, देखने में प्रिय लगने वाला, पराक्रमी, धैर्य सम्पन्न, वय, वेष-भूषा और उच्च कुल का खानदानी, सुगन्धयुक्त, मधुर स्वभाव वाला, त्यागी, सहिष्णु, बढ़चढ़ कर न बोलने वाला, निःशङ्कः, प्रियभाषी, चतुर, शुभद, पवित्र, कामोपचार में कुशल, उदार, देश-काल का ज्ञाता दीनवाक्य न बोलने वाला, हंसमुख, वाग्मी, दक्ष, प्रियम्वद, स्त्री-प्राप्ति का लोभी, हिस्सेदारी में अनिच्छा, श्रद्धालु, दृढ़व्रत, गम्या स्त्री पर विश्वास न करना, मानी होना ये वैशिक पुरुषों के गुण हैं ॥ ४-७ ॥

अभिनव—गम्या स्त्रियों में विश्वास न करने वाला सहसा अभिगमन न करने वाला, स्फुट भावों का अन्वेष्टा होगा ।

---

१. ख ग. समुद्भवाः । २. ख. ग. गुणान्वितः ।
३. ख. ग. आशंकितः । ४. ख. ग. सुभगः ।
५. ग. अदीन । ६. ख. ग. अलुब्धः ।
७. ख. ग. दृढव्रतः । ८. ख. ग. स ।

[1]अनुयुक्तः शुचिर्दक्षो[2] दक्षिणः प्रतिपत्तिमान् ।
भवेच्चित्र[3]श्राभिधायी च [4]वयस्यस्तस्य तद्गुणः ॥ ८ ॥
विज्ञानगुणसम्पन्ना कथिनी[5] लिङ्गिनी तथा ।
[6]प्रातिवेश्या सखी दासी कुमारी कारुशिल्पिनी[7] ॥ ९ ॥
धात्री पाषण्डिनी चैव तथा रङ्गोपजीविनी[8] ।
प्रोत्साहनेऽथ[9]कुशला मधुरकथा दक्षिणाथ[10]कालज्ञा ॥१०॥
लडहा संवृतमन्त्रा दूती त्वेभिर्गुणैः कार्या ।
तयाप्युत्साहनं[11] कार्यं [12]नानादर्शितकारणम् ॥ ११ ॥

कथनाकर्णनकुशला । लिङ्गिनी चित्रकारी । प्रातिवेश्या निकटावसथस्था । पाषण्डिनी व्रतिनी । रङ्गोपजीविनी राजकस्त्री चारणस्त्री । प्रोत्साहने कुशले-त्यादीनि सर्वासां विशेषणानि । उतः सह प्रोत्साहः प्रोत्साहनमिति द्वौ णिचौ । प्रोत्साहयति नायिका तु नायकस्तया प्रोत्साहयति संमुखीकारयतीत्यर्थः ।

अनुवाद—उसके मित्र के छः गुण हैं—(१) अनुरक्त, (२) शुचि, (३) दान्त, (४) दक्षिण उदार, (५) प्रतिपत्तिमान्, (६) चित्राभिधायी, वह वैशिक का मित्र होता है ॥ ८ ॥

अभिनव—चित्राभिधायी अर्थात् वक्रोक्ति कुशल । वैशिक का गुण है ।

अनुवाद—विज्ञान के गुणों से सम्पन्न, कथा कहने वाली स्त्री (कथनी) लिङ्गनी (भिक्षुणि), प्रतिवेश्या (पड़ोसिन), सखी, दासी, कुमारी कारुशिल्पिनी, धात्री, पाखण्डिनी, रङ्गोपजीविनी, प्रोत्साहन देने में कुशल, मीठा बोलने वाली, दक्षिणा, कालज्ञा (समय को पहचानने वाली) लड़हा, मन्त्रणा को गुप्त रखने वाली इन गुणों से युक्त की स्त्री को दूती बनानी चाहिए । वह नाना प्रकार के हेतुओं को दिखाती हुई प्रोत्साहन करे ॥ ९-११ ॥

अभिनव—कथिनी अर्थात् बृहत्कथा आदि के सहारे कहानी कहने और सुनने में कुशल, लिङ्गिनी=चित्रकारी, सन्यासिनी प्रतिवेश्या=पड़ोसिन ॥ ९ ॥

१. ख. ग. अनुरक्तः । २. ख. ग. दान्तः ।
३. ख. ग. छिद्राभिज्ञायी । ४. ख. ग. वयस्यास्तस्य षड्गुणाः ।
५. ख. कथनी । ६. ख. ग. प्रतिवेश्या । ७. ख. ग. दारुशिल्पिका ।
८. ख. ग. दूत्यस्त्वीक्षणिकास्तथा । ९. ख. ग. प्रोत्साहनेषु । १०. ख. ग. च ।
११. ख. ग. प्रोत्साहनं । १२. ख. ग. नानादर्शन ।

यथोक्तकथनं चैव तथा भावप्रदर्शनम् ।
[1]न जडं रूपसम्पन्नं नार्थवन्तं न च चातुरम् ॥ १२ ॥

दूतं[2] वाप्यथवा दूतीं बुधः कुर्यात्कदाचन ।
कुलभोगधनाधिक्यैः कृत्वाऽधिकविकत्थनम्[3] ॥ १३ ॥

तस्या व्यापारान्तरमाह—यथोक्तेति संमुखीकरणं सन्देशार्पणं काम्याय भावपरीक्षणं चेति द्वितयमनया कार्यमित्यर्थः। जडः करणीयं न शक्नोति कर्तुं प्रत्युत्पन्नमतिसाध्यानि कृत्यानीत्याह । रूपेणार्थेन वा युक्तः स्वार्थंतामाहरेत् । आतुरो हि दृश्यमान एव जुगुप्सां जनयति, स च रतेर्निरपेक्ष

अभिनव—पाखण्डिनी=व्रत का छल करने वाली। रङ्गोपजीविनी=रङ्गरेजिन अथवा रजक की स्त्री अथवा चारण स्त्री। प्रोत्साहन में कुशल। ये सबके विशेषण हैं। नायिका नायक को प्रोत्साहन देती है। नायक उससे सम्मुख कराया जाता है ॥ १०-११ ॥

अनुवाद—जैसा कि वक्ता ने कहा है उसी प्रकार भाव को प्रदर्शित करने वाला दूत होना चाहिए, किन्तु जड़, रूपसम्पन्न, अर्थवान् और चतुर दूत अथवा दूती को बुद्धिमान् व्यक्ति कभी भी न रखे ॥ १२ ॥

अभिनव—उसके व्यापारान्तर को कहते हैं—जैसा सन्देश कहा है वैसा ही कह दिया, सम्मुख करने के लिए सन्देश का अर्पणकर दिया और काम्या के भावों का परीक्षण करना—दो कार्य उसके द्वारा किये जाने चाहिए। जड़ वह है जो प्रत्युत्पन्न मति से साध्य कृत्यों को नहीं कर सकता है। रूप और अर्थ से सम्पन्न पुरुष अपने स्वार्थ में अन्धा होकर नायिका का आहरण करे। आतुर व्यक्ति तो दृश्यमान हो जगुप्सा को उत्पन्न करता है, वह रति के विषय में निरपेक्ष रहता है, इसलिए आतुर कामदूत नहीं होता है ॥ १२ ॥

अभिनव—दिखाये हुए नाना कारणों को करके प्रोत्साहन कहा था उन कारणों को कहते हैं—

अनुवाद—कुल के गौरवभोग की धन के आधिक्य के सम्बन्ध में बढ़ा-चढ़ा कर कहती हुई दूती अपने इष्ट अर्थ का निवेदन करे और मिलन के उपायों का अनुवर्णन करे ॥ १३ ॥

---

१. ख. ग. पुस्तकयोः नास्ति । २. ख. ग. वापि हि दूती वा ।
३. ख. ग. आधिक्यं कार्यं चैव विकत्थनम् ।

दूती निवेदये[1]त्कामममर्थाश्चैवानुवर्णयेत्[2] ।
न चाकामप्रवृत्तायाः क्रुद्धाया [3]वापि सङ्गमः ॥ १४ ॥
[4]नानुपायः प्रकतव्यो दूत्या हि पुरुषाश्रयः ।
उत्सवे रात्रिसञ्चार उद्याने [5]मित्रवेश्मनि ॥ १५ ॥
[6]धात्रीगृहेषु सख्या वा तथा चैव निमन्त्रणे ।
व्याधितव्यपदेशेन शून्यागारनिवेशने[7] ॥ १६ ॥
[8]कायः समागमो नृणां स्त्रीभिः प्रथमसङ्गमे ।
एवं समागमं कृत्वा [9][10]सोपायं विधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

इत्यातुरो न कामवृतः । नानार्थाशतकारणं कृत्वा प्रोत्साहनमित्युक्तं तानि कारणान्याह कुलभोगेत्यादि उत्सव इति स्वगृह एव रात्रिचारप्रधानो य उत्सवः । प्रथमसङ्गम इति गान्धर्वविवाहे वेश्यापुनर्भूसङ्गमे चेत्यर्थः ।

अनुवाद—कामना से प्रवृत्त न होने वाली अथवा क्रुद्धा नायिका के साथ सङ्गम न करने वाली दूती पुरुष के विषय में अनुपयोगी उपाय नहीं करना चाहिए ॥ १४ ॥

अनुवाद—पुरुष के साथ स्त्री का प्रथम मिलन उत्सव के समय, रात्रि के सञ्चार में, उद्यान में, मित्र के घर में, धाय के घर में अथवा सखी के द्वारा निमन्त्रण में, रोगी के बहाने से, शून्य एकान्त घर में पुरुषों को स्त्रियों के साथ प्रथम मिलन में समागम करना चाहिए । इस प्रकार उपाय के द्वारा विधिपूर्वक समागम करे ॥ १५-१७ ॥

अभिनव—मित्र के घर में, रात्रि के समय उत्सव प्रथम सङ्गम का अर्थ है । गान्धर्व विवाह में वेश्या अथवा पुनर्भू नायिका के साथ प्रथम समागम में ।

१. ग. निवेदन ।
२. ख. ग. कार्यमर्थानां चैव भाषणम् ।
३ ख. नवकाम ।
४. ख. वा समागमः ।
५. ख. ग. नानोपायैः ।
६. ख. ग. ज्ञाति ।
७. ख. ग. भ्रातृगृहे सखीगेहे ।
८. ख. ग. समाश्रये ।
९. ख. ग. एवं समागमः कार्यो नृणाम् ।
१०. ख. ग. नानोपायविधानकम् ।

[१]अनुरक्तां विरक्तां वा लिङ्गाकारैस्तु लक्षयेत् ।
स्वभावभावातिशयैर्नारी या मदनाश्रया[२] ।।१८।।
करोति निश्भृता[३] लीलां नित्यं[४] सा मदनातुरा ।
[५]सखीमध्ये गुणान् ब्रूते स्वधनं च प्रयच्छति[६] ।।१९।।
[७]पूजयत्यस्य मित्राणि द्वेष्टि शत्रुजनं सदा[८] ।
[९]समागमे सखीनां या हृष्टा भवति चाधिकम् ।।२०।।

(स्वभावेति) स्वभावे भावे सूरते येऽतिशया नखरदनसहिष्णुतादयस्तै-रुपलक्षिता अनुरक्तेति सम्बन्धः । मित्राणि शत्रुजनमिति नायकस्येति शेषः ।

अनुवाद–अनुरक्त है अथवा विरक्त है, इस प्रकार लिङ्गों एवं आकारों से पहचानें । जो नारी काम के वश में है, वह काम से आतुर होकर नित्य एकान्त में लीला करती है, सखियों के बीच बैठकर उसका गुणगान करती है और अपने धन को देती है ।।१८-१९।।

अभिनव–स्वभाव, सुरत में जो अतिशय दन्तक्षत, नखक्षत की सहन-शीलता आदि से उपलक्षित है, वह अनुरक्ता है ।

अनुरक्ता नारी–

अनुवाद–जो प्रिय के मित्रों का सम्मान करती है, प्रियतम के शत्रुओं से द्वेष करती है, सखियों के गमनागमन में अधिक प्रसन्न होती है, प्रिय की कथाओं से अधिक तुष्ट होती है, स्नेह से देखती है, प्रिय के सोने के बाद सोती है और जागने के बाद जागती है, चुम्बन करने पर प्रतिचुम्बन करती है, प्रिय के पहले

---

१. ख. अनुरक्तां विरक्तां वा चिह्नैः समुपलक्षयेत् ।
२. ख. ग. या नारी मदनार्दिता । ३. ख. ग. अनिभृतं ।
४. ख.ग. ज्ञेया ।
५. ख.ग. गुणान् सखीनामाख्याति ।
६. ख. ग. प्रददाति च ।
७. ख. ग. सम्पूजयति ।
८. ख. ग. तथा ।
९. ख. ग. समागमं प्रार्थयते दृष्टा हृष्यति चाधिकम् ।

[१]तुष्यत्यस्य कथाभिस्तु सस्नेहं च निरीक्षते ।
सुप्ते तु पश्चात् [२]स्वपिति चुम्बिता प्रतिचुम्बति ।।२१।।
[३]उत्तिष्ठत्यपि पूर्वं च तथा क्लेशसहापि च ।
उत्सवे मुदिता या च व्यसने या च दुःखिता ।।२२।।
एवंविधैर्गुणैर्युक्ता त्वनुरक्ता तु सा स्मृता[४] ।
विरक्तायास्तु [५]चिह्नानि चुम्बिता नाभिचुम्बति ।।२३।।
अनिष्टां च कथां ब्रूते प्रियमुक्तापि कुप्यति ।
[६]प्रद्वेष्टि चास्य मित्राणि भजतेऽरिजनं तथा ।।२४।।
शेते पराङ्मुखी [७]चापि शयने पूर्वशायिनी ।
सुमहत्युपकारेऽपि[८] न तोषमुपयाति च ।।२५।।

पश्चात्संवेशनं पूर्वमभ्युत्थानं च । तेन विना किमत्र सुखमिति दर्शयति उत्सवे व्यसन इति नायकस्य । अनिष्टां कथां ब्रूते इति पर्वतादपि (पूर्वकृतादिति?) ।

प्रातः उठती है, क्लेशों को सहन करती है, जो उत्सव में प्रसन्न होती है और व्यसन में दुःखित होती है, इस प्रकार के गुणों से युक्त है, वह अनुरक्ता नारी कहलाती है ।।२०-२२।।

विरक्ता नारी–

अनुवाद–विरक्ता नारी के लक्षण हैं–जो चुम्बन करने पर प्रतिचुम्बन नहीं करती, जो अनिष्ट कथा को कहती है, प्रिय बोलने पर भी क्रुद्ध होती है, प्रिय के मित्रों से द्वेष करती है और शत्रुओं की सेवा करती है, मुख फेर कर सोती है

---

१. ख. तुष्यन् यस्य । २. ख. झटिति ।
३. ख. ग. परिक्लेशांश्च सहते चुम्बिता परिचुम्बति ।
४. ख. ग. यानुरक्ता तु सा भवेत् ।
५. ख. ग. लिङ्गानि चुम्बितास्यं प्रमार्जति ।
६. ग. मित्राणि चास्य प्रद्वेष्टि शत्रुपक्षं प्रशंसति (तस्य शत्रुं) ।
७. ख. चैव शय्यायां (स्था) ।
८. ख. ग. चारेऽपि न तुष्यति कथञ्चन ।

क्लेशं न सहते चापि तथा कुप्यत्यकारणात्[१] ।
[२]या स्यादेवंप्रकारा तु विरक्तां तां विनिर्दिशेत् ।।२६।।
[३]हृदयग्रहणोपायमस्या व्यापारचेष्टितम् ।
अर्थप्रदर्शनं चैव [४]उपदानं पुनर्भवेत् ।।२७।।
[५]अकारणमुपन्यासस्तथैव व्याधितापि च ।
[६]व्याजात्त्यागोऽथ निकटाद्भावोपक्षेप एव च ।।२८।।

हृदयं गृह्यते यैरुपायैः अस्य इति रक्ताया व्यापारचेष्टितमिति तदीयहृदय-ग्रहणव्यापारतात्पर्यत्वं कामतन्त्रे चेष्टितम् । अर्थस्य प्रदर्शनमिदं ममास्तीति । उपन्यासः (उपदानं ?) अर्थस्य, दास्यामीति । उपन्यासः अन्यमुखेन काचिदनु-रक्तस्याङ्गनास्तीति कथनम् । (व्याधितेति) विचित्रा आधयो यस्य तस्य भावः । ततो हेतोरसेवनम् । विचित्राभिप्रायदर्शनव्याजेन तन्निकटादपसर्पणमिति

और प्रिय के सोने के पहले सो जाती है, बहुत बड़े उपकार करने पर भी सन्तुष्ट नहीं होती, क्लेश को सहन नहीं करती, अकारण क्रोध करती है, जो इस प्रकार की नारी है, वह 'विरक्ता' कहलाती है ।।२३-२६।।

अनुवाद—नायिका के हृदय ग्रहण करने के उपाय, अनुकूल व्यापार और चेष्टा, अर्थ का प्रदर्शन, धन का उपादान हो सकता है ।।२७।।

अभिनव—जिन उपायों से नायिका का हृदय गृहीत हो जाय, अनुरक्ता की व्यापार-चेष्टा हृदय ग्रहण करने वाले व्यापार का तात्पर्य कामतन्त्र चेष्टित में कहा है, अर्थ का प्रदर्शन इतना धन मेरे पास है, मैं इतना धन तुम्हें दूँगा, इस प्रकार अर्थ का उपादान ॥२७॥

अनुवाद—अकारण उपन्यास, व्याधिता, व्याज से निकटता का त्याग भावों का उपक्षेप है ।।२८।।

---

१. ख. ग. अकारणे ।
२. ख. यस्यामेवं विकारास्तु । ग. प्रकारास्तु ।
३. ख. ग. हृदयग्रहणानि स्युः व्यापारस्य विचेष्टितम् ।
४. ख. ग. तथा सद्भावदर्शनम् ।
५. ख. ग. अर्थोपन्यास एवं स्यादुपन्यासस्तथैव हि ।
६. ख. व्याधितानां परित्यागो भावो पक्षे । एव च न । ग. व्याधितो यः ।

दारिद्र्याद्व्याधितो[१] दुःखात्पारुष्याद् [२]दुःश्रवात्तथा ।
प्रवासगमनादेव[३] ह्यतिलोभादतिक्रमात् ।।२९।।
[४]अतीवाभिगमाच्चापि तथा विप्रियकारणात्[५] ।
एभिः स्त्री पुरुषो वापि कारणैस्तु विरज्यते ।।३०।।
भावग्राहीणि नारीणां कार्याणि मदनाश्रये ।
[६]तुष्टिमेति यथा नारी प्राप्यते पुरुषैरथ ।।३१।।

यावत् (व्याजात्परित्याग इति) । एषोऽन्यत्र रागीत्यन्यमुखेनाभिधानं भावोपक्षेपः ।

रक्ताया अप्येतानि विरागकारणानीत्याह—दारिद्र्यादित्यादिभ्यः, अपत्यमरणादेः अश्राव्यत्वं यद्वचनं पारुष्यं ततो यत एवं तेनास्यापि रागं रक्षेदिति भावग्राहीणीति । प्राप्यत इति सेव्यत इति यावत् ।

अभिनव—उपन्यास अर्थात् यह कोई अनुरक्त पुरुष की अङ्गना है, यह दूसरे के मुख से कहलवाना । विचित्र मनोव्यथाएँ, व्याधिता के कारण उसका सेवन न करना । विचित्र अभिप्राय के बहाने से उसके पास से अपसर्पण करना, यह अन्यत्र अनुरक्त है, ऐसा दूसरे से कहलवाना । भावोपक्षेप है ।

अनुवाद—दरिद्रता के कारण, व्याधि, नाना प्रकार के दुःख से, पारुष्य, दुःश्रव से, परदेश के गमन से, अत्यन्त लोभ से, अतिक्रमण से, अत्यन्त अभिगमन करने से तथा विप्रिय सेवन के कारण स्त्री-पुरुष विरक्त हो जाते हैं ।।२९-३०।।

अभिनव—अनुरक्ता के लिए भी वे विराग के कारण हो सकते हैं, अपत्यमरण आदि के दुःख से अश्रव्य होने से पारुष्य है ।

अनुवाद—कामदेव के आश्रय में नारियों के भावग्रहण करने वाले आचरणों को करना चाहिए । जिस प्रकार वह सन्तुष्ट हो और पुरुष उसको प्राप्त कर सके ।।३१।।

---

१. ग. व्याधितात् ।
२. ख. ग. दश्रुतात् ।
३. ख. गमनान्मानाद् । ग. गमनो ।
४. ख. अतिवेलागमत्वाच्च ।
५. ख. ग. सेवनात् ।
६. ख. या न च प्रीयते । ग. यैर्न कुप्यति सा नारी क्रुद्धा वापि प्रसीदति ।

लुब्धामर्थप्रदानेन कलाज्ञानेन पण्डिताम् ।
चतुरां लडहत्वेन[१] ह्यनुवृत्त्या च मानिनीम् ।।३२।।
[२]भूषणग्रहणाच्चापि शृङ्गारमुखरो [३]भवेत् ।
पुरुषद्वेषिणीमिष्टैः[४] कथायोगैरुपक्रमैः[५] ।।३३।।
[६]उपक्रीडनकैर्बालां [७]भीरुमाश्वासनेन च ।
गर्वितां नीचसेवाभिरुदात्तां शिल्पदर्शनैः ।।३४।।
सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः स्मृता[८] ।
उत्तमा मध्यमा [९]नीचा वेश्यानां तु स्वभावजाः ।।३५।।

पुरुषैरिति कुशलैरिति भावः ।

अभिनव–क्योंकि इस प्रकार उसके राग की रक्षा करे, अत एव कहते हैं कि नायिका के भावों के ग्राही । प्राप्यते का अर्थ है सेव्यते और पुरुष अर्थात् कुशल पुरुष ।

अनुवाद–लोभी स्त्री को धन देकर, पण्डिता नारी को कला ज्ञान करा कर, चतुरा नारी को लड़हत्व (प्रगल्भता) से और मानिनी नायिका को अनुवृत्ति से आभूषणों के ग्रहण से तथा शृङ्गार के विषय में मुखर हो जाय, जो नारी पुरुष से द्वेष करती है, उसको कथाएँ कहकर, अनुकूल उपक्रमों से प्रसन्न करके, बाला नायिका को क्रीड़ा के उपकरणों से, भीरु नारी को आश्वासन के द्वारा, गर्विता को नीच सेवा से, उदात्त नायिका को शिल्पकारिता से प्रसन्न करे ।।३२-३४।।

अभिनव–लुब्धा को धन देकर, पण्डिता को कलाविदों द्वारा अनुकूल करे । नीच सेवा पादस्पर्शन, शिल्पप्रदर्शन से ।

अनुवाद–सभी नारियों की तीन प्रकार की प्रकृति होती है–उत्तमा, मध्यमा और अधमा । किन्तु वेश्याओं की प्रकृति स्वभावों के अनुसार होती है ।।३५।।

---

१. ख. क्रीडनत्वेन । ग. चैव चातुर्यैरनुवृत्त्या तु भामिनीम् ।
२. श्लोकार्द्धोऽयं । पुस्तके नास्ति ।
३. ख. मुखतो ।
४. ख. चेष्टकथाभिः परिसान्त्वयेत् ।
५. ग. उपक्रमेत् ।
६. ग. बालां तामपि क्रीडन् वै भीरुमाश्वासचाटुभिः ।
७. ख. भीतां ।
८. ख. यता ।
९. ख. ग. चैव तृतीया चाधमा स्मृता ।

या विप्रियेऽपि [1]तिष्ठन्तं प्रियं वदति नाप्रियम् ।
[2]न दीर्घरोषा च तथा कलासु च विचक्षणा ।।३६।।
[3]शीलशोभाकुलाधिक्यैः पुरुषैर्या च काम्यते ।
कुशला कामतन्त्रेषु दक्षिणा रूपशालिनी[4] ।।३७।।
गृह्णाति कारणाद्रोषं [5]विगतेर्ष्या ब्रवीति च ।
कार्यकालविशेषज्ञा [6]सुरूपा सा स्मृतोत्तमा ।।३८।।
[7]पुरुषैः काम्यते या तु तथा कामयते च तान् ।
कामोपचारकुशला प्रतिपक्षाभ्यसूयिनी[8] ।।३९।।

अस्याः कथं तुष्टिरित्याह लुब्धामित्यादि । पण्डितामिति कलाविदाम् । लडहत्वेन प्रागल्भ्येन ।

नीचसेवाभिरिति पादस्पर्शनादिभिः । शिल्पदर्शनैरिति विस्मयहेतुभिरित्यर्थः ।

उत्तमा नारी का स्वरूप–

अनुवाद–जो नारी अप्रियकारी को भी प्रिय बोलती हो, अप्रिय नहीं बोलती, दीर्घ समय (लम्बे समय) तक रोष नहीं करती, कला में विचक्षण होती है, शील, शोभा, सम्पन्नता और कुल की अधिकता जिसकी पुरुष कामना करते हैं, कामतन्त्र में कुशल है, दक्षिणा और रूपशालिनी है, कारण होने पर रुष्ट होती है, ईर्ष्यारहित होकर बोलती है, कार्यकालविशेषज्ञ होती है, वह सुभगा उत्तमा नारी कहलाती है ।।३६-३८।।

मध्यमा नारी का स्वरूप–

अनुवाद–मध्यमा नारी वह कहलाती है, जिसकी पुरुष कामना करते हैं और जो पुरुषों की कामना करती है, जो कामोपचारकुशला होती है और शत्रुओं

---

१. ख. ग. निष्टम्भं न वदत्यप्रियं प्रियम् ।
२. ग. न चिरं क्रोधमायाति दोषं प्रच्छादयत्यपि । अदीर्घरोषा च तथा कलाशिल्पविचक्षणा ।।
३. ख. काम्यते पुरुषैर्या तु कुलभोगधनाधिकैः (शोभा) ।
४. ग. धारिणी । ५. गतेर्ष्या प्रब्रवीति । ६. ख. ग. सुभगा ।
७. ख. ग. पुंसः कामयते या तु पुरुषैर्या च काम्यते ।
८. ख. ग. अत्यसूयिका ।

ईर्ष्यातुरा त्वनिभृता [1]क्षीणक्रोधातिगर्विता ।
[2]क्षणप्रसादा या चैव सा नारी मध्यमा स्मृता ।।४०।।
[3]अस्थानकोपना या तु [4]दुष्टशीलातिमानिनी ।
चपला परुषा चैव[5] दीर्घरोषाधमा स्मृता ।।४१।।
सर्वासां नारीणां यौवन[6]भेदाः स्मृतास्तु चत्वारः ।
नेपथ्यरूप[7]चेष्टागुणेन शृङ्गारमासाद्य ।।४२।।

प्रतिपदशक्यो भेदसङ्ग्रह इत्याशयेनाह–
सर्वासामेवेति उत्तममध्यमाधमानां प्रत्येकमिति यावत् ।
(सर्वासामिति) प्रथमं यौवनं यावद्विंशति । एवं त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशदिति विभागः ।

से ईर्ष्या करती है, ईर्ष्या से आतुर रहती है, जो चुपचाप शान्त रहती है, जो क्षणिक क्रोध करती है और जो अतिगर्विता होती है और जो क्षण में प्रसन्न हो जाती है, वह मध्यमा नारी होती है ।।३९-४०।।

अधमा नारी का स्वरूप–

अनुवाद– जो अस्थान में क्रोध करती है और जो दुःशीला एवं अतिशयमानिनी होती है, जो अतिचपला एवं परुषभाषिणी होती है तथा जो दीर्घकाल तक क्रोध करती है, वह 'अधमा' नारी कहलाती है ।।४१।।

अनुवाद–सभी युवती नारियों के शृङ्गार भाव से उत्पन्न यौवन के चार भेद होते हैं–नेपथ्य, रूप, चेष्टा और गुण ।।४२।।

अभिनव–बीस वर्ष तक प्रथम यौवन । इस प्रकार ३० (तीस) वर्ष तक, चालीस वर्ष और पचास वर्ष तक विभाग होता है । अन्य आचार्य तो सोलह, पचीस, पैंतीस और चालीस वर्ष विभाग कहते हैं ।

---

१. ख. क्षणक्रोधाभिगर्विता । ग. क्षणक्रोधा च गर्विता ।
२. ख. ग. क्षणं प्रसाद्यते या च ।
३. ग. अस्थाने कोपमायाति ।
४. ख. ग. दुःशीला चाति ।
५. ग. परुषा प्रतिकूला च ।
६. ग. लाभा भवन्ति । ख. लीलाश्चतस्रः स्युः ।
७. ग. वेषैर्गुणैः । ख. चेष्टागुणैः ।

पीनोरुगण्ड[१]जघनाधरस्तनं कर्कशं रतिमनोज्ञम् ।
[२]श्रृङ्गारसमुत्साहं प्रथमं तद्यौवनं ज्ञेयम् ।।४३।।
गात्रं पूर्णावयवं पीनौ च पयोधरौ नतं मध्यम् ।
कामस्य सारभूतं यौवनमेतद् द्वितीयं तु ।।४४।।
सर्वश्री[३]संयुक्तं रतिकरणोत्पादनं रतिगुणाढ्यम् ।
कामाप्यायितशोभं यौवनमेतत्तृतीयं[४] तु ।।४५।।
नवयौवने व्यतीते तथा द्वितीये तृतीयके वापि ।
श्रृङ्गारशत्रुभूतं यौवनमेतच्चतुर्थं तु ।।४६।।

यौवन की प्रथम अवस्था–

अनुवाद–युवती की पीन जङ्घाएँ, कपोल, जघन, अधर, स्तनद्वय पीन और कठोर, रति के लिए मनोज्ञ, सुख के प्रति सोत्साह ये यौवन की प्रथम अवस्था समझनी चाहिए ।।४३।।

यौवन की द्वितीय अवस्था–

अनुवाद–शरीर के अवयव पूर्ण रूप में होना, पीन पयोधर, नत कमर (झुकी हुई) काम के सारभूत यौवन की द्वितीय अवस्था समझनी चाहिए ।।४४।।

यौवन की तृतीय अवस्था–

अनुवाद–सभी प्रकार की कान्ति से संयुक्त, रतिजनक, उन्मादन, रति के गुणों तथा विशेषताओं से सम्पन्न, काम की अतिशय शोभा से युक्त होना ये यौवन की तृतीय अवस्था है ।।४५।।

यौवन की चतुर्थ अवस्था–

अनुवाद–नव यौवन प्रथम अवस्था, द्वितीय तथा तृतीय यौवन अवस्था के बीत जाने पर यौवन श्रृङ्गार का शत्रुस्वरूप है, वह चतुर्थ यौवन की अवस्था है ।।४६।।

---

१. ग. जघनस्तनाधरं ।
२. ख. ग. सुरतं प्रति सोत्साहं प्रथमं तद्यौवनं विद्यात् (ज्ञेयम्) ।
३. ख. कृशं । ४. ख. ग. सम्पूर्णरतिकरमुन्मादनं बहुगुणाढ्यम् ।

[1]अम्लानगण्डजघनाधरस्तनं[2] [3]किञ्चिदूनलावण्यम् ।
[4]कामं प्रति नोच्छ्वासं यौवनमेतच्चतुर्थं तु ।।४७।।
नात्यर्थं क्लेशसहा न कुप्यति न हृष्यति स्त्रीभ्य:[5] ।
[6]सौख्यगुणेष्ववसक्ता नारी नवयौवना ज्ञेया ।।४८।।
किञ्चित्करोति मानं किञ्चित्क्रोधं च मत्सरं चैव ।
क्रोधे च भवति तूष्णीं यौवनभेदे द्वितीये तु ।।४९।।
रतिसम्भोगे दक्षा प्रतिपक्षासूयिनी[7] रतिगुणाढ्या ।
अनिभृतगर्वितचेष्टा नारी ज्ञेया तृतीये तु ।।५०।।

अन्ये तु षोडशपञ्चविंशतिपञ्चत्रिंशत्पञ्चचत्वारिंशदिति ।

अनुवाद–जिस अवस्था में कपोल, नितम्ब, अधर, जघन, स्तन मलिन होकर लावण्य से किञ्चित् न्यून हो जाता है तथा काम के प्रति उत्साह नहीं रहता है, वह चतुर्थ यौवन कहलाता है ।।४७।।

अनुवाद–जो अत्यन्त क्लेश को सहन करने में असमर्थ हो तथा जो प्रति स्त्री के विषय में न प्रसन्न होती है, न क्रुद्ध होती है, मनुष्य के सौख्य के गुणों में जो आसक्त हो, उस नारी को यौवन की प्रथम अवस्था समझनी चाहिए ।।४८।।

अनुवाद–जो नारी थोड़ा मान करती है, कुछ क्रोध करती है और कभी कुछ ईर्ष्या करती है और क्रोध आने पर चुप रहती है, वह नारी यौवन की द्वितीय अवस्था में होती है ।।४९।।

अनुवाद–जो नारी रति सम्भोग में दक्ष है, जो सौतों से डाह करती है, रति की विशेषताओं से पूर्ण रहती है और खुले रूप से गर्वित चेष्टाएँ करती है, उस नारी को तृतीय अवस्था में समझना चाहिए ।।५०।।

अभिनव–रतिगुणाढ्य अर्थात् कामतन्त्र में बतलाये प्रयोगों में प्रगल्भ ।

---

१. ग. निर्मास ।
२. ख. जघनाधरस्तनशेषगात्रलावण्यम् ।
३. ग. शुष्कलम्बितकपोलम् ।
४. ख. ग. कामे च निरुत्साहं ।
५. ख. ग. प्रति स्त्रीषु ।
६. ख. सौम्यगुणेष्वासक्ता ।
७. ख. प्रतिपन्नासूयिनी ।

[१]चित्तग्रहणसमर्था कामाभिज्ञा [२]त्वमत्सरोपेता ।
[३]अविरहितमिच्छति सदा पुरुषं नारी चतुर्थे तु ।।५१।।
यौवन[४]भेदास्त्वेते विज्ञेया नाटकेषु चत्वारः ।
पुनरेव [५]तु पुरुषाणां च कामतन्त्रे प्रवक्ष्यामि ।।५२।।
चतुरोत्तमस्तु मध्यस्तथा[६] च नीचः प्रवृत्तकश्चैव ।
[७]स्त्रीसम्प्रयोगविषये [८]ज्ञेयाः पुरुषास्त्वमी पञ्च ।।५३।।
[९]समदुःखक्लेशसहः प्रणयक्रोधप्रसादने कुशलः ।
[१०]योऽर्थी नात्मच्छन्दो दक्षश्चतुरः स बोद्धव्यः ।।५४।।

विभागमाहुः ।

अनुवाद–प्रिय के चित्त को ग्रहण करने में समर्थ, काम सम्बन्धी क्रियाओं में अभिज्ञ, मत्सरता से युक्त और जो सदा प्रेमी साथ रखना चाहती है, उस नारी के यौवन को चतुर्थ अवस्था समझनी चाहिए ।।५१।।

अनुवाद–नाटकों में अभिनय के उपयोगी यौवन के चार भेदों को समझना चाहिए, अब कामतन्त्र में वर्णित पुरुषों के प्रकारों को कहूँगा ।।५२।।

अनुवाद–स्त्रियों के सम्प्रयोग के विषय में चतुर, उत्तम, मध्यम, नीच और प्रवृत्तक ये पाँच प्रकार के पुरुष बतलाए गये हैं ।।५३।।

चतुर–

अनुवाद–जो प्रेयसी के दुःख को अपना दुःख और क्लेश को अपना क्लेश समान रूप से सहन करने वाला, प्रणय-कलह में कुपित नायिका के प्रसादन में कुशल, जो अर्थी होता हुआ, अपने प्रयोजन को साधने वाला दक्ष है, उसे 'चतुर' पुरुष समझना चाहिए ।।५४।।

---

१. ख. ग. पुरुषग्रहण ।
२. ख. ग. हि ।
३. ख. ग. अविरहमिच्छति नित्यं नारी ज्ञेया चतुर्थे तु ।
४. ख. ग. लम्भा ह्येते ।
५. ख. ग. च पुरुषगुणान् कामिततन्त्रे ।
६. ख. ग. तथाऽधमः सम्प्रवृत्तकः ।
७. ख. ग. स्त्रीणां प्रयोगविषये ।
८. ख. विज्ञेया पुरुषास्त्विमे ।
९. दुःखक्लेशसहिष्णुः प्रियवदनः ।
१०. ख. ग. रत्युपचारे निपुणो ।

योविप्रियं न कुरुते [1]नार्याः किञ्चिद्विरागसंज्ञातम् ।
[2]अज्ञातेप्सितहृदयः स्मृतिमान् धृतिमान् स तु ज्येष्ठः ।।५५।।
मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य [3]चापि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते चोत्तमः स पुमान्[4] ।।५६।।
सर्वार्थैर्मध्यस्थो भावग्रहणं करोति यो नार्याः[5] ।
किञ्चिद्दोषं दृष्ट्वा विरज्यते मध्यमः स भवेत्[6] ।।५७।।
[7]काले दाता ह्यवमानितोऽपि न क्रोधमतितरामेति ।
दृष्ट्वा व्यलीकमात्रं विरज्यते मध्यमोऽयमपि ।।५८।।

एषूपचारभेदमाह—नात्यर्थमिति क्लेशः दशनादिकृत्यं नातीव सहते । रतिगुणाढ्या कामतन्त्रप्रयोगप्रगल्भेत्यर्थः । अविरहितमिति भावैस्त्रिभिरपि ।

उत्तम–

अनुवाद–जो पुरुष नारी के कुछ भी विप्रिय वेष विराग को जानता हुआ भी कुछ भी नहीं करता, जिसके हृदय का अभीष्ट अज्ञात है, जो स्मृतिमान् और धैर्यवान् है, वह 'ज्येष्ठ' कहलाता है ।।५५।।

अनुवाद–जो मधुर है, त्यागी है, जो राग को नहीं प्राप्त होता, जो कामदेव के वश में रहता है, जो अपमानित होने पर नारी से विरक्त हो जाता है, वह 'उत्तम पुरुष' कहलाता है ।।५६।।

मध्यम–

अनुवाद–जो सभी विषयों में मध्यस्थ रहता है, जो नारी के भाव को समझता है और जो नारी के किसी रोष को देखकर विरक्त हो जाता है, वह 'मध्यम' पुरुष कहलाता है ।।५७।।

अनुवाद–जो समय पर देता है, अवमानित होकर भी अत्यन्त क्रुद्ध नहीं होता, जो थोड़े से व्यलीक (दोष) को देखकर विरक्त हो जाता है, वह भी 'मध्यम' पुरुष कहलाता है ।।५८।।

---

१. ख. ग. धीरोदात्तः प्रियंवदो मानी ।
२. ख. ग. अज्ञातहृदयतत्त्वो ज्ञेयः स्मृतिमान् ।
३. ख. ग. नापि ।
४. ख. ग. स च भवेज्ज्येष्ठः ।
५. ग. नारीणाम् ।
६. ग. मध्यमध्यमोऽयमिति । ख. मध्यमपुरुषः ।
७. अयं श्लोको ग. पुस्तके नास्ति ।

[१]अवमानितोऽपि नार्या [२]निर्लज्जतयाभ्युपैत्यविकृतास्यः ।
[३]अन्यतरं संक्रान्ता स्नेहपरावृत्तभावश्च ।।५९।।
अभिनवकृते व्यलीके प्रत्यक्षं रज्यते दृढतरं यः ।
[४]मित्रैर्निवार्यमाणो विज्ञेयः सोऽधमः पुरुषः[५] ।।६०।।
अविगणितभयामर्षो मूर्खप्रकृतिः प्रसक्तहासश्च[६] ।
[७]एकान्तदृढग्राही निर्लज्जः कामतन्त्रेषु ।।६१।।
रतिकलहसंप्रहारेष्वकर्कशः[८] क्रीडनकः स्त्रीणाम् ।
एवंविधस्तु[९] तज्ज्ञैर्विज्ञेयः सम्प्रवृत्तस्तु ।।६२।।

उपचारार्थं पुरुषभेदो ज्ञेय इत्याशयेनाह—चतुरोत्तमस्त्वित्यादि । पञ्च क्रमेण लक्षयति—समदुःख इति । अज्ञातेप्सितहृदय इति गम्भीर इत्यर्थः । ज्येष्ठ इति यावत् । नन्वन्यदीयं कार्यवशात्स क्रामेदित्याह—स्नेहेति । अन्यदीयेन स्नेहेन प्रेम्णा परावृतः तद्विषयो भावोऽभिप्रियो यस्याः ।

अधम—

अनुवाद—जो नारी से अपमानित होने पर भी निर्लज्ज होकर अविकृत मुख अर्थात् मुखविकार को छिपाकर आता है, जो दूसरे में सङ्क्रान्त अर्थात् अन्य में अनुरक्त होकर स्नेह से परावृत्त हो गया है, जो ताजे अपराध पर प्रेम नहीं करता, जो मित्रों से रोके जाने पर दृढ़तर अनुराग करता है, वह 'अधम' प्रकृति का पुरुष कहलाता है ।।५९-६०।।

अनुवाद—जो कुछ कर देगी या करा देगी, इस प्रकार भय अथवा उसकी परवाह नहीं करता, जो मूर्ख प्रकृति का है, जो हँसी करने में प्रसक्त है, एकान्त में दृढ़ ग्रहण करने वाला और कामतन्त्र में निर्लज्ज है तथा जो रति-कलह में सम्प्रहारों से कर्कश नहीं है, जो स्त्रियों का खिलौना बना रहता है, इस प्रकार के पुरुष को कामतन्त्र के ज्ञाता 'सम्प्रवृद्धक' समझें ।।६१-६२।।

---

१. ग. अपमानितोऽपि ।
२. ग. निर्लज्जः समुपसर्पति तथैव । ख. उपसर्पति य एनाम् ।
३. ख. सङ्क्रान्तान्तरमन्य....।
४. ग. सुहृदापि ।
५. ख. ग. नाम ।
६. प्रकृष्टभावश्च ।
७. ग. एकान्तदृढता ।
८. ख. ग. हारेषु कर्कशः ।
९. ख. विधिज्ञैः विज्ञेयः सम्प्रवृद्धः स्यात् । ग. प्रवृत्तकोऽयमपि ज्ञेयम् ।

नानाशीला:[१] स्त्रियो ज्ञेया गूढार्थहृदयेप्सिता:[२] ।
विज्ञाय तु यथा[३]सत्त्वमुपसर्पेत्तथैव ता:[४] ।।६३।।
भावाभावौ विदित्वाऽथ तत्र[५] तैस्तैरुपक्रमै: ।
पुमानुपचरेन्नारीं कामतन्त्रं समीक्ष्य तु ।।६४।।
साम [६]चोपप्रदानं च भेदो दण्डस्तथैव च ।
उपेक्षा चैव कर्तव्या नारीणां विषयं प्रति ।।६५।।
तवास्मि मम चैवासि[७] दासोऽहं त्वं च मे प्रिया ।
आत्मोपक्षेपणकृतं [८]यत्तत्सामेति कीर्तितम् ।।६६।।

ननु किमनेन स्त्रीणां भावज्ञानेनेत्याह—नानाशीला इति । अर्थनमर्थः अभिप्रायः गूढाभिप्रायं हृदयमासाम् । यथासत्त्वमिति यथाशयम् । भावाभावमिति अनुरागविरागौ नारीणां विषये बन्धनं स्वीकारः, तं प्रतीति तस्मिन् साध्ये

अनुवाद—जिसके गूढार्थ और हृदयेप्सित गूढ़ हैं । इस प्रकार नानाशील वाली नारियों को समझना चाहिए, अतः उसके योग्य भावों को समझ कर उसकी ओर प्रवृत्त होना चाहिए ।।६३।।

अभिनव—इस प्रकार स्त्रियों के भाव के ज्ञान से क्या लाभ है ? इस पर कहते हैं कि स्त्रियाँ नानाशील वाली होती हैं । अर्थन ही अर्थ अभिप्राय है । इनका हृदय गूढ़ अभिप्राय वाला होता है । यथासत्त्व अर्थात् यथाशय ।

अनुवाद—भाव और अभाव अर्थात् राग और विराग को जानकर उन-उन उपक्रमों से कामतन्त्र को समझकर पुरुष नारी का उपचार करे ।।६४।।

अनुवाद—अवसर के अनुसार स्त्रियों के विषय के प्रति कभी साम, प्रदान, भेद, दण्ड और उपेक्षा करनी चाहिए ।।६५।।

अनुवाद—'मैं तुम्हारा हूँ' 'तुम मेरी हो' मैं दास हूँ, तुम मेरी प्रिया हो—इस प्रकार जो अपने आप का उपक्षेपण करता है, वह 'साम' कहलाता है ।।६६।।

---

१. ख. लीला: ।
२. ख. ग. गूढार्थहृदयाश्च ता: ।
३. ग. तत्त्वं ।
४. ग. ततश्च ता: । ख. तु ता: ।
५. ख. ग. तत: ।
६. ख. चैव । ग. योग्य ।
७. ख. ग. चैव त्वं ।
८. ग. तत्सामेति हि संज्ञितम् । ख. तत्सामेत्यभिधीयते ।

काले काले प्रदातव्यं धनं विभवमात्रया ।
[१]यन्निमित्तान्तरकृतं प्रदानं नाम तत्स्मृतम् ।।६७।।
भेदः स्यात्तत्प्रियस्य सोपायं[२] दोषदर्शनम् ।
बन्धनं ताडनं [३]चापि दण्ड इत्यभिधीयते ।।६८।।
मध्यस्थां मानयेत्साम्ना [४]लुब्धां चोपप्रदानतः ।
अन्यावबद्धभावां च भेदेन प्रतिपादयेत् ।।६९।।

सामादय उपेक्षान्ताः पञ्चोपाया इत्यर्थः । तान् क्रमेण व्याचष्टे—तवास्मीत्यादि । आत्मन उपक्षेपो निजभावप्रदर्शनम्, काले दिवसे दातव्यमिति नियमे न सति निमित्तविशेषकृतेन प्रमोदव्यसनादिनिबन्धनेन दानेन वर्तयतीत्यर्थः । तस्या योऽन्यः प्रियस्तस्य दोषास्तया दृश्यन्ते यया तया सत्यत्वेन प्रतीयेरन्निति भेदः, तदाह—सोपायमिति । चतुर्णामुपायानां स्वं स्वं विषयमाह—

अभिनव—उस साध्य के विषय में सामादि उपेक्षा पर्यन्त पाँच उपाय हैं । इनकी क्रम से व्याख्या करते हैं, तुम्हारा हूँ । आत्मोपक्षेप निजी भावों को दिखाना ।

अनुवाद—अपने विभव की मात्रा के अनुसार समय-समय पर कुछ देना चाहिए । उस भावना से विभिन्न निमित्त पर किया गया धन का प्रदान दान कहलाता है ।।६७।।

अभिनव—समय पर दिन में देना चाहिए, इस नियम से निमित्तविशेष के लिए प्रमोद एवं व्यसन आदि के निबन्धन से दान से व्यवहार करता है ।

अनुवाद—किसी भी निमित्त से प्रिय के दोष को देखना यहाँ नाट्य में भेद होता है, बाँधना, पीटना आदि 'दण्ड' कहलाता है ।।६८।।

अभिनव—उस नायिका का जो दूसरा प्रिय है, उसका दोष उस प्रकार दिखाये कि जिससे नायिका उसे सत्य समझे । यह भेद है ।

चार उपायों में अपने विषय को कहते हैं—

अनुवाद—मध्य भाव में स्थित नारी को साम से और लुब्धा नारी को धन देकर प्रसन्न करे और अन्य पुरुष के भाव में बँधी हुई नारी को भेद से प्रतिपादित करे ।।६९।।

---

१. ग. निमित्तान्तरसम्भूतम् । ख. सनिमित्तान्तर ।
२. ग. प्रदानं कोपदर्शनम् ।
३. ख. ग. वाऽपि ।
४. ख. लुब्धामर्थ । ग. लुब्धायां च ।

दुष्टाचारे समारब्धे [१]त्वन्यभावसमुत्थिते ।
दण्डः पातयितव्यस्तु [२]मृदुताडनबन्धनैः ।।७०।।
[३]नायकः पुरुषो वाच्यो नायिकां ताडयेच्च ताम् ।
ताडयेत्तां बुधो नारीं रज्ज्वा वेणुदलेन वा ।।७१।।
सामादीनां प्रयोगे तु परिक्षीणे यथाक्रमम् ।
न स्याद्या च [४]समापन्ना तामुपेक्षेत बुद्धिमान् ।।७२।।

मध्यस्थामिति किञ्चित् स्निह्यन्तीमित्यर्थः । आनयेत् स्वीकुर्यात् । प्रतिपादयेदिति आत्मनि सम्मुखीभावं गमयेत् । दुष्टाचार इति देशात्पलायनं पुरुषान्तरगृह एव वास इत्यादिके । तत्रापि च स्त्रीषु निरपेक्षः स्यादिति मृदुताडनबन्धनैरिति । उपेक्षाया विषयमाह—सामादीनामिति । दण्डेनापि हि तत्साम्मुख्यं त्यजति या तस्याः,

---

अनुवाद—पर पुरुष के प्रति उत्पन्न हुए भावों में जब नारी दुष्ट आचरण करे, तो मृदुताडन और बन्धन रूप दण्ड देवे ।।७०।।

अभिनव—दुष्ट आचरण अर्थात् अपने देश से पलायन, दूसरे के घर में निवास करना आदि । उस समय स्त्रियों में निरपेक्ष हो जाय, अत: हलके से ताडन एवं बन्धनरूपी दण्ड दे ।।७०-७१।।

अनुवाद—नायक पुरुष को कहना चाहिए कि तुम उस नायिका को पीटो । ऐसा सुनने पर बुद्धिमान् नायक रज्जु से तथा बाँस के दण्ड से उस नारी को ताड़ित करे ।।७१।।

अनुवाद—यथाक्रम सामादि के प्रयोग का परीक्षण हो जाने पर नायिका की समापत्ति (प्राप्ति) यदि नहीं होती, तो बुद्धिमान् को उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए ।।७२।।

अभिनव—उपेक्षा के विषय को कहते हैं सामादि । जब दण्ड से भी अनुकूलता को छोड़ देती है, तो बुद्धिमान् उसकी उपेक्षा करे ।।७२।।

---

१. ख. ग. मध्यभावे ।
२. ख. ग. हि ।
३. अयं श्लोक: ख. ग. पुस्तकयो: नास्ति ।
४. ख. भवेदवशमापन्ना । ख. भवेद्वशगा या तु ।

मुखरागेण नेत्राभ्यां विज्ञेयो [१]भावचेष्टितैः ।
द्वेष्यो वापि प्रियो वापि मध्यस्थो वापि योषिताम् ।।७३।।
अर्थहेतोस्तु वेश्यानां प्रियो वा यदि वाप्रियः ।
[२]गम्य एव नरो नित्यं मुक्त्वा दिव्यनृपस्त्रियः ।।७४।।
द्वेष्यं तु प्रियमित्याहुः प्रियं प्रियतरं[३] तथा ।
सुशीलमिति दुश्शीलं गुणाढ्यमिति निर्गुणम्[४] ।।७५।।

किञ्चिदुपेक्षेत बुद्धिमानित्युक्तम् । किं सम्बुध्यत इत्याह–मुखरागेणेत्यादि ।

वेश्याचित्तं तु दुर्लक्षमिति प्रयत्नपरीक्ष्यमित्याशयेनाह–अर्थहेतोस्त्विति । किं सर्वासां वेश्यानामयं विधिः, नेत्याह–मुक्त्वा दिव्यनृपस्त्रिय इति । ननु वचने वेश्याहृदयमुपलक्षेतेत्याह–द्वेष्ये तु प्रिय इत्याहुरिति । तुरप्यर्थे ।

अनुवाद–नायक के मुखराग से, नेत्रों से और भाव-चेष्टाओं से नायिका को समझना चाहिए कि वह द्वेष्य है, वह प्रिय है अथवा मध्यस्थ (उदासीन) है ।।७३।।

अनुवाद–चाहे प्रिय हो अथवा अप्रिय, दिव्याङ्गनाओं या नृत्याङ्गनाओं को छोड़कर वेश्याएँ धन के लिए पुरुषगम्य होती हैं ।।७४।।

अभिनव–वेश्याओं का चित्त लक्षित करना कठिन है, अत: प्रयत्न से परीक्षा करनी चाहिए, इस आशय से कहते हैं कि धन के लिए । सभी वेश्याओं की यह विधि नहीं है, अत: कहते हैं कि दिव्याङ्गनाओं और नृपाङ्गनाओं को छोडकर यह विधि है ।

अनुवाद–वेश्याओं को धन के कारण द्वेष्य भी प्रिय हो जाता है, प्रिय भी तो अधिक प्रिय हो जाता है, दुःशील भी सुशील हो जाता है और निर्गुण भी गुणों से सम्पन्न हो जाता है ।।७५।।

---

१. ख. ग. त्वङ्ग ।
२. ख. गम्यो ही पुरुषो नित्यं ।
३. ख. ग. अप्यप्रियं ।
४. ख. ग. निर्गुणं गुणवानिति ।

[1]प्रहसन्ती च नेत्राभ्यां यं दृष्ट्वोत्फुल्लतारका ।
प्रसन्नमुखरागाच्च लक्ष्यते भावरूपणैः ।।७६।।
[2]भावाभावौ विदित्वैव निरस्तैस्तैरुपक्रमैः ।
यत्नादुपचरेन्नारीं कामतन्त्रं प्रतीक्ष्य तु ।।७७।।
उपचार[3]बलत्वाच्च विप्रलम्भात्तथैव च ।
तासु निष्पद्यते कामः काष्ठादग्निरिवोत्थितः ।।७८।।
योषितामुपचारोऽयं यथोक्तो वैशिकाश्रयः ।
कार्यः प्रकरणे [4]सम्यग्यथायोगं च नाटके ।।७९।।

ननु किमस्वकार्यहृदया एव ताः, नेत्याह–उपचारबलत्वादिति, अर्थकाम-मयादित्यर्थः । माध्ये वा नो सेवया (?) ननु यद्येवंभूताः कथं ताः काम्यन्ते जनैरित्याशङ्क्यावृत्त्येतदेवाह–उपचारबलत्वाच्चेति । यतो हृदयग्रहणोचितमुपचारं निन्दती मध्ये च विप्रलम्भयन्ती तस्मात् काम उत्सुको भवति । कामाभिनिवेशो स इत्युक्तम् । काष्ठादग्निरिति प्रत्युत दुश्चिकित्स इत्यर्थः ।

अनुवाद–नायिका जिसको देखकर नेत्रों से हँसती हुई विकसित ताराओं से खिल उठती है, इस प्रकार मुखराग से एवं भावों के निरूपण से नायिका का प्रसन्न होना लक्षित होता है ।।७६।।

अनुवाद–इस प्रकार भाव और अभाव को जानकर उन-उन चिरन्तन उपक्रमों से कामतन्त्र की प्रतीक्षा करके यत्न से नारी के साथ व्यवहार करे ।।७७।।

अनुवाद–उपचार के बलवान् होने से और इसी प्रकार विप्रलम्भ से स्त्रियों में काम उत्पन्न होता है, जैसे काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है ।।७८।।

अनुवाद–स्त्रियों के विषय का यह उपचार वैशिकों के सम्बन्ध से कहा गया है, यथायोग्य प्रकरण में और नाटक में करना चाहिए ।।७९।।

---

१. ग. अहसन्ती ।
२. ख. पुस्तके आद्यश्लोको नास्ति ।
३. ख. ग. फलत्वाच्च । ४. ग. वापि । ख. चापि ।

एवं [1]वेश्योपचारोऽयं तज्ज्ञैः कार्यो द्विजोत्तमाः ।
अत ऊर्ध्वं[2] प्रवक्ष्यामि प्रकृतीनां तु लक्षणम्[3] ।।८०।।

।। इति भारतीये नाट्यशास्त्रे त्रयोविंशोऽध्यायः[4] ।।

वैशिकपुरुषाधिकारे प्रवृत्तमध्यायं प्रकृते उपयोजयति—योषितमिति । नाटक इति दिव्यवेश्यानां तत्र भावात् पताकानायकादिगतत्वेन चेति शिवम् ।

अध्यायो वैशिकः सोऽयं त्रयोविंशतिपूरणः ।
कृतोऽभिनवगुप्तेन भद्रग्रन्थिपदक्रमः ।।

।। इति श्रीमहामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायां
नाट्यवेदवृत्तावभिनवभारत्यां
वैशिकस्त्रयोविंशोऽध्यायः ।।२३।।

अनुवाद—हे द्विजोत्तमों ! इस प्रकार वेश्याओं के विषय में उपचार के ज्ञाता विद्वान् अभिनय से दिखायें । इसके बाद प्रकृतियों के लक्षण बतलाऊँगा ।।८०।।

अभिनव—इस तेइसवें वैशिक अध्याय की ग्रन्थि को अभिनवगुप्त ने भग्न कर दिया ॥२३॥

॥ इस प्रकार अभिनवगुप्तविरचित नाट्यवेदविवृति अभिनवभारती में
तेइसवाँ वैशिक अध्याय समाप्त हुआ ॥२३॥

।। इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।।२३।।



---

१. ग. विशेषा ।
२. ख. परं ।
३. ख. चित्रस्याभिनयं प्रति ।
४. बाह्योपचारो नाम पञ्चविंशः ।

चतुर्विंशोऽध्याय:*

समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ।
पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा ।।१।।

।। अभिनवभारती—चतुर्विंशोऽध्यायः ।।

त्रिधा विकल्पनं यस्यां पुमान् यत्रोपचर्यते ।
तां वन्दे प्रकृतिं शम्भोः शक्तित्रयविजृम्भणात् ।।

इह कामोपचारः पूर्वं दर्शितः कामश्च स्त्रीपुरुषहेतुक इत्युक्तम् । स्त्रीणां च पुंसां च यद्यपि विचित्राः स्वभावास्तथापि ते प्रतिपदमशक्यकलना इति प्रकृतित्रयेण ते सर्वे शक्यसङ्ग्रहा इति प्रकृतित्रयं वक्तव्यम् । तथा चाह—समासत इति । कामोपचारश्च शृङ्गारपर्यवसायी नायकविशेष एवेति नायकभेदा वक्तव्याः ।

चतुर्विंशोऽध्याय:

हिन्दी—व्याख्या

अनुवाद—स्त्रियों और पुरुषों के उत्तम, मध्यम और अधम भेद से संक्षेप में तीन प्रकार की प्रकृतियों को कहा है ।।१।।

अभिनवभारती

अभिनव—यहाँ काम का उपचार पहले दिखा दिया है और वह काम स्त्री-पुरुष-हेतुक है, ऐसा कह दिया है । यद्यपि स्त्रियों और पुरुषों के स्वभाव विचित्र हैं, तथापि प्रतिपद उसकी गणना अशक्य है । इस प्रकार प्रकृतित्रय के द्वारा

*अस्याध्यायस्य पाठक्रमो बहुधा भिद्यते । गायकवाड-ओरियण्टल-सीरिजमुद्रित-पुस्तकानुसारमेवात्र दीयते । काशीमुद्रितपुस्तकेऽपि अयं चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्याय: ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रकृतीनां च लक्षणम् ।
जायकानां च सर्वेषां चतुर्णामपि तत्त्वत: ।। इत्यधिको मुद्रितपुस्तके पाठ: ।

जितेन्द्रियज्ञानवती　　नानाशिल्पविचक्षणा ।
दक्षिणार्थं महालक्ष्मी [1]भीतानां परिसान्त्वनी ।।२।।
नानाशास्त्रार्थसम्पन्ना गाम्भीर्यौदार्यशालिनी ।
स्थैर्यत्यागगुणोपेता ज्ञेया प्रकृतिरुत्तमा ।।३।।

तस्य च नायकस्यान्तःपुरो बहिर्वा किन्नामधेयः कियान् वा परिवार इति सर्वं कविना ज्ञातव्यं नटेन च । तदेवं प्रकृतनायकपरिवारभेदानभिधाय कोऽयमध्यायोऽस्याभिचारमारभ्यते प्रकृत्यादिभेदोपचारो हि स्त्रीणां नपुंसकस्य (काम) विरहत्वादुपचारः स्नेहव्यवहार इत्यध्यायसङ्गतिः । तत्र प्रकृतिव्यवहारं तावदाह–समासतस्त्विवति । तुर्व्यतिरेके–पूर्वं विस्तरेण स्वभावो दर्शितोऽधुना तु सङ्क्षेपत इति ।

अनुवाद–जितेन्द्रिया, ज्ञानवती, नाना शिल्पों में विचक्षण, उदार, अर्थ (द्रव्य) के सम्बन्ध में महालक्ष्मी, डरपोकों को परिसान्त्वना देने वाली, नाना प्रकार के शास्त्रार्थ से सम्पन्न, गाम्भीर्य एवं औदार्य से युक्त, स्थैर्य एवं त्यागादि गुणों से उपेत प्रकृति को उत्तम श्रेणी का समझना चाहिए ।।२-३।।

अभिनव–जिसमें तीन शक्तियों के विजृम्भण से तीन प्रकार के विकल्प हैं तथा जिसमें पुरुष उपचरित होता है, ऐसी शम्भु की प्रकृति की वन्दना करता हूँ ।

उसका संकलन किया जा सकता है । अतः प्रकृतित्रय को कहना है और इसी को कहते हैं संक्षेप से । इस प्रकार कामोपचार का पर्यवसान शृङ्गार के रूप में नायक विशेष में होता है, अतः नायक-भेद का कथन करना चाहिए । और नायक के भेदों के साथ-साथ कवि और नट को यह भी जानना चाहिए कि अन्तःपुर और बाहर नायक का कितना परिवाद है और क्या नाम है ? इस प्रकार प्रकृत नायक और उसके परिवाद के भेदों को कहकर यह कौन

१.　ख. दीनानां ।

लोकोपचारचतुरा शिल्पशास्त्रविशारदा ।
विज्ञानमाधुर्ययुता मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।।४।।
[1]रुक्षवाचोऽथ दुःशीलाः कुसत्त्वाः स्थूलबुद्धयः[2] ।
क्रोधना घातकाश्चैव मित्रघ्नाश्छिद्रमानिनः[3] ।।५।।
पिशुनास्तूद्धतै[4]र्वाक्यैरकृतज्ञास्तथालसाः ।
मान्यामान्या[5] विशेषज्ञा स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः ।।६।।
सूचकाः पापकर्माणः परद्रव्यापहारिणः ।
एभिर्दोषैस्तु सम्पन्ना भवन्तीहाधमा नराः ।।७।।

(लोकोपचारेति) । लोकोपचारो व्यवहार (स्तस्मिन् च तु) पतत्यवश्यम् । कृतमुपकारं ये विस्मरन्त्यकृतज्ञास्ते । मान्यामान्ययोरविशेषज्ञा इति समासः ।

अध्याय है, जिसका आरम्भ करते हैं । प्रकृति आदि के भेदों का उपचार स्त्रियों के साथ स्नेह व्यवहार । उसमें नपुंसक का व्यवहार कामोपचाररहित होता है, यह अध्यायसङ्गति है । अब प्रकृति के व्यवहार को कहते हैं–संक्षेप से । यहाँ 'तु' का अर्थ व्यतिरेक है । पहले विस्तार से कहा है, अब संक्षेप से कहते हैं ॥१-३॥

अनुवाद–लोकोपचार में चतुरा, शिल्पशास्त्र में विशारद, विज्ञान और माधुर्य से संयुक्त प्रकृति मध्यमा श्रेणी की कही गयी है ।।४।।

अभिनव–लोकोपचार अर्थात् लोकव्यवहार में चतुर ।

अनुवाद–रूखा बोलने वाले, दुष्ट स्वभाव वाले, कुत्सित सत्त्व वाले, स्थूलबुद्धि वाले, क्रोधी, घातक, मित्रद्रोही, छिद्रान्वेषी, चुगलखोर, उद्धत वाक्य बोलने वाले, अकृतज्ञ, आलसी, मान्य और अमान्य की विशेषता को न समझने वाले, स्त्रियों में चञ्चल, कलहप्रिय, सूचक (भेदिया), पापकर्म करने वाले,

---

१. ख. रुक्षाः वचसि ।
२. ख. स्वल्पबुद्धिकाः ।
३. ख. चित्रघातकाः ।
४. ख. उद्धता ।
५. ख. मान ।

एवं [1]तु शीलतो नृणां प्रकृतिस्त्रिविधा स्मृता[2] ।
स्त्रीणां पुनश्च प्रकृतिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।।८।।
मृदुभावा [3]चाचपला स्मित[4]भाषिण्यनिष्ठुरा ।
गुरूणां वचने दक्षा सलज्जा विनयान्विता ।।९।।
रूपाभिजनमाधुर्यैर्गुणैः स्वाभाविकैर्युता[5] ।
गाम्भीर्यधैर्यसम्पन्ना विज्ञेया[6] प्रमदोत्तमा ।।१०।।

पुनश्चेति पूर्वं यद्यप्युक्ता तथापीत्यर्थः । तत्र हि कामोपचाराभिप्रायेण प्रकृतित्रैविध्यं व्याख्यातम् । इह तु सर्वव्यवहारविषयमिति विशेषो दृश्यते । (तत्र तु) विषयभेदादुत्तमादित्वं (सत्त्वसमुद्भवत्वाद् रस्याः स्निग्धा इत्यादय आहाराः सात्त्विकस्य प्रिया इत्युच्यन्ते । तत्र हि सत्त्वमाहारविषयमेव सहधूमाभ्यवहारादिति । कृतकटुकाहारव्रतो मुनिर्न सात्त्विक इति नापि चोरो (?) घृतगुड(प)योऽन्नभोजी सात्त्विक इति ।

दूसरे के धन को चुराने वाले (परद्रव्यापहारी), इन दोषों से सम्पन्न मनुष्य अधम प्रकृति के होते हैं ।।५-७।।

अभिनव–जो उपकार को भूल जाते हैं, वे अकृतज्ञ हैं । मान्यामान्य की विशेषता को न जानने वाला ।।६-७।।

अनुवाद–इस प्रकार शील से मनुष्यों की तीन प्रकार की प्रकृति मानी गयी है । यद्यपि पहले भी प्रकृतियाँ कह दी हैं, तथापि नारियों की प्रकृतियों की क्रमशः फिर व्याख्या करूँगा ।।८।।

अभिनव–यद्यपि पहले कह दिया है, तथापि फिर कहते हैं । वहाँ कामोपचार के अभिप्राय से प्रकृति की विचित्रता का व्याख्यान किया है । यहाँ पर सभी व्यवहारों के विषय को कहते हैं । वहाँ विषय-भेद से उत्तम, मध्यम, अधम भेद होते हैं, सत्त्व गुण के उद्रेक से रस्य और स्निग्ध आहार सात्त्विक को प्रिय होते हैं । कटु आहार करके व्रत करने वाले मुनि सात्त्विक नहीं होते हैं और न घृत, गुड़ एवं पय से मिश्रित अन्न खाने वाले चोर सात्त्विक होते हैं ।।८।।

अनुवाद–मृदु अर्थात् कोमल स्वभावी, अचपला, हँस कर बात करने वाली, अनिष्ठुरा (कठोर न बोलने वाली), गुरुजनों के विषय में लज्जा करने

---

१. ख. च । २. ख. स्त्रियः । ३. ख. त्वचपला ।
४. ख. भाविन्य । ५. ख. स्मृता । ६. सा ज्ञेया ।

नात्युत्कृष्टैर[1]निखिलैरेभिरेवान्विता गुणैः ।
अल्पदोषानुविद्धा च मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।।११।।
अधमा प्रकृतिर्या तु पुरुषाणां प्रकीर्तिता ।
विज्ञेया सैव नारीणामधमानां समासतः ।।१२।।
नपुंसकस्तु विज्ञेयः सङ्कीर्णोऽधम एव च ।
[2]प्रेष्यादिरपि विज्ञेया सङ्कीर्णप्रकृतिर्द्विजाः ।।१३।।

वचने दक्षा सती गुरूणां विषये सलज्जा ।

नात्युत्कृष्टैरतिश्रेष्ठताहीनैः, अनिखिलैः असमग्रैः ।

सङ्कीर्ण इति । कश्चिन्मिश्रप्रकृतिः कश्चिदधमप्रकृतिरेव । प्रेष्यांश्च सङ्कीर्णा इति स्वामिचित्तानुरोधात् । विटोऽप्येवं शकारोऽप्य(नुभूत)-विभवत्वादुत्तममध्यमचेष्टितमाचरति सङ्कीर्णः । परमार्थतस्तु प्रेष्यविटशकारा अधमा एव ।

वाली, बोलने में कुशल, विनय से युक्त, रूप, अभिजन, कुलीनता और मधुरता आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त, गाम्भीर्य एवं धैर्य से सम्पन्न, ऐसी प्रमदाओं को उत्तम समझना चाहिए ।।९-१०।।

अभिनव—वचन में कुशला और गुरुजनों के विषय में लज्जा-पूर्ण ।।९-१०।।

अनुवाद—अत्यन्त उत्कर्ष से रहित, पूर्वोक्त गुणों से समन्वित और अल्प दोषों से अनुविद्ध प्रकृति की नारी मध्यमा मानी जाती है ।।११।।

अभिनव—अत्यन्त उत्कृष्टता से रहित, असमग्र ।।११।।

अनुवाद—पुरुषों की जो अधम प्रकृति बतलायी गयी है, उसी को अधम प्रकृति की नारी समझना चाहिए ।।१२।।

अनुवाद—नपुंसक को सङ्कीर्ण और अधम प्रकृति वाला समझना चाहिए और जो प्रेष्य है, उसको भी सङ्कीर्ण प्रकृति का समझना चाहिए ।।१३।।

अभिनव—सङ्कीर्ण अर्थात् मिश्र (मिली-जुली) प्रकृति वाला और कोई अधम प्रकृति का होता है । प्रेष्य भी स्वामी के चित्त के अनुरोध से सङ्कीर्ण होता है ।।१३।।

---

१. ख. शिथिलैरेभिरेव वृताः । २. ख. चेट्यादि ।

[1]शकारश्च विटश्चैव ये चान्येऽप्येवमादयः ।
सङ्कीर्णास्तेऽपि[2] विज्ञेया ह्यधमा नाटके बुधैः ।।१४।।
एता ज्ञेयाः प्रकृतयः पुरुषस्त्रीनपुंसकैः[3] ।
आसां तु सम्प्रवक्ष्यामि विधानं शीलसंश्रयम् ।।१५।।
[4]अत्र चत्वार एव स्युर्नायकाः परिकीर्तिताः ।
मध्यमोत्तमप्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः ।।१६।।
धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः ।।१७।।

प्रकृतिभेदमभिधाय नायकभेदमाह—अत्र चत्वार इति । सुरतविषये सम्बन्धिग्रहणे । विग्रहं वा सन्धिना दूषयतीति विदूषकः । विप्रलम्भनत्वे (कथा)

अनुबाद—शकार, विट और भी जो इस प्रकार के सङ्कीर्ण लोग हैं, उनको बुध लोग नाटक में अधम प्रकृति वाला समझें ।।१४।।

अभिनव—विट भी इसी प्रकार सङ्कीर्ण विचार वाला होता है और शकार भी विभव का अनुभव करने के कारण उत्तम, मध्यम चेष्टाएँ करता है, अतः सङ्कीर्ण होता है । वस्तुतः विट, शकार एवं प्रेष्य अधम ही होते हैं ॥१४॥

अनुवाद—इन प्रकृतियों को स्त्री, पुरुष और नपुंसक भेद समझें । अब शील के अनुसार इनके विधान को कहूँगा ।।१५।।

अभिनव—अब प्रकृति के भेदों को कहकर नायक के भेदों को कहते हैं—

अनुवाद—यहाँ पर नाना लक्षणों से लक्षित उत्तम और मध्यम प्रकृति के चार प्रकार के नायक कहे गये हैं ।।१६।।

अनुवाद—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त भेद से चार प्रकार के नायक कहे गये हैं ।।१७।।

---

१. ख. विदूषकः शकारश्च । २. ख. नाटके ज्ञेयास्ते तज्ज्ञैः ।
३. ख. नपुंसकाः । ४. ख. तत्र ।

देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः [1]स्युर्धीरललिता नृपाः ।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।।१८।।
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ।
एतेषां तु पुनर्ज्ञेयाश्चत्वारस्तु विदूषकाः ।।१९।।
[2]लिङ्गी द्विजो राजजीवी शिष्यश्चेति यथाक्रमम् ।
देवक्षितिभृतामात्यब्राह्मणानां प्रयोजयेत् ।।२०।।
विप्रलम्भसुहृदोऽमी सङ्कथालापपेशलाः ।
व्यसनी प्राप्य दुःखं वा युज्यतेऽभ्युदयेन[3] यः ।।२१।।

विनोदने (नैः) दूषयन्ति विस्मारयन्ति ।

यथाक्रममिति क्रमिकमौचित्यमत्र यथो-चितं योजना, तद्यथा लिङ्गी ऋषिः देवानाम्, द्विजो वीरः सेनापतेः, राजा जीवी राज्ञः, शिष्यो ब्राह्मणस्य ।

तेषां व्यापारमाह–विप्रलम्भसुहृद इति विदूषकः ।

अनुवाद–देवताओं को धीरोद्धत समझें, राजा लोग धीरललित होते हैं । सेनापति और अमात्य धीरोदात्त कहे गये हैं ।।१८।।

अनुवाद–ब्राह्मण और वणिक् को धीरप्रशान्त समझना चाहिए । इन चार प्रकार के नायकों के चार प्रकार के विदूषक समझने चाहिए ।।१९।।

अभिनव–सुरत के विषय में, सम्बन्धी के ग्रहण में सन्धि के द्वारा विग्रह को जो दूषित कर दे, वह विदूषक है । विप्रलम्भ को नवीन कथाएँ और विनोद के द्वारा दूषित कर देता है ।।१९।।

अनुवाद–देवता, राजा, अमात्य और ब्राह्मणों के विदूषक यथाक्रम लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य को बनाये ।।२०।।

अभिनव–यथाक्रम–क्रमिक औचित्य की यथोचित योजना करनी चाहिए । जैसे–लिङ्गी ऋषि देवताओं का, द्विज वीर सेनापति का, राजोपजीवी राजाओं का और ब्राह्मण का शिष्य विदूषक होता है ।।२०।।

अनुवाद–विप्रलम्भ में ये सुहृद् होते हैं, क्योंकि ये संकथा कहने और वार्त्तालाप में कुशल होते हैं, जो व्यसन को प्राप्त कर अथवा दुःख भोग कर

---

१. ख. ललितास्तु नृपाः स्मृताः । २. ख. लिङ्गानि ते वरजवा ।
३. ख. भूमिपेन सा ।

तथा पुरुष[1]माहुस्तं प्रधानं नायकं बुधाः ।
[2]यत्रानेकस्य भवतो व्यसनाभ्युदयौ पुनः ।।२२।।
सपुष्टौ यत्र तौ स्यातां न भवेत्तत्र नायकः ।
(दिव्या च नृपपत्नी च कुलस्त्री गणिका तथा) ।।२३।।
एतास्तु नायिका ज्ञेया नानाप्रकृतिलक्षणाः ।
धीरा च ललिता च स्यादुदात्ता निभृता तथा ।।२४।।
[3]दिव्या राजाङ्गनाश्चैव गुणैर्युक्ता भवन्ति हि ।
उदात्ता निस्सृता चैव भवेत्तु कुलजाङ्गना ।।२५।।

नन्वेकपुरुषसम्भव इतिवृत्ते नो नायक इत्याह—व्यसनीति । प्राप्य दुःखं चेति । पूर्वमेव न व्यसनपतितो व्यसनी वा अयमपि तु सुखी भूत्वा दुःखं प्राप्तः ।

नन्वेतल्लक्षणमात्रेतिवृत्तेऽनेकस्यापि रामचरित इव सुग्रीवविभीषणयोरपीत्याह यत्रानेकस्येति । एवं नायकभेदं निरूप्य नायिकाभेदमाह—दिव्या चेति ।

अभ्युदय को प्राप्त करता है, विद्वान् लोग उस पुरुष को प्रधान कहते हैं, जहाँ अनेक पुरुष होते हैं, वहाँ व्यसन और अभ्युदय बार-बार होते हैं ।।२१-२२।।

अभिनव—विप्रलम्भ में ये सुहृद् होते हैं । जो इतिवृत्त एक पुरुष में सम्भव है, उस इतिवृत्त में कौन नायक है ? इसे कहते हैं—व्यसनी । दुःख को प्राप्त करके । पहले से ही व्यसन में पतित नहीं हुआ, किन्तु व्यसनी हो गया है, यह भी सुखी होकर दुःखी हो गया है ॥२२॥

अनुवाद—जिसमें ये दोनों सपुष्ट होते हैं, वह नायक नहीं होता है, दिव्या, नृपपत्नी, कुलाङ्गना एवं गणिका । इनकी नाना स्वभाव वाली धीरा, ललिता, उदात्ता एवं निभृता नाम वाली नायिका समझें ।।२३-२४।।

अभिनव—जहाँ केवल ऐसा लक्षण होता है, वहाँ अनेक होते हैं । जैसे रामचरित में सुग्रीव और विभीषण । इस प्रकार नायक के भेद का निरूपण करके नायिका के भेद का निरूपण करते हैं ।

अनुवाद—इसमें धीरा और ललिता क्रमशः दिव्या और राजाङ्गना होती हैं । उदात्ता और निभृता क्रमशः कुलाङ्गना और गणिका होती हैं ।।२५।।

---

१. ख. बाहुल्यप्रधानो नायकः स्मृतः । २. ख. तत्र ।
३. ख. दिव्यात्तं जायस्तैस्तैः ।

ललिते चाभ्युदात्ते च गणिकाशिल्पकारिके ।
(प्रकृतीनां तु सर्वासामुपचाराद् द्विधा स्मृताः) ।।२६।।
बाह्यश्चाभ्यन्तरश्चैव तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ।
तत्र राजोपचारो यो भवेदाभ्यन्तरो हि सः ।।२७।।
ततो [१]वाक्योपचारस्तु यस्य बाह्यः स उच्यते ।
(अथ राजोपचारे च राज्ञामन्तःपुराश्रितम्) ।।२८।।
स्त्रीविभागं प्रवक्ष्यामि विभक्तमुपचारतः ।
राजोपचारं वक्ष्यामि ह्यन्तःपुरसमाश्रयम् ।।२९।।
महादेवी तथा देव्यः स्वामिन्यः स्थापिता अपि ।
भोगिन्यः शिल्पकारिण्यो नाटकीयाः सनर्तकाः ।।३०।।
अनुचारिकाश्च विज्ञेयास्तथा च परिचारिकाः ।
तथा सञ्चारिकाश्चैव तथा प्रेषणकारिकाः ।।३१।।

अथ परिवारभेदमाह—राजोपचारमित्यादि । महादेवीप्रभृत्यायुक्तिकान्तः सप्तदशकः स्त्रीगणः, नपुंसकादिवर्गोऽष्टादश । अत एव वक्ष्यति—

अनुवाद—ललिता, उदात्ता, गणिका और धीरा के सम्बन्ध में अन्तःपुर के अनुसार राजोपचार को कहूँगा ।।२६।।

अनुवाद—सभी प्रकृतियों के उपचार के दो भेद होते हैं—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर । इनके लक्षण को कहूँगा ।।२७।।

अनुवाद—इनमें जो राजा का उपचार होता है, वह आभ्यन्तर होता है और उससे भिन्न उपचार बाह्य होता है ।।२८।।

अनुवाद—अब इसके बाद राजोपचार और भिन्नोपचार से होने वाले स्त्रियों के विभाग को राजाओं के अन्तःपुर के अनुसार कहूँगा ।।२९।।

अनुवाद—महादेवी तथा अन्य देवियों, स्वामिनी, स्थापिता, भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, नर्त्तकियों के साथ नर्तकों, अनुपचारिका, परिचारिका, संचारिका, प्रेषणकारिका (सन्देशवाहिनी), महत्तरी, प्रतीहारी, कुमारियाँ, बुढ़िया

---

१. ख. बाह्य ।

महत्तर्यः प्रतीहार्यः कुमार्यः स्थविरा अपि ।
आयुक्तिकाश्च नृपतेरयमन्तःपुरो जनः ।।३२।।
[१]अत्र मूर्धाभिषिक्ता या कुलशीलसमन्विता ।
गुणैर्युक्ता वयस्स्था च मध्यस्था क्रोधना तथा ।।३३।।
मुक्तेर्ष्या नृपशीलज्ञा सुखदुःखसहा समा[२] ।
शान्तिस्वस्त्ययनैर्भर्त्तुस्सततं मङ्गलैषिणी ।।३४।।
शान्ता पतिव्रता धीरा अन्तःपुरहिते रता ।
एभिर्गुणैस्तु संयुक्ता महादेवीत्युदाहृता ।।३५।।

एतदष्टादशविधं प्रोक्तमन्तःपुरमिति, तद्विषयः परिवार इत्यर्थः । महादेवीत्येकत्वं विवक्षितम् ।

महादेवीनां क्रमेण लक्षणान्याह—अत्र मूर्धाभिषिक्तेत्यादि । सर्वेषां मूर्धनि प्रधानस्थानेत्यभिषिक्ता । वयसि मध्यमे तिष्ठतीति मध्यस्था । (अन्तःपुरेति) अन्तःपुरिके बाह्ये च वर्गे अन्तःपुराय हितं कौशल्यसम्पादनम् ।

और आयुक्तिकाएँ—ये राजा के अन्तःपुर के लोग हैं ।।३०-३२।।

अभिनव—महादेवी से लेकर आयुक्तिका पर्यन्त सोलह नारियों का गण है और नपुंसकादि वर्ग अठारह हैं। अत: कहते हैं कि अठारह प्रकार का अन्त:पुर कहा गया है । यह सब अन्त:पुर का परिवार है । महादेवी एकवचन विवक्षित है ॥३०-३२॥

महादेवी प्रभृति नारियों के क्रमश: लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यहाँ नाट्यशास्त्र में जो युवती मूर्धाभिषिक्ता, कुलीन एवं शील से समन्वित, गुणों से युक्त, वयस्थ, मध्यस्थ, क्रोध न करने वाली, ईर्ष्या एवं द्वेष से विनिर्मुक्त, राजा के शील को समझने वाली, सुख-दुःख को समान रूप से सहन करने वाली, शान्ति और स्वस्त्ययनों से नित्य पति के मङ्गल को चाहने वाली, शान्ता, पतिव्रता, धीरा और अन्तःपुर के हित में रत, इन गुणों से युक्त स्त्रियाँ महादेवी कही गई हैं ।।३३-३५।।

अभिनव—सबके मस्तक में जिसका प्रधान स्थान होता है, वह अभिषिक्ता होती है, जो मध्यम अवस्था में रहती है, वह 'मध्यस्था' होती है । अन्त:पुरिका और बाह्य वर्ग में कुशलता का सम्पादन ।

---

१. ख. तत्र । २. ख. समम् ।

एभिरेव गुणैर्युक्तास्तत्संस्कारविवर्जिताः ।
गर्विताश्चातिसौभाग्याः पतिसम्भोगतत्पराः ।।३६।।
शुचिनित्योज्ज्वलाकाराः पतिपक्षाभ्यसूयकाः ।
वयोरूपगुणाढ्या यास्ता देव्य इति भाषिताः ।।३७।।
सेनापतेरमात्यानां भृत्यानामथवा पुनः ।
भवेयुस्तनया यास्तु प्रतिसम्मानवर्जिताः ।।३८।।
शीलरूपगुणैर्यास्तु सम्पन्ना नृपतेर्हिताः[१] ।
स्वगुणैर्लब्धसम्मानाः[२] स्वामिन्य इति ताः स्मृताः ।।३९।।

देव्य इति ।

महादेवी तु शृङ्गारोचिता नातीव भवती साभिमुख्यमभि-प्रयातीत्याशयेन वासवदत्तादिषु कवयो देवीं वाचोयुक्त्या व्यवहरन्ति ।
(स्वगुणैरिति समानं) लम्भिता गुणैर्योजिता (कलाशीलव)योभिः ।

अनुवाद–इन गुणों से युक्त जो महादेवी के संस्कारों से रहित है, अत्यन्त सौभाग्य से गर्विता, पति के सम्भोग में तत्पर, शुचि, नित्य उज्ज्वल आकार को रखने वाली, प्रतिपक्ष से असूया (ईर्ष्या) रखने वाली (सौतिया डाह वाली) तथा वय के अनुरूप गुणों से आढ्य जो नारियाँ हैं, वे 'देवियाँ' कही जाती हैं ।।३६-३७।।

अभिनव–महादेवी शृङ्गार में अत्यन्त डूबी हुई नहीं होती । वह तो नायकाभिमुख अभिप्राय रखती है, अतः कवि वासवदत्ता आदि में देवी शब्द का व्यवहार करते हैं ।।३६-३७।।

अनुवाद–जो नारियाँ सेनापति, अमात्य और भृत्य लोगों की पुत्रियाँ होती हैं, वह प्रतिसम्मान से रहिता, शील, रूप एवं गुणों से सम्पन्न, राजाओं के हित में तत्पर, अपने गुणों के बल पर सम्मान को प्राप्त हैं, वे 'स्वामिनी' कही गई हैं ।।३८-३९।।

अभिनव– स्वगुणैः अर्थात् सम्मान को प्राप्त, गुणों से युक्त, कला, शील और वय से युक्त हैं ।।३९।।

---

१. ख. नृपवल्लभाः । २. ख. माहात्म्या ।

रूपयौवनशालिन्यः कर्कशा विभ्रमान्विताः ।
[1]रतिसम्भोगकुशलाः प्रतिपक्षाभ्यसूयिकाः ।।४०।।
दक्षा भर्तुश्च चित्तज्ञा [2]गन्धमाल्योज्ज्वलास्सदा ।
नृपतेश्छन्दवर्तिन्यो न हीर्ष्यामानगर्विताः ।।४१।।
उत्थिताश्च प्रमत्ताश्च त्यक्तालस्या न निष्ठुराः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञाः स्थापिता इति ताः स्मृताः ।।४२।।
कुलशीललब्धपूजामृदवो नातिचोद्भटाः ।
मध्यस्था निभृताः क्षान्ता भोगिन्य इति ताः स्मृताः ।।४३।।
नानाकलाविशेषज्ञा नानाशिल्पविचक्षणाः ।
गन्धपुष्पविभागज्ञा लेख्यालेख्यविकल्पिकाः ।।४४।।

कर्कशा सौभाग्यगर्वेण !

अनुवाद–जो नायिकाएँ रूप, यौवन, सौन्दर्यशालिनी होती हैं, कर्कशा, विभ्रम की आशङ्का से युक्त तथा रति सम्भोग में कुशला, सौतियाडाह रखने वाली चतुरा होती हैं, वह 'रखैलिन' नारी कहलाती हैं ।।४०।।

अभिनव–सौभाग्य के गर्व से कठोर हैं ।

अनुवाद–दक्ष (चतुरा), भर्त्ता के चित्त को समझने वाली, सुगन्धित मालाओं से सदा उज्ज्वल रहने वाली, राजाओं के स्वभाव का अनुवर्त्तन करने वाली, ईर्ष्या, मान और गर्व से रहित, सावधान, प्रमाद करती हुई, आलस्य-शून्य और निष्ठुर न रहने वाली, यह सम्मान के योग्य है, यह सम्मान के योग्य नहीं है, इस अवस्था को 'स्थापिता' कहते हैं ।।४१-४२।।

अनुवाद–कुल, शील के कारण सम्मान (पूजा) को प्राप्त करने वाली और कोमल स्वभाव वाली और अनुद्भट अर्थात् उद्भटहीन, मध्य अवस्था की, निभृत और क्षान्त अर्थात् क्षमा से सम्पन्न नारी 'भोगिनी' कहलाती है ।।४३।।

अनुवाद–नाना कलाओं की विशेषज्ञा, नाना प्रकार की शिल्पकला में विचक्षण, गन्ध एवं फूलों के विभाग की जानकार, लेख्य एवं अलेख्य के विकल्प

---

१. ख. अति । २. ख. लेख्यालेख्यविचक्षणाः ।

शयनासन[1]भागज्ञाश्चतुरा मधुरास्तथा ।
दक्षाः सौम्याः स्फुटाः श्लिष्टा निभृताः [2]शिल्पकारिकाः ।।४५।।
ग्रहमोक्षलयज्ञा या रसभावविकल्पिकाः ।
चतुरा नाट्यकुशलाश्चोहापोहविचक्षणाः ।।४६।।
रूपयौवनसम्पन्ना नाटकीयास्तु[3] ताः स्मृताः ।
हेलाभावविशेषाढ्याः[4] सत्त्वेनाभिनयेन च ।।४७।।
माधुर्येण च सम्पन्ना ह्यातोद्यकुशलास्तथा ।
अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्नाश्चतुष्षष्टिकलान्विताः ।।४८।।
चतुराः प्रश्रयोपेताः स्त्रीदोषैश्च विवर्जिताः ।
सदा प्रगल्भाश्च तथा त्यक्तालस्या जितश्रमाः ।।४९।।
नानाशिल्पप्रयोगज्ञा नृत्तगीतविचक्षणाः ।
[5]अथ रूपगुणौदार्यधैर्यसौभाग्य[6]शीलसम्पन्नाः ।।५०।।

का भेद करने वाली, शयन और आसन के भाग को जानने वाली, चतुरा और मधुरा, दक्ष (कुशला), सौम्य स्वभाव वाली, स्फुटा, श्लिष्टा, निभृता (चुप रहने वाली), शिल्पकारिका, ग्रह और मोक्ष के लय को जानने वाली, रस और भाव के विकल्प का भेद करने वाली, चतुरा, नाट्य में कुशला, ऊह और अपोह करने में विचक्षणा, विज्ञा, रूप और यौवन की सम्पत्ति से युक्ता जो होती है, वह नाटकीया कही जाती है ।।४४-४७।।

अनुवाद–हेला एवं भाव की विशेषता से सम्पन्न, सात्त्विक अभिनय के माधुर्य से सम्पन्न, वाद्यकला में कुशल, अङ्ग, उपाङ्ग एवं प्रत्यङ्ग से सम्पन्न ६४ कलाओं से समन्वित, चतुर, प्रश्रय से उपेत, स्त्रियों के दोष से वर्जित सदा प्रगल्भ रहने वाली, आलस्यरहित, जितश्रमा, नाना प्रकार के शिल्पों के प्रयोग की जानकार, नृत्य-गीत में विचक्षण, रूप, गुण, औदार्य, धैर्य, सौभाग्य तथा शील से सम्पन्न, प्रशल, मधुर, स्निग्ध एवं अनुनयादि कला से विचित्र कण्ठ स्वर वाली,

---

१. ख. भोग ।
२. ख. स्वरताललयज्ञाश्च तथाचार्योपसेविताः ।
३. ख. च नर्तकी ।
४. ख. विशेषज्ञाः ।
५. ख. अर्ध ।
६. ख. वीर्य ।

पेशलमधुरस्निग्धानुनादिकलचित्रकण्ठा च[१] ।
समागतासु नारीषु रूपयौवनकान्तिभिः ।।५१।।
न दृश्यते गुणैस्तुल्या यस्याः सा नर्तकी स्मृता ।
सर्वावस्थोपचारेषु या न मुञ्चति पार्थिवम् ।।५२।।
विज्ञेया दक्षिणा दक्षा नाट्यज्ञैरनुचारिका[२] ।
शय्यापाली छत्रधारी तथा व्यजनधारिणी ।।५३।।
संवाहिका गन्धयोक्त्री तथा चैव प्रसाधिका ।
तथाभरणयोक्त्री च माल्यसंयोजिका तथा ।।५४।।
एवंविधा भवेयुर्यास्ता ज्ञेयाः परिचारिकाः ।
नानाकक्ष्या विचारिण्यः तथोपवनसञ्चराः ।।५५।।
देवतायतनक्रीडा प्रासादपरिचारिकाः ।
यामकिन्यस्तथा चैव याश्चैवं लक्षणाः स्त्रियः ।।५६।।
सञ्चारिकास्तु विज्ञेया नाट्यज्ञैः समुदाहृताः[३] ।
[४]प्रेषणेऽकामसंयुक्ते गृह्यगुह्यसमुत्थिते ।।५७।।

अथेत्यपि चेत्यर्थः । यामकिन्यः प्रतिदहरं जाग्रति याः ।

राजा के अन्तःपुर में समागत, नारियों के रूप, यौवन और कान्ति आदि गुणों से युक्त नारी नहीं दिखाई देती, वह नारी नर्तकी कही जाती है ।।४८-५२।।

अनुवाद–जो सभी अवस्था के उपचारों में राजा को नहीं छोड़ती है । नाट्यवेत्ता लोग उसे अनुचारिका, सरला एवं उदारा समझते हैं ।।५३।।

अनुवाद–शय्या की रक्षा करने वाली, छत्र, चँवर एवं व्यजन को धारण करने वाली, नाना प्रकार की वस्तुओं को पहुँचाने वाली (संवाहिका), सुगन्ध के सौरभ की योजना करने वाली, प्रसाधिका, आभरण की मालाओं को युक्त करने वाली, इस प्रकार की जो नारी है, वह परिचारिका है ।।५४-५५।।

अनुवाद–राजाओं के महल में अनेक कक्षों में विचरण करने वाली तथा उपवन में विहार करने वाली, देवताओं के साथ क्रीड़ा करने वाली, प्रासाद की परिचारिका, प्रहर को समझने वाली, जो नारी इस प्रकार के लक्षणों से युक्त है, उसे सञ्चारिका समझना चाहिए, ऐसा नाट्यवेत्ताओं ने कहा है ।।५६-५७।।

---

१. ख. चित्रकर्मकुशला च । २. ख. शय्यापाली तथाच्युता । रसव्यजनधारिणी संवाहिनी गन्धयोक्त्री तथा ।
३. ख. भोगवारिताः । ४. ख. प्रेक्षणैः कामसंयुक्तैः युक्ता गुह्यसमुत्थितैः ।

[1]नृपैर्यास्तु नियुज्यन्ते ता ज्ञेयाः परिचारिकाः ।
सर्वान्तःपुररक्षासु स्तुतिस्वस्त्ययनेन च ।।५८।।
या वृद्धिमभिनन्दन्ति ता विज्ञेया महत्तराः[2] ।
सन्धिविग्रहसम्बद्धनानाचार[3]समुत्थितम् ।।५९।।
निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतिहार्यस्तु ताः स्मृताः ।
अप्राप्तरससम्भोगा न सम्भ्रान्ता न चोद्धटाः ।।६०।।
निभृताश्च सलज्जाश्च कुमार्यो बालिकाः स्मृताः ।
पूर्व[4]राजनयज्ञा याः पूर्वराजा[5]भिपूजिताः ।।६१।।

अथेत्यपि चेत्यर्थः । यामकिन्यः प्रतिदहरं जाग्रति याः ।

अनुवाद–कामवासना के संयोग से रहित, गुह्य और अगुह्य सन्देशों को भेजने में राजा जिनका नियोग करते हैं, उन्हें परिचारिका समझना चाहिए ।।५८।।

अनुवाद–समस्त अन्तःपुर की रक्षा में देवस्तुति और स्वस्त्ययन-वाचन से जो राजा की वृद्धि का अभिनन्दन करती है, उसे महत्तरि समझना चाहिए ।।५९।।

अनुवाद–सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संशय और द्वैधीभाव आदि उपायों एवं नाना प्रकार के आचारों से समुत्थित कार्य को जो नारियाँ राजा के लिए निवेदन करती हैं, उन्हें 'प्रतीहारी' कहते हैं ।।६०।।

अनुवाद–जिनसे रस सम्भोग को नहीं प्राप्त करते, जो सम्भ्रान्त नहीं हैं और उद्धट नहीं हैं तथा जो एकान्त में चुप रहने वाली और लज्जावती हैं, इन बालिकाओं को कुमारी कहा जाता है ।।६१।।

---

१. ख. प्रेक्षणीया नृपैर्यास्तु ।
२. ख. महत्तर्यस्तु ताः स्मृताः ।
३. ख. रङ्ग ।
४. ख. राज्ञा सर्वराजतु ।
५. ख. सर्वानुचरितज्ञाश्च ता वृद्धा इति संज्ञिताः ।

[1]पूर्वराजानुचरितास्ता वृद्धा इति संज्ञिताः[2] ।
भाण्डागारेष्वधिकृता[3]श्चायुधाधिकृतास्तथा ।।६२।।
फलमूलौषधीनां च तथा चैवान्ववेक्षिकी[4] ।
गन्धाभरणवस्त्राणां माल्यानां चैव चिन्तिका ।।६३।।
बह्वाश्रये तथा युक्ता ज्ञेया ह्यायुक्तिकास्तु ताः[5] ।
इत्यन्तःपुरचारिण्यः स्त्रियः प्रोक्ताः समासतः ।।६४।।
विशेषणविशेषेण तासां वक्ष्यामि वै द्विजाः ।
अनुरक्ताश्च भक्ताश्च नानापार्श्वसमुत्थिताः ।।६५।।

विशेषणमिति विशेषमन्याभ्यः, आयुक्तिकानां वक्ष्यामीत्यर्थः ।

अनुवाद–वर्तमान राजा के पूर्व राजाओं की नीति को जानने वाली तथा पूर्व राजाओं से अभिपूजित एवं पूर्व राजाओं का अनुसरण करने वाली स्त्रियाँ वृद्धा कहलाती हैं ।।६२।।

अनुवाद–जो भाण्डागारों में अधिकृत है तथा जो आयुधों के स्थानों पर अधिकृत है और जो फलमूल औषधि का अन्वेषण करती है और जो गन्ध, आभूषण, वस्त्र और मालाओं के विषय में चिन्तन करती है ।।६३।।

अनुवाद–जो बहुत से आश्रयों से युक्त है और जो अधिकारिणी बनाई गई है । उसे आयुक्तिका समझना चाहिए । इस प्रकार अन्तःपुर में सञ्चरण करने वाली स्त्रियों को संक्षेप में कह दिया है ।।६४।।

अनुवाद–हे द्विजों ! अन्तःपुर में सञ्चरण करने वाली स्त्रियों के लक्षण को बताऊँगा, जो अनुरक्त हैं, जो भक्त हैं, नाना प्रकार के पार्श्वों से आयी हैं, जो नियोजनीय कार्यों में नियुक्त हैं । जो न उद्धटा हैं, न सम्भ्रान्ता हैं, न लुब्धा हैं, न निष्ठुरा हैं । अपि तु दान्त, क्षान्त, प्रसन्न, जितक्रोध, जितेन्द्रिय, जो न काम्या हैं, न लोभनीय हैं; किन्तु स्त्री के दोषों से रहित है । जो नृप प्रासाद के अन्तःपुर के सञ्चार के योग्य हैं ।।६५।।

---

१. ग. कार्य..... ।
२. ग. सञ्चरा ।
३. ख. सायुधा विकृताः ।
४. ख. चैवान्नवीक्षणाः ।
५. ख. विज्ञेया युक्तिका स्मृताः ।

या नियुक्ता नियोगेषु कार्येषु विविधेषु च[1] ।
[2]न चोद्धटा असम्भ्रान्ता न लुब्धा नापि निष्ठुराः ।।६६।।
दान्ताः क्षान्ताः प्रसन्नाश्च जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
अकामा लोभहीनाश्च[3] स्त्रीदोषैश्च विवर्जिताः ।।६७।।
सा त्वन्तःपुरसञ्चारे योज्या पार्थिववेश्मनि ।
कारुकाः कञ्चुकीयाश्च तथा वर्षवराः पुनः ।।६८।।
औपस्थायिकनिर्मुण्डा स्त्रीणां प्रेषणकर्मणि ।
रक्षणं च कुमारीणां बालिकानां प्रयोजयेत् ।।६९।।
अन्तःपुराधिकारेषु[4] राजचर्यानुवर्त्तिनाम् ।
सर्ववृत्तान्त[5]संवाहाः पत्यागारे नियोजयेत् ।।७०।।
विनीताः स्वल्पसत्त्वा ये क्लीबा वै स्त्रीस्वभाविकाः ।
जात्या न [6]दोषिणश्चैव ते वै वर्षवराः स्मृताः ।।७१।।

आकाम्य इति परस्य कामयितुमनर्हा अशक्याश्च कामिता हि । सर्वे शंसन्ति आयोजनेष्विति ।

अभिनव—जो अकाम्या अर्थात् दूसरे की कामना के अयोग्य है । आयोजनों में उसकी कामना करते हैं और प्रशंसा करते हैं ।

अनुवाद—कारुक (कुम्हार), कञ्चुकीय, वर्षवर (नपुंसक), औपस्थायिक, निर्मुण्ड, ऐसे लोगों को स्त्रियाँ भेजने अथवा बुलाने के काम में और बालिका कुमारियों के रक्षण के काम में प्रयोग करना चाहिए ।।६९।।

अनुवाद—अन्तःपुर के अधिकारों में राजा की चर्चा का अनुवर्तन करने वाले व्यक्तियों के सभी वृत्तान्तों का संवहन करने वाले को प्रत्येक स्थानों में नियोग करना चाहिए ।।७०।।

अनुवाद—विनीत, स्वल्प सत्त्व वाले, नपुंसक और जो स्त्री स्वभाव वाले हैं और जो जाति से दोषी नहीं हैं, वे वर्षवर माने गये हैं ।।७१।।

---

१. ख. प्रयोगेषु न चोद्धटाः ।
२. ख. न चोद्भ्रान्ता न लुब्धाश्च नातिनिष्ठुरमानसाः । ३. ख. पूज्याश्च ।
४. ख. अधिकारो हि राजभार्यानुवर्तनम् ।
५. ख. योगज्ञं नाट्यागारे निवेशयेत् । ६. ख. भाषिणः ।

ब्राह्मणाः कुशला वृद्धाः कामदोषविवर्जिताः ।
प्रयोजनेषु देवीनां [१]प्रयोक्तव्या नृपैः सदा ।।७२।।
एतदष्टादशविधं प्रोक्तमन्तःपुरं मया ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि बाह्यं पुरुषसम्भवम् ।।७३।।
राजा सेनापतिश्चैव पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ।
सचिवाः प्राड्विवाकाश्च कुमाराधिकृतास्तथा ।।७४।।
एके चान्ये च बहवो मान्या ज्ञेया नृपस्य तु ।
विशेषमेषां वक्ष्यामि लक्षणेन निबोधत ।।७५।।

(अमात्य इति) अमेति सहार्थे सहभवाः सहचारिणोऽमात्या इत्येकोऽर्थः । अनुरागवानिति प्रजासु, प्रजास्वयत्नानुरक्ताः, अनुरागो हि सार्वगुण्यमिति कौटल्यः, अव्यसनिभिः स्त्रीमद्यमृगयाक्षादावसक्ताः ।

अथ बाह्यपरिवारमाह—राजेति । युवराजोऽत्र राजशब्देनोक्तः ।

अनुवाद—ब्राह्मण, कुशल, वृद्ध एवं काम दोष से रहित ब्राह्मणों को राजा द्वारा देवियों के प्रयोजन में सदा प्रयोग करना चाहिए ।।७२।।

अनुवाद—इस प्रकार अठारह प्रकार के अन्तःपुर को मैंने आप लोगों से कहा है । इसके बाद राजोपचार से भिन्न बाह्य उपचार को कहूँगा ।।७३।।

अब इसके बाद बाह्य परिवार को कहते हैं—

अनुवाद—राजा अर्थात् युवराज, सेनापति, पुरोधा, मन्त्री, सचिव, प्राड्विवाक, कुमार एवं कुमारियों की रक्षा में नियुक्त अधिकारी और भी बहुत से लोग जो राजाओं के मान्य हैं, उन्हें नृपतुल्य समझना चाहिए । अब लक्षण के द्वारा इनकी विशेषता को कहूँगा ।।७४-७५।।

अभिनव—यहाँ युवराज को राज शब्द से कहा है ।

अमात्य आम सह अर्थ में असत्य है । सहचारी अमात्य है, यह एक अर्थ है ।

---

१. ख. नियोक्तव्या ।

बलवान् बुद्धिसम्पन्नः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दक्षः प्रगल्भो धृतिमान् विक्रान्तो मतिमाञ्छुचिः ।।७६।।
दीर्घदर्शी महोत्साहः कृतज्ञः प्रियवाङ्मृदुः ।
लोकपालव्रतधरः कर्ममार्गविशारदः ।।७७।।
उत्थितश्चाप्रमत्तश्च [1]वृद्धसेव्यर्थशास्त्रवित् ।
परभावेङ्गिताभिज्ञः शूरो रक्षासमन्वितः ।।७८।।
[2]ऊहापोहविचारी च नानाशिल्पप्रयोजकः ।
(नीतिशास्त्रार्थकुशलस्तथा चैवानुरागवान्) ।।७९।।
[3]धर्मज्ञोऽव्यसनी चैव गुणैरेतैर्भवेन्नृपः ।
(कुलीना बुद्धिसम्पन्ना नानाशास्त्रविपश्चिताः) ।।८०।।

एतच्चैषां सङ्क्षेपेण स्वरूपमुक्तं वितत्य तु तत्प्रधानेभ्य एव शास्त्रेभ्योऽवधारयेदिति दर्शयति बृहस्पतिमतादिति बार्हस्पत्यौशनसादेरित्यर्थः । एषामिति राजसेनापत्यादीनां कुमाराधिकृतपर्यन्तानां यदेतैर्ज्ञातव्यमुपहरणीयं वा सम्पाद्य तदपि बार्हस्पत्यादेरभिलक्षयेदिति सम्बन्धः ।

अनुवाद–बलवान्, बुद्धि-सम्पन्न, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दक्ष, प्रगल्भ, धृतिमान्, विक्रान्त, मतिमान्, शुचि, दीर्घदर्शी, महान् उत्साही, कृतज्ञ, प्रियवादी, मृदु, लोकपाल का व्रत धारण करने वाला, कर्ममार्ग में विशारद, उत्थित, अप्रमादी (प्रमाद न करने वाला), वृद्ध की सेवा करने वाला, अर्थशास्त्र का ज्ञाता, दूसरे के भावों को समझने वाला, शूर और प्रजा की रक्षा में संलग्न, कार्य और अकार्य के विषय में ऊहापोह से विचार करने वाला, नाना प्रकार के शिल्पों का प्रयोजक, नीति-शास्त्रार्थ में कुशल, अनुराग करने वाला, धर्म का ज्ञाता, व्यसनों से दूर रहने वाला, ऐसा गुणी राजा होना चाहिए ।।७६-८०।।

अभिनव–प्रजा से अनुराग करने वाले प्रजाओं में बिना प्रयत्न के अनुरक्त हैं । अनुराग का अर्थ है सर्वसम्पन्नता, ऐसा कौटल्य का मत है । ये सभी लोग मद्य, मृगया एवं जुआ खेलने में असक्त, अव्यसनी हैं ।।७९-८०।।

---

१. ख. ग. वृद्धः स्मृत्यर्थशास्त्रवित् । २. ग. नानाशास्त्रार्थतत्वज्ञः ।
३. ग. कृतज्ञः ।

स्निग्धाः परैरहार्याश्च न प्रमत्ताश्च देशजाः ।
अलुब्धाश्च विनीताश्च शुचयो धार्मिकास्तथा ।।८१।।
पुरोधा मन्त्रिणस्त्वेभिर्गुणैर्युक्ता भवन्ति हि ।
[1]बुद्धिमान्नीतिसम्पन्नस्त्यक्तालस्यः प्रियंवदः ।।८२।।
(पररन्ध्रविधिज्ञश्च यात्राकालविशेषवित्) ।
अर्थशास्त्रार्थकुशलो ह्यनुरक्तः कुलोद्भवः[2] ।।८३।।
[3]देशवित्कालविच्चैव कर्तव्यः क्षितिपैः सदा ।
व्यवहारार्थतत्त्वज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।।८४।।
मध्यस्था धार्मिका[4] धीराः कार्याकार्यविवेकिनः[5] ।
क्षान्ता दान्ता जितक्रोधा [6]सर्वत्र समदर्शिनः ।।८५।।

(अर्थशास्त्रस्येति) अर्थशास्त्रस्य योऽर्थम् एकवाक्यतातात्पर्यादिना तज्जानाति । परैरहार्या इति अभेद्याः । ज्ञानम् अर्थशास्त्रस्य, (तस्य) विधौ (ज्ञानं) विज्ञानं तदधिष्ठानकौशलं लक्ष्यलक्षणज्ञा इति यावत् ।

अनुवाद–कुलीन, बुद्धिसम्पन्न, नानाशास्त्रों के विशेषज्ञ विद्वान्, स्निग्ध, दूसरे द्वारा आहार्य, अप्रमत्त, स्वदेशोत्पन्न, निर्लोभी, विनीत, शुचि, धार्मिक, पुरोधा, इस प्रकार के गुण वाले पुरुष या स्त्रियाँ मन्त्री होती हैं ।।८१-८२।।

अभिनव–परकीय शत्रुओं से आहार्य अर्थात् अभेद्य, अर्थशास्त्र का ज्ञान और उसका विविध ज्ञान-विज्ञान, उसके अधिष्ठान कौशल, लक्ष्य-लक्षण ज्ञान ।।८१-८३।।

अनुवाद–बुद्धिमान्, नीतिमान्, आलस्य-रहित, प्रियंवद, परछिद्रवेत्ता, यात्राकाल का विशेष विज्ञ, अर्थशास्त्रीय प्रयोजन में कुशल, अनुरक्त, कुलीन, देशकालवित् व्यक्ति को सचिव बनाना चाहिए ।।८३-८४।।

अनुवाद–व्यवहारतत्त्ववेत्ता, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, मध्यस्थ, धार्मिक, धीर, कार्य-अकार्य का विवेकी, क्षान्त, दान्त, जितक्रोधी, इन्द्रियों का दमन करने

---

१. ग. शीलवान् सत्त्वसम्पन्नः । २. ग. कुले वृतः ख. प्रजासु च ।
३. ख. यो धार्मिकस्तथामात्याः कर्त्तव्याः भूमिपैः सदा । (ग. भवेत्सेनापतिर्गुणैः)
४. ख. धार्मिकधियः । ५. ख. ग. विचक्षणाः ।
६. ख. नोद्धता ।

ईदृशः प्राड्विवाकास्तु स्थाप्या [1]धर्मासने द्विजाः ।
उत्थिताश्चाप्रमत्ताश्च त्यक्तालस्या जितश्रमाः ।।८६।।
स्निग्धाः क्षान्ता विनीताश्च मध्यस्था निपुणास्तथा ।
नयज्ञा विनयज्ञाश्च ऊहापोहविचक्षणाः[2] ।।८७।।

(प्राड्विवाक इति) पृच्छति विवादपदे निर्णयमिति प्रायो विवदितारस्तेषां विवेक उच्यते यैस्तैः प्राड्विवाकः, पृच्छेः क्विबचीति क्विपि दीर्घे प्राडिति रूपम् । विपूर्वस्य ब्रूतेर्घञि विवाक इति ।

नयोऽत्रार्थशास्त्रं नयहेतुत्वात् । एवं विनयोऽत्र धर्मशास्त्रम् । कुमाराणां राजपुत्राणां रक्षार्थमधिकृताः ।

प्रधाने च व्यपदेशं कुर्वन्नुपसंहरति—इत्येष वो मया प्रोक्तः प्राड्विवाकविनिर्णय इति । राजोपयोगीति बाह्याभ्यन्तरपरिवारनिर्णय इति यावत् ।

वाला, शत्रु और मित्र में समदर्शी—हे द्विजों ! ऐसे प्राड्विवाकों को धर्मासन पर स्थापित करना चाहिए ।।८५-८६।।

अभिनव—प्राड्विवाक विवाद के विषय में निर्णय पूछता है । प्रायः विवादिता उनके विवेक करते हैं । अपने विचारों को जो कचहरी में कहते हैं, उन्हें प्राड्विवाक कहते हैं ।।८६।।

अनुवाद—उत्थित, अप्रमत्त, आलस्यरहित, जितश्रम, स्निग्ध, क्षान्त, विनीत, मध्यस्थ, निपुण, नीतिज्ञ, विनय-ज्ञाता, ऊहापोह में विचक्षण, सर्व-शास्त्रार्थ से सम्पन्न, कुमारों की रक्षा के अधिकारी, बृहस्पति के मतानुसार उनके गुणों की आकांक्षा करनी चाहिए ।।८७-८८।।

अभिनव—यहाँ नय का अर्थ अर्थशास्त्र है, क्योंकि यह नय का हेतु है और विनय का अर्थ धर्मशास्त्र है । राजकुमारों की रक्षा के लिए नियुक्त है । यह तो संक्षेप में इनका स्वरूप कर दिया है । विस्तार से जानने की इच्छा हो, तो

---

१. ख. धर्मपरैः नृपैः । ग. धर्मासनेष्वथ ।
२. ख. विशारदाः ।

[१]सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नाः [२]कुमाराधिकृतास्तथा ।
बृहस्पतिमतादेषां गुणांश्चाभिकाङ्क्षयेत्[३] ।।८८।।
विज्ञेयं [४]चोपहार्यं च सभ्यानां च विकल्पनम् ।
इत्येष वो मया प्रोक्तः [५]प्राड्विवाकविनिर्णयः ।।८९।।

ननु कियन्तः प्राड्विवाका इत्याह—सभ्यानां चेति । तन्मतादेव जानीयादित्यर्थः । प्रजानां मात्स्यन्यायाद्रक्षितुं राज्ञोऽधिकारः, मात्स्यो न्यायश्च विवादनिर्णयेन रक्ष्यते । तत्र च प्राड्विवाका एव प्रधानम् । तथा च प्राड्विवाको राजस्थानीय इति लोके प्रसिद्धम् ।

प्रधान रूप से शास्त्रों को जानना चाहिए । बृहस्पति के मत से अर्थात् बृहस्पति, शुक्राचार्य के मत से अर्थशास्त्र को जानना चाहिए । राजा तथा सेनापति आदि से लेकर कुमार की रक्षा में अधिकृत पर्यन्त ज्ञातव्य है, अवधारणीय है, अतः बृहस्पति एवं शुक्राचार्य आदि के शास्त्रों को अभिकांक्षित करें ॥८८॥

अनुवाद—सभ्यों के विषय में उसके विकल्प को और उनके उपहार्य को जानना चाहिए । यह मैंने आप लोगों को प्राड्विवाक के विषय का निर्णय कह दिया है ।।८९।।

अभिनव—अब प्राड्विवाक कितने होते हैं ? इसको कहते हैं—सभ्यों को बृहस्पति के मत से समझें । मात्स्य न्याय से प्रजा की रक्षा करना राजा का अधिकार है । मात्स्य न्याय की रक्षा विवाद के निर्णय से होती है । इस विषय में प्राड्विवाक ही प्रधान है और प्राड्विवाक राजस्थानीय होता है, यह लोकप्रसिद्धि है । अन्त में प्रधान का व्यपदेश करते हुए उपसंहार करते हैं कि यह प्राड्विवाक-निर्णय मैंने कहा है । राज्योपयोगी का अर्थ है–बाह्य और आभ्यन्तर परिवार का निर्णय ॥८९॥

---

१. ग. नानारूपैः समायुक्ताः गुणैरेते भवन्ति हि ।
२. ख. कामाद्यविकृताः ।
३. ख. अभिलक्षयेत् ।
४. ख. चापधूर्यं च समास्तारविकल्पनम्, ग. गुणानां प्रविभागकं वाची ।
५. ग. प्राग्विधोकादिनिर्णयम् ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि चित्राभिनयनं पुनः[1] ।।९०।।

।। इति भरतीये नाट्यशास्त्रे पुंस्त्र्युपचारो नामाध्यायश्चतुर्विंशः ।।२४।।

अध्यायान्तरमासूत्रयति—अत ऊर्ध्वमिति। पुनः पुनरयमभिप्रायो यद्यपि सामान्याभिनये चित्राभिनयोऽस्ति तथापि रसस्वभावविशेषो दर्शितः। शृङ्गार-तद्व्यभिचार्यादीनां हि प्राधान्यं पूर्वमेव दर्शितम्। चित्राभिनये तु रसाद्युपयोगिबाह्यवस्तुविषयमेवाभिनयानां भावनारूपं मिश्रीकरणात्मकं समानीकरणमुच्यते। तेन चित्राभिनयः सामान्याभिनयविशेषभूत एवेति शिवम्।

चतुर्विंशोऽयमध्यायः किञ्चित्कृतविवेचनः।
मयाभिनवगुप्तेन शिवदास्यैकशालिना।।

।। इति श्रीमहामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायां नाट्यवेदवृत्ता-
वभिनवभारत्यां स्त्रीपुंसोपचारोऽध्यायश्चतुर्विंशः ।।२४।।

अनुवाद—अब इसके बाद फिर चित्राभिनयन का वर्णन करूँगा।

अभिनव—इसके बाद अध्याय का आसूत्रण करते हैं। बार-बार यह अभिप्राय सामान्याभिनय में चित्राभिनय है, तथापि रसस्वभाव को दिखा दिया है। शृगार रस और उनके व्यभिचारी भाव की प्रधानता के पहले ही दिखा दिया है। चित्राभिनय में तो रसादि के उपयोगी बाह्य वस्तु विषयक अभिनय का भावना रूप मिश्रीकरणात्मक समानीकरण कहते हैं। अत: चित्राभिनय सामान्या-भिनय का विशेष रूप है ।।९०।।

अभिनव—मैं अभिनवगुप्त किञ्चित् विवेचन के साथ २४ अध्याय कहा।

।। इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र के २४ अध्याय की हिन्दी-व्याख्या पूर्ण हुई ।।२४।।

●

---

१. ग. चित्राभिनयनं मुने।

पञ्चविंशोऽध्यायः

[१]अङ्गाद्यभिनयस्यैव यो विशेषः क्वचित् क्वचित् ।
अनुक्त उच्यते चित्रः[२] स चित्राभिनयस्स्मृतः ।।१।।

।। अभिनवभारती–पञ्चविंशोऽध्यायः ।।

वागङ्गसत्त्वचेष्टाचित्राभिनयप्रयोगरचनचणः ।
संसारनाट्यनायकपुरुषाकारः शिवो जयति ।।

सामान्याभिनयस्य चित्राभिनयः शेष इत्युक्तम् । केवलसामान्याध्याये रसात्मकप्रधानं पदार्थविशेषमभिनयानां समानीकरणम् । इह तु तदुपयोगी विभावादिविषयम् । किञ्चैक एवाभिनयः पूर्वं यो निरूपितः स एव कार्यान्तरालाभे तद्विरुद्धमर्थमभिनयतीति चित्र उच्यते । तद्वैदग्ध्यमध्याये निरूप्यत इति सङ्गतिः । तदेतदाह–अङ्गाद्यभिनयस्यैवेति । अङ्गमिति करणाङ्गहारास्तेषामभिनयत्वं नोक्तम् । तर्हि वक्ष्यते—

पञ्चविंशोऽध्यायः
हिन्दी-व्याख्या

चित्राभिनय का स्वरूप–

अभिनव–वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक चेष्टा चित्राभिनय के प्रयोग की रचना में प्रसिद्ध संसाररूपी नाट्य का नायक पुरुषाकार शिव सबसे उत्कृष्ट है ।

अभिनव–चित्राभिनय सामान्याभिनय का अङ्ग है, यह पहले कहा जा चुका है । सामान्याध्याय में रसात्मक प्रधान पदार्थविशेष अभिनयों का समानी-करण है, इसे कह दिया है । यहाँ तो केवल तदुपयोगी विभावादि विषय को कहते हैं और भी एक बात है कि एक ही अभिनय है, जिसका पहले निरूपण कर दिया है, उसी को चित्राभिनय कहते हैं । उसके वैदग्ध्य का निरूपण करना अध्याय-सङ्गति है, इसी को कहते हैं—

अनुवाद–अङ्गादि अभिनय का जो विशेष स्वरूप कहीं-कहीं नहीं कहा है, वह अभिनय चित्र 'चित्राभिनय' कहा जाता है ।।१।।

---

१. ख. अङ्गाभिनयनस्येह ।   २. ख. यस्मात् ।

उत्तानौ तु करौ कृत्वा [1]स्वस्तिकौ पार्श्वसंस्थितौ ।
उद्वाहितेन शिरसा तथा चोर्ध्वनिरीक्षणात्[2] ।।२।।

शिखिसारसहंसाद्या स्थले ये च स्वभावतः ।
रेचकैरङ्गहारैश्च तेषामभिनयः...............।। इत्यादि ।

आदिग्रहणे विभावादिविभावोऽपि विभावस्याभिनय इति वक्ष्यते । अभिनीयतेऽनेनेत्यभिनयः । तस्य च विशेष उत्तमोत्तमेत्यादिना वक्ष्यते । अभिनीयत इति चाभिनयः ।

यो ह्यन्येनाभिनय उक्तः स इहाभिनयान्तरस्याप्यभिनयत्वेनोक्तो यथा ''अलपद्मकपीडाभिः सर्वार्थग्रहण''मिति । अङ्गाभिनयस्येति समाहारे वृत्तिस्तस्य विशेषो य उच्यत इति सम्बन्धः । क्वचिदिति । न सर्वत्र । अत्राभेदतः अस्मात्क्वचिदनुक्तोऽसौ विशेषः क्वचित्तूक्त एव ''स्वस्तिकविच्युतिकरणा''–(१०२१) दित्यादि ।

अभिनव–अङ्ग को करणाङ्गहार कहा है, उनके अभिनय को नहीं कहा है, अतः उसको कहेंगे—

अभिनव–ये मोर, सारस और हंस आदि स्वभाव से स्थलचारी हैं, किन्तु ये आकाशचारी भी हैं, इसका अभिनय रेचक अङ्गहारों से किया जाता है ।

अभिनव–यहाँ आदि पद से विभाव को ग्रहण करते हैं, क्योंकि विभाव का अभिनय विभाव होता है, इस बात को आगे कहेंगे । जिससे अभिनय किया जाता है, वह अभिनय है । उसकी विशेषता को उत्तमोत्तम आदि से कहेंगे । जो अभिनीत किया जाता है, वह 'अभिनय' है । जिसे अन्य ने कहा है, उसे यहाँ अभिनयान्तर के अभिनय के रूप में कहा है । जैसे-'अलपद्मकपीडाभिः' आदि । अङ्गादि अभिनय के समाहार में वृत्ति है, उसका विशेष जो है, वह सम्बन्ध है । कहीं-कहीं पर सब जगह नहीं । अतः विशेष को कहीं कहा है, कहीं नहीं–'स्वस्तिकविच्युति' आदि ।

अभिनव–यह जो अधिक विशेष है, वह चित्र अभिनय है । उसका सम्पादन उपचार से होता है । चित्राभिनय जो सर्वलोकसाधारण प्रमातादि हैं, उनके अभिनय में सहकारियों के सम्बन्ध से विचित्रता को दिखाने के लिए कहते हैं—

---

१. ख. पताके स्वस्तिकं तथा । २. ख. निरीक्षितैः ।

प्रभातं गगनं रात्रिः[१] प्रदोषं दिवसं तथा ।
[२]ऋतून् घनान् वनान्तांश्च विस्तीर्णांश्च जलाशयान् ।।३।।
दिशो ग्रहान् सनक्षत्रान् [३]किञ्चित् स्वस्थं च यद्भवेत् ।
[४]तस्य त्वभिनयः कार्यो नानादृष्टिसमन्वितः ।।४।।

य एवासावधिको विशेषः तदेव चित्रमभिनयम् । यतः सम्पादयति तत उपचारात् । चित्राभिनयस्तत्र तत्र प्रभातादयः सर्वलोकसाधारणा इति तद्विषयस्याभिनयस्य सहकारियोगेन चित्रत्वं दर्शयितुमाह—

नानादृष्टीति । कदाचिद्विस्मिता क्वचिच्च विहीनेत्यादिक्रमेण ऊर्ध्वं स्वविरुद्धमधस्स्थं त्वित्थमाभिनेयमित्याह—अधो निरीक्षणेनेति । स्वस्थमित्युक्तं गगने च मृगाङ्कादयः पदार्थास्ते कथमभिनेया इत्याह—स्पर्शस्य ग्रहणेनैवेति ।

''किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च ।

अनुवाद—पहले दोनों हाथों को उत्तान करके (अर्थात् ऊपर की ओर करके) फिर स्वस्तिक मुद्रा में बगल में करके फिर उद्वाहित रूप में शिर से रूप की ओर निरीक्षण से प्रभात, रात्रि, गगन, प्रदोष, दिन, ऋतु, घने वनप्रान्तों, विस्तीर्ण जलाशयों, दिशाओं, ग्रहों, नक्षत्रों और जो कुछ सामने स्थित हों उनका, नाना दृष्टि से समन्वित अभिनय करे ।।३-४।।

अभिनव—'स्वस्तिकविच्युतिकरणात्' से दिशाएँ, घन, आकाश, वन, समुद्र, ऋतु, महीतल आदि अभिनेय कह दिया है । संयुक्त हाथ स्वस्तिक है । यहाँ पर उत्तानत्व, पार्श्वस्थता, शिर का उद्वहन, दृष्टि ऊर्ध्वता इत्यादि विशेष कहे जाते हैं । इसी प्रकार आगे भी योजना करनी चाहिए । कभी विस्मिता, कभी आश्चर्यविहीनता इत्यादि क्रम से अभिनय करे ।।२-४।।

---

१. ख. ग. रात्रिम् ।
२. ख. ऋतून् घनान्धकारांश्च । ग. जन्तून् व्यस्तान् समस्तांश्च ।
३. ग. दृष्टयश्च भवेदिह ।
४. ग. तान्येवमभितो (ने) यानि नानाभावरसार्थतः ।

एभिरेव करैर्भूयस्तेनैव शिरसा पुनः ।
अधो निरीक्षणेनाथ [1]भूमिस्थान् सम्प्रदर्शयेत् ।।५।।
स्पर्शस्य [2]ग्रहणेनैव तथोल्लुकसनेन च ।
चन्द्रज्योत्स्ना सुखं वायुं रसं गन्धं च निर्दिशेत् ।।६।।
[3]वस्त्रावकुण्ठनात्सूर्यं रजोधूमानिलां[4]स्तथा ।
भूमितापमथोष्णं[5] च कुर्याच्छायाभिलाषतः ।।७।।

उत्तानौ तु कृत्वेति । (९.१३६) ''स्वस्तिकविच्युतिकरणाद्दिशो घनाः खं वनं समुद्राश्च । ऋतवो महीतलोच्चं विस्तीर्णं चाभिनेयं स्या''दित्युक्तम् । संयुक्तहस्ते स्वस्तिके । अत्रोत्तानत्वं पार्श्वस्थता शिरसो उद्वाहनं दृष्टेरूर्ध्वता इत्यादिर्विशेष उच्यते । एवमुत्तरत्र योज्यम् ।

अनुवाद—इन्हीं उत्तान हाथों से फिर ऊपर किये हुए शिर से तथा अधो-निरीक्षण से अर्थात् नीचे की ओर झुकाकर रखने पर, भूमिस्थ पदार्थों को दिखाये ।।५।।

अभिनव—ऊपर (ऊर्ध्व) और अपने विरुद्ध अध:स्थ (नीचे) इस प्रकार अभिनय करना चाहिए, इसलिए कहते हैं ।

अभिनव—आकाश में मृगाङ्कादि जो पदार्थ हैं, उनका कैसे अभिनय होगा ? इसको कहते हैं–

अनुवाद—स्पर्श करके और पकड़ करके तथा उल्लुकस्नत अर्थात् उभर उभर कर चाँदनी को चाँद से मिलने वाले सुख, वायु, रस तथा सुगन्ध का निर्देश करे ।।६।।

''नेत्रों को किञ्चित् आकुञ्चित कर तथा भ्रूक्षेपण करके और स्कन्ध तथा गण्डस्थल के स्पर्श से........।।

उलूक का क्षेपण अर्थात् ऊपर की ओर क्षेपण जहाँ हो ।''

अनुवाद—छाया की अभिलाषा से वस्त्र के अवगुण्ठन से सूर्य का, धूलि और धूम से वायु का तथा भूमि के ताप का और तापजनित उष्णता का अभिनय करे ।।७।।

---

१. ग. भूयिष्ठं सम्प्रयोजयेत् । अनेनैव क्रमेणेह नानाभावसमाश्रयम् ।
२. ख. ग्रहणं चैव तथोत्सुकधनेन च । ३. ख. वक्रावगुण्ठनात् ।
४. ख. अनलान् ग. अनिलौ । ५. ख. तापं तथा चोष्णं ।

ऊर्ध्वाकेकरदृष्टिस्तु मध्याह्ने सूर्यमादिशेत् ।
उदयास्तगतं[1] चैव विस्मयार्थैः प्रदर्शयेत् ।।८।।
यानि सौम्यार्थयुक्तानि सुखभावकृतानि च ।
गात्रस्पर्शैस्सरोमाञ्चैस्तेषामभिनयो भवेत् ।।९।।
यानि स्युस्तीक्ष्णरूपाणि तानि चाभिनयेत्सुधीः[2] ।
[3]असंस्पर्शैस्तथोद्वेगैस्तथा मुखविकुण्ठनैः[4] ।।१०।।

तथांसगण्डयोः स्पर्शादिति ।।" (२२-२८) उलूकवदंसना यस्योर्ध्वे विधूननम् । रज इति धूलिः । उदयास्तमयोः पूर्वपश्चिमपर्वतयोः गतं सूर्यं स्मयोऽभिनयोऽर्थोऽभिनयत्वेन प्रयोजनं येषामिति विस्मयाभिनयैर्निदर्शयेदिति यावत् ।

सर्वग्राहकं लक्षणमाह—यानि सौम्यार्थयुक्तानीति ।

सौम्यं येषां प्रयोजनम्, एतदेव स्फुटयति सुखप्रधानस्य भावस्य कृतं सम्पत्तिर्येभ्यः सुखप्रधानो भावः सोम इव सौम्यसुखायेत्याद्यः । विकुण्ठनैः सङ्कोचनैः ।

अनुवाद—मध्याह्न में सूर्य को आकेकरा दृष्टि (अधखुली आँखों) से देखने का अभिनय करे और विस्मय के भाव से उदयाचल और अस्ताचल सूर्य को देखने का अभिनय करे ।।८।।

अभिनव—उदयास्त के समय पूर्व और पश्चिम के पर्वत पर पहुँचे हुए सूर्य को । जिनका प्रयोजन अभिनय है, ऐसे अभिनय को विस्मय से प्रदर्शित करे ।

सर्वग्राहक लक्षण को कहते हैं—

अनुवाद—जो सौम्य पदार्थ से युक्त तथा सुखप्रधान भाव से युक्त हो, उसका रोमाञ्च से युक्त गात्र के स्पर्श से अभिनय करे ।।९।।

अनुवाद—जो पदार्थ तीक्ष्ण रूप हो सुधी लोग उनका अभिनय बिना स्पर्श के उद्वेग प्रकट करते हुए तथा मुख के विकुण्ठन से अथवा मुख फेर कर करें ।।१०।।

अभिनव—सौम्यार्थयुक्तानि अर्थात् सौम्य जिनका प्रयोजन है, इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सुख प्रधान भाव का सम्पादन होता है, जिनसे

---

१. ग. उदयास्तं गता के च गभे गम्भीरार्थैं ।
२. ख. ग. नरः ।
३. ग. अस्पर्शनसमुद्वैगैः ।
४. ग. विकूणनैः ख. विघूर्णनैः ।

गम्भीरोदात्तसंयुक्तान[1]र्थानभिनयेद् बुधः[2] ।
साटोपैश्च सगर्वैश्च गात्रैः सौष्ठवसंयुतैः ।।११।।
यज्ञोपवीत[3]देशस्थमरालं हासमादिशेत् ।
स्वस्तिकौ [4]विच्युतौ हारस्त्रग्दामार्थान् निदर्शयेत् ।।१२।।

गम्भीरोदात्तसंयुक्तानिति भावप्रधानो निर्देशः । तेन यद्विषयां गाम्भीर्यमुदायुक्तत्वं च ।आदावत्र शाखाविस्तरः गन्धर्व इत्यात्मनिर्देशादिगम्भीरोदात्तप्रसङ्गाद्राजोचितहाराभिनय...पवीतदेशस्थमरालमिति । आद्या धनुर्नताकुञ्चितोऽङ्गुष्ठकः शेषभिन्नोर्ध्ववलिता ह्यन्तराले भारो देहस्य भूषणमपहारो वक्षसः पुनरपि तमेव गत्या सर्वग्रहणं तथैव लोकस्येति कर्मोक्तं सूचीमुखस्य तादृशः परितो भ्रमणेन गमनविशेषमाह ।

अर्थात् जो सुखप्रधान सोम की तरह सुखजनक हैं । विकुण्ठन का अर्थ सङ्कोचन है ।।९-१०।।

अनुवाद–गम्भीर, उदात्त और उनके भावों का अभिनय बुध लोग बड़े गर्व और वेग के साथ सौष्ठवयुक्त अवयव से करें ।।११।।

अभिनव–गम्भीरोदात्तसंयुक्तान् यहाँ पर भावप्रधान निर्देश है, अतः इसके विषय में गाम्भीर्य और उदात्त तन से युक्त है, साटोप अर्थात् शाखाओं और प्रशाखाओं में जिनका विस्तार है, अतः सगर्व है, इस प्रकार के गात्र, गाम्भीर्य और उदात्तत्व के प्रसङ्ग में राजोचित आहार्य अभिनय का निर्देश करे ।।११।।

अनुवाद–यज्ञोपवीत रखे जाने (धारण करने) के स्थान पर अर्थात् बायें कन्धे पर टेढ़ा करके धारण कर हास का अभिनय करे । फिर हाथों को स्वस्तिकाकार करके विच्युत करे, फिर हार मोतियों की माला का गजरा तथा मणिमाला का निर्देश करे ।।१२।।

---

१. ख. एतान् ।
२. ग. पुनः ।
३. ख. ग. देशे तु कृत्वारालौ करावुभौ ।
४. ख. विद्युतौ हस्तौ रन्भ्रयामानि निर्दिशेत् ।

[1]भ्रमणेन प्रदेशिन्या दृष्टेः परिगमेन च ।
[2]अलपद्मकपीडायाः सर्वार्थग्रहणं भवेत् ।।१३।।
[3]श्रव्यं श्रवणयोगेन दृश्यं दृष्टिविलोकनैः[4] ।
[5]आत्मस्थं परसंस्थं वा मध्यस्थं वा विनिर्दिशेत् ।।१४।।
विद्युदुल्का[6]धनरवाविस्फुलिङ्गार्चिषस्तथा ।
[7]त्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैश्च[8] तेऽभिनेयाः प्रयोक्तृभिः ।।१५।।

भ्रमणेन प्रदेशिन्या दृष्टेः सर्वार्थेऽभिनयेऽभिनयान्तरमप्याह—अलपद्मकपीडादिरिति । अलपद्मकशब्देन तदङ्गुल्यः पीडा करतलेन तासां संयोगः, तत्र च बहुत्वं विवक्षितं तेनायमर्थः "आवर्तिन्यः करतल" (९.९१) इति यः अलपल्लव उक्तस्तस्य क्रमेण कनीयः स्यादिति काङ्गुलीति हस्ततलेन संयोजयेदिति । सर्वार्थाभिनयः । एतच्च रूपमलपद्मस्य प्राङ् नोक्तम् ।

अथ यदा कात्स्न्येंन सर्वशब्दः प्रवर्तते ।

तद्यथा सर्वः शब्द इत्यादौ तदा विशेषसहकारिणमाह—श्रव्यं श्रवणयोगेनेति ।

(२२.७६) कृत्वा साचीकृत्वा तां दृष्टिं शिरःपार्श्वानतमित्याश्रवणयोगः तत्सहितशब्दविषयः सर्वाभिनयः विद्युदादिविषये येऽभिनया उक्ताः । तद्यथा "सूची विरलाङ्गुली विद्युति चक्रं च तडिल्लता" (९.६६) इत्युक्तत्वात् । तेषां विशेषमाह—त्रस्तेति ।

अनुवाद—प्रदेशिनी (तर्जनी) को घुमाकर और चारों ओर देखते हुए, अलपल्लव मुद्रा वाले हाथ को दबाकर अर्थात् अंगुलियों को करतल में मुट्ठी बाँध कर सभी पदार्थों का ग्रहण करे ।।१३।।

अनुवाद—स्वयं परस्थ तथा मध्यस्थ व्यक्ति श्रवण अर्थात् सुनने योग्य शब्द को सुनकर और दृष्टि से देखने योग्य वस्तु को देखकर अभिनय प्रदर्शित करे ।।१४।।

अनुवाद—बिजली, उल्कापात, बादल के गर्जन, अङ्गारों और चिनगारियों का अभिनय भयभीत अङ्गों तथा आँखों को बन्द कर करे ।।१५।।

---

१. ग. भ्रमणाद्य............।
२. ख. अलपल्लवपीडातः । ग. पीडनाच्चालपद्मस्य.....।
३. ख. श्राव्यं ।
४. ग. विचारणैः ।
५. ख. ग. आत्मस्थं वा परस्थं वा ।
६. ख. घनरवौ ग. घनरवो ।
७. ख. स्त्रस्ताङ्गा ।
८. ग. दर्शनीयानि योक्तृभिः ।

उद्वेष्टितपरावृत्तौ करौ कृत्वा नतं शिरः ।
[1]असंस्पर्शे तथानिष्टे जिह्मदृष्टेन[2] कारयेत् ।।१६।।
वायुमुष्णं तमस्तेजो मुख[3]प्रच्छादनेन च ।
रेणुतोय[4]पतङ्गाँश्च भ्रमराँश्च निवारयेत् ।।१७।।
कृत्वा स्वस्तिकसंस्थानौ पद्मकोशावधोमुखौ ।
सिंहर्क्षवानरव्याघ्रश्वापदाँश्च निरूपयेत्[5] ।।१८।।

वस्तुत्रासाभिनयोऽङ्गानामक्ष्णोश्च निमेषः सङ्कोच इति । विद्युदादिव्यङ्ग्यमप्य-भिनयमाह—उद्वेष्टितपरावृत्ताविति ।

परावृत्तौ समन्तादुद्वेष्टितौ क्रमात् मुक्तकनीयस्वाङ्गुलिगुणावित्येवं प्राग्भावे मुष्टिः पश्चाद्भागे तु पराङ्मुखोऽरालो इति । तत्रासादितुः स्थितमेवात्र जिह्मदृष्टे-नेति । जिह्मया दृष्ट्या "लम्बिता कुञ्चितपुटा शनैस्तिर्यङ्निरीक्षणैः निगूढा गूढतारा च जिह्मा दृष्टिः" (८/८३) इति "सिंहव्याघ्रेष्वभिनय" (९/१२१) इत्यूर्णनाभस्य कर्मोक्तम् ।

तत्र विशेषमाह—कृत्वा स्वस्तिकसंस्थानाविति । पद्मकोशावित्यत्रोत्तरा-भावे चोक्ते एतत्प्रकृतत्वात् "पद्मकोशस्य हस्ताङ्गुल्यः कुञ्चिताः" इत्यूर्ण-नाभः । अन्ये पद्मकोशस्यैव तमनुक्तं कर्मेत्याहुः । त्रिपताकस्यानुक्तं कर्म दर्शयति—स्वस्तिकौ त्रिपताकौ च गुरूणां पादवन्दन इति ।

अनुवाद—उद्वेष्टित और पराङ्मुख करणों को हाथों से प्रदर्शित करते हुए शिर को झुकाकर (जो वस्तु अस्पृश्य हो तथा जो अनिष्टकारक हो) अभिनय करे ।।१६।।

अनुवाद—उष्ण वायु, अन्धकार, तेज, धूलि, वर्षा के जल, पतङ्ग और भौंरों का अभिनय मुख ढककर करना चाहिए ।।१७।।

अनुवाद—सिंह, रीछ, वानर, व्याघ्र तथा इसी प्रकार के अन्य जंगली पशुओं का अभिनय हाथों के स्वस्तिक स्थिति में करके पद्मकोश मुद्रा में अधो-मुख करके अभिनय करे ।।१८।।

अभिनव—पद्मकोश में अंगुलियाँ कुञ्चित होती हैं, यह ऊर्णवाय का कर्म है । अन्य लोग कहते हैं कि यह पद्मकोश का अनुक्त कर्म है ।

त्रिपताक के अनुक्त कर्म को कहते हैं—

---

१. ग. असंस्पर्शेन वानिष्टं । २. ख. चिह्नदृष्टेन । ३. ग. सञ्छादनेन ।
४. ख. ग. पतङ्गानां भ्रमराणां च वारणम् । ५. ग. स्वापदानां निरूपणम् ।

स्वस्तिकौ त्रिपताकौ तु गुरूणां पादवन्दने ।
[1]खेटकस्वस्तिकौ चापि प्रतोदग्रहणे स्मृतौ ।।१९।।
एकं द्वि त्रीणि चत्वारि पञ्च षट् सप्त चाष्टधा[2] ।
[3]नव वा दश वापि स्युर्गणनाङ्गुलिभिर्भवेत् ।।२०।।
[4]दशाख्याश्च शताख्याश्च सहस्राख्यास्तथैव च ।
पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां प्रयोज्यास्ताः[5] प्रयोक्तृभिः ।।२१।।

खेटकामुखस्य कर्मोक्तं ''मन्थानशरापकर्षणपुष्पापचयप्रतोदकार्याणीति'' (९/६३) । तत्र प्रतोदकृत्ये विशेषमाह—खेटकस्वस्तिकौ चापि प्रतोदग्रहण इति ।

अथ सर्वव्यवहारोपयोगिसंख्याभिनयं प्रदर्शयन्नुक्तपूर्वाणामेव हस्तानामनुक्तं कर्म दर्शयति ।

एतदुक्तं भवति ''सूचीमुखप्रदेशिन्या त्रिपताकाङ्गुलिकाङ्गुलाङ्गुलिविधौ ऊर्ध्वलताष्टकाङ्गुलिचतुष्केण मुकुलहस्तविकासतया चैकादितया पञ्चता संख्या, षडादिका तु द्वाभ्यां यथा मुकुले सूच्यास्येन षट् यावन्मुकुले यौ दशपर्यन्ता गणना यावतीति दशपर्यन्ता गणना यावत् ततः परन्तु बहुत्वाभिनय एवेत्याह—दशा इत्यादि ।

अनुवाद—गुरुजनों के पादों के वन्दन का अभिनय स्वस्तिकाकार मुद्रा में त्रिपताक हस्तमुद्रा में करे और प्रतोद (चाबुक) के ग्रहण करने में खटकामुख हस्तमुद्रा में स्वस्तिकाकार करे ।।१९।।

अभिनव—गुरुजनों का पाद-वन्दन स्वस्तिकाकार त्रिपताक हस्तमुद्रा से करे और ''मन्थन शरापकर्षण पुष्पापचय और प्रतोद ये खटकामुख कर्म कहे गये हैं ।'' उनमें प्रतोद कार्य में कुछ विशेष कहते हैं ॥१९॥

अनुवाद—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस की गणना अँगुलियों द्वारा होनी चाहिए और दश, सौ, हजार आदि संख्या की गणना प्रयोक्ताओं को दो पताक हस्तों द्वारा करनी चाहिए ।।२०-२१।।

---

१. ग. स्वस्तिकौ खेटकास्यौ तु प्रतोदप्रग्रहादिषु । ख. केटकास्यौ ।
२. ख. ग. वा ।
३. ख. नव वा दश वा चैव गणनाङ्गुलिर्भवेत् ।
४. ग. दससंरव्या । ५. ख. ग. अभिनेयाः ।

[1]दशाख्यगणनायास्तु परतो या भवेदिह ।
वाक्यार्थेनैव साध्यासौ[2] परोक्षाभिनयेन च ।।२२।।

दशभिराख्या येषां तेऽत्र विंशत्यादयः । विंशेति हि विंशतिस्तस्मादत्र पताकाभ्यामभिनय इत्याह–दशाख्येति । आख्याशब्दोऽवधिवाची । आख्यति प्रतते भावा यावतीति । दशपर्यन्ता गणना यावतीति दशपर्यन्ता गणना यावर्तत, परा सा सङ्क्षेपेणाभिनेया बहुत्वमात्रेण वाक्यार्थशब्दोऽत्र सङ्क्षिप्तमुपलक्षयति । पदार्था हि तत्र सङ्क्षिप्यन्ते । एतच्च परोक्षाभिनये । प्रत्यक्षे त्वेकैकस्य निर्देशेनैव गणनेति यावत् । आयतदण्डग्रहणमिति (९/६२) । खेटकामुखस्य सामान्येन कर्मोक्तम् ।

अनुवाद–दस से अधिक की संख्या की गणना परोक्ष रूप में अभिनय के द्वारा या प्रत्यक्ष रूप में वाक्य के द्वारा प्रकट करनी चाहिए ।।२२।।

अभिनव–इसके पश्चात् सर्वविध व्यवहार के उपयोगी संख्या अभिनय को दिखाते हुए, पहले कहे हुए हाथों के अनुक्त कर्मों को दिखाते हैं ।

यह कहा है कि "सूचीमुख प्रदेशिनी से त्रिपताकाकार अँगुलियों की विधि से तथा चतुष्क अँगुलियों से मुकुलित हस्त को खोल देना चाहिए । इस प्रकार चतुष्क अँगुलियों में एक के मिलाने से पाँच की संख्या हो जाती है और दो के मिलाने से छः की संख्या हो जाती है । इस प्रकार मुकुल हस्त में दश पर्यन्त गणना की जाती है । तदनन्तर बहुत-सी अँगुलियों का अभिनय होता है । इस पर कहते हैं–दश इत्यादि । यहाँ पर दश रूप शब्द में आख्या शब्द अवधि का वाची है । प्रतत भावों को जो कहती है, वह आख्या है । गणना दश तक जितनी होती है, किन्तु यह दश पर्यन्त की गणना आवर्तन से परा हो जाती है, उसका संक्षेप में अभिनय करे । यहाँ वाक्यार्थ शब्द संक्षिप्त पदार्थ को उपलक्षित करता है; क्योंकि यहाँ पदार्थ संक्षिप्त किये जाते हैं, यह संक्षिप्त पदार्थ परोक्ष अभिनय में होता है, प्रत्यक्ष में तो एक-एक के निर्देश से गणना होती है ॥२०-२२॥

---

१. ग. दशम्ये (भ्यो) ।
२. ख. सा ।

[१]छत्रध्वजपताकाश्च[२] निर्देश्या दण्डधारणात्[३] ।
नानाप्रहरणं चाथ निर्देश्यं धारणाश्रयम्[४] ।।२३।।
[५]एकचित्तो ह्यधोदृष्टिः किञ्चिन्नतशिरास्तथा[६] ।
[७]सव्यहस्तश्च सन्दंशः स्मृते ध्याने वितर्किते ।।२४।।
उद्वाहितं शिरः कृत्वा [८]हंसपक्षौ प्रदक्षिणौ ।
(अपत्यरूपणे कार्यावुच्छ्रयौ च प्रयोक्तृभिः) ।।२५।।

तद्विशेष्यं दर्शयितुमाह—छत्रध्वजपताकाश्चेति । दण्डधारणे एव तत्प्रकारमन्तर्भूतमित्यर्थः । चकारेणाभिनयान्तरमप्यत्र सूचयति । अथशब्दे च ।

अनुवाद—छत्र, राष्ट्रध्वज और पताक का दण्ड धारण से अभिनय करे, नाना प्रकार के प्रहरण (आयुधों) का निर्देश धारण के आश्रय से करे ।।२३।।

अनुवाद—वितर्किततर्कना से ध्यान के अभिनय में एकचित्त अधोदृष्टि और शिर को किञ्चित् झुकाते हुए और बायें हाथ को सन्दंश मुद्रा में अभिनय करे ।।२४।।

अभिनव—आयत दण्ड के ग्रहण से सामान्यत: खटकामुख के कर्म को कहा है । उसके विशेष को दिखाने के लिए कहते हैं–छत्रध्वजपताकादि । दण्डधारण में ही छत्र, पताका के भेद अन्तर्हित हो जाते हैं । चकार से और अथ शब्द से यहाँ अभिनयान्तर की सूचना देते हैं । जैसे शिर के ऊपर अधोमुख छत्र में उसके पाँच अङ्गुलि ऊँचे ध्वज में सूचीमुखाकार अङ्गुलि पताका में यथा- योग युष्टि शिखर कपित्थ मृगशीर्षक आदि प्रहरणों में कुछ होते हैं । कहीं पर अपूर्व शक्ति प्रदर्शन से विस्मित होते हैं, कहीं पर म्लान अभीष्ट दर्शन से, अदर्शन से, दृष्टिभेद से होते हैं ॥२३-२४॥

अनुवाद—अपत्य के अभिनय में शिर को उद्वाहित करके और हंस पक्ष हाथ को ऊँचा उठाकर घुमाते हुए ऊपर करे ।।२५।।

---

१. ख. चित्र ।
२. ग. पताकासु निर्देश्यं दण्डवारणम् ।
३. ख. दण्डधारणैः ।
४. ग. वाप्यनेकधा ।
५. ग. एकचित्ते ।
६. ख. शिरः किञ्चिन्नतं भवेत् ।
७. ख. ग. कुर्वीत हस्तसन्दशं स्मृतेर्ध्यानवितर्किते ।
८. ग. हंसपक्षं तथोर्ध्वगम् ।

[1]उद्वाहितं शिरः कृत्वा हंसवक्त्रं तथोर्ध्वगम् ।
([2]प्रसादयच्च यं मानं दीर्घसत्त्वं च निर्दिशेत्) ।।२६।।
अरालं च शिरस्स्थाने समुद्वाह्य तु वामकम् ।
गते निर्वृत्ते ध्वस्ते च [3]श्रान्तवाक्ये च योजयेत् ।।२७।।
सर्वेन्द्रियस्वस्थतया प्रसन्नवदनस्तथा[4] ।
विचित्र[5]भूतलालोकैः शरदर्त्तु विनिर्दिशेत् ।।२८।।
गात्र[6]सङ्कोचनाच्चापि सूर्याग्निपटुसेवनात्[7] ।
हेमन्तस्त्व[8]भिनेतव्यः पुरुषैर्मध्यमाधमैः ।।२९।।

तद्यथा शिरस उपर्यधोमुखः पताकछत्रे पञ्चाङ्गुल्यूर्ध्वध्वजे सूचीमुख्याङ्गुलिपताकायां मुष्टिशिखरकपित्थमृगशीर्षकाद्या यथायोगं प्रहरणेषु योगध्याने स्तोक इति (९.११४) क्वचिद्विस्मिता अपूर्वशालिसम्पद्दर्शनात् क्वचित्

अनुवाद–शिर को उद्वाहित करके और हंसमुख से ऊपर करके मान प्रमाण का विस्तृत प्रसारण करते हुए दीर्घसत्त्व का अभिनय करे ।।२६।।

अनुवाद–गमन (यात्रा) के निवृत्त हो जाने पर तथा नष्ट एवं थके हुए पुरुष के वाक्य में शिर को टेढ़ा करके और बायें हाथ के सहारे टिकाते हुए अभिनय करे ।।२७।।

अनुवाद–सम्पूर्ण इन्द्रियों के स्वस्थ होने से तथा प्रसन्न हुए वदनों के द्वारा तथा भूतल पर विचित्र आलोकों का अवलोकन करने से शरद् ऋतु का अभिनय करे ।।२८।।

अनुवाद–गात्रों के सङ्कोचन से, सूर्य एवं अग्नि की पटुता के सेवन करने से उत्तम और मध्यम पुरुष हेमन्त ऋतु का अभिनय करे ।।२९।।

---

१. ग. नास्ति ।
२. ग. प्रसादमुच्छ्रयामानं दीर्घं गर्वं च निर्दिशेत् ।
३. ख. श्रुते ।
४. ख. दिक्प्रसन्नतया तथा ।
५. ख. ग. कुसुम ।
६. ख. संकोचनेनापि ।
७. ख. ग. पटवेशनात् ।
८. ख. स्त्वभिनेयः स्यात् पुरुषैर्मध्यमोत्तमैः ।

शिरोदन्तोष्ठकम्पेन गात्रसङ्कोचनेन च ।
कूजितैश्च सशीत्कारैरधमश्शीतमादिशेत्[१] ।।३०।।
अवस्थान्तर[२]मासाद्य कदाचित्तूत्तमैरपि ।
[३]शीताभिनयनं [४]कुर्याद्दिवाद्व्यसनसम्भवम् ।।३१।।
[५]ऋतुजानां तु पुष्पाणां गन्धघ्राणैस्तथैव च ।
रुक्षस्य वायोः स्पर्शाच्च शिशिरं रूपयेद्बुधः ।।३२।।
प्रमोदजननारम्भैरुपभोगैः पृथग्विधिः[६] ।
वसन्तस्त्वभिनेतव्यो नानापुष्पप्रदर्शनात् ।।३३।।

'ग्लानाभीष्टादर्शना''दित्यादि दृष्टिभेदादि चाद्यो व्यसनसम्भवस्तस्मिन्निमित्ता यावस्थान्तरप्राप्तिः, ततो हेतोरिति सम्बन्धः ।

रुक्षस्येति । उद्वेजनस्य प्रावृड्वर्षारात्रस्य यथा प्रथमे भागे वर्षितुं प्रावृड्मेघा यत्रेति । निर्घातः आकाशस्फोटः शब्दो गर्जितादन्य एव चिह्नमिति

अनुवाद—शिर, दाँत और होठ के कम्पन से, गात्र के संकोचन से, शीत्कार के साथ कूजन से मध्यम एवं अधम पुरुष हेमन्त का अभिनय करे ।।३०।।

अनुवाद—उत्तम पुरुष भी कभी दैव-संयोग से व्यसन के कारण शीत ऋतु का अभिनय करे ।।३१।।

अभिनव—दैवयोग से व्यसनों का होना सम्भव है । तन्निमित्त जो अवस्थान्तर की प्राप्ति है उस हेतु से ऐसा अन्वय (सम्बन्ध) है ।

अनुवाद—विद्वान् लोग ऋतुओं से उत्पन्न होने वाले पुष्पों के सुगन्ध को सूँघकर और रुक्ष वायु के स्पर्श से शीत का अभिनय करें ।।३२।।

अनुवाद—प्रमोदजनक आरम्भ के उपभोग से और नाना प्रकार के पुष्पों के प्रदर्शन से वसन्त ऋतु का अभिनय करें ।।३३।।

---

१. ग. कूजितैः श्वासशीत्कारैः शीतं हीनो विनिर्दिशेत् ।
२. ख. सम्प्राप्तैरुत्तमैश्च कदाचन ।
३. ग. शीतातपाभिनयनं ।
४. ग. कार्यं व्यसनसम्भवम् । ख. कार्यं दैवव्यसनसम्भवे ।
५. ख. मधुदानात्तु ।
ग. रुक्षस्य वायोः स्पर्शेन समाघ्राणेन चैव हि ।
ऋतुजानां तु पुष्पाणां शिशिरं दर्शयेन्नरः ॥
६. ख. तथोत्सवैः ।

[1]स्वेदप्रमार्जनैश्चैव भूमितापैः सवीजनैः[2] ।
[3]उष्णस्य वायोः स्पर्शेन ग्रीष्मं त्वभिनयेद्बुधः ।।३४।।
कदम्बनीपकुटजैः[4] शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः ।
[5]मेघवातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत् ।।३५।।
मेघोघ[6]नादैर्गम्भीरै[7]र्धाराप्रपतनैस्तदा ।
विद्युन्निर्घातघोषैश्च [8]वर्षारात्रं समादिशेत् ।।३६।।

पुष्पपुष्पादिशेषषड्विशेष इति । तत्कालोचितो वस्त्वाभरणप्रसाधनादिः यस्मिन्निति वक्तव्ये सम्बन्धमात्रापेक्षया षष्ठी कर्मेति क्वचिद्रूपानुसरणमित्यादिरूपं यथा क्वचिदातपः क्वचिच्चन्द्रोद्योतः । भावानां विभावैरभिनयो यथा क्रोधस्य परस्थस्य सूचिमुखाङ्गुल्यादिपरः सन्निर्दिश्यते तद्द्वारेण क्रोधः । अनेन च

अनुवाद–स्वेद अर्थात् पसीने के पोछने से, ताप के अपनोदन से पंखे, डुलाते हुए उष्ण वायु के स्पर्श से, बुद्धिमान् पुरुष ग्रीष्म ऋतु का अभिनय करे ।।३४।।

अनुवाद–कदम्ब, नीप और कुटज के उपवनों के सेवन से, हरे घास और इन्द्रगोप के स्थान पर उपवेशन से, सुखस्पर्श मेघ की वायु से वर्षा ऋतु का अभिनय प्रदर्शित करे ।।३५।।

अनुवाद–मेघों की गम्भीर ध्वनियों से, वर्षा ऋतु की धारा के प्रपात से तथा बिजली की गड़गड़ाहट से तथा निर्वात विद्युत् घोष से वर्षा ऋतु का अभिनय करे ।।३६।।

अभिनव–निर्घात अर्थात् आकाश में होने वाला स्फोट शब्द गर्जन से भिन्न ।

---

१. ख. स्वेदाप्रमार्जनाच्चापि ।
२. ख. सुवीजनैः ।
३. ख. उष्णस्य वायोः स्पर्शाच्चि ।
४. ख. ग. निम्बकुटपैः ।
५. ख. कदम्बकैर्मयूराणां प्रावृषं सन्निरूपयेत् ।
६. ख. ग. नाद ।
७. ख. गम्भीर ।
८. ख. वर्षरात्रं विनिर्दिशेत् । ग. वर्षारम्भं समादिशेत् ।

[1]यद्यस्य चिह्नं वेषो वा कर्म वा रूपमेव वा ।
[2]निर्देश्यः स ऋतुस्तेन इष्टानिष्टार्थदर्शनात् ।।३७।।
एतानृतूनर्थवशाद्दर्शयेद्धि रसानुगान्[3] ।
[4]सुखिनस्तु [5]सुखोपेतान् दुःखार्थान् दुःखसंयुतान् ।।३८।।
([6]यो येन भावेनाविष्टः सुखदेनेतरेण वा ।
स तदाहितसंस्कारः सर्वं पश्यति तन्मयम्)।।३९।।

सहाध्याये यदुक्तं तत्राभिप्रायविशेषो दर्शितः । तत्र ह्युक्तं ''रिपुर्देशे तथैव क्रोधः'' (२२-अध्या०) इति । एवं स्नेहाख्यपद्यरूपकेन हंसपक्षेणानुभावानां भावसिद्ध्या

अनुवाद–जो जिस ऋतु का चिह्न है, जो वेष है, जो कर्म है अथवा रूप है, उसे उस ऋतु के इष्ट और अनिष्ट पदार्थों को दिखाते हुए अभिनय करे ।।३७।।

अभिनव–चिह्न–पुष्प, वेष आदि । उस काल के योग्य वस्तु आभरण रूप प्रसाधन जिसमें है, ऐसा कहना चाहिए । इसमें केवल सम्बन्ध मात्र की अपेक्षा षष्ठी विभक्ति है । कर्म है, कहीं-कहीं रूप का अनुसरण होता है । जैसे कहीं पर आतप है, तो कहीं पर चाँदनी ।

अनुवाद–इन ऋतुओं के प्रयोजन के अनुसार रसों के अनुकूल ऋतुओं का अभिनय करें । उनमें सुख के समृद्धों का सुखी के रूप में तथा दुःखी पात्रों का दुःख के रूप में अभिनय करें ।।३८।।

अनुवाद–सुख या दुःख जिस भाव से जो आविष्ट रहता है, उन भावों से आहित संस्कार से युक्त पुरुष समस्त संसार को तद्रूप देखता है ।।३९।।

---

१. ख. यद् यच्च ।
२. ख. ऋतुः स तेन निर्देश्यः । ग. निर्दिशसहितस्तेन ।
३. ख. प्रयुञ्जीत यथा रसम् । ग. दर्शयेद्विरहानुगान् ।
४. ख. सुखितेषु सुखोपेतां दुखार्तौ दुःखसंयुताम् ।
५. ग. सुखोत्पन्नान् दुःखितान् ।
६. ख. पुस्तके नास्ति ।

भावाभिनयनं कुर्याद्विभावानां निदर्शनैः ।
तथैव चानुभावानां भावसिद्धिः प्रवर्तिता[१] ।।४०।।
विभावेनाहृतं कार्यमनुभावेन नीयते[२] ।
[३]आत्मानुभवनं भावो विभावः परदर्शनम् ।।४१।।

प्रवर्त्तितमभिनयं कुर्यादिति सम्बन्धः ।......णोऽभिनयः शोकोचितेन मुखविकूणनादिना ।

ननु विभावः कथमभिनय इत्याशङ्क्याह—विभावेनाहृतं कार्यमिति । विभावः करणत्वादृमक इति यावत् । विभावेन हि कार्यमाहृतः । सामग्री हि कार्यं व्यभिचरन्ती गमयत्येव ।

ननु भावः कथमनुभावस्य गमक इत्याह—अनुभावेनेति ।

अनुभवान्तरे साहचर्यानुभवाद् गमकमित्येतदमुत्र तत्त्वम् । यदुक्तं भावसिद्धिप्रवर्तितमनुभावानामभिनयं कुर्यादिति । अथ विस्मरणशीलान् प्रति शृङ्गग्राहिकया भावविभावानुभावस्वरूपं दर्शयति—आत्मानुभवनं भाव इत्यादि । आत्मविश्रान्तं यदनुभवनं सुखदुःखसंविद्रूपं स भाव इत्यर्थः । आत्मग्रहणाद् घटाद्यनुभवनं न

अनुवाद—विभावों तथा अनुभावों के निदर्शन से, भावों की सिद्धि से प्रवर्त्तित भावों का अभिनय न करे ।।४०।।

अभिनव—भावों का अभिनय जैसे परस्थ क्रोध का । सूचीमुखाङ्गुलि प्रभृति परक है, जिसमें उसके द्वारा क्रोध का निर्देश करते हैं । इससे पूर्व अध्याय में जो कहा है, वहाँ अभिप्राय विशेष को दिखा दिया है । वहाँ कहा है कि 'रिपुर्देशे तथैव क्रोधे' इत्यादि । इस प्रकर हंसवक्त्र तथा हंसपक्ष मुद्रा से तथा अनुभावों की भावसिद्धि से प्रवर्त्तित अभिनय करे । शोक के योग्य मुख विकृणन से करुण का अभिनय करे ॥४०॥

विभाव—प्रश्न है कि विभाव का अभिनय कैसे करें ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—विभावों से सम्बद्ध कार्यों का अनुभावों के द्वारा अभिनय करे; क्योंकि स्वयं का भाव आत्मा का अनुभाव होता है और विभाव पर का दर्शन (ज्ञान) होता है ।।४१।।

---

१. ख. भावस्यानुगमेन च ।
२. ख. रूप्यते ।
३. ख. ग. आत्माभिनयनं ।

गुरुर्मित्रं सखा स्निग्धः सम्बन्धी बन्धुरेव वा ।
आवेद्यते हि यः प्राप्तः स विभाव इति स्मृतः[१] ।।४२।।

भाव इत्युक्तं भवति । णिचमन्ये पठन्ति । तत्रार्थः आत्मानुभाव्यते येन न च तादृगर्थस्तदस्तीति प्रकर्षो गम्यते । तेन यल्लब्धसत्तार्थकं चेत् तदवश्यमनुभूयते सुखादिरूपम् । तदेव भाव इत्युक्तं भवति ।

यत्तु व्यतिरिक्तवस्तुज्ञानं तत्सर्वं सुखादिजनकत्वाद्विभावः । तदाह–विभावः परदर्शनमिति । तदुदाहरति–गुरुर्मित्रमित्यादि ।

गुरुदर्शने सति विनयग्रहणे आदावुत्साह एव मित्रादेर्यथोचितं हर्षादनुविभावत्वं योज्यम् । मित्रं कार्यवशात् समानख्यातियोगत्वात् सखा सहपांसुक्रीडनापरिचितः आवेद्यत इत्यनेन दर्शनविषयस्येव भावतेति ।

अभिनव–विभाव के द्वारा कार्य का आहरण होता है । कारण सामग्री विविध प्रकार से सञ्चरण करती हुई कार्य का गमक होती है । पुनः प्रश्न होता है कि विभाव अनुभाव का गमक कैसे होता है ? इस पर कहते हैं कि अनुभाव से । अनुभावान्तर में साहचर्य के अनुभव से गमक होता है । यह यहाँ का तत्त्व है । जैसा कि कहा गया है कि भावसिद्धि से प्रवर्तित अनुभावों का अभिनय करे । अब इसके बाद जिसका भूलने का स्वभाव है, उसके प्रति शृङ्गग्राहिका के निर्देश से भाव, विभाव, अनुभावों के स्वरूप को दिखाते हैं कि आत्मानुभवन भाव है । आत्मविश्रान्त जो सुख-दुःख का ज्ञानरूप अनुभवन हैं, वह भाव है । आत्मानुभवन में आत्म पद के ग्रहण से यह अर्थ है कि घटादि का अनुभवन भाव नहीं है, यह कहा गया है ।

अन्य लोग भाव शब्द से णिच् प्रत्यय पढ़ते हैं । उसका अर्थ है कि जिसके द्वारा आत्मानुभवन कराया जाता है, वह भाव है । इस प्रकार ऐसा प्रकर्ष वहाँ ध्वनित होता है । अतः जो लब्धसत्तार्थक वस्तु वहाँ है, तो वह सुखादि स्वरूप वस्तु अवश्य ही अनुभवनीय है, वही भाव है, ऐसा कहा गया है । जो व्यतिरिक्त वस्तु का ज्ञान है । वह सब सुखादि का जनक होने से विभाव है, इसलिए कहते हैं कि विभाव पर का दर्शन (ज्ञान) है ।

अनुवाद–गुरु, मित्र, सखा, स्निग्ध (स्नेही) सम्बन्धी अथवा बन्धु जो प्रकृष्ट रूप में प्राप्त होता है, वह सभी 'विभाव' कहलाता है ।।४२।।

---

१. ख. स तु संज्ञितः ।

यत्त्वस्य सम्भ्रमोत्थानैरर्घ्यपाद्यासनादिभिः[१] ।
पूजनं क्रियते [२]भक्त्या सोऽनुभावः प्रकीर्तितः[३] ।।४३।।
एवमन्येष्वपि [४]ज्ञेयो नानाकार्यप्रदर्शनात् ।
विभावो वापि भावो वा विज्ञेयोऽर्थवशाद्बुधैः ।।४४।।

प्राप्त इत्यनेन चित्तवृत्तिजन्मनि गुर्वादेरन्वयव्यतिरेकौ सूचयन् कारणमाह–यत्त्वस्येति । गुर्वादेः सम्भ्रमेण यदुत्थानं प्रत्युद्गमनं बहुवचनाद्यततं सूचकौ यथोचितं भावे सङ्ग्रहालिङ्गनादिवचनेनेत्यर्थः । उदाहरणमात्रमेतदिति दर्शयति–एवमन्येष्वपीति । रसेषु शृङ्गारादिष्विति भावः, एकेन वा ग्रहणेनानुभावः सूचितः । द्वितीयो विकल्पार्थः अपिशब्देन स्थायिव्यभिचारिरूपतां समुच्चिनोति । अर्थवशादिति प्रयोजनवशात् ।

अभिनव–गुरु के देखने पर विनय के ग्रहण में पहले ही उत्साह होता है, मित्रादि के देखने पर यथोचित हर्षादि का अनुभव होता है । ऐसी यथोचित योजना करनी चाहिए । मित्र कार्य के वश होता है, समान ख्याति के योग से सखा होता है, साथ साथ पांशु क्रीड़ा में परिचित होता है । 'आवेद्यते' से यह बतलाते हैं कि जो दर्शन का विषय होता है, वही भाव है । 'प्राप्त' इससे चित्तवृत्ति के उत्पन्न होने से गुरु, मित्र आदि का अन्वय-व्यतिरेक है ॥४२॥

अनुवाद–आदरपूर्वक इन व्यक्तियों के आने पर अगवानी करने तथा अर्घ्य, पाद्य, आसन आदि के द्वारा भक्ति से जो पूजन किया जाता है, वह 'अनुभाव' कहलाता है ।।४३।।

अभिनव–जो गुरु, मित्र आदि के देखने पर आदर से उत्थान (प्रत्युद्गमन) है, बहुवचन के प्रयोग से आदरसूचक यथोचित भाव के संग्रह से आलिङ्गन आदि होता है ॥४३॥

अनुवाद–इस प्रकार नाट्य प्रदर्शन में अन्य स्थानों पर भी नाना कार्यों के प्रदर्शन से विद्वान् लोगों को प्रयोजनवश भाव एवं विभाव को समझ लेना चाहिए ।।४४।।

---

१. ख. स्थानमर्घ्यासनपरिग्रहः । २. ख. वाचा ।
३. ग. इति स्मृतः ।
४. ग. तथा नानाकार्यार्थदर्शनात् । ख. कार्यत्व ।

यस्त्वपि प्रतिसन्देशो दूतस्येह प्रदीयते ।
[१]सोऽनुभाव इति ज्ञेयः प्रतिसन्देशदर्शितः[२] ।।४५।।
एवं भावो विभावो वाप्यनुभावश्च कीर्तितः[३] ।
पुरुषैरभिनेयः स्यात्प्रमदाभिरथापि वा ।।४६।।

ननु नियमेनायमस्याश्चित्तवृत्तौ विभाव इति शक्यं वक्तुम् । प्रयोजनान्तर-योगे तस्यैवान्यत्र विभावत्वदर्शनात् । न केवलं प्रत्यक्षेण दृश्य एवानुभवश्चित्त-वृत्तिं गमयति । यावत्प्रमाणान्तरेण शब्दादिनाप्यविदित इति दर्शयितुमाह—यस्त्वपि प्रतिसन्देश इति । एतच्चानुमानस्याप्युपलक्षणम् । सन्तमसे हि गद्गदगुरु-सज्जनवचनानुमेयात् । वाष्पादपि हि भवति शोकावगमः ।

एतदुपसंहरति— एवमित्यादि । पुरुषैः प्रमदाभिर्वेत्युक्तं तत्रानावेश्यादेषां स्थानमावेदयति ।

अभिनव—इसी प्रकार शृङ्गारादि अन्य रसों को भी समझो, यह भाव है । एक 'वा' ग्रहण से अनुभाव सूचित होता है और द्वितीय 'वा' ग्रहण से विकल्प अर्थ है । 'अपि' शब्द स्थायीभाव के दूसरे रस में व्यभिचारीभाव रूपता का समुच्चय करता है । अर्थवश अर्थात् प्रयोजनवश ।।४४।।

अनुवाद—यहाँ पर अभिनय में सन्देश के उत्तर में दिये गये प्रतिसन्देश के समझने वाले दूत के लिए जो प्रतिसन्देश दिया जाता है, उसे 'अनुभाव' समझना चाहिए ।।४५।।

अभिनव—इस चित्तवृत्ति में नियम का यह भाव होता है, यह नहीं कह सकते हैं ; क्योंकि प्रयोजनान्तर के योग से वही दूसरी जगह विभाव हो जाता है । प्रत्यक्ष से ही किया गया अनुभव चित्तवृत्ति का गमक होता है । प्रमाणान्तर से भावोदित हुआ शब्दादि से बतलाने के लिए कहते हैं, जो प्रतिसन्देश है । यह अनुभाव का उपलक्षण है । अन्धकार में गद्गद गुरु और सज्जन के वचन से अनुमेय वाष्प से शोक का अवगम होता है ।।४५।।

अनुवाद—इस प्रकार भाव, विभाव अथवा अनुभाव का पुरुष तथा स्त्री पात्रों द्वारा रङ्गमञ्च पर अभिनय किया जाता है ।।४६।।

अभिनव—इस प्रकार उपसंहार करते हैं । पुरुषों के द्वारा अथवा नारियों के द्वारा ऐसा जो कहा है, इसमें उनके स्थान का अभिवेदन करते हैं ।।४६।।

---

१. ग. अनुभावैस्तु विज्ञेयः । २. ख. ग. दर्शनात् ।
३. ग. एवं विभावो भावो वाप्यनुभावोऽथवा पुनः ।

स्वभावाभिनये स्थानं पुंसां कार्यं तु वैष्णवम् ।
आयतं वावहित्थं वा स्त्रीणां कार्यं स्वभावतः ।।४७।।
([1]प्रयोजनवशाच्चैव [2]शेषाण्यपि भवन्ति हि ।
नानाभावाभिनयनैः प्रयोगैश्च पृथग्विधैः) ।।४८।।
[3]धैर्यलीलाङ्गसम्पन्नं पुरुषाणां विचेष्टितम् ।
[4]मृदुलीलाङ्गहारैश्च स्त्रीणां कार्यं तु चेष्टितम् ।।४९।।
[5]करपादाङ्गसञ्चारास्त्रीणां [6]तु ललिताः स्मृताः ।
[7]सुधीरश्चोद्धतश्चैव पुरुषाणां प्रयोक्तृभिः[8] ।।५०।।

गतिं च दर्शयति–स्वभावाभिनय इत्यादिना । शेषाणीति । स्थानान्तराण्यपीति यावत् । यदुक्तम् –

धैर्यलीलाङ्गसम्पन्नं कृत्वा पुरुषचेष्टितम् ।
प्रयोक्तृभिः प्रयोक्तव्यं स्त्रीणां चेष्टितमन्यथा ।।

मार्दवलीलाप्रधानैरङ्गविक्षेपैरिति तत्र तथा सिद्धत्वं हेतुमाह–करपादाङ्गसञ्चार इति ।

अनुवाद–भावतः अर्थात् भाव, विभाव और अनुभावों के अभिनय में पुरुषों का स्थान वैभवयुक्त होना चाहिए और स्त्रियों का स्वभावतः आयत अथवा अवहित्थ स्थान होना चाहिए ।।४७।।

अनुवाद–नाना भावों के अभिनय तथा पृथक् प्रकार के प्रयोगों के अनुसार प्रयोजन के वश अवशिष्ट स्थान होते हैं ।।४८।।

अनुवाद–पुरुषों की चेष्टाएँ धैर्य और लीला से सम्पन्न करनी चाहिए एवं स्त्रियों की चेष्टाएँ कोमल और लीलापूर्ण अङ्गहारों से करनी चाहिए ।।४९।।

अनुवाद–प्रयोक्ता लोग स्त्रियों के हाथ, पैर और अङ्गों के सञ्चार लालित्यपूर्ण होने चाहिए और पुरुषों के अङ्गों के सञ्चार धैर्य और उद्धत होने चाहिए ।।५०।।

---

१. ख. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति । २. ग. स्थानान्यन्यानि योजयेत् ।
३. ग. धैर्यलीलाङ्गहारं स्यात्पुरुषाणां तु चेष्टितम् ।
४. ग. हारं च कार्यं स्त्रीणां तु । ५. ग. करपादाङ्गसंचारः ।
६. ग. सललितो भवेत् । ख. तु ललितो भवेत् ।
७. ग. सुधीरस्तु ततोऽपि स्याद्व्यापारः पुरुषाश्रयः । ८. ख. प्रकीर्तितः ।

यथारसं यथाभावं स्त्रीणां भावप्रदर्शनम् ।
नराणां प्रमदानां च [१]भावाभिनयनं पृथक् ।।५१।।
भावानुभावनं युक्तं[२] व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
आलिङ्गनेन गात्राणां सस्मितेन च चक्षुषा ।।५२।।
[३]तथोल्लुकसनाच्चापि हर्षं सन्दर्शयेन्नरः ।
क्षिप्रसञ्जातरोमाञ्चाद्[४] वाष्पेणावृतलोचना ।।५३।।
कुर्वीत नर्तकी हर्षं प्रीत्या वाक्यैश्च सस्मितैः ।
उद्वृत्तरक्तनेत्रश्च [५]सन्दष्टाधर एव च ।।५४।।

तुर्हेतौ ।

आलिङ्गनेन गात्राणामिति । स्वात्मीयानामेवान्योन्यमासे...... णेत्यर्थः । क्रोधस्त्वभिनयेदिति व्यभिचरितः प्राप्तिमिति मन्तव्यम् । रसेषु हि सामान्याभिनयः

अभिनव–मृदु एवं लीलाप्रधान अङ्गों के विक्षेप से लीला की कोमलता सिद्ध करने के लिए हेतु को कहते हैं। यहाँ तु का अर्थ हेतु है ॥५०॥

अनुवाद–यथारस और यथाभाव स्त्रियों और पुरुषों के अभिनय का प्रदर्शन करे और प्रमदाओं एवं पुरुषों के भावों का अभिनय पृथक् पृथक् होता है ।।५१।।

अनुवाद–अब भावाभिनयन से युक्त भावों का अभिनय क्रमशः कहूँगा । गात्रों के आलिङ्गन से तथा सस्मित नेत्रों से तथा उल्लुकसन से उभरे अवयवों से मनुष्य हर्ष का प्रदर्शन करे ।।५२।।

अभिनव–गात्रों के आलिङ्गन से ।

अनुवाद–शीघ्र उत्पन्न रोमाञ्च से युक्त तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों से आवृत नर्तकी प्रीतियुक्त सस्मित वाक्यों से हर्ष का अभिनय करे ।।५३।।

अनुवाद–उभरे हुए रक्त नेत्रों से, अधर के सन्दंशन से निःश्वासपूर्वक काँपते हुए अङ्गों से पुरुष के क्रोध का अभिनय करे ।।५४।।

---

१. ख. शब्दार्थाभिनयः ।
२. ख. ग. भावसंयुक्तं ।
३. ख. तथाल्पकथनाच्चापि हर्षं संयोजयेद् बुधः ।
४. ख. ग. क्षिप्रं सञ्जातरोमाञ्चा ।
५. ख. नेत्रं च ।

निःश्वासकम्पिताङ्गश्च क्रोधं चाभिनयेन्नरः[१] ।
[२]नेत्राभ्यां वाष्पपूर्णाभ्यां चिबुकौष्ठप्रकम्पनात् ।।५५।।
[३]शिरसः कम्पनाच्चैव भ्रुकुटीकरणेन[४] च ।
मौनेनाङ्गुलिभङ्गेन[५] माल्याभरणवर्जनात् ।।५६।।
आयतस्थानकस्थाया ईर्ष्या क्रोधे[६] भवेत्स्त्रियाः ।
निःश्वासोच्छ्वासबहुलैरधोमुखविचिन्तनैः ।।५७।।
[७]आकाशवचनाच्चापि दुःखं पुंसां तु योजयेत् ।
रुदितैः [८]श्वसितैश्चैव शिरोभिर्हननेन च ।।५८।।

श्रृङ्गारद्वारेण दर्शितः, अत्र तु व्यभिचारिषु दर्श्यते । दुःखमिति

अनुवाद–अश्रुपूर्ण नेत्रों से चिबुक और ओष्ठ के प्रकम्पन से, शिर के कम्पन से, भृकुटि के टेढ़ी करने से, मौनभाव से, अङ्गुलियों के तर्जन से तथा माला और आभूषण के त्याग से आयत स्थान में स्त्री ईर्ष्या और क्रोध का अभिनय करे ।।५५-५६।।

अभिनव–क्रोध का अभिनय करे, अतः व्यभिचारी भाव के द्वारा प्राप्त हुआ, ऐसा मानना चाहिए । रसों का सामान्याभिनय श्रृङ्गार के द्वारा दिखाया गया है । यहाँ व्यभिचारीभाव द्वारा दिखाते हैं ।

अनुवाद–दीर्घ निःश्वास एवं उच्छ्वासों से मुख नीचा करके चिन्तन करने से आकाशभासित से पुरुषों के दुःख का अभिनय करे ।।५७।।

अनुवाद–रोने के दीर्घ श्वासों से, शिर के पीटने से, भूमि पर पात से और हाथों से भूमि के पीटने से स्त्रियों के दुःख का अभिनय करे ।।५८।।

---

१. ख. बुधः ।
२. ख. बाष्पपूर्णैः क्षणाच्चैव ।
३. ग. शिरःकम्पाद् भृकुट्या च नेत्रस्याञ्जनेन च ।
४. ख. भ्रुकुटीदर्शनेन ।
५. ख. भागेन ।
६. ग. ईर्ष्याकोपो ।
७. ख. आकाशवीक्षणात् । ग. आकार्यवाञ्छनाच्चापि ।
८. ख. स्मितैश्चैव उरोऽभिहननेन ।

[1]भूमिपाताभिघातैश्च दुःखं स्त्रीषु प्रयोजयेत् ।
[2]आनन्दजं चार्तिजं वा ईर्ष्यासम्भूतमेव वा ।।५९।।
[3]यत्पूर्वमुक्तं रुदितं तत्स्त्रीनीचेषु योजयेत् ।
[4]सम्भ्रमावेगचेष्टाभिश्शस्त्रसम्पातनेन च ।।६०।।
पुरुषाणां भयं कार्यं धैर्यावेगबलादिभिः[5] ।
चलतारकनेत्रत्वाद्गात्रैः स्फुरितकम्पितैः ।।६१।।
सन्त्रस्तहृदयत्वाच्च [6]पार्श्वाभ्यामवलोकनैः ।
भर्तुरन्वेषणाच्चैवमुच्चैराक्रन्दनादपि[7] ।।६२।।
[8]प्रियस्यालिङ्गनाच्चैव भयं कार्यं भवेत्स्त्रियाः ।
[9]मदा येऽभिहिताः पूर्वं ते स्त्रीनीचेषु योजयेत् ।।६३।।

शोकः भूम्यां हस्ताभ्यां च ये घाता हस्तताडनानि तथाभूतैर्हस्ताभ्यां घातास्तैराकाशस्येति शून्योऽप्यवलम्बनप्रवृत्तेत्यर्थः । विलग्नं कलासङ्कथितानि

अनुवाद–आनन्द से, पीड़ा से या ईर्ष्या से उत्पन्न होने वाले रोदन का जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है, उनकी स्त्री पात्रों तथा नीच पात्रों में योजना करे ।।५९।।

अनुवाद–सम्भ्रम, आवेग और चेष्टाओं से शास्त्र के सम्पातन से, धैर्य, आवेग के बल आदि से, चञ्चल तारिकाओं से, नेत्रों के हिलने से, गात्र के फड़कने एवं कम्पन से पुरुषों के भय का अभिनय करे ।।६०-६१।।

अनुवाद–सन्त्रस्त हृदय होने से, पार्श्व में अवलोकन से, भर्ता के अन्वेषण से, उच्च स्वर के आक्रन्दन से, प्रिय के बार-बार आलिङ्गन से स्त्रियों के भय का अभिनय करना चाहिए । मैंने जिसे पहले कह दिया है, उसका स्त्रियों एवं नीचों में अभिनय करे ।।६२-६३।।

---

१. ख. भूमिघाताभिघातैश्च । ग. भूमिहस्ताभिस्वेदु (?) देवं ।
२. ख. आनन्दाश्रु समुत्पन्नम् ईर्ष्यासम्भव एव वा । ग. आनन्दं चार्तिरभवदीर्ष्यासम्भवमेव च ।
३. ग. मूर्खमुक्तं रुदितं । ख. यत्पूर्वमुक्तं सहितं ।
४. ग. भ्रंशमावेगचेष्टाभिः ।
५. ग. धैर्याय शबलादिभिः । ख. धैर्योद्वेगबलादिभिः ।
६. ग. पार्श्वाभ्यां तु ।
७. ख. ग. क्रोशनात् ।   ८. ख. ग. पुरुष ।
९. ग. मया ।

मृदुभिः [१]स्खलितैर्नित्य[२]माकाशस्यावलम्बनात् ।
नेत्रावघूर्णनैश्चैव [३]सालस्यैः कथितैस्तथा ।।६४।।
गात्राणां कम्पनैश्चैव मदः कार्यो भवेत्स्त्रियाः ।
अनेन विधिना कार्याः प्रयोगाः [४]कारणोत्थिताः ।।६५।।
पौरुषः स्त्रीकृतो वापि भावा ह्यभिनयं प्रति ।
सर्वे सललिता भावास्स्त्रीभिः कार्याः प्रयत्नतः[५] ।।६६।।
[६]धैर्यमाधुर्यसम्पन्ना भावाः कार्यास्तु पौरुषाः ।
त्रिपताकाङ्गुलीभ्यां तु [७]वलिताभ्यां प्रयोजयेत् ।।६७।।
[८]शुकाश्च सारिकाश्चैव सूक्ष्मा ये चापि पक्षिणः ।
[९]शिखिसारसहंसाद्याः स्थूला येऽपि स्वभावतः ।।६८।।

चलिताभ्यामिति मन्थरं चरं चरन्तीत्यारेचितकैरङ्गहारैरिति तुर्याध्यायनिरूपितैर्गतिप्रचारैरिति तदुचितैरेव शिरोग्रीवादिकर्मभिः भयोद्वेगौ स्त्रीनीचानां

अनुवाद—मृदु स्खलन से नित्य आकाश के अवलम्बन से, नेत्रों के अवघूर्णन से आलस्यपूर्ण वचनों से तथा शरीर के कम्पन से स्त्रियों के मद का अभिनय करे । इस विधि से करणों अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा प्रयोगों को करना चाहिए ।।६४-६५।।

अनुवाद—नाट्यप्रदर्शन में पुरुषों के भावों को यदि स्त्रियाँ करें, तो स्त्रियाँ सभी भावों को प्रयत्नपूर्वक लालित्यपूर्ण करे ।।६६।।

अनुवाद—पुरुषों के भावों को धैर्य और माधुर्य से सम्पन्न करे और त्रिपताक अङ्गुलियों को वलित करके प्रयोग करे ।।६७।।

अनुवाद—शुक (तोता) और सारिका (मैना) पक्षी जो स्वभावतः सूक्ष्म हैं और मोर, सारस और हंस जो स्वभावतः स्थूल हैं, उनका अभिनय रेचक अङ्गहारों से करना चाहिए ।।६८।।

---

१. ललितैः कार्य ।
२. ख. ग. आकारस्य ।
३. ग. विलग्नैः । ख. विलापकथितैः ।
४. ख. करणोत्थितः ।
५. ग. स्त्रीणां कार्याः प्रयोक्तृभिः (प्रयोगतः) ।
६. ग. वीर्य ।
७. ग. मिलिताभ्यां ख. चलिताभ्यां ।
८. ग. शुकसारिकानुष्ठानान्सूक्ष्मानन्यांश्च पक्षिणः ।
९. ग. शिखिनः सारसा हंसाः स्थूला येऽन्ये च पक्षिणः ।

[1]रेचकैरङ्गहारैश्च तेषामभिनयो भवेत् ।
[2]खरोष्ट्राश्वतरासिंहव्याघ्रगोमहिषादयः ।।६९।।
[3]गतिप्रचारैरङ्गैश्च तेऽभिनेयाः प्रयोक्तृभिः ।
भूताः पिशाचा यक्षाश्च दानवाः सह राक्षसैः ।।७०।।
अङ्गहारैर्विनिर्देश्या [4]नामसङ्कीर्तनादपि ।
अङ्गहारैर्विनिर्देश्या अप्रत्यक्षा भवन्ति ये ।।७१।।
प्रत्यक्षास्त्वभिनेतव्या भयोद्वेगैः सविस्मयैः ।
[5]देवाश्च चिह्नैश्च प्रणामकरणैर्भावैश्च विचेष्टितैः ।।७२।।

राक्षसादिदर्शने विस्मयस्तूत्तमानाम् । अत्र च भावादिगता अनुभावाः..............
दिशद्वैरुक्ता भावैः..........यथा गदतो रुद्रस्य रौद्राभिनयस्य चेष्टितानि यथा

अनुवाद–गदही, खचरी, ऊँट, सिंह, व्याघ्र, गाय, भैंस आदि पशुओं के अभिनयों को प्रयोक्ता अङ्गों के सञ्चार एवं गति प्रचार से करें ।।६९।।

अनुवाद–भूत, पिशाच, यक्ष, दानव, राक्षसों का नाम लेकर अङ्गहारों से अभिनय करे ।।७०।।

अनुवाद–इनमें जो अप्रत्यक्ष हैं, उनका निर्देश अङ्गहारों से करे और जो प्रत्यक्ष हैं, उनका अभिनय भय, उद्वेग एवं विस्मय के भावों के द्वारा करे ।।७१।।

अनुवाद–प्रयोगवेत्ता लोग अप्रत्यक्ष देवता के अभिनय को प्रयोजन के अनुसार उनके चिह्नों का प्रदर्शन करके भावपूर्ण विचेष्टाओं से प्रणाम करते हुए अभिनय करें ।।७२।।

---

१. ग. पक्षाङ्गहारैर्विविधैस्तेऽभिनेयाः प्रयोक्तृभिः ।
२. ख. खरोष्ट्राश्वेभसिंहाश्च । ग. खरोष्ट्रगोऽश्वाश्वतरान् सिंहव्याघ्रगजादिकान् ।
३. ग. महापशूनङ्गहारैर्गतिभिश्च प्रयोजयेत् ।
४. ख. ग. कर्म ।
५. ख. देवाः प्रमाणकरणैर्भावैश्चापि विचेष्टितैः ।
ग. देवाः प्रमाणकरणैर्भावैश्च विचेष्टितैश्च ललितैश्च ।

[१]अभिनेयो ह्यर्थवशादप्रत्यक्षाः प्रयोगज्ञैः[२] ।
[३]सव्योत्थितेन हस्तेन ह्यरालेन शिरः स्पृशेत् ।।७३।।
[४]नरेऽभिवादनं ह्येतदप्रत्यक्षे विधीयते ।
खटकावर्धमानेन [५]कपोताख्येन वा पुनः ।।७४।।
[६]दैवतानि गुरूँश्चैव प्रमदाश्चाभिवादयेत् ।
दिवौकसश्च ये पूज्याः [७]प्रत्यक्षाश्च भवन्ति ये ।।७५।।
[८]तान् प्रमाणैः प्रभावैश्च गम्भीरार्थैश्च योजयेत् ।
महाजनं [९]सखीवर्गं विटधूर्तजनं तथा ।।७६।।
परिमण्डलसंस्थेन[१०] हस्तेनाभिनयेन्नरः ।
पर्वतान् प्रांशुयोगेन वृक्षाँश्चैव समुच्छ्रितान् ।।७७।।

रुद्रस्य संचिह्नानि यथास्य त्रिशूलं परिमण्डलत्वेन सम्यग् ज्ञातं यस्येति प्रकरणादत्र पताक एव विशेषो मन्तव्यः । अङ्गाद्यैरिति । आदिग्रहणाददृष्टिसात्त्विकपरिग्रहः । सदृशैरिति डोलाहस्तादिरूपैः । विलोलनैरिति चञ्चलैरिति

अनुवाद—अप्रत्यक्ष मनुष्य के अभिवादन का यह विधान है कि अराल हाथ को ऊपर से उठाकर दायें हस्त से शिर का स्पर्श करे ।।७३।।

अनुवाद—खटकावर्धमान हाथ से अथवा कपोत हस्त से देवता, गुरु और प्रमदा का अभिवादन करे ।।७४।।

अनुवाद—जो देवता हैं और जो प्रत्यक्ष पूज्य हैं, उनका उनके प्रमाण एवं प्रभाव के अनुसार गम्भीरता से अभिवादन करे ।।७५।।

अनुवाद—मनुष्य महाजन को, सखीवर्ग को, विट एवं धूर्त्त जन को परिमण्डलाकार हाथ से अभिवादन का अभिनय करे ।।७६।।

अनुवाद—पर्वतों को ऊँचाई के योग से और वृक्षों को भी ऊँचाई के योग से ऊपर की ओर उठाये हुये फैलाकर भुजाओं से अभिवादन करे ।।७७।।

---

१. ख. चिह्नैरभिनेया ग. अर्थवशादभिनेया ।
२. ग. प्रयोगेषु ।
३. ख. पार्श्वोत्थितेन ग. भयोत्थितेन ।
४. ख. नराभिवादनं ।
५. ग. नखटाख्येन ।
६. ख. देवताभिर्गुरूँश्चैव प्रमदाभिश्च वादयेत् ।
७. ग. अप्रत्यक्षाश्च ।
८. ग. प्रणामैश्च प्रभावैश्च गभीरार्थे प्रयोजयेत् ।
९. ख. ग. सखिजनं ।
१०. ख. ग. संज्ञेन ।

प्रसारिताभ्यां बाहुभ्यामुत्क्षिप्ताभ्यां प्रयोजयेत् ।
समूहसागरं सेनां बहुविस्तीर्णमेव च ।।७८।।
पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यामुत्क्षिप्ताभ्यां[१] प्रदर्शयेत् ।
[२]शौर्यं धैर्यं च गर्वं च दर्पमौदार्यमुच्छ्रयम् ।।७९।।
ललाटदेश[३]स्थानेन त्वरालेनाभिदर्शयेत् ।
वक्षोदेशादपाविद्धौ[४] करौ तु मृगशीर्षकौ ।।८०।।
[५]विस्तीर्णप्रद्रुतोत्क्षेपौ योज्यौ यत्स्यादपावृतम् ।
अधोमुखोत्तानतलौ हस्तौ किञ्चित्प्रसारितौ[६] ।।८१।।
[७]कृत्वा त्वभिनयेद्वेलां बिलद्वारं गृहं गुहाम् ।
[८]कामं शापग्रहग्रस्तान् ज्वरोपहतचेतसः[९] ।।८२।।

भावः ।

अनुवाद—जनसमूह, सेना, सागर एवं बहुत विस्तीर्ण जन को ऊपर उठाये हुए पताका हस्त से अभिवादन करें ।।७८।।

अनुवाद—शौर्य, धैर्य, गर्व, दर्प, औदार्य और वृद्धि एवं उन्नति को ललाट पर रखे हुए टेढ़े (अराल) हाथ से अभिनय करें ।।७९।।

अनुवाद—मृगशीर्षक हाथों को वक्षःस्थल से दूर करके जल्दी से फैलाते हुए दूर ले जाकर अपावृत कर दे ।।८०।।

अनुवाद—उत्तानतल को अर्थात् उत्तान की हुई हथेली को अधोमुख करके हाथों को थोड़ा फैलाकर वेला, विल के द्वार, घर और गुहों का अभिनय करे ।।८१।।

अनुवाद—काममयी वासनाओं के शाप से ग्रस्त होकर तथा ग्रहों से ग्रस्त एवं ज्वर से उपहतचित्त और उनकी चेष्टा का अभिनय अङ्गादि के सदृश करे ।।८२।।

---

१. ख. ग. विक्षिप्ताभ्यां । २. ख. ततः शौर्यञ्च दर्पञ्च । ग. धैर्यं शौर्यं च दर्पं ।
३. ख. संस्थेन हस्तौ किञ्चित् प्रसारितौ । ग. संस्थेन ह्यरालेन विनिर्दिशेत् ।
४. ग. अपावृत्तौ । ५. ख. ग. विस्तीर्णाय द्रुतक्षिप्तौ ।
६. ग. प्रदर्शयेत् ।
७. ख. कृत्वा निदर्शयेत्तत्द् गृहध्वान्तं बिलं गुहाम् (ग. प्रदर्शयेत्तद्वत्) ।
८. ख. कामपाशग्रहग्रस्ता । ९. ख. ग. मानसाः ।

[1]एतेषां चेष्टितं कुर्यादङ्गाद्यैः सदृशैर्बुधैः ।
दोलाभिनयनं कुर्याद्दोलायास्तु विलोलनैः[2] ।।८३।।
सङ्क्षोभेण च गात्राणां रज्ज्वश्वाग्रहणेन च[3] ।
[4]यदा चाङ्गवती डोला [5]प्रत्यक्षा पुस्तजा भवेत् ।।८४।।
[6]आसनेषु प्रविष्टानां कर्तव्यं तत्र डोलनम् ।
आकाशवचनानीह वक्ष्याम्यात्मगतानि च ।।८५।।

अथ वाचिकप्रसङ्गाच्चित्राभिनयं वक्तुं प्रतिजानीते आकाशवचनानी-त्यादि ।

दूरस्थेन रङ्गमप्रविष्टेनैव पात्रेण सहाभाषणमत एवाह– अशरीरं यन्निवेदन-मिति । परोक्तेन प्रविष्टपात्रसम्बन्धिन्यान्तर्हितं व्यवहितम् ।

अनुवाद–झूला का अभिनय झूला के विलोचन से (हिलाने से) तथा गात्रों (शरीर) के सञ्चालन से एवं घोड़ों के लगाम को ग्रहण करने से करना चाहिए ।।८३।।

अनुवाद–दोला, अङ्गवती एवं प्रत्यक्ष मञ्च पर प्रस्तुत आसन पर बैठकर झूलते हुए पुरुष लोगों को दोलन करना चाहिए ।।८४।।

अनुवाद–अब मैं आकाशभाषित, आत्मगत (स्वगत), अपवारितक, जनान्तिक, दूरस्थ भाषण तथा अशरीर निवेदन को कहूँगा ।।८५।।

अभिनव–अब वाचिक के प्रसङ्ग में चित्राभिनय के कहने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं–आकाशवचनानि । दूरस्थ रङ्ग में अप्रविष्ट पात्र के साथ भाषण करना अशरीर निवेदन है ।

---

१. ख. तेषामभिनयः कार्यो मुखमात्रविचेष्टितैः ।
   ग. एवंविधा नरा ये च तेषां कार्यं विचेष्टितैः ।
२. ग. दोलानां त्ववदोलनैः ।
३. ख. रज्ज्वाः प्रग्रहेण च । ग. रज्जुप्रग्रहणेन च ।
४. ख. तदा कम्पवती दोला ।
५. ख. ग. भवेत् प्रत्यक्षसंश्रया ।
६. ग. आसनैरुपविष्टानां कार्यं तत्रापि दोलनम् ।

अपवारितकं चैव जनान्तिकमथापि च ।
[1]दूरस्थाभाषणं यत्स्यादशरीरनिवेदनम्[2] ।।८६।।
परोक्षान्तरितं वाक्य[3]माकाशवचनं तु तत् ।
तत्रोत्तरकृतैर्वाक्यैः संलापं सम्प्रयोजयेत् ।।८७।।
नानाकारणसंयुक्तैः [4]काव्यभावसमुत्थितैः ।
[5]हृदयस्य वचो यत्तु तदात्मगतमिष्यते ।।८८।।

नन्वप्रविष्टस्य सम्बन्धिवचनं केनोदीर्यत इत्याशंक्याह–तत्रोत्तरकृतैरिति । उत्तरत्वेन यानि कृतानि वाक्यानि ''मैवं ब्रवीषि'' इति तैः प्रयोजयेदिति प्राक् प्रविष्टस्यैव पात्रस्य कर्तृत्वं परोक्तवचनमनुभाषणच्छायाप्रविष्ट एवं ब्रूयादिति तात्पर्यम् ।

निगूढभावो निगूढनं सर्वेषां यन्निगूह्यते एक एव शृणुयादिति तदपवारितं जनान्तिकं एकान्तिकत्वं चैकस्यैव निगूह्यत इति विशेषः ।

आकाशभाषित

अनुवाद–परोक्ष में अन्तर्हित होकर जो बोलता है; वह आकाश-भाषित है । यहाँ नाना करणों के संयोग से काव्य की भावना से उद्गत हुए उत्तरमय वाक्यों से संलाप का प्रयोग करना चाहिए ।।८६-८७।।

आत्मगत (स्वगत)

अनुवाद–हृदयस्थ जो वचन है, वह आत्मगत है । प्रायः नाटकादि में वितर्क के साथ उसकी योजना करनी चाहिए ।।८८।।

अभिनव–परोक्ष रूप से प्रविष्ट पात्र के सम्बन्ध से अन्तर्हित व्यवहित शंका होती है कि अप्रविष्ट पात्र के सम्बन्धी के वचन को कौन बोलता है । इस पर आशंका करके कहते हैं, उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में कहे गये वचन ''ऐसा मत कहो'' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करे और पहले से प्रविष्ट पात्र के परोक्ष वचन के अनुभाषण छायारूप में प्रविष्ट पात्र इस प्रकार बोले ।

अपवारितक

अभिनव–निगूढ़ भाव का अर्थ है–निगूहन । सबसे जो छुपाया जाता है, जो अकेला ही सुनता है, वह अपवारितक है ।

---

१. ग. दूरस्थान्वेषणं । २. ग. निवेशनम् । ३. ग. यच्चापि ।
४. ग. रस । ५. ग. हृदयस्थं स वै ।

सवितर्कं च तद्योज्यं प्रायशो नाटकादिषु ।
निगूढभावसंयुक्त[1]मपवारितकं स्मृतम् ।।८९।।
कार्यवशादश्रवणं पार्श्वगतैर्यज्जनान्तिकं तत्स्यात् ।
हृदयस्थं सविकल्पं भावस्थं चात्मगतमेव ।।९०।।
[2]इति गूढार्थयुक्तानि वचनानीह नाटके ।
[3]जनान्तिकानि कर्णे तु तानि योज्यानि योक्तृभिः ।।९१।।

अन्ये त्वाहुः । उभयमित्येतज्जनान्तिकमेव । यावतो हि जनस्य तद्वक्तव्यं तावतोऽन्तिके सामीप्ये तदुच्यते । अपवारितकं तु तदुच्यते यत्र तूहात्परमुद्दिश्य नोच्यते । अथ च परः श्रृणोत्वित्ययमेवाशयो वचने तदपवारितकं तेन

अनुवाद–किसी गूढ़ भाव से सम्बद्ध वचनों का भाषण अपवारितक कहलाता है ।।८९।।

जनान्तिक

अनुवाद–कार्य के अनुसार समीप में स्थित व्यक्ति की बात जब कोई नहीं सुनता, वह जनान्तिक है ।।९०।।

अभिनव–जो एकान्तिक वचन है और जो एक से ही छुपाया जाता है, वह जनान्तिक है ।

आत्मगत

अनुवाद–हृदयस्थ सविकल्प कथन, आत्मगत कहलाता है ।

अभिनव–अन्य लोग कहते हैं कि ये दोनों जनान्तिक और आत्मगत जनान्तिक ही कहे जाते हैं । जितने आदमियों के समीप में जो कहना है, उसको उतने आदमियों के समीप में कहना जनान्तिक है । जहाँ पर ऊहा करके दूसरे को लक्ष्य करके जो कहा जाता है, वह वचन अपवारितक है । भाव यह कि जिसे दूसरा सुने, वह वचन अपवारितक है । इससे निगूढ़ भाव के आशय से प्रयुक्त अभिचार से कहा गया कालादि का सर्वत्र अनुसरण करें ।

अनुवाद–नाटक में जो गूढ़ युक्त वचन होते हैं, वे जनान्तिक हैं । उनका प्रयोग अभिनेता लोग कान में करें ।।९१।।

---

१. ख. संसक्तं । २. ख. ग. यानि गुह्यार्थ ।
३. ख. कर्णे निवेद्यमेवमेवमित्यभिधाय च ।

[1]पूर्ववृत्तं तु यत्कार्यं भूयः कथ्यं तु कारणात् ।
[2]कर्णप्रदेशे तद्वाच्यं मागात्तत्पुनरुक्तताम् ।।९२।।
अव्यभिचारेण[3] पठेदाकाशजनान्तिकात्मगतपाठ्यम् ।
प्रत्यक्षपरोक्षकृतानात्मसमुत्थान् परकृतांश्च ।।९३।।
हस्तमन्तरितं कृत्वा त्रिपताकं प्रयोक्तृभिः ।
जनान्तिकं प्रयोक्तव्यमपवारितकं तथा[4] ।।९४।।
[5]स्वप्नायितवाक्यार्थस्त्वभिनेयो न खलु हस्तसञ्चारैः ।
[6]सुप्ताभिहितैरेव तु वाक्यार्थैः सोऽभिनेयः स्यात् ।।९५।।

निगूढेन भावेनाशयेन संयुक्तमव्यभिचारेणेत्युक्तपूर्वं कालादिसर्वमत्रानुसरेदिति यावत् । न खल्विति ।

न तत्र हस्ताभिनय इत्यर्थः ।

अनुवाद—जो कार्य पहले हो चुका है, किन्तु किसी कारण से पुनः कहना है, तो उसे कान में कहना चाहिए । इससे पुनरुक्तता दूर होती है ।।९२।।

अनुवाद—अव्यभिचार से अर्थात् विना किसी प्रकार की त्रुटि के आकाश-भाषित, जनान्तिक तथा आत्मगत वचनों का प्रयोग करें । प्रत्यक्ष, परोक्ष तथा आत्मसमुत्थ परिकृत पाठ्य को नियम से पढ़े ।।९३।।

अनुवाद—अभिनेता लोग त्रिपताक हस्त को अन्तरित करके जनान्तिक तथा अपवारितक का प्रयोग करें ।।९४।।

अनुवाद—स्वप्नायित वाक्य तथा उसके अर्थ का अभिनय हाथों के सञ्चरण से नहीं करना चाहिए । उसका अभिनय तो सोये हुए व्यक्ति के द्वारा कथित वाक्यों तथा उसके अर्थों के द्वारा करना चाहिए ।।९५।।

---

१. ग. सकृदुक्तं तु यत्कार्यं भूयः कस्मात् ।
२. ग. तत्कर्णे श्रावयेद्येन न याति पुनरुक्तताम् ।
३. ख. पदैराकाशजनान्तिकात्मगतवाक्यैः ।
ग. यावदाकाशजनं निकागत्मगतपाठात् ।
४. इतोऽग्रे श्लोकपञ्चकं ख. ग. पुस्तकयोरधिकं दृश्यते ।
५. ख. स्वप्नायितेषु भावाः कर्त्तव्याः ।
६. ख. सत्त्वाभिनयेनैव वाक्यार्थेनैव ते साध्याः ।

मन्दस्वरसञ्चारैर्व्यक्ताव्यक्तं [1]पुनरुक्तवचनार्थम् ।
पूर्वानुस्मरणकृतं कार्यं स्वप्नाञ्चिते पाठ्यम् ।।९६।।
प्रशिथिलगुरुकरुणाक्षरघण्टानुस्वरितवाक्यगद्गदजैः ।
[2]हिक्काश्वासोपेतां काकुं कुर्यान्मरणकाले ।।९७।।
हिक्काश्वासोपेतां [3]मूर्च्छोपगमे मरणवत्कथयेत् ।
अतिमत्तेष्वपि कार्यं तद्वत्स्वप्नायिते यथा पाठ्यम् ।।९८।।

सुप्ताभिहितैरित्युक्तं तानि लक्षणतः कथयति—मन्दस्वरसञ्चारैरित्यादि ।

पूर्वानुस्मरणेन कृतं प्रयुक्तं प्रशिथिलानि स्वस्थानतो भ्रंशमानानि गुरूणि स्वकर्माण्यचतुराणि यानि जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि तेषां सम्बन्धीनि यान्यक्षराणि तथा ते चलद्घण्टावदनुकरणं प्रधानं यद्वाक्यं तत्र यो गद्गदस्वरभेदस्ततो ये

अनुवाद—स्वप्नायित पाठ्य का अभिनय मन्द स्वर के सञ्चार से कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त वचनों के अर्थ में पहले किये हुए कार्य के अनुस्मरण से करना चाहिए ।।९६।।

अनुवाद—मरण के समय हिचकी और दीर्घ श्वासों से उपेत काकु की शिथिल, भारी एवं करुण-ध्वनि से तथा घण्टा के अनुरणन के समान वाक्य से गद्गद स्वर में करे ।।९७।।

अनुवाद—हिक्का (हिचकी) और श्वास की दशा में मूर्च्छा आ जाने पर मरण के समान स्थिति होती है, इसी प्रकार अत्यन्त मत्त की अवस्था में स्वप्नायित की तरह पाठ्य को पढ़े ।।९८।।

अभिनव—प्रशिथिल अर्थात् अपने स्थान से भ्रंशमान गुरु (महान्) अपने कर्म के अचतुर जो जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य एवं मूल, उनसे सम्बन्धित जो अक्षर तथा चलते हुए घण्टा की तरह अनुकरण प्रधान जो वाक्य है, उसमें जो गद्गद स्वर है और उसमें जो तार, मन्द्र आदि तथा उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर हैं, उनसे उपलक्षित काकु को मरणकाल में करे, यह सम्बन्ध है ।

---

१. ख. ग. द्विरुक्तं ।   २. ग. कास ।
३. ख. मनवेक्षितमूर्च्छनं मरणम् ।

वृद्धानां योजयेत्पाठ्यं गद्गदस्खलिताक्षरम्[1] ।
[2]असमाप्ताक्षरं चैव बालानां तु कलस्वनम् ।।९९।।
[3]नानाभावोपगतं मरणाभिनये बहुकीर्तितं तु ।
विक्षिप्तहस्तपादैर्निभृतैः सन्नैस्तथा कार्यम्[4] ।।१००।।
व्याधिप्लुते च मरणं निषण्णगात्रैस्तु सम्प्रयोक्तव्यम् ।
हिक्काश्वासोपेतं [5]तथा पराधीनमात्रसञ्चारम् ।।१०१।।

जातास्तारमन्द्रादय उदात्तानुदात्तादयश्च तैरुपलक्षितां मरणकाले काकुं कुर्यादिति सम्बन्धः । कलस्वनमिति मधुरस्वरम् ।

रणमूर्च्छामदभाषितं वृद्धबालोक्तमिति वचनगतं चित्राभिनयमुक्त्वा मरणप्रसङ्गेन तद्गतमपि कथयितुमाह—नानाभावोपगतमिति ।

एवमाकाशभाषितमात्मगतमपवारितं जनान्तिकं कर्णोक्तं स्वप्नायितोक्तम् ।

अनुवाद—वृद्धों के पाठ्य गद्गद स्वर और स्खलित (लड़खड़ाते) अक्षरों से युक्त करे और बालकों के पाठ्य (संवाद) कलकल ध्वनि और अपूर्ण शब्दों (तोतली बोली) में अभिनीत करे ।।९९।।

अभिनव—कलस्वन अर्थात् मधुर स्वर ।

अभिनव—इस प्रकार आकाशभाषित, आत्मगत, अपवारितक, जनान्तिक, कर्णोक्त, स्वप्नायित, मरण, मूर्च्छा, मद-भाषित, वृद्धोक्त, बालोक्त, वचनगत, चित्राभिनय को कहकर मरण के प्रसङ्ग से तद्गत उक्ति को कहने के लिए उपक्रम करते हैं—

अनुवाद—मरण के अभिनय में नाना भावों से उपेत बड़बड़ाते हुए विक्षिप्त तथा शान्त इधर-उधर हाथ-पैर पटकते हुए सन्न अर्थात् स्तब्ध हस्तपादादि से करे ।।१००।।

अनुवाद—व्याधि से व्याप्त व्यक्ति के निषण्णगात्र अर्थात् अक्षम शरीर के अवयवों से मरण का प्रयोग करे । इसमें हिचकी, श्वास से उपेत गात्र का संचार (शरीर का संचरण) पराधीन हो जाता है ।।१०१।।

---

१. ग. सलिलाक्षरम् ।
२. ग. अस्पष्टवर्णसंयुक्तं ।
३. ख. कथनीयो नानाभावतो ।
४. ख. गात्रैः ।
५. ख. मनवेक्षितगात्रसंचारम् ।

[1]विषपीतेऽपि च मरणं कार्यं विक्षिप्तगात्रकरचरणम्[2] ।
विषवेगसम्प्रयुक्तं विस्फुरिताङ्गक्रियोपेतम् ।।१०२।।
प्रथमे [3]वेगे कार्श्यं त्वभिनेये वेपथुर्द्वितीये तु ।
दाहस्तथा तृतीये विलल्लिका स्याच्चतुर्थे तु ।।१०३।।
फेनस्तु पञ्चमस्थे तु ग्रीवा षष्ठे तु भज्यते ।
[4]जडता सप्तमे तु स्यान्मरणं त्वष्टमे भवेत् ।।१०४।।
तत्र प्रथमवेगे तु क्षामवक्त्रकपोलता ।
कृशत्वेऽभिनयः कार्यो वाक्यानामल्पभाषणम् ।।१०५।।

विषं पीतमनेनेति विषपीतः । तत्रैतस्य दष्टकस्याप्युपलक्षणम् । विषस्य वेगाक्रमणेन धातुषु रसादिष्वोजःपर्यन्तेषु सञ्चरणं प्रथमे वेगे यत्कृशत्व-

---

अनुवाद–विषपान से होने वाले व्यक्ति मरण का अभिनय गात्रविक्षेप, हाथ-पैर के पटकने और विष-वेग से प्रयुक्त शरीर के अवयवों के विस्फुरण से करना चाहिए ।।१०२।।

अभिनव–जिसने विष को पी लिया है, वह विषपीत है । वह साँप के डँसे हुए व्यक्ति का भी होता है । विष के वेग के आक्रमण से रसादि ओज धातुओं में विष का सञ्चरण होता है ।

अनुवाद–विष के प्रथम वेग में कृशता अर्थात् शरीर की शक्ति की क्षीणता होती है, द्वितीय वेग में शरीर में कम्पन, तृतीय वेग में दाह और चतुर्थ वेग में हिचकी, पञ्चम वेग में मुँह से झाग निकलना षष्ठ में ग्रीवा का टूटना, सातवें वेग में जड़ता और आठवें वेग में मरण का अभिनय होता है ।।१०३-१०४।।

अनुवाद–विष के प्रथम वेग में कपोल की क्षीणता और वक्रता तथा कृशता में वाक्यों का धीरे-धीरे बोलने का अभिनय करना चाहिए ।।१०५।।

---

१. ग. विषवेगे ।
२. ग. गात्रकरणं च ।
३. ग. योगे कार्यं ।
४. ख. जडतां तु सप्तमे वै प्रोक्तं मरणं तथाष्टमे चैव ।

सर्वाङ्गवेपथुं च कण्डूयनं तथागानाम् ।
विक्षिप्तहस्तगात्रं दाहं चैवाप्यभिनयेत्तु[१] ।।१०६।।
उद्वृत्तनिमेषत्वादुद्गारच्छर्दनैस्तथाक्षेपैः ।
अव्यक्ताक्षरकथनैः विलल्लिकामभिनयेदेवम् ।।१०७।।
[२]उद्गारवमनयोगैः शिरसश्च विलोलनैरनेकविधैः ।
([३]फेनस्त्वभिनेतव्यो निःसंज्ञतया निमेषैश्च ।।१०८।।
[४]अंसकपोलस्पर्शः शिरसोऽथ विनामनं शिरोऽपाङ्गः) ।
[५]सर्वेन्द्रियसम्मोहाज्जडतामेवं त्वभिनयेत्तु[६] ।।१०९।।

मत्राभिनयः कार्य इति सम्बन्धः । चलति कामिला छर्दिः प्रारम्भ इवान्तरो दाह्नं वार्युद्रेकः अंसयोः कपोलाभ्यां स्पर्शसम्बन्धादित्यर्थः ।

अनुवाद—हाथ-पैर और मस्तक को एक साथ अथवा अलग-अलग कँपाते हुए यथायोग 'वेपथु' का अभिनय करे ।।१०६।।

अनुवाद—सभी अङ्गों के उद्वेजन तथा कम्पन करते हुए तथा समस्त अङ्गों के कण्डूयन (खुजलाहट) और हाथ-पैरों के पटकने से दाह का अभिनय करे ।।१०६।।

अनुवाद—आँखों के पलकों को फाड़-फाड़कर देखने से, डकार लेने से, छर्दन तथा वमन से, आक्षेप (गालियों) के वेग से तथा अव्यक्त अक्षरों के कथन से 'विलल्लिका' का अभिनय करे ।।१०७।।

अनुवाद—उद्गार (डकार) एवं वमन (उलटी) के योग से, अनेक प्रकार के शिर के हिलाने से, निःसंज्ञता (बेहोशी) एवं निमेष दृष्टि से फेन का अभिनय करे ।।१०८।।

अनुवाद—स्कन्ध और कपोलों के स्पर्श से, शिर के हिलाने से शिरोभङ्ग (ग्रीवाभङ्ग) का अभिनय करे । सभी इन्द्रियों को सम्मोहित करने से (संज्ञाहीन करने से) जड़ता का अभिनय करे ।।१०९।।

---

१. ग. दाहं नाट्ये प्रयुञ्जीत ।
२. ग. वमनोद्गारनिपातैः ।
३. ख. पुस्तके नास्ति ।
४. ख. पुस्तके नास्ति ।
५. ग. सर्वेन्द्रियमूढतया ।
६. ख. ग. प्रयुञ्जीत ।

सम्मीलितनेत्रत्वात् व्याधिविवृद्धौ भुजङ्गदशनाद्वा[१] ।
एवं हि [२]नाट्यधर्मे मरणानि बुधैः प्रयोज्यानि ।।११०।।
([३]सम्भ्रमेष्वथ रोषेषु शोकावेशकृतेषु च ।
यानि वाक्यानि युज्यन्ते[४] पुनरुक्तं न तेष्विह ।।१११।।
[५]साध्वहो मां च हेहेति किं त्वं मामावदेति च ।
एवंविधानि कार्याणि द्वित्रिसंख्यानि कारयेत् ।।११२।।
[६]प्रत्यङ्गहीनं यत्काव्यं विकृतं च प्रयुज्यते ।
न लक्षणकृतस्तत्र कार्यस्त्वभिनयो बुधैः ।।११३।।

शिरसो भङ्गो ग्रीवासन्धिविच्युतिस्ततः । पुनरुक्तं न तेष्विति दोषायेति शेषः ।
तदुदाहरति–साध्वहो इत्यादि । तत्र शब्दपुनरुक्तं साधुसाध्वित्यादि । अर्थपुनरुक्तमहो साधु भद्रं चेत्यादि । प्रत्यङ्गहीनमित्यादि । प्रहसनप्रधानतया यथा प्रत्यङ्गेन केनचित्संस्कारांशेनाहीनं कार्यम् । अत एव विकृतत्वाद्धासप्रधानं तत्राप्यभिनयोऽप्यलाक्षणिको हासायैव यथा तथापि ।

अभिनव–अंशों का कपोलों से स्पर्श (सम्बन्ध), शिर का भङ्ग अर्थात् ग्रीवा के जोड़ की विच्युति । शिरोभङ्ग का दोबारा कथन पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

अनुवाद–व्याधि के बढ़ जाने अथवा साँप के काटने से नेत्र-निमीलन के द्वारा बुध लोग नास्यधर्मी विधान के द्वारा 'मरण' का अभिनय करें ।।११०।।

अनुवाद–सम्भ्रम में, रोष में, शोक आदि के आवेश में जो वाक्य बार-बार प्रयुक्त होते हैं, उनमें पुनरुक्त दोष नहीं होता है ।।१११।।

अनुवाद–'अहो, साधु, हे हे, हा हा, ऐसे में क्या तुम मत बोलो, इस प्रकार वाक्यों के रूप में दो, तीन बार उच्चारण करना चाहिए ।।११२।।

अनुवाद–जो काव्य सन्ध्यङ्गों से हीन विकृत कहा जाता है, उसका अभिनय बुध जनों को लक्षण के अनुसार नहीं करना चाहिए ।।११३।।

---

१. ख. दंशनाद्वा । २. ग. नाट्ययोगे ।
३. संभ्रमेष्वथ इत्यारभ्य श्लोकपञ्चकं ख. पुस्तके नास्ति ।
४. ग. युञ्जीत ।
५. ग. साध्वतो मुञ्च हा हेति किं किं या या वदेति च । एतानि वचनानीह.........।
६. ग. प्रत्यगृहीतं ।

भावो यत्रोत्तमानां तु न तं मध्येषु योजयेत् ।
यो भावश्चैव मध्यानां न तं नीचेषु योजयेत् ।।११४।।
पृथक् पृथग्भावरसैरात्मचेष्टासमुत्थितैः ।
ज्येष्ठमध्यमनीचेषु [1]नाट्यं रागं हि गच्छति) ।।११५।।
[2]एतेऽभिनयविशेषाः कर्तव्याः सत्त्वभावसंयुक्ताः[3] ।
अन्ये तु लौकिका ये तु ते सर्वे लोकवत्कार्याः[4] ।।११६।।

अथ सर्वानुग्राहकं सामान्यलक्षणमाह—भावो य उत्तमानामित्यादि ।

रागं गच्छतीति । सर्वस्य रञ्जकं भवतीति यावत् । सामान्याभिनयशेषत्वं तदुक्तार्थात्तन्मुखेनोपसंहारदिशा चित्राभिनयस्य दर्शयति—एतेऽभिनयविशेषा इति । सत्त्वभावसंयुक्ता इत्यनेन सत्त्वातिरिक्तोऽभिनय इत्यादि स्मरति । नानाविधैरित्यभिनयानां समानीकरणं चित्रत्वं च दर्शितम् । क्रमात्क्रमं श्रमवशादुपचितत्वपरित्यागः प्रयत्नेन परिरक्ष्य इत्येतत्तात्पर्येण श्लोकं पठति या

अभिनव—प्रत्यङ्गहीन अर्थात् प्रहसन प्रधान होने से प्रत्यङ्ग किसी संस्कारांश से हीन करना चाहिए । अत एव विकृत होने से हासप्रधान अभिनय है, वहाँ भी अलाक्षणिक अभिनय जैसे हास के लिए होता है ॥११४॥

अभिनव—इसके बाद अब सर्वानुग्राहक सामान्य लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जो भाव उत्तम लोगों का है, उसका मध्यम लोगों में प्रयोग नहीं करना चाहिए और जो भाव मध्यम लोगों का है, उसका अधम लोगों (पात्रों) में प्रयोग नहीं करना चाहिए ।।११४।।

अनुवाद—ज्येष्ठ, मध्यम और नीचों में अलग-अलग अपनी चेष्टाओं से समुत्थित भावों एवं रसों के कारण नाट्य राग को प्राप्त करता है ।।११५।।

---

१. ग. भवेन्नाट्ये तु रागकृत् ।
२. ग. अभिनयपरिशेषाः ।
३. ग. सर्वभावसंयुक्ताः । ख. सत्त्वभावयुक्ताः स्युः ।
४. ख. ग. लोकतः साध्याः ।

नानाविधैर्यथा पुष्पैर्मालां[१] ग्रथ्नाति माल्यकृत् ।
अङ्गोपाङ्गै रसैर्भावैस्तथा नाट्यं प्रयोजयेत् ।।११७।।
या यस्य लीला नियता गतिश्च
[२]रङ्गप्रविष्टस्य निधानयुक्तः ।
तामेव कुर्यादविमुक्तसत्त्वो
यावन्नराङ्गात्प्रतिनिर्वृतः स्यात्[३] ।।११८।।
एवमेते मया प्रोक्ता [१]नाट्ये चाभिनयाः क्रमात् ।
[२]अन्ये तु लौकिका ये ते लोकाद्ग्राह्याः सदा बुधैः ।।११९।।

यस्य लीला नियता गतिश्चेति । विमुक्तसत्त्वो त्यक्तावष्टम्भं प्रति निर्वृत इति निर्वृत्तिर्वक्ष्यत इति । वृत्तो विषयाज्जनादेर्निवर्तते । तेन रङ्गाद्यावन्निर्वृतो निष्क्रान्तः स्यादित्यर्थः ।

किमेतावानभिनयप्रकारः, नेत्याह—अन्ये तु लौकिका इति ।

अभिनव—राग को प्राप्त करता है, अर्थात् राग सबका रञ्जक होता है ।

अभिनव—चित्राभिनय सामान्याभिनय का अङ्ग है । इस बात का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इन विशेष अभिनयों को सत्त्वभाव से संयुक्त करना चाहिए और अन्य जो लौकिक भाव हैं, उनका लोक की तरह अभिनय करे ।

अभिनव—"सत्त्वभावसंयुक्ता" इससे सात्त्विक अभिनय के अतिरिक्त अभिनय है इत्यादि स्मरण करते हैं ।

अनुवाद—माली जिस प्रकार नाना प्रकार के फूलों से माला गूँथता है, उसी प्रकार अभिनेता साङ्गोपाङ्ग रस एवं भावों के द्वारा नाट्य का प्रयोग करे ।।११८।।

अभिनव—"नानाविधैः" इत्यादि के द्वारा अभिनयों का समानीकरण और चित्रत्व प्रदर्शित किया है ।

अभिनव—क्रमशः औचित्य का परित्याग न होने पाये, इसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए । इस अभिप्राय से श्लोक को पढ़ते हैं—

---

१. ख. ग. माल्यं । २. ग. रङ्गप्रवृत्तस्य ।
३. ख. ग. यावन्न रङ्गात्प्रतिनिःसृतः स्यात् ।
१. ख. वागङ्गाभिनयाः क्रमात् । ग. भावाः ह्यभिनयं प्रति ।
२. ख. नोक्ता ये च मया तत्र लोकाद्ग्राह्यास्तु ते बुधैः ।
ग. नोक्ता येऽपि तु तेऽप्यत्र लोकादग्राह्यास्तु पण्डितैः ।

लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।
[1]वेदाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं प्रतिष्ठितम्[2] ।।१२०।।

ननु किमत्र लोकः प्रमाणमित्याशङ्क्याह—लोको वेदस्तथाध्यात्ममिति । लोकसिद्धानि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणानि लोकशब्देनोच्यन्ते । वेद इति तु यथास्वं नियतरूपो लोकप्रसिद्धोऽप्यागमो यथा न्यायेषु धनुर्वेदः स्वरतालादौ गान्धर्ववेद इत्यादि । अध्यात्मं तु संस्थं वेदनं वेदाध्यात्माभ्यां प्रमिता ये पदार्थास्तेषु नाट्यं प्रतीतमित्यत्र हेतुमाह—वेदाध्यात्मोपपन्नं त्विति । तुर्हेतौ । समन्वितमिति भावे । एतदुक्तं शब्दसमन्वयो व्याकरणाभिधानेनागमेन सिद्धः । छन्दस्समन्वयस्तु स्वसंवेदनेन । श्रव्यता हि तद्विदा स्वसंवित्तिसिद्धावृत्तेषु प्रगीतानामिव रागभाषादीन् नीयते । एतच्चागमस्ववेदनयोः प्रमोपलक्षणमात्रम् । अथ लोकं प्रमाणयितुमाह—यल्लोकसिद्धमिति ।

यल्लोके सिद्धं तत्सिद्धं न । तत्कस्यचिदसिद्धमिति यावत् । न हि लोकप्रसिद्धिमपह्नोति कश्चित्समर्थः । सुविप्रतिपन्नस्यापि तदपह्नवे काष्ठ-पाषाणतापत्तिप्रसङ्गात् । तथेनि । तत एव प्रकाराद्धेतोर्लोकात्मकं लोकानु-कीर्तनरूपं नाट्यमित्युक्तम् ।

अनुवाद—रङ्गमञ्च पर प्रविष्ट हुए जिस व्यक्ति की जो लीला और गति नाट्यशास्त्र के विधान के अनुसार नियत है । सत्त्वभाव को न छोड़ते हुए उसी गति और लीला को जब तक रङ्ग से वापस न कर दिया जाय ।।११९।।

अभिनव—'प्रतिनिवृत्त' का अर्थ है कि जब तक रङ्गमञ्च से निकल नहीं जाता है ।

अनुवाद—इस प्रकार मैंने नाट्यविषयक अभिनयों को क्रमशः कहा है और जो लौकिक विषय हैं, उनको विद्वान् लोग लोक से ग्रहण करें ।।१२०।।

अब प्रश्न होता है कि क्या लोक ही प्रमाण है, इस प्रकार आशंका करके कहते हैं—

---

१. ग. लोकाध्यात्म.........।
२. ग. व्यवस्थितम् ।

[1]वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दस्समन्वितम् ।
लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा[2] ।।१२१।।
[3]न च शक्यं हि लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
शास्त्रेण [4]निर्णयं कर्तुं भावचेष्टाविधिं प्रति ।।१२२।।

ननु लोकेन च यत्प्रत्ययं तदागमेनैव प्रमितम् । तत्किं पुनर्लोकेनोक्तेनेत्याशङ्क्याह–न च शक्यो लोकस्येति ।

शीलः स्वभावः ।

अनुवाद–लोक, देश और अध्यात्मशास्त्र ये तीन प्रमाण माने गये हैं । वेद और आध्यात्मिक पदार्थों पर प्रायः नाट्य प्रतिष्ठित है ।

अभिनव–लोक, वेद और अध्यात्म ये तीन प्रमाण हैं । यहाँ पर लोक शब्द से लोक में प्रसिद्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण कहते हैं । वेद तो नियत रूप वाला होता है । प्रकृत में लोकप्रसिद्ध आगम जैसे शस्त्रास्त्र के प्रयोग के उपसंहार के विषय में धनुर्वेद और सुरताल आदि के विषय में गन्धर्व वेद है । अध्यात्म तो स्वसंवेदन है ॥१२१॥

अनुवाद–वेद और अध्यात्म से उपपन्न नाट्य शब्द और छन्द से समन्वित और जो लोकात्मक नाट्य है, वह लोकप्रसिद्ध होने से सिद्ध है ।।१२१।।

अभिनव–वेद और अध्यात्म से प्रमित जो पदार्थ हैं, उनमें नाट्य प्रतिष्ठित है । इसमें हेतु को कहते हैं कि वेद और अध्यात्म से उपपन्न यहाँ पर "तु" का अर्थ हेतु है । 'समन्वित' इस पद में भाव में वक्त-प्रत्यय है । यह कहा गया है कि शब्द समन्वय व्याकरण और आगम के कथन से सिद्ध है और छन्द का समन्वय स्वसंवेदन के द्वारा होगा और श्रव्यता भी उनके जानकारों के लिए समन्वय से सिद्ध है । जैसे प्रकृष्ट गीतों में राग और भाषा का ज्ञान किया जाता है । यह निरूपण अगम और स्वसम्मेलन के प्रमाण का उपलक्षण मात्र है । या इसके बाद लोक को प्रमाणसिद्ध करने के लिए कहते हैं कि जो लोक में सिद्ध है, वह सिद्ध है, वह किसी के लिए असिद्ध नहीं है; क्योंकि जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है । यद्यपि यह तत्त्व शास्त्र में सिद्ध है, तथापि यदि वह लोक-विरुद्ध है, तो वह आदरणीय नहीं है । यदि कोई पुरुष लोकप्रसिद्धि का अपह्नव

---

१. ग. तदध्यात्माभिसम्भूतं । २. ख. लोकस्वभावजम् । ग. लोकात्मकं त्विदम् ।
३. इतः पूर्वं देवतानामृषीणां च इत्यादि श्लोकचतुष्टयं क–न पुस्तकयोरधिकं दृश्यते ।
४. ग. नियमं कर्तुं नानाचेष्टाविधिं ।

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि [1]विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः ।।१२३।।
[2]एतान् विधींश्चाभिनयस्य सम्य-
[3]ग्विज्ञाय रङ्गे मनुजः प्रयुङ्क्ते ।
स नाट्यतत्त्वाभिनयप्रयोक्ता
सम्मानमग्र्यं लभते हि लोके ।।१२४।।

प्रकृतमुपसंहरति—तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयमिति । एतान् विधीनिति । सामान्याभिनयात् प्रभृत्येतदध्यायपर्यन्तं ये कर्तव्यतारूपाभिनयानां विधय उक्तास्तान् सम्यग् विज्ञायेति वदन् कोहलादिशास्त्रलक्ष्यप्रवाहसिद्धमपि चित्राभिनयं सूचयति । ततश्चोदाहरणार्थान् दर्शयामो माभूत्सम्प्रदायप्रवाहविच्छेद इति ।

मुख्याभ्याशे हंसपक्षात्स्कन्दो वा शक्तिदर्शनात् ।
सम्मुखौ खटकौ पार्श्वद्वये शार्ङ्गिनिरूपणम् ।।

नहीं कर सकता है । यदि कोई अपह्नव करता है, तो उस सुप्रसिद्ध व्यक्ति में काष्ठ-पाषाण बनने की आपत्ति आ जायेगी ।

तथेति इसी प्रकार के हेतु से लोकात्मक लोकानुकीर्तनरूप नाट्य है, यह कहा गया है ॥१२२॥

अभिनव—अब प्रश्न उठता है कि जो प्रतीति शास्त्र से होती है, आगम से भी वही प्रतीति है तो फिर लोक को प्रमाण मानने की आवश्यकता क्या है । इस लोक के निर्णय को बदला नहीं जा सकता । इस प्रकार की आशंका करके कहते हैं कि—

अनुवाद—इस स्थावर-जंगमात्मक लोक में भाव और चेष्टाओं के विषय में शास्त्र से निर्णय करना ठीक नहीं है ।।१२३।।

अभिनय—शील का अर्थ है स्वभाव । अब प्रकृत का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—प्रकृतियाँ नाना स्वभाव वाली होती हैं और नाट्य शील पर प्रतिष्ठित है । अतः नाट्य प्रयोक्ताओं को लोकरूप प्रमाण को जानना चाहिए ।।१२४।।

---

१. ख. कर्त्तव्यं । ग. ज्ञेयं नाट्यं प्रयोक्तृभिः ।
२. ख. येऽभिक्रमैर्योऽभिनयं तु सम्यक् । ग. नाट्यप्रकाराः कथिता मयैते ।
३. विज्ञाय सम्यक् मनुजैः प्रयोज्याः ।
नाट्यस्य तत्त्वानुगतः प्रयोगः समानमग्र्यं लभते हिरण्यम् ।

लीलालोकितसन्दंशयुग्मेन कुसुमायुधम् ।
रुद्रवद्रूपयेद्दुर्गां चतुरेण सरस्वतीम् ।।
......................खटकेन तथा श्रियम् ।
गौरीं च दंष्ट्रया देवीं वाराहीमिति मातरः ।।
प्रदर्श्यात्तत्तदुचितब्राह्म्यादिगतलक्षणैः ।
सूचीहस्ताङ्गुलिकाद्रिनन्दिनी स्यान्नयोन्नता ।।
तत्प्रोत्तानाधोमुखेन त्रिपताकामुखेन तु ।
गङ्गा तथैव चतुरेणान्या सर्पशिरोद्वयम् ।।
उपर्युपरि डोलं स लेतिर्यग्विलोलितः ।
अरालत्रिपताकौ च पताकद्वयकम्पनम् ।।
अब्धि.....पुष्पपुटास्त्रिपताकौ तपस्विनाम् ।
प्रसृतोर्ध्वपराचीनौ शिखरौ बाह्यदन्तरे ।।
कूर्परोर्ध्वस्थितेनापि त्रिपताकेन योषितः ।
पार्श्वेऽर्धकटकेन स्याल्लोकपालास्सलक्ष्मभिः ।।
स्तब्धकार्यो मुक्तहस्तौ जिनं विद्याधरान् प्रजाः ।
अग्निना वाथ रक्षांसि नष्टं या सूचिकामुखात् ।।
विद्यात्तु त्रिपताकाभ्याम्मूर्ध्नि राजप्लवङ्गमान् ।
पताकाभ्यामथो सर्पशिरोभ्यां स्वस्तिकस्थितेः ।।
धर्मं सितादिभिश्चाहीनृतवो मणयः पुनः ।
...काङ्गुलेन रिपुर्न्नाथ ग्रन्थतर्जनिकेऽङ्गना ।।
कूर्पराकुञ्चितां कम्प्रपताकाभ्यां च सारसः ।
प्रसारितं च बाहुभ्यां वृश्चिकस्थलपक्षिषु ।।
शृङ्गयां च मध्यमाङ्गुष्ठपताकामस्तकोपरि ।
उत्क्षेपादञ्चितस्याङ्घ्रिं नतोन्नतकरद्वयात् ।।
गरुडं चतुराभ्यां तु कण्डमूलोभयादधः ।
पताककूर्परे कुञ्च्य चालीढो क्रोधरूपणे ।।
मुखान्तिके तर्जनीं तु विश्लिष्टां वाक्यरूपणे ।
चूडायां मूर्ध्न्युपाङ्गेषु स्त्रीविषादे तथोद्वहम् ।।
वक्षः पार्श्वान्नूर्ध्वतः खं पताकस्वस्तिकेन तु ।
तथा प्रभातहस्ताभ्यामावेगोद्वर्तिताङ्गुलिः ।।
पराङ्मुखाभ्यां रात्रिर्वा पताकस्वस्तिकादिभिः ।
मुखाच्छादात्खलत्यादौ शलभाधूलिधूम्रकः ।।

[1]एवमेते ह्यभिनया वाङ्नेपथ्याङ्गसम्भवाः ।
प्रयोगज्ञेन कर्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ।।१२५।।

।। इति भारतीये नाट्यशास्त्रे चित्राभिनयो नाम
[2]पञ्चविंशोऽध्यायः ।।२५।।

पताकेनोरसि सुहृदरालेन सुतादयः ।
निधिमाकुञ्चिते वामकूर्परे भूधरादिषु ।।
उत्तानं च शिरस्तेषां भेदास्तु न निरीक्षणात् ।
वामकस्त्रिपताकः स्यात् कण्ठमूलोऽपरोऽपरः ।।
करिणीं गण्डविचलच्चतुराभ्यां मदाश्रिताम् ।
पद्मोर्णनाभमुकुलैः स्वस्तिकैर्वृश्चिकेन तु ।।
सिंहगोमायुशरभा यथास्वं दृष्टिभेदतः ।
ललाटे सर्पशिरसा खड्गिं श्रवणमूलतः ।।

अनुवाद–जो मनुष्य अभिनय की इन विधियों को अच्छी तरह जानकर रङ्गमञ्च पर प्रयोग करता है, वह नाट्यतत्त्व अभिनय का प्रयोक्ता लोक में सर्वप्रथम सम्मान को प्राप्त करता है ।।१२५।।

अभिनव–सामान्याभिनय से लेकर इस अध्याय तक जो कर्तव्यतारूप अभिनयों की विधियाँ कही हैं, उन सबको अच्छी तरह जानकर कोहलादि शास्त्र के लक्ष्य प्रवाह से सिद्ध चित्राभिनय को सूचित करते हैं । अब उनके उदाहरणों को दिखाते हैं, जिससे सम्प्रदाय प्रवाह का विच्छेद नहीं होता है ।

देवता, ऋषि, राजा और जनपद के लोगों के पूर्व वृत्त का अनुचरण करना नाट्य कहलाता है । इस प्रकार नाना वस्त्वन्तर से अन्तरित जो लोक की वार्ता है, नाट्य वेत्ताओं को नाट्य में उसका विधान करना चाहिए । जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प, जो क्रियायें लोक-धर्म के अनुसार प्रवृत्त हैं, उन्हें नाट्य कहा जाता है ।

इस प्रकार तीनों प्रमाणों से अभिनय को समझकर जो रङ्गमञ्च पर सभा में प्रयोग करता है, वही नाट्य में तत्त्ववेत्ता अभिनयों का प्रयोग करता है और वही सम्मान भी प्राप्त करता है ॥१२५॥

---

१. ख. ज्ञेयास्त्वभिनया ह्येते वाङ्नेपथ्याङ्गसंश्रयाः ।
२. ख. षड्विंशः ।

खड्गिकास्त्री तथान्यच्च शिखरं स्यात्प्रसारितम् ।
मुष्टिर्मल्लस्य शल्यश्च खटकेन हृदन्तरे ।।
सन्दंशेन मतिर्नाभेरुद्यता वक्षसि स्थितिः ।
पल्लवेन स्वमूर्धानं स्पृशता खेचरानतिः ।।
पराङ्मुखपताकाभ्यां मुखे स्वस्तिकविच्युते ।
कवाटाभ्यां करिघटान्मोक्षं (?) च करयुग्मतः ।।
मृगशीर्षे कनिष्ठायां निर्देशश्चतुरेण वा ।
चलः सूच्यास्वयुगलं हयसैन्येद्व्यपान्वितम् ।।
शूलपाण्यादिशब्देषु केचिद्वर्तिपदाश्रितम् ।
कुब्जन्त्वभिनयन्त्यन्ये विशेष्येऽन्यद्वयाश्रितम् ।।
अव्याहतायां वाक्यार्थप्रतीतौ स्यात्पदेष्वथ ।
स्नानं मूर्ध्नि पताकाभ्यां शकटेऽन्योन्यसम्मुखौ ।।
कूर्पराकुञ्चितौ कार्यौ त्रिपताककरेण तु ।
अयस्कारादिनिर्देशे खटकः करिविद्रवे ।।
गणेशे मुकुलास्योऽथ विक्षेपात्स्युर्मरीचयः ।
शिरसः पार्श्वयोः..... त्रिपताकद्वये जटा ।।
उपर्युपरि युक्ताभ्यां शिखराभ्यां महेश्वरी ।
व्रीह्यादिचतुरेण स्यान्मुष्टिना वाथलेखकाः ।।
खटकेन तथामूकाश्शून्योत्तानोपनो (?) क्रमात् ।
अधस्खलितयोगेन चतुरेणापमीलनात् ।।
शिखरे वामकेऽधस्तः पताकस्थेन दक्षिणे ।
सङ्गतौ खटकौ सूर्ये सारथौ पृष्ठपूर्वगौ ।।
प्रमाणो मानपरिमाः सूची सन्दृष्ट्यरालकैः ।
एलाक्रीडा धनुर्योगात् पुलिन्दाभिनयो मतः ।।
यामाद्यौ खटकारालौ समपादः कपालिनि ।
स्वबाहूर्ध्वे तु खटकौ पार्श्वक्षेपश्च पादगः ।।
महाभैरवनाथस्य खटकावंसजानुगौ ।
अनूर्ध्वकर्मणः पादः कर्मान्तं यदुदीरितम् ।।
तस्य स्वबुद्ध्या घटनं चित्राभिनयनं विदुः ।
तस्योदाहरणं किञ्चिदिदमूहाविवृद्धये ।।
मयाभिनवगुप्तेन दर्शितं धीमतः प्रति ।
यथालिखितवस्तूनां प्रतिपत्संस्थितान् प्रति ।।
अपि वाचस्पतेर्वाणी कुण्ठा किमुत मादृशाम् ।।

एवं प्रमाणत्रयेणाभिनयान् विज्ञाय योगरङ्गे सभायां प्रयुङ्क्ते स एष च नाट्ये तत्त्वतोऽभिनयान् प्रयुङ्क्ते स च सम्मानं लभत इति योज्यम् । अभिनय-शेषभूतोऽयमितिकर्तव्यतारूपः परस्परसम्मीलनात्मा प्रयोगस्तेन च विना न काचित् सिद्धिरित्युपसंहारव्याजेनैवमिति श्लोकेनाङ्गीशब्दस्वीकृतसात्त्विकेन दर्शयन् सामान्या-भिनयनायकान् सर्वान् दर्शयति सिद्धमिति शिवम् ।

विचित्राभिनयाध्यायः सोऽयं व्याकृतसारकः ।
कृतोऽभिनवगुप्तेन शिवानुग्रहशालिना ।।

॥ इति श्रीमहामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचितायां
नाट्यवेदवृत्तावभिनवभारत्यां चित्राभिनयः
पञ्चविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥२५॥

अनुवाद—इस प्रकार नाटक में ये वाच्य नेपथ्य आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों को सिद्धि की इच्छा रखने वाले नाट्य प्रयोगकर्ताओं को करना चाहिए ।

॥ इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में चित्राभिनय नामक
पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अभिनव—अभिनय के अङ्गभूत इतिकर्तव्यता रूप परस्पर सम्मिलनात्मक यह प्रयोग है । इसके बिना कोई सिद्धि नहीं होती । इस प्रकार उपसंहार के बहाने से श्लोक से तथा अङ्ग शब्द से स्वीकृत सात्त्विक तत्त्व का निदर्शन करते हुए सामान्याभिनय के सभी नायकों को दिखाते हैं । यह सिद्ध है ।

अभिनव—इस विचित्र नामक अभिनय के अध्याय में व्याकृतसार अर्थात् व्याख्यात्मभूत तत्त्व को भगवान् शिव के अनुग्रहशाली अभिनवगुप्त ने कर दिया है ।

॥ इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र के पच्चीसवें अध्याय
एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥२५॥

●

[1]षड्विंशोऽध्यायः

अनुरूपा विरूपा च तथा रूपानुरूपिणी ।
त्रिप्रकारेह पात्राणां प्रकृतिश्च विभाविता ।।१।।

।। अभिनवभारती–षड्विंशोऽध्यायः ।।

यस्मिन् सति प्रकृतिभूमिविकल्प एष-
स्त्रेधास्य याति हृदयादरणीयभावः ।
रागः स यस्य महिमा महनीयधाम्नि
भूयात्स नित्यमपि तत्र च रागवन्तः ।।

समानीकरणलक्षणः सामान्येऽभिनयः प्रस्तुतः । तत्र यथाभिनयानामन्योन्यं समानीकरणमुपदेश्य तथाभिनेतुरभिनेयस्य च । एवं सोऽभिनेयद्वारेणाभिनयोऽभि-नेत्रा समानीकृतो भवति । तदेतदिति । अभिनेत्रभिनेययोः समानीकरणं सामान्याभिनयरूपमनेन प्रकृत्यध्यायोऽभिधीयते । तदर्थसूचनायैव सङ्गति-प्रदर्शनाभिप्रायो वृत्ताध्यायपरिसमाप्तौ यः प्रयुङ्क्त इति प्रयोक्तेति प्रयोज्ञेति च निरूपितम् । स एव हि प्रयोगं जानाति यः प्रयोज्यप्रयोजकस्वरूपवित् । तत्र कृति प्रयोज्यानुकरणीयो अनुकीर्तनीय इति पर्यायाः । तत्र प्रयोक्ताप्रयोज्यसदृशो वा भवति विसदृशो वा उभयात्मको वा । तत्र सदृशोऽनुरूपः उभयात्मरूपानुरूपः स्वलक्षणं तेन तदेतौ तवैव (?) सादृश्यं लक्षितम् ।

षड्विंशोऽध्यायः
हिन्दी-व्याख्या

अभिनव–जिसके रहने पर हृदय में जिसके प्रति आदरणीय भाव होता है, उस प्रकृतिरूपी भूमिका का विकल्प तीन प्रकार का होता है । वह राग है, जिसकी महिमा महापुरुषों के धाम में 'यह ऐसा है' इस प्रकार समझ कर अनुराग वाला होवे ॥२६॥

अभिनव–समानीकरणरूप सामान्याभिनय प्रस्तुत किया । वहाँ जैसे अभि-नयों में परस्पर समानीकरण उपदेश्य है, वैसे अभिनेता और अभिनेय का समानी-करण उपदेश्य है । इस प्रकार वह अभिनय अभिनेता के द्वारा अभिनेय के रूप

---

१. ख. चतुस्त्रिशत्तमः । ग. षड्विंशोऽध्यायः ।

आनुरूप्यं सादृश्यात् । तदुभययोगाद्रूपानुरूपा यद्यपि कथञ्चित् सर्वत्रैव त्रैविध्यं सम्भवति । तथाप्युद्रिक्ता सकललोकसंवादिनी अस्मादृशबुद्धिर्यथा पुरुषस्य प्रयोक्तुः पुरुषेण प्रयोज्येन योषितो योषिता तत्र सदृशव्यवहारः । स्त्रिया पुरुषस्य तु वैसादृश्यम् । सा सिंहवदनदशवदनादिर्यस्तु प्रयोज्यैरन्य-सादृश्यमेव । तदपि प्रकृतित्रैविध्यं दर्शयितुमाह—अनुरूपेत्यादि ।

पात्राणामिति । धीयते रसो यत इत्यनेन नटबुद्धितिरोधानं सूचयन्नटबुद्धे-रप्यपायतामाह । प्रकर्षेण क्रियते साक्षात्कारकल्पनानुव्यवसायगोचरत्वमीयत इति प्रकृतिः । सेयं त्रिप्रकारप्रकृतिप्रविभागेन भाविना सती नाट्यं भृशं द्योतयेदिति ज्ञानस्य प्रयोजनमुक्तम् ।

में समानीकृत होता है । इस प्रकार सामान्याभिनयरूप अभिनेता और अभिनेय के समानीकरण को प्रस्तुत कर प्रकृत अध्याय को कहते हैं, उसके अर्थ की सूचना के लिए सङ्गति प्रदर्शन के अभिप्राय से बीते हुए अभिप्राय की परि-समाप्ति में जो मनुष्य प्रयोग करता है, वह प्रयोगज्ञाता है । वही प्रयोग को जानता है, जो प्रयोज्य-प्रयोजक-स्वरूप है । वहाँ प्रकृति प्रयोज्य, अनुकरणीय, अनु-कीर्तनीय ये पर्याय हैं । वहाँ पर प्रयोक्ता प्रयोज्य के सदृश होता है अथवा विसदृश होता है अथवा उभयात्मक होता है । उनमें सदृश अनुरूप है, विसदृश विरूप है और उभयात्मक रूपानुरूप है । जहाँ स्वलक्षण का आदर किया है, वहाँ इस प्रकार सादृश्य लक्षित होता है; क्योंकि सादृश्य के कारण आनुरूप्य होता है । आनुरूप्य और वैरूप्य के योग से रूपानुरूपा प्रकृति होती है । यद्यपि किसी प्रकार सर्वत्र त्रैविध्य सम्भव है, तथापि उद्रिक्ता सकललोकसंवादिनी सदृश प्रयोक्ता पुरुष की बुद्धि प्रयोज्य पुरुष के साथ तथा इसी प्रकार प्रयोक्त्री नारी की बुद्धि प्रयोज्या नारी के साथ होती है ! वहाँ सदृश व्यवहार होता है और नारी का पुरुष के साथ वैसादृश्य होता है । वहाँ सिंहवदन का दशमुख आदि प्रयोज्यों के साथ अन्य सादृश्य होता है । तभी प्रकृति-वैचित्र्य दिखाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—यहाँ अभिनय प्रकरण में पात्रों की तीन प्रकार की प्रकृति विभाषित है—अनुरूपा, विरूपा और रूपानुरूपिणी ।।१।।

अभिनव—पात्राणामिति । जिससे रस तिरोहित किया जाता है, इससे नटबुद्धि के तिरोधान को सूचित करते हुए नटबुद्धि की अपात्रता को कहते हैं । प्रकर्ष से किया जाता है 'तिरोधीयते रसोपेतः' साक्षात्कार, कल्पना और अनुभव का विषय किये जाते हैं, अतः प्रकृति हैं, यह प्रकृति तीन प्रकार के विभाग से विभावित नाट्य का अत्यन्त द्योतन करती है, अतः इसके ज्ञान का प्रयोजन कहा है ॥१॥

नानावस्थाक्रियोपेता भूमिका प्रकृतिस्तथा ।
भृशमुद्योतयेन्नाट्यं स्वभावकरणाश्रयम् ।।२।।

कुतः सामान्यं द्योतयेदिति विशेषणद्वारेण हेतुमाह–स्वभावेति । प्रयोज्यस्वभावो हि नाट्यकर्तव्यः । तत्र सुकुमारस्वभावे पुंसि प्रयोज्ये लालित्यसौकुमार्ये स्त्रीजनस्यायत्नसिद्धे इति स एव तत्र योक्तः युक्तो रूपानुरूपाणि वा सा तस्य प्रकृतिः, उद्धते तु प्रयोज्ये पुमानेव प्रयोक्ता युक्तः सानुरूपा प्रकृतिरूपायां तु प्रकृतौ कथञ्चिद् यत्नेन सम्पाद्यमनु-कीर्तनमिति तत्र सावधानेन प्रतियोक्ता भाव्यम् ।

नन्वनुरूपैव प्रकृतिर्युक्तेत्याशङ्क्याह–नानेति । नानाप्रकाराभिरव-स्थाभिर्विलासलालित्यौद्धत्यादिभिर्धर्म्यैः क्रियाभिश्च सुकुमारोद्धतात्मिकाभिरुद्यान-गमनयुद्धसन्नाहनादिभिरुपेता तस्मान्नानारूपैव प्रकृतिर्युक्ता । तस्याः प्रकृतेः पर्यायेण स्वरूपं स्पष्टयति–भूमिकेति । भूमिरवष्टम्भ स्थानम् । यथा च ध्यानपटगते दशभुजपञ्चवक्त्रादिरूप एव भगवति सदाशिवे धिषणानिवेशः क्रियते, न तु तत्र तद्देशत्वतत्कालत्वे आदर्तव्यम् । नापि तत्सिन्दूरहरितालादिकृतं तद्द्रव्यं केवलमवष्टम्भस्थानम् । तदेवं रामादयोऽवष्टम्भस्थानमात्रम् । एवञ्च रसाध्यायादौ वितत्य निरूपितम् । तेन भूमिरिव भूमिका । इवार्थे अण् । अरूपायाः प्रकृतेरसम्भाव्यत्वात् ।

अनुवाद–नानाविध अवस्थाओं के अनुसार क्रियाओं से उपेत रामादि की भूमिका को धारण करने वाली प्रकृति के स्वभाव के अभिनयन के आश्रय नाट्य का अत्यन्त द्योतन करती है ।।२।।

अभिनव–क्यों सामान्य का अत्यन्त द्योतन करे, इस विशेषण के द्वारा हेतु को बताते हैं कि **स्वभावेति** । प्रयोज्य के स्वभाव को नाट्य में करना चाहिए । वहाँ सुकुमार स्वभाव वाले पुरुष में लालित्य एवं सौकुमार्य के प्रयोज्य में स्त्री-जन के अयत्न सिद्धि में वही वहाँ प्रयोक्ता है अथवा वह उसकी रूपानुरूपा प्रकृति है । उद्धत स्वभाव वाले प्रयोज्य में पुरुष ही प्रयोक्ता युक्त है और वह प्रकृति के अनुरूप है । विरूप प्रकृति में अनुकरण किसी प्रकार यत्न से सम्पाद्य है, वहाँ प्रयोक्ता को सावधान रहना चाहिए ।

बहुबाहूबहुमुखास्तथा च विकृताननाः ।
पशुश्वापदवक्त्राश्च खरोष्ट्राश्च गजाननाः ।।३।।
एते चान्ये च बहवो नानारूपा भवन्ति ये ।
आचार्येण तु ते कार्या मृत्काष्ठजतुचर्मभिः ।।४।।

तत्सम्पाद्यत्वाच्च पूर्वं स्वरूपमाह—बहुबाहु इत्यादि ।

अब प्रश्न होता है कि अनुरूप ही प्रकृति युक्त है, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि नाना प्रकार की अवस्थाओं के साथ विलास, लालित्य, औद्धत्य आदि धर्मों और सुकुमार एवं उद्धत उद्यान में गमन, युद्ध आदि क्रियाओं से उपेत होती है, अतः प्रकृति का नाना रूप वाली होना ही युक्त है । उस प्रकृति के स्वरूप को पर्याय से स्पष्ट करते हैं—

भूमिकेति—भूमि अर्थात् अवष्टम्भ स्थान । जैसे कि ध्यानपटलगत दशभुज, पञ्चवक्त्रादि रूप भगवान् सदाशिव के रूप में बुद्धि का निवेश करते हैं; किन्तु उसमें तद्देश और तत्काल का आदर नहीं करते और न सिन्दूर, हरताल आदि द्रव्यों का ही आदर होता है, वहाँ तो रामादिरूप केवल अवष्टम्भ स्थान मात्र है । यह विभिन्न अध्यायों में विस्तार से निरूपण किया है । भूमि के सदृश भूमिका होती है । यहाँ इव अर्थ में 'क' प्रत्यय है ।।२।।

अभिनव—बिना रूप के प्रकृति असम्भव है, अतः अभिनय भी प्रकृति से सम्पाद्य है, अतः उसके स्वरूप को कहते हैं—

अनुवाद—जिसके अनेक बाहु, अनेक मुख और विकृत आनन हैं और पशु एवं श्वापद पशुओं के सदृश वक्त्र हैं और जो श्वा एवं उष्ट्र रूप है तथा जो गजानन सदृश है और ये तथा इनसे अन्य नाना रूप मुख वाले बहुत से पशु हैं, उनको नाट्याचार्य लोग नाट्योपयोगी मिट्टी, लकड़ी, लाही और चर्म से बनवायें ।।३-४।।

अभिनव—विकृताननाः का अभिप्राय है कि उनमें प्रावरण नहीं होता है । 'पशुवक्त्र' का अभिप्राय है कि पशु के सदृश वक्त्र वाली जैसे गोमुख, अश्व-मुख, जैसे श्वापदवक्त्र, सिंहवक्त्र, खरवक्त्र और उष्ट्रमुख आदि ।।३-४।।

स्वाभाविकेन रूपेण प्रविशेद्रङ्गमण्डलम् ।
आत्मरूपमवच्छाद्य वर्णकैर्भूषणैरपि ।।५।।
यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तत्र तादृशम् ।
वयोवेषानुरूपेण प्रयोज्यं नाट्यकर्मणि ।।६।।
यथा जीवत्स्वभावं हि परित्यज्यान्यदेहिकम् ।
परभावं प्रकुरुते परभावं समाश्रितः ।।७।।
एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन् ।
येषां वागङ्गलीलाभिश्चेष्टाभिस्तु समाचरेत् ।।८।।

विकृताधाराः तेष्वप्रावरणादयः पशुवक्त्रा यथा गोमुखाः अश्वमुखाः श्वापदवक्त्रस्तथा सिंहवक्त्रः खरोष्ट्रेत्यादिना सर्ववपुषा तत्तद्रूपा कार्या इति । आवश्यकेनेति शेषः । अत्र हेतुमाह–स्वाभाविकेनेति ।

अनुकीर्तनीयस्य यः स्वभावः, तदुचितेन रूपेणेति यावत् । आत्मरूपमिति । नटरूपमपिशब्दात् । मृत्काष्ठादिनिर्मितबाहुवक्त्रादिरपि । प्रवष्टम्भयोगस्य प्राधान्यं दर्शयितुमेकविंशत्यध्यायोक्तं हेतुं स्मारयति–यथा जीवस्वभावमिति । परं भावं रामादिकं वेषादिभिः समाचरेदिति सम्बन्धः । सोऽस्मीत्यनेन स्वात्मावष्टम्भस्यात्याज्यतामाह । अन्यथा लयाद्यनुसरणमशक्यम् ।

अभिनव–सम्पूर्ण शरीर में तद्रूप प्रकृति करनी चाहिए । इसमें हेतु को कहते हैं–

अनुवाद–रूप-रङ्ग और वेष-भूषा से अपने स्वरूप को आच्छादित कर अभिनेता स्वाभाविक रूप से रङ्गमण्डप में प्रवेश करे ।।५।।

अनुवाद–जहाँ पर जिसका जैसा जो रूप है, वहाँ स्वभाव से वैसा ही उसी रूप में वय और वेष के अनुरूप नाट्यकर्म में अभिनेता प्रयुक्त करे ।।६।।

अभिनव–अनुकीर्तनीय का जो स्वभाव है, वहाँ तदनुकूल रूप में होना चाहिए । आत्मरूप अर्थात् तट अपने स्वरूप का आच्छादन करता है । अपि शब्द से मिट्टी, लकड़ी से निर्मित मूर्त्तियों में बाहु, मुख आदि को छिपा लेता है ।

अनुवाद–जैसे परभाव के आश्रित जीव पूर्ण शरीर के भाव को छोड़कर पर भाव को ग्रहण करता है । इसी प्रकार विद्वान् अभिनेता मन से 'मैं वही हूँ' इस प्रकार स्मरण करता हुआ उसी प्रकार की वाणी, वैसी ही आङ्गिक लीलाओं और चेष्टाओं से परभाव का प्रयोग करे ।।७-८।।

सुकुमारप्रयोगो यो राज्ञामामोदसम्भवः ।
शृङ्गाररसमासाद्य तन्नारीषु प्रयोजयेत् ।।९।।
युद्धोद्धताविद्धकृता संरम्भारभटाश्च ये ।
न ते स्त्रीभिः प्रयोक्तव्या योक्तव्याः पुरुषेषु ते ।।१०।।

अथ रूपानुरूपिणी प्रकृतिः क्वेत्याशंक्याह—सुकुमारप्रयोग इति । राज्ञामित्युपलक्षणम्, आमोदो विभावपरिपूर्णता । तन्नारीष्विति । प्रयोक्तृषु प्रयोज्यतयात्र विषयत्वेन विवक्षितः । प्रयोजयेदिति । नाट्याचार्यः ।

नन्वेवमनुरूपा पुरुषविषये प्रकृतिः किं नास्तीत्याशङ्क्याह—युद्धोद्धताविद्ध-कृता इति । प्रयोगा इति शेषः । युद्धोद्धतैराविद्धैश्च कृताः व्याप्ताः अत एव संरम्भप्रधाना आरभटादयः ।

अभिनव—अवष्टम्भ योग की प्रधानता को दिखलाने के लिए इक्कीसवें अध्याय में कहे हुए हेतु को याद दिलाते हैं-जीव के स्वभाव को । परभाव रामादि के भाव का वेष-भूषा आदि के द्वारा रङ्गमञ्च पर दिखाये । 'सोऽस्मि' (वह मैं हूँ) इससे अपने अवष्टम्भ की अत्याज्यता को कहते हैं । अन्यथा लयादि का अनुसरण करना अशक्य है ॥७-८॥

अनुवाद—शृङ्गार रस से प्राप्त राजाओं के आमोद का जनक जो सुकुमार प्रयोग है, उसे स्त्रियों से प्रयुक्त करायें ।।९।।

अभिनव—इसके बाद रूपानुरूपिणी प्रकृति कौन है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि सुकुमार प्रयोग यह राजाओं का उपलक्षण है और आमोद विभाव की परिपूर्णता है । वह यहाँ प्रयोक्त्री नारियों में प्रयोज्यतया विवक्षित है । प्रयोजयेत् अर्थात् नाट्याचार्य प्रयोग करें ॥९॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि पुरुषों के विषय में क्या अनुरूपा प्रकृति नहीं होती ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—युद्ध में उद्धत, प्रमाद से आविद्ध, उग्र योद्धाओं के जो कर्त्तव्य हैं, उन्हें नारियों से नहीं करवाना चाहिए, उनका पुरुषों द्वारा प्रयोग करवाना चाहिए ।।१०।।

अभिनव—युद्ध में उद्धत एवं शस्त्रों से आविद्ध लोगों के द्वारा किये गये प्रयोग व्याप्त हैं, अत एव संरम्भ प्रधान आरभट आदि हैं ।

अनुद्धटमसम्भ्रान्तमनाविद्धाङ्गचेष्टितम् ।
लयतालकलापातप्रमाणनियताक्षरम् ।।११।।
सुविभक्तपदालापमनिष्ठुरमकाहलम् ।
ईदृशं यद्भवेन्नाट्यं नारीभिश्च प्रयोजयेत् ।।१२।।
एवं कार्यं प्रयोगज्ञैर्भूमिकाविनिवेशनम् ।
स्त्रियो हि स्त्रीगतो भावः पौरुषः पुरुषस्य च ।।१३।।
यथा वयो यथावस्थमनुरूपेति सा स्मृता ।
पुरुषः स्त्रीकृतं भावं रूपात्प्रकुरुते तु यः ।।१४।।

स्त्रीपुरुषभूमिकेत्यस्यार्थस्य व्यापकत्वमाह—अनुद्धटमिति ।

अनुरूपां प्रकृतिं लक्षयितुमाह—स्त्रिया हीति ।

प्रयोक्त्र्यनुरूपाननुरूपां लक्षयति—पुरुषः स्त्रीकृतमिति । यत्र पुरुषत्वमालम्ब्य स्त्री वर्तते यथा सांकृत्यायनी । न तु सर्वत्रेत्यर्थः ।

अभिनव—अब स्त्री-पुरुष की भूमिका और उनके कार्य की व्यापकता को कहते हैं—

अनुवाद—जो अनुद्धट है, असम्भ्रान्त है, अनाविद्ध अङ्ग चेष्टाओं से युक्त है, लय, ताल, कला के अनुसार पात के प्रमाणों से नियत अक्षर वाले पदों के आलाप से सुविभक्त, अनिष्ठुर, अस्पष्ट भाषण रहित, इस प्रकार जो नाट्य (अभिनय) है, उसका प्रयोग नारियों से करायें ।।११-१२।।

अनुवाद—नाट्य प्रयोग के ज्ञाता नाट्याचार्य इस प्रकार भूमिका का विनिवेशन करें, जिससे नारीगत भाव का प्रयोग नारियाँ करें और पुरुषगत भाव का प्रयोग पुरुष करें ।।१३।।

अनुवाद—जैसा वय (आयु), जैसी अवस्था है, वही प्रकृति के अनुरूप कही गई है, जो पुरुष स्त्रीगत भाव को स्त्री के रूप में करता है ।।१४।।

अभिनव—जहाँ पर पुरुष के स्वभाव का आश्रय करके नारी प्रवृत्त होती है, जैसे सांकृत्यायनी ।

रूपानुरूपा सा ज्ञेया प्रयोगे प्रकृतिर्बुधैः ।
छन्दतः पौरुषीं भूमिं स्त्री कुर्यादनुरूपतः ।।१५।।
न परस्परचेष्टासु कार्यौ स्थविरबालिशौ ।
पाठ्यप्रयोगे पुरुषाः प्रयोक्तव्या हि संस्कृते ।।१६।।

स्त्रीपुरुषं प्रयुक्तमित्येतत् सर्वत्र युक्तमिति दर्शयति–छन्दत इति ।

स्थविरबालिशाविति । सम्बन्धिशब्दाः सम्बन्ध्यन्तरमाक्षिपन्तीति स्थविरो युवभूमिकायां युवा च वृद्धभूमिकायां न योज्यः । बालिशोऽत्र विरूपः स विरूपभूमावायोज्यः । एतच्चोपलक्षणम् । यत्र यत्प्रयोजनो न शिलष्यति न स तत्र योज्य इत्यर्थः । पाठ्यप्रयोग इति । संस्कृतपाठ्यप्रधाने सुकुमारप्रकृतपाठ्यप्रधाने । गीत इति गीतप्रधाने प्रयोग इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह–प्रायः प्रकृतिरिति । बलवन्त इति । रङ्गपूरणोचितगम्भीर-स्वरा ।

अनुवाद–जहाँ पर नारी स्वभावतः पुरुष के रूप में पौरुषी भूमिका धारण करती है, उसे बुधजन नाट्य प्रयोग में रूपानुरूपा प्रकृति समझें ।।१५।।

अभिनव–नारी पुरुष के प्रयोग को करे, यह सर्वत्र उचित है, इस बात को दिखाते हैं–छन्दत इति ।

अनुवाद–वृद्ध और बालक को एक-दूसरे की चेष्टा के प्रयोग नहीं करने चाहिए । पाठ्य-प्रयोग में पुरुषों को संस्कृत में प्रयोग करना चाहिए ।।१६।।

अभिनव–'स्थविरबालिशौ' में सम्बन्धी शब्द दूसरे सम्बन्धियों पर आक्षेप करते हैं । अतः वृद्ध को युवा की भूमिका में और युवा को वृद्ध की भूमिका में संयोजित न करें । यहाँ बालिश का अर्थ विरूप है । इस विरूप की भूमिका में आयोजन करना चाहिए, यह उपलक्षण मात्र है । जहाँ पर जो प्रयोजन शिलष्ट नहीं होता, वहाँ उसमें योजना न करे । संस्कृत पाठ्य जहाँ प्रधान हो, सुकुमार प्राकृत पाठ्य जहाँ प्रधान हो, गति जहाँ प्रधान हो, वहाँ प्रयोग करें । यहाँ हेतु कहते हैं–प्रायः प्रकृति ।।१६।।

स्त्रीणां स्वभावमधुराः कण्ठाः पुंसां तु बलवन्तः ।
यद्यपि पुरुषो विद्याद् गीतविधानं च लक्षणोपेतम् ।।१७।।
माधुर्यगुणविहीनं शोभां जनयेन्न तद्गीतम् ।
यत्र स्त्रीणां पाठ्याद्गुणैर्नराणां च कण्ठमाधुर्यम् ।।१८।।
प्रकृतिविपर्ययजनितौ विज्ञेयौ तावलङ्कारौ ।
प्रायेण देवपार्थिवसेनापतिमुख्यपुरुषभवनेषु ।।१९।।

ननु पुंमासोऽपि भावयन्त्येव तत्कथमुक्तं स्त्रीणां गेयं प्रकृतिरित्याशङ्क्याह–यद्यपि पुरुष इति ।

ननु विपर्ययोऽपि दृष्ट इत्याशङ्क्याह–तावलङ्कारावविति । कदाचित्कापीति यावत् ।

तत्र स्त्रीपुरुषप्रयोगमनुकरोतीत्ययमेव प्रचुरः प्रकार इति दर्शयति–प्रायेणेति । पुरुषस्वभावेन प्रयोज्येनोपलक्षितोऽयं स्त्रीभिः कृताः प्रयोज्याः ।

अनुवाद–स्त्रियों के कण्ठ गाने में स्वभाव से मधुर होते हैं और पुरुषों के कण्ठ भारी होते हैं । यद्यपि पुरुष लक्षणों में उपेत गीत-विधान को भले ही जानते हों ।।१७।।

अभिनव–कण्ठ यद्यपि रङ्गमञ्च पर पूरण करने के योग्य गम्भीर स्वर वाले होते हैं; क्योंकि पुरुष भी गाते हैं, तो कैसे कहा जाय कि गीत में केवल नारियों का अधिकार है । क्योंकि उनका कण्ठ स्वभाव से मधुर होता है, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं–यद्यपि ।

अनुवाद–वह गीत शोभा का जनक नहीं है, जो माधुर्य गुण से विहीन होता है । जहाँ पर स्त्रियों के तथा पुरुषों के पाठ्य के अनुकूल कण्ठमाधुर्य है । उन्हें प्रकृति के विपरीत होने वाले अलङ्कार समझने चाहिए । प्रायः यह स्थिति देवता, राजा, सेनापति एवं नगर के मुख्य पुरुषों के भवनों (महलों) में होती है ।।१८-१९।।

अभिनव–प्रकृति-विपर्यय भी कहीं देखा गया है, इस प्रकार शङ्का करके कहते हैं कि वे अलङ्कार । कदाचित् कोई अलङ्कार भी है । वहाँ नारी पुरुष के प्रयोग का अनुकरण करती है, यह प्रचुर प्रकार है, यह दिखाते हैं–प्रायेणेति । स्त्रियाँ भी पुरुष के स्वभाव से प्रयोज्य होने से उपलक्षित प्रयोग को करती हैं ।।१९।।

स्त्रीजनकृताः प्रयोगा भवन्ति पुरुषस्वभावेन ।
रम्भोर्वशीप्रभृतिषु स्वर्गे नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।।२०।।
तथैव मानुषे लोके राज्ञामन्तःपुरेष्विह ।
उपदेष्टव्यमाचार्यैः प्रयत्नेनाङ्गनाजने ।।२१।।
न स्वयं भूमिकाभ्यासो बुधैः कार्यस्तु नाटके ।
स्त्रीषु योज्यः प्रयत्नेन प्रयोगः पुरुषाश्रयः ।।२२।।
यस्मात्स्वभावोपगतो विलासः स्त्रीषु विद्यते ।
तस्मात्स्वभावमधुरमङ्गं सुलभसौष्ठवम् ।।२३।।

अत्रानुवादं दर्शयति—रम्भोर्वशीप्रभृतिष्विति ।

अत्र हेतुमाह—उपदेष्टव्यमिति । उपदेष्टुं शक्यमित्यर्थः । स्वयमिति पुरुषैः, न्यासोऽत्र प्रयोगः ।

ननु पुमानपि भावबुद्धिमाश्रित्याशङ्क्य हेत्वन्तरमाह—यस्मादिति ।

अनुवाद—स्त्रियों के द्वारा भी पुरुषों के स्वभाव के अनुसार किये गये नाट्य प्रयोग होते हैं । ऐसा नाट्य स्वर्ग में रम्भा और उर्वशी प्रभृति नारियों में प्रतिष्ठित है ।।२०।।

अभिनव—रम्भा और उर्वशी प्रभृति अप्सराओं में यह प्रयोग होता है ।।२०।।

अनुवाद—इसी प्रकार मानव-लोक में राजाओं के अन्तःपुर में रहने वाली नारियों को नाट्याचार्य द्वारा प्रयत्न से उपदेश देना चाहिए ।।२१।।

अनुवाद—नाट्याचार्यों के नाटक में स्वयं भूमिका का अभ्यास नहीं करना चाहिए । किन्तु पुरुषाश्रित प्रयोग की योजना नारियों में प्रयत्न से करे ।।२२।।

अभिनव—स्वयं पुरुष यहाँ इस प्रयोग का अभ्यास न करें ।।२२।।

अभिनव—पुरुष की इस प्रकार भाव-प्रधान बुद्धि का आश्रय लेकर इस प्रकार आशङ्का करके अन्य हेतु को कहते हैं—

अनुवाद—क्योंकि स्त्रियों में स्वभावप्राप्त विलास होता है, अतः स्वभाव-मधुर अङ्ग में सौष्ठव सुलभ है ।।२३।।

ललितं सौष्ठवं यच्च सोऽलङ्करः परो मतः ।
प्रयोगो द्विविधश्चैव विज्ञेयो नाटकाश्रयः ।।२४।।
सुकुमारस्याविद्धो नानाभावरसाश्रयः ।
नाटकं सप्रकरणं भाणो वीथ्यङ्क एव च ।।२५।।
ज्ञेयानि सुकुमाराणि मानुषैराश्रितानि तु ।
सुकुमारप्रयोगोऽयं राज्ञामामोदकारकः ।।२६।।
शृङ्गाररसमासाद्य स्त्रीणां तत्तु प्रयोजयेत् ।
युद्धोद्धताविद्धकृताः संरम्भारभटाश्च ये ।।२७।।
न ते स्त्रीणां प्रकर्तव्याः कर्तव्याः पुरुषैर्हि ते ।
यथाविद्धाङ्गहारं तु भेद्यभेद्याहवात्मकम् ।।२८।।

पुरुषसम्बन्धिवलितं च यद्वस्तु तदतीव हृद्यं प्रतिभाति ।

तदाह–सोऽलङ्कार इति ।

यदुक्तमनुद्धट इत्यादिना युद्धोद्धता इत्यादिना प्रयोगद्वैविध्यं तद्रूपकभेदेन विभजंस्तद्रूपके सप्रयोग उचित इति दर्शयति–नाटकमित्यादिना ।

अनुवाद–जो ललित सौष्ठव है, वह परम श्रेष्ठ अलङ्कार माना गया है । नाटक में सुकुमार और आविद्ध भेद से दो प्रकार का प्रयोग जानना चाहिए ।।२४।।

अभिनव–पुरुष सम्बन्धी जो वस्तु होती है, वह नारियों के लिए अतीव हृद्य होती है, इसको कहते हैं–सोऽलङ्कार इति ।

अनुवाद–नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी तथा अङ्क नाना भाव और रसों के आश्रित सुकुमार और आविद्ध भेद से दो प्रकार के होते हैं ।।२५।।

अभिनव–अनुद्धट इत्यादि से और युद्धोद्धत इत्यादि से दो प्रकार के प्रयोग कहे गये हैं, उनका रूपक भेद से विभाग करते हुए रूपक में इनका प्रयोग उचित है, यह दिखाते हैं–नाटकमित्यादि ।

अनुवाद–मनुष्यों के आश्रित सुकुमार प्रयोग जानने चाहिए । यह सुकुमार प्रयोग राजाओं के आमोद का कारक है । अतः यह प्रयोग शृङ्गार के सहारे स्त्रियों के द्वारा प्रयुक्त करे । युद्ध, उद्धत और आविद्ध तथा प्रचण्डता से युक्त यह प्रयोग स्त्रियों के द्वारा प्रयुक्त न करे, पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त

मायेन्द्रजालबहुलं पुस्तनेपथ्यदीपितम् ।
पुरुषप्रायसञ्चारमल्पस्त्रीकमथोद्धतम् ।।२९।।
सात्वत्यारभटीयुक्तं नाट्यमाविद्धसंज्ञितम् ।
डिमः समवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा ।।३०।।
एतान्याविद्धसंज्ञानि विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ।
एषां प्रयोगः कर्तव्यो देवदानवराक्षसैः ।।३१।।
उद्धता ये च पुरुषाः शौर्यवीर्यसमन्विताः ।
योग्यः स च प्रयत्नः कर्तव्यः सततमप्रमादेन ।।३२।।
न हि योग्यया विना भवति च भावरससौष्ठवं किञ्चित् ।
सङ्गीतपरिक्लेशो नित्यं प्रमदाजनस्य गुण एव ।।३३।।

शौर्यवीर्यसमन्विता इत्यनेन श्लोकसप्तकेन प्रायः प्रकृतिः स्त्रीणां गेयं नृणां तु पाठ्यविधिरित्युक्तम् । तत्रायत्नसिद्धेऽर्थे को नाट्याचार्यप्रवर्तितस्य गुण-निकाभ्यासव्यापार इत्याशङ्क्याह—सङ्गीतपरिक्लेश इति ।

मधुरत्वं स्वाभाविक कर्कशत्वं सविघ्नत्वं कलाभ्यासकृतः ।

करे । नाट्य प्रयोक्ता इस युद्ध को छेद्य और भेद्य रूप से दो प्रकार का समझें ।।२६-२८।।

अनुवाद—जिसमें माया और इन्द्रजाल बहुल है और जो पुस्त और नेपथ्य विधान से दीपित है, जिसमें पुरुषों का संचार अधिक और नारियों का संचार अल्प है, उसे उद्धत समझें ।।२९।।

अनुवाद—जो सात्वती और आरभटी से युक्त है, उसे 'आविद्ध' संज्ञक समझें । डिम, समवकार, ईहामृग तथा व्यायोग को प्रयोक्ता आविद्धसंज्ञक समझें । इनका प्रयोग देव, दानव और राक्षसों को करना चाहिए ।।३०-३१।।

अनुवाद—जो शौर्य और वीर्य से समन्वित उद्धत पुरुष हैं, उनके योग्य यह प्रयोग अप्रमाद (सावधानी) से और निरन्तर प्रयत्न से करना चाहिए ।।३२।।

अभिनव—शौर्य और वीर्य से समन्वित से लेकर सात श्लोकों से कहा है कि प्रायः स्त्रियों की प्रकृति गेय विषय में होती है और पुरुषों की प्रकृति पाठ्य विषय में होती है ।

अनुवाद—योग्या नारी के बिना भाव एवं रस में कुछ भी सौष्ठव नहीं होता है, अतः संगीत की तैयारी करने में स्त्रियों का परिक्लेश गुण है ।।३३।।

यन्मधुरकर्कशत्वं लभते नाट्यप्रयोगेण ।
प्रमदाः नाट्यविलासैर्लभते यत् कुसुमैर्विचित्रलावण्यम् ।
कामोपचारकुशला भवति च काम्या विशेषेण ।।३४।।
गीतं नृत्तं तथा वाद्यं प्रस्तारगमनक्रिया ।
शिष्यनिष्पादनं चैव षडाचार्यगुणाः स्मृताः ।।३५।।

अथ नाट्याभ्यासप्रोत्साहनार्थमाह—प्रमदाः नाट्यविलासैरिति ।

न स्वयं भूमिकान्यासो बुधैः कार्यस्तु नाटके इत्युक्तम् । तत्र नाट्याचार्यः किं बुद्ध्यते येन बुधा इति संशये स इत्याह—गीतं नृत्तमित्यादि । स्वरज्ञोऽग्रहार-क्रियापि चतुर्विधातोद्यकुशलस्तालज्ञः लोकोपकारविच्चेत्यर्थः । प्रस्तारोऽत्र

अभिनव—यहाँ बिना यत्न किये जो पदार्थ सिद्ध है, उस प्रवर्त्तित गुण-निका के रूप अभ्यास में नाट्याचार्य का कौन-सा व्यापार है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि संगीत के विषय में स्त्रियों का परिक्लेश करना गुण है ॥३३॥

अनुवाद—नाट्य के प्रयोग के अनुसार मधुरत्व और कर्कशत्व का लाभ होता है । नाट्य के सुकुमार विलासों से नारियाँ विचित्र लावण्य को प्राप्त करती हैं, जिसके कारण काम्या नारी विशेष रूप से कामोपचार में कुशल हो जाती है ।।३४।।

अभिनव—नारियों में मधुरत्व (माधुर्य) स्वाभाविक होता है और कला के अभ्यास में विघ्न पड़ने से कर्कशता आती है । नाट्य के अभ्यास में प्रोत्साहन देने के लिए कहते हैं कि नाट्य के विलासों से नारियाँ विचित्र लावण्य को प्राप्त करती हैं ॥३४॥

अभिनव—'नाटक में बुधजनों को स्वयं भूमिका न्यास नहीं करना चाहिए', यह कहा है । वहाँ नाट्याचार्य क्या समझता है ? जिससे 'बुधैः' ऐसा कहा है । इस संशय में कहते हैं—

अनुवाद—गीत, नृत्य और वाद्य, प्रस्तार, गति तथा शिष्य के निष्पादन ये आचार्य के छः गुण हैं ।।३५।।

एतानि पञ्च यो वेत्ति स आचार्यः प्रकीर्तितः ।
ऊहापोहौ मतिश्चैव स्मृतिर्मेधा तथैव च ।।३६।।
मेधास्मृतिर्गुणश्लाघारागः संघर्ष एव च ।
उत्साहश्च षडेवैतान् शिष्यस्यापि गुणान् विदुः ।।३७।।

तालः । गमने क्रियाङ्गस्य कीदृशी गतिरित्यनेनोपचारकौशलं तद्वक्ष्यते । एतैर्विना नाट्याचार्यनामापि न लभत इत्यर्थः । ऊहादयस्तत्पृष्ठे भवन्तस्तदुत्कृष्टं कुर्वन्तीति ते गुणा इति विभागेनोक्ता । ऊहोऽनुक्तस्य कल्पनमपोहोऽनुक्तस्य अनुसरणमिति पूर्वोन्मेषरूपा प्रतिभा स्मृतिरुपदिष्टस्याविस्फुरणं मेधाः, उपदिष्टस्य्य झटिति ग्रहणं शिष्यनिष्पादनं शिष्याशयौचित्यान्नोपदेश्यत्वं गुणप्रख्यानोद्यमः प्रगल्भत इत्यर्थः ।

राग इति । प्रयोजनानभिसन्धिना तत्र कलायाश्चासङ्घर्षाभ्यधिकं प्रतिपत्तिः स्पर्धा ।

अभिनव–गीत में स्वर का ज्ञाता, अङ्गहार क्रिया में विज्ञ, चार प्रकार के वाद्यों में कुशल, ताल का ज्ञाता, लोकोपचार में विज्ञ, प्रस्तार का अर्थ यहाँ ताल है । गमन क्रिया की कैसी गति है ? इससे उपचारकुशलता को कहेंगे ॥३५॥

अनुवाद–ऊह, अपोह, मति, स्मृति और मेधा इन पाँचों को जो जानता है, वह आचार्य कहलाता है ।।३६।।

अभिनव–इन गुणों के विना 'नाट्याचार्य' यह नाम नहीं पाता । इस विषय में उसके पीठ पर जो ऊहादि गुण हैं, वे उसे उत्कृष्ट बना देते हैं, इसलिए वे गुण हैं, इस प्रकार विभाग करके कहा है । ऊह का अर्थ अनुक्त की कल्पना, अपोह का अर्थ अनुक्त का अनुसरण, मति का अर्थ मनन, अर्थात् अपूर्व का उन्मेष रूप है । स्मृति का अर्थ उपदिष्ट का विस्फुरण और मेधा का अर्थ उपदिष्ट का शीघ्र ही ग्रहण करना है ।

अनुवाद–मेधा, स्मृति, गुणश्लाघा, राग, संघर्ष और उत्साह ये छः शिष्य के गुण समझने चाहिए ।।३७।।

अभिनव–प्रयोजन की अभिसन्धि किये बिना प्रेम करना । कला में संघर्ष अधिक प्रतिपत्ति के लिए स्पर्धा ।

एवं कार्यं प्रयोगज्ञैर्नानाभूमिविकल्पनम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सिद्धीनामपि लक्षणम् ।।३८।।

।। इति भरतीये नाट्यशास्त्रे विकृतिविकल्पो
नाम षड्विंशोऽध्यायः ।।२६।।

एतदुपसंहरन्नध्यायान्तरमासूत्रयति—एवमिति । अत ऊर्ध्वमिति चेति । सिद्धेर्द्वैविध्येऽप्यवान्तरभेदेन बहुत्वमिति सिद्धीनामित्युक्तमिति शिवम् ।

प्रकृतिविकल्पाध्याये विषमपदालोचनं समारचितम् ।
अभिनवगुप्तेन मया विषमविलोचनपदाब्जभृङ्गेण ।।

।। इति श्रीमहामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तेन विरचितायां भारतीयनाट्य-
वेदवृत्तावभिनवभारत्यां प्रकृतिविकल्पाध्यायः षड्विंशः ।।२६।।

अभिनव—इस अध्याय का उपसंहार करते हुए अगले अध्याय का आसूत्रण करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार नाट्य प्रयोग के ज्ञाता नाट्याचार्यों को नाना भूमिकाओं के विकल्पन को करना चाहिए । इसके बाद सिद्धियों के लक्षण को कहूँगा ।।३८।।

अभिनव—सिद्धि के दो प्रकार के होने पर भी अवान्तर भेद से सिद्धियाँ अनेक हैं, यह कहा है ।

अभिनव—विषम लोचन भगवान् सदाशिव के चरणकमल का भ्रमर मैं अभिनवगुप्त प्रकृतिविकल्पाध्याय में विषमपदालोचन को रच डाला ।।२६।।

इस प्रकार महामाहेश्वर अभिनवगुप्त द्वारा रचित भारतीय नाट्यविवृत्ति अभिनवभारती में छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।।२६।।

।। इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र के छब्बीसवें अध्याय
एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।।२६।।

सप्तविंशोऽध्यायः

सिद्धीनां तु प्रवक्ष्यामि लक्षणं नाटकाश्रयम् ।
यस्मात्प्रयोगः सर्वोऽयं [१]सिद्ध्यर्थं सम्प्रदर्शितः ।।१।।

।। अभिनवभारती—सप्तविंशोऽध्यायः ।।

सत्त्वमित्यमलरङ्गमण्डले दैवमानुषविभेदभेदिता ।
सिद्धिमानयति यः स्वविद्यया तं नमामि गिरिजार्धधारिणम् ।।

इह यो यथाभिनये यस्मिन् योक्तव्यः सिद्धिमिच्छतेति सर्वमभिनयानां तावत्सिद्धिपर्यन्तमुक्तम् । अभिनयप्रक्रमेणैवोपाङ्गाभिनयाध्याये सप्तमे । तथाभिनय-समानीकरणात्मकमेलनिकासम्पादनात्मकस्सामान्याभिनयस्यापि सिद्धिफलत्वमेव दर्शितम् । चित्राभिनयाध्यायान्ते ''एवमेते ह्यभिनया वाङ्नेपथ्याङ्गसम्भवाः ।

सप्तविंशोऽध्यायः

हिन्दी व्याख्या

अनुवाद—अब मैं नाटकाश्रित लक्षण को कहूँगा; क्योंकि यह सारा प्रयोग सिद्धि के लिए दिखाया गया है ।।१।।

अभिनव—इस रङ्गमण्डप में जो अपनी विद्या से दैव और मानुष भेद से विभिन्न सिद्धियों को प्राप्त करा देता है, उस शुद्ध सत्त्व वाले गिरिजा (पार्वती) को अर्द्धांग में धारण करने वाले सदाशिव को मैं अभिनवगुप्त प्रणाम करता हूँ ।

अभिनव—यहाँ नाट्यशास्त्र में जिस अभिनय में जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करने की इच्छा से प्रयोग करता है । इस प्रकार अभिनयों के क्रम से सप्तम अभिनयाध्याय में अभिनयों के विषय में सिद्धिपर्यन्त सब कुछ कह दिया है और अभिनयसमानीकरणात्मक अथवा अभिनेयमेलनिका-सम्पादनात्मक सामान्याभिनय का भी सिद्धिफल प्रदर्शित किया है और चित्राभिनय के अध्या-यान्त में ''नाटक में सिद्धि को चाहने वाले नाट्यप्रयोक्ता लोगों को वाचिक, आङ्गिक और नेपथ्यात्मक अभिनयों को इस प्रकार करना चाहिए'' इस श्लोक से सिद्धिपर्यन्त दिखा दिया है । इसी से 'रसाभावा ह्यभिनया' यहाँ पर सिद्धि को

---

१. ख. सिद्ध्यर्थे सम्प्रतिष्ठितः ।

प्रयोगज्ञेन कर्त्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता'' इति श्लोकेन तत एव रसाभावा इत्यत्र सिद्धिरुद्दिष्टा तत्र केयं सिद्धिर्नामेति भवितव्यमधुना जिज्ञासया तदभिप्रायेणानन्तर-वृत्तावध्यायपर्यन्ते दर्शितः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सिद्धीनामपि लक्षणमिति । तत्र सिद्धिर्नामासाध्य-प्रयोजनसम्पत्तिः । सा च नटानां सामाजिकानां च । तत्र कतरा वक्तव्येत्या-शङ्क्याह—

सिद्धीनां तु प्रवक्ष्यामि लक्षणं नाटकाश्रयमिति ।

तुर्व्यतिरेके । यद्यपि सामाजिकाश्रयं नाटकाश्रयं च सिद्धीनां लक्षणं वक्तव्यं तथापि नटाश्रयमेव वक्ष्यामि, नेतरदिति । नाटकोऽत्र नटः नटतीति अपि हि व्युत्पत्तिः ।

कस्मात्पुनरितरं नोच्यत इत्याशङ्क्याह—

यस्मात्प्रयोगः सर्वोऽयं सिद्ध्यर्थः सम्प्रदर्शितः ।। इति ।

सामाजिकानां सिद्ध्यर्थो यः प्रयोगः स इति विशेषणभागे विश्रान्तिः ।

कहा है । वहाँ पर वह सिद्धि क्या है ? इस अभिप्राय से अध्याय की समाप्ति-पर्यन्त की वृत्ति में दिखाया है ।

"इसके बाद सिद्धियों के लक्षण को कहूँगा" ।

यहाँ सिद्धि का अर्थ है असाध्य प्रयोजन की सम्पत्ति और वह सिद्धि नटों को भी अपेक्षित है और सामाजिकों को भी अपेक्षित है । इनमें कौन-सी सिद्धि कहनी चाहिए, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

"सिद्धियों के नाटकाश्रित लक्षण को कहूँगा" ।

यहाँ पर 'तु' व्यतिरेक अर्थ में है । यद्यपि सामाजिकाश्रित और नाटका-श्रित सिद्धियों का लक्षण कहना चाहिए, तथापि नाटक सम्बन्धी सिद्धि को कहूँगा, अन्य लक्षण को नहीं । यहाँ नाटक का अर्थ नट है; क्योंकि 'नटति इति' यह व्युत्पत्ति है । अब प्रश्न होता है कि क्यों नाटकाश्रय सिद्धि को कहेंगे और सामाजिकाश्रय सिद्धि को क्यों नहीं कहेंगे ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

"क्योंकि यह सारा प्रयोग सिद्धि के लिए प्रदर्शित है" ।

सामाजिकों की सिद्धि के लिए जो प्रयोग है, वह इस प्रकार विशेषण भाग

दण्डीप्रेषादस्याह लोहितोष्णीषाः प्रचरन्तीति । यथा विधिविविक्तेस्तेनायमर्थः । यथा सिद्ध्यादिप्रयोगः सप्रयोजनः सामाजिकगतया तदुद्देशेनैव नाट्योत्पत्तौ न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिष्वित्यादेशेषु प्रयोगदर्शित्वात् सा सिद्धिः पूर्वं दर्शितैव । तदुपयोगनान्तरीयकतया क्व परा सिद्धिः । अनेनाध्यायेन दर्श्यते । एतदुक्तं भवति । सामाजिकानां तावदभिसंहितफलाप्तिलक्षणा सिद्धिः । व्रीह्यात्मिका व्रीह्यादिष्वधिगच्छन्तीत्यादौ तत्र स्थाने निरूपितपूर्वैव । सा च मानुषेण सामाजिकेनाभिसंहितत्वात्मानुषीत्युच्यते । तत्रापि तया न संहितोऽसौ यथा निर्विषयस्वकपरमानन्दाविर्भावस्वरूपापत्तिवर्गब्रह्मचारिणी गीतादेर्विषयस्य नाट्यान्तरुपरञ्जकतया निमग्नस्य विषयसमत्वान्नटादेः निह्नुतत्वाद्रामादेस्तुच्छत्वा-द्देशकालनिर्यन्त्रणतया एव विषयत्वापादनात्तस्याश्चात्र असम्भवस्योपादानात् सोऽप्ययं सिद्ध्यंशो दैवशान्त्याः समस्तरसप्रकृतिताम्—

में विश्रान्त है । जैसे, 'श्येनयाग में लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् घूम रहे हैं, अतः यह विधि विविक्त विषय है । इसलिए इसका यह अर्थ है । जैसे सामाजिक सिद्धि प्रयोग का प्रयोजन है, उसके उद्देश्य से नाट्य की उत्पत्ति हुई ।

"यह वेद स्त्री एवं शूद्र जाति के सुनाने योग्य नहीं है । अतः सार्ववर्णिक पाँचवें वेद की सृष्टि करो" ।

इत्यादि आदेशों में प्रयोग के दिखा देने से वह सिद्धि पहले ही कह दिया है, तो सामाजिकों के उपयोग में कौन-सी दूसरी सिद्धि है ? जो इस अध्याय से दिखाते हैं । यह कहा है कि सामाजिकों को अपने अभिसंहित फल की प्राप्ति ही सिद्धि है । जैसे व्रीहिप्रोक्षणजन्य सिद्धि को यजमान व्रीहियों में प्राप्त करते हैं, इस तथ्य को उस स्थान पर पहले ही निरूपित कर दिया है । यह सिद्धि मानुष सामाजिक द्वारा अभिसंहित होने से मानुषी कहलाती है । उसमें भी यह मानुषी सिद्धि उस प्रकार अभिसंहित नहीं है, जिस प्रकार निर्विषय निज परमानन्द के आविर्भावस्वरूप ब्रह्मचारिणी सदृशी अभिसंहित है । नाट्य में गीतादि विषय के उपरञ्जक होने से आनन्द में निमग्न सामाजिक के लिए रामादि के तिरोहित हो जाने से देश, काल, वय की नियन्त्रणा भी तुच्छ हो जाने से नाट्य में दृश्यमान विषयों के सदृश नटादि ही दृष्टि के विषय होने से यहाँ उसका उपपादन असम्भव है और वह सिद्ध्यंश भी दैवशान्ति के सदृश है । जैसे—

"स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः" इति वदतामुचित एव स्पष्टतयानुरोधो रहस्यार्थस्यान्यपरत्वाच्च शास्त्रस्य । तदुक्तं भट्टनायकेन–

प्रधाने सिद्धिभागेऽस्य प्रयोगाङ्गत्वमागताः ।
गेयादयस्तथैवैते त्रैधैनं (?) ह्युपयोगिनः ।।
सोपानपदपङ्क्त्या च सा च मोक्षस्पृशात्मिका ।
सा तु मोक्ता यतो गुह्यमृषयोऽन्यपदे कथम् ।।
शास्त्रे प्रकटयेयुर्हि तालमानकृते यथा ।। इति ।

यस्तु प्रस्फुटो दैवसिद्ध्यंशः पुरुषार्थव्युत्पत्तिलक्षणः सोऽपि "धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामं कामोपसेविनाम्" इत्यादिना प्रदर्शित एवेति सामाजिकाश्रया सिद्धिर्न वक्तव्या । लक्षणतस्तदाह–सम्यक् प्रकर्षेण प्रकटित इति ।

"अपने-अपने निमित्त को प्राप्त करके शान्त से समस्त रस उत्पन्न होते हैं ।" ऐसा कहने वाले आचार्य का अनुरोध स्पष्टतः उचित है; क्योंकि गूढ़ार्थ शास्त्र का उपदेश दूसरे के लिए होता है । जैसा कि भट्टनायक ने कहा है—

जैसे "इस नट के प्रधानीभूत सिद्धि भाग में गेयादि विषय प्रयोग के अङ्ग हो जाते हैं, उसी प्रकार शृङ्गारादि रस भी शान्त का उपजीवन करते हैं" ।

"वह दैवशान्ति मोक्ष के स्पर्शस्वरूपा सोपान (सीढ़ी) की पदपंक्ति के समान है; क्योंकि ऋषि लोग अन्य पद के लक्षण में अन्य को कैसे प्रकट करते हैं । जैसे ताल के मान (ताल का प्रमाण) बोधक शास्त्र में ताल का प्रमाण कहते हैं" ।

जो पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की व्युत्पत्ति लक्षण सिद्ध्यंश प्रस्फुट है, उसे भी धर्म में प्रवृत्त होने वालों के लिए धर्म का तथा काम का उपसेवन करने वालों को काम का प्रदर्शन कर दिया है । अतः सामाजिकाश्रय सिद्धि को नहीं कहना चाहिए । अतः लक्षण से उसे कहते हैं कि सम्प्रदर्शितः, अर्थात् सम्यक् प्रकर्ष से प्रकटित कर दिया है ।।१।।

सिद्धिस्तु द्विविधा ज्ञेया[१] वाङ्मनोऽङ्गसमुद्भवा ।
दैवी च मानुषी चैव नानाभावसमुत्थिता ।।२।।
दशाङ्गा मानुषी सिद्धिर्दैवी तु द्विविधा स्मृता[२] ।
नानासत्त्वाश्रयकृता वाङ्नेपथ्यशरीरजा[३] ।।३।।

नटस्य तु या सम्यक् प्रयोगनिष्पत्तिलक्षणा सिद्धिः सा प्रयोगसिद्धिरुपयोगिनी प्रयोगनिष्पत्त्या हि विना नाट्यतयैव नेति कुतः सा भवेत्प्रयोगनिष्पत्तिश्च सामान्याभिनयस्यैव सम्यक्तापत्तिः ।

परमार्थतस्तु परकीयप्रोत्साहनतारतम्योदितप्रकृतिभानप्रत्ययबलेन वा स्वतः प्रतिभानमाहात्म्येन वा तत्र पूर्वा मनुष्यनिष्पादितत्वान्मानुषीत्युच्यते । दृश्यतेऽपि प्रोत्साहनबलेनाप्रबोधो हनूमत एव सागरलङ्घने ।

अनुवाद–नाना भावों से समुत्थित वाणी, मनस् (सत्त्व) एवं अङ्गों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि दैवी और मानुषी भेद से दो प्रकार की होती है ।।२।।

अभिनव–नट की जो सम्यक् प्रयोग-निष्पत्तिरूपा सिद्धि है, वह सामाजिकों के लिए उपयोगिनी है; क्योंकि प्रयोग की निष्पत्ति के बिना नाट्यरूपता ही नहीं है, तो वह कहाँ से होगी ? प्रयोग की निष्पत्ति सामान्याभिनय की सम्यक् प्राप्ति है ।

अनुवाद–इनमें अर्थात् द्विविधा सिद्धियों में मानुषी सिद्धि दश अङ्गों वाली होती है और दैवी सिद्धि दो प्रकार की होती है–(१) नाना सत्त्वों के आश्रय से और (२) वाणी, नेपथ्य और शरीरज अभिनयों से होती है ।।३।।

अभिनव–वस्तुतः परकीय प्रोत्साहन के तारतम्य से उदित प्रतिभान के प्रत्यय के बल से अथवा स्वतः उदित प्रतिभान के माहात्म्य से । उनमें पहली मनुष्य से निष्पादित होने से मानुषी कही जाती है । प्रोत्साहन के बल से प्रतिभान होना देखा जाता है । जैसे– हनुमान् जी का समुद्र-लंघन में हुआ था ।।३।।

---

१. ख. वाक्सत्त्वाङ्गसमुद्भवा । ग. घ. मानुषी दैविका तथा ।
२. ख. दैविकी द्विविधाश्रया ।
३. ख. ग. घ. शारीरी वाङ्मयी तथा ।

[1]स्मितापहासिनी हासा साध्वहो कष्टमेव च ।
[2]प्रबद्धनादा च तथा सिद्धिर्ज्ञेयाऽथ वाङ्मयी ।।४।।
पुलकैश्च सरोमाञ्चैरभ्युत्थानैस्तथैव च ।
चेलदानाङ्गुलिक्षेपैः शारीरी सिद्धिरिष्यते ।।५।।

तत्र प्रोत्साहनं वाचिकम् । पञ्चधा सा त्वहो कण्ठमित्येकं स्थानं शारीरं पञ्चधेति दशधा । अन्ये तु विभागमाहुः । तथा हि प्रोत्साहनं वचसा वा सात्त्विकदर्शनेन वा शरीरव्यापारेण वा । वचनं सप्तधा । तद्यथा मध्यमा-रूपतत्प्ररोहात्मकं सामान्यवैखर्यात्मकं तत् प्ररोहात्मकं विशेषशब्दात्मकं वैखरी-स्वभावम् । आवेशोचितविशेषवैखरीरूपं तत्प्रबन्धं विच्छेदं च । तदाह । स्मितं ह्यन्तःसञ्जल्परूपः मध्यमां सूचयति । संविदो हि हासविकासानुरुपः सुन्दरस्पन्दो यदाह वृत्रहणं स्मितेनेति ।

सात्त्विकं तु पुलकादिरूपमेकं चैव । शरीरविकारोऽपि द्विधा । अनभिसन्धिपूर्वक एव यथा झटिति ह्युत्थानः । अभिसन्धानकृतो वा यथा

अनुवाद–स्मित (मुस्कराहट), अपहास (अर्धहास), अतिहास, 'साधु', साधु अहो, कष्ट है और जोर से चिल्लाना इन्हें वाङ्मयी सिद्धि समझना चाहिए ।।४।।

अभिनव–उनमें प्रोत्साहन वाचिक होता है और वह पाँच प्रकार का होता है । अहो कष्ट है, यह एक स्थानीय है और शारीर पाँच प्रकार का होता है । इस तरह दश प्रकार का होता है । अन्य लोग इसमें विभाग करते हैं । जैसे प्रोत्साहन वाचिक होता है अथवा शरीर व्यापार से । उनमें वाचिक सात प्रकार का होता है । वह वचन जैसे मध्यमारूप तत्प्ररोहात्मक होता है और सामान्य वैखरीरूप तत्प्ररोहात्मक होता है, वह विशेष शब्दात्मक वैखरी स्वभाव होता है, वही आवेशोचित विशेष शब्दा-त्मक वैखरी रूप होता है और वह प्रबन्ध रूप और प्रबन्धविच्छेद रूप होता है । अत: कहते हैं कि मुस्कराहट अन्त:संजल्परूप मध्यमा को सूचित कराता है ।

अनुवाद–पुलकित होने से, सञ्चार से, अभ्युत्थान से, वस्त्र धारण करने से, अङ्गुलि के क्षेप से शारीरिक सिद्धि कही जाती है ।।५।।

अभिनव–सात्त्विक सिद्धि तो पुलकादि रूप एक है । शारीरिक विकार भी दो प्रकार का होता है । एक विना अभिसन्धान किये होता है । जैसे–शीघ्र ही

---

१. ग. स्मितार्धहासा विज्ञेया ।
२. ख. प्रवृद्धनादा च तथा ज्ञेया सिद्धिस्तु वाङ्मयी । ग. प्रवृद्धनादावक्रुष्टा सिद्धिर्ज्ञेया च ।

[१]किञ्चिच्छिष्टो रसो हास्यो नृत्यद्भिर्यत्र[२] युज्यते ।
स्मितेन [३]स प्रतिग्राह्यः प्रेक्षकैर्नित्यमेव च ।।६।।

चेलादिप्रक्षेपं चेलाद्यभावे चोर्ध्वाङ्गुलिकरणादिभिस्तेनेयं दशविधा मानुषी सिद्धिः, तत्र तत्र प्रयोगौचित्यात्स भेदेन प्रवर्तते । यदाह हास्यं स्मितेनेत्यादि ।

स्वप्रतिभानतारतम्यकृता तु सिद्धिर्द्विविधा । कदाचित्तु प्रतिभवन्त्यपि स्वप्नयोगादतीव मन्दीभवति । तत्सम्भाव्यमानमाध्यात्मिकाधिदैविकानां शरीरादिगता व्याधिरूपप्रक्षोभबाह्यभूतजनितकलकलशब्दादिभूकम्पवात-वर्षादीनां विघ्नानां दैवपरपर्यायादृष्टकृताददृष्टप्रेरितं न पुरुषव्यापारोपनतादपसारणाद्वा भवति ।

रोमाञ्च का उत्थान और दूसरा अभिसन्धान करने पर होता है । जैसे–चेलादि वस्त्रों का प्रक्षेपण । वस्त्रादि के अभाव में ऊर्ध्वाङ्गुलि के उठा देने से । इस प्रकार मानुषी सिद्धि दश प्रकार की होती है, जो जगह-जगह प्रयोग के औचित्य से भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रवृत्त होती है । जैसा कि स्मित से हास्य प्रतीत होता है ।

अनुवाद–जहाँ रङ्गमञ्च पर नाचने वाले नर्त्तक शिष्टता के साथ किञ्चित् हास्य का प्रयोग करते हैं और प्रेक्षक लोग उसका नित्य मुस्कराहट से प्रतिग्रहण करें ।।६।।

अभिनव–स्वतः प्रतिभानकृत और तारतम्यकृत सिद्धि दो प्रकार की होती है । कदाचित् स्वतो योग से होने वाली सिद्धि मन्द भी हो जाती है । वह मन्द होना भी आध्यात्मिक और आधिदैविक शरीरादिगत व्याधिरूप तथा बाह्यभूत प्रक्षोभ से जनित तथा कल-कल शब्द, भूकम्प, वात (आँधी), ओले पड़ना, उल्कापात आदि विघ्नों से सम्भाव्यमान है तथा दैवापरपर्याय अदृष्ट से अथवा अदृष्टप्रेरित पुरुष व्यापारोपनत अपसारण से वह दैवी सिद्धि होती है । वह दैवी सिद्धि क्या है ? जिसके विषय में कहते हैं–

"जहाँ पर नाट्य प्रदर्शन में न कोई शब्द (आवाज) हो, न क्षोभ, न उत्पातों का निदर्शन हो और रङ्गमञ्च पूरा भरा हो, उसे दैवी सिद्धि कहते हैं" ।

अथवा प्रारम्भ से विघ्नों की सम्भावना न होने से भी सिद्धि होती है । इसी आशय से कहते हैं—

---

१. ख. किञ्चित् श्लिष्टो । २. ख. यः ।
३. ख. सुपरिग्राह्यः । ग. सम्प्रतिग्राह्यः ।

किञ्चिदस्पष्टहास्यं यत्तथा वचनमेव च ।
[१]अर्थहास्येन तद्ग्राह्यं प्रेक्षकैर्नित्यमेव हि ।।७।।

अन्ये तु वाङ्मनोऽङ्गसमुद्भवा दशाङ्गा मानुषीति सम्बन्धयन्ति । तदन्येऽप्यभिनयविषयैवेति दर्शितं नानासत्त्वाश्रयकृता वाङ्मय्यथ शरीरजेति । विदूषकच्छेदकृतमिति ।

"जो भावों के अतिशय से उपेत है तथा सात्त्विक भावों से सम्पन्न है, प्रेक्षक उसे दैवी सिद्धि समझें" ।

इसी को मुनि ने कहा है—

"सिद्धि दो प्रकार की होती है-दैवी और मानुषी" ।

अत एव सिद्धि का रस प्रत्यङ्ग होता है अथवा नाट्य के अङ्गों के मध्य रस होता है । इस प्रकार गुणाङ्गयुक्त सामाजिकाश्रित सिद्धि है ।

अतः जो भट्टनायक कहते हैं कि 'सिद्धि भी नटादि की अङ्गता को प्राप्त कर लेती है, उस पक्ष में भी यह सिद्धान्त लांगू हो जाता है; क्योंकि इससे सिद्धि की नाट्य की अङ्गता का समर्थन होता है और पुरुषार्थ होने से सिद्धि फल भी है, यह केवल जैमिनि का अनुसरण किया है, अतः रहने दिया जाय । वाणी, मन और अङ्ग से समुद्भव सिद्धि है । अर्थात् समस्त अभिनयों की अङ्गीकार सम्पत्ति भी है, क्योंकि सम्पूर्ण अभिनय मनोरूप है ॥६॥

अनुवाद—जहाँ पर प्रेक्षक किञ्चित् अस्पष्ट हास्य से युक्त वचन का प्रयोग करे । उसे प्रेक्षकगण अर्धहास्य से ग्रहण करें ।।७।।

अभिनव—अन्य लोग वाणी, मन और अङ्ग से सम्भूत दश अङ्ग मानुषी सिद्धि है, ऐसा सम्बन्ध मानते हैं । उनसे भी अन्य लोग यह सब अभिनय के विषय की वार्त्ता है । 'नानासत्त्वाश्रयकृता वाङ्नेपथ्यशरीरजा' से भी यही कहा है ॥७॥

---

१. ग. अर्धहास्येन ।

विदूषकोच्छेदकृतं भवेच्छिल्पकृतं च यत् ।
अतिहास्येन तद्ग्राह्यं प्रेक्षकैर्नित्यमेव तु ।।८।।
[1]अहोकारस्तथा कार्यो नृणां प्रकृतिसम्भवः ।
यद्धर्मपदसंयुक्तं तथातिशयसम्भवम् ।।९।।
तत्र साध्विति यद्वाक्यं प्रयोक्तव्यं हि साधकैः ।
विस्मयाविष्टभावेषु[2] प्रहर्षार्थेषु चैव हि ।।१०।।

च्छेदोऽत्र वचनभङ्गी प्रकम्पितस्कन्धना...श्रयोच्छाटनं च कृत्वा तत्साध्यं प्रोत्साहने बृंहितव्यमिति सम्बन्धः । अथानेन साभ्युत्थानैरिति नवमो भेदोव्याख्यातः । प्रकम्पितांसशीर्षमित्यनेन वचनाङ्गुलिक्षेपाद् दशमोऽपि भवेदस्पृष्टो मन्तव्यः । सास्त्रमिति वदन्नेवं सूचयन्ति ।

अनुवाद—जहाँ पर नर्त्तक विदूषक के कथन शैली से किये हुए और शिल्प क्रिया को निदर्शित करता हो, उसे प्रेक्षकगण 'अतिहास्य' समझें ।।८।।

अभिनव—यहाँ पर छेद का अर्थ वचनभङ्गी है, जिसमें कन्धों को कम्पित करना और उसके आश्रय का उच्चाटन, ऐसा करके उसके साध्य का प्रोत्साहन बढ़ाना, यह यहाँ का सम्बन्ध है । इससे पाँचवीं कारिका में कथित साभ्युत्थान से नवें भेद की व्याख्या हो गई, 'प्रकम्पितासशीर्षञ्च' इससे 'चेत्तदा नाङ्गुलिक्षेप' में कथित दशम भेद की व्याख्या माननी चाहिए । और 'सास्त्रम्' कहते हुए इस प्रकार सूचित करते हैं । यद्यपि भेदान्तर भी यहाँ अनुप्रविष्ट है, तथापि बाहुल्य से अभ्युत्थान से व्यपदेश कर दिया ।

अनुवाद—और उस समय अहो ! अहो का प्रयोग करे, जो मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) है, जो धर्म पद से युक्त अतिशय हास से सम्भव है ।।९।।

अनुवाद—विस्मय के आवेश से होने वाले प्रहर्ष आदि भावों में साधक लोगों को 'साधु, साधु' आदि वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए ।।१०।।

---

१. ग. अहङ्कारस्तदा ।
२. ग. विस्मयादिषु भावेषु; ख. येषु भावेषु शृङ्गाराद्भुतविक्रमैः ।

[1]करुणेऽपि प्रयोक्तव्यं कष्टं शास्त्रकृतेन तु ।
[2]प्रबद्धनादा च तथा विस्मयार्थेषु नित्यशः ।।११।।
साधिक्षेपेषु वाक्येषु प्रस्पन्दिततनूरुहैः ।
[3]कुतूहलोत्तरावेधैर्बहुमानेन साधयेत् ।।१२।।
दीप्तप्रदेशं [4]यत्कार्यं छेद्यभेद्याहवात्मकम् ।
[5]सविद्रवमथोत्फुल्लं तथा युद्धनियुद्धजम् ।।१३।।
[6]प्रकम्पितांसशीर्षं च साश्रं सोत्थानमेव च ।
[7]तत्प्रेक्षकैस्तु कुशलैस्साध्यमेवं विधानतः ।।१४।।

अनुवाद–शस्त्रकृन्तन में करुण में भी 'हा कष्टम्' का प्रयोग करना चाहिए और विस्मयजनक अर्थों में प्रबद्ध नाद (बँधी हुई ध्वनि) का प्रयोग करना चाहिए ।।११।।

अनुवाद–साधिक्षेप अर्थात् अपमानजनक वचनों के उच्चारण में रोमाञ्च युक्त तथा कुतूहल के बाद होने वाले आवेश से एवं बहुमान से सिद्ध करे ।।१२।।

अनुवाद–दीप्त प्रदेश में जो कार्य है, जैसे–छेद्य-भेद्य (मारकाट) जहाँ प्रधान है, ऐसा आहव (युद्ध), सविद्रव (उपद्रव, भगदड़ वाला कार्य), उत्फुल्ल युद्ध और नियुद्ध अर्थात् द्वन्द्वयुद्ध (हाथापाई, जहाँ पर कन्धे और शिर कम्पित, आँसुओं से युक्त तथा सोत्थान अर्थात् उखाड़-पछाड़ है, उन्हें) कुशल प्रेक्षक लोग विधानपूर्वक ग्रहण करें ।।१३-१४।।

---

१. ग. करुणेषु ख. करुणेति प्रयोक्तव्यं सास्त्रं कष्टेति चैव हि ।
२. ग. घ. प्रवृद्धनादः कर्त्तव्यो विस्मयोत्थो हि सर्वदा ।
३. ग. घ. कुतूहलान्तरावेद्यं ।
४. ख. काव्यं यद् ।
५. ख. घ. सविद्रवमथोत्पातं तथा लघुनियुद्धजम् ।
६. ख. सकम्पितांसकशिरः सास्त्रं सोच्छ्वासमेव च ।
ग. प्रकम्पितात्समरसं साश्रमोत्थानमेव च ।
७. ख. तत्प्रेक्षकैः सकुशलैः ।

एवं साधयितव्यैषा तज्ज्ञैः सिद्धिस्तु मानुषी ।
[१]दैविकीं च [२]पुनः सिद्धिं सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वतः ।।१५।।
[३]या भावातिशयोपेता [४]सत्त्वयुक्ता तथैव च ।
[५]सा प्रेक्षकैस्तु कर्तव्या दैवी सिद्धिः प्रयोगतः ।।१६।।
न शब्दो यत्र न क्षोभो न चोत्पातनिदर्शनम् ।
सम्पूर्णता च रङ्गस्य [६]दैवी सिद्धिस्तु सा स्मृता ।।१७।।
[७]दैवी च मानुषी चैव सिद्धिरेषा मयोदिता ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि [८]घातान् दैवसमुत्थितान् ।।१८।।

अनुवाद–नाट्यवेत्ता विद्वान् को इस प्रकार मानुषी सिद्धि को साधना चाहिए । अब मैं दैवी सिद्धि को तत्त्वतः कहूँगा ।।१५।।

अनुवाद–जो भावों के अतिशय से उपेत है और इसी प्रकार जो सत्त्व के भाव से युक्त है, प्रेक्षक गण प्रयोगतः उसे दैवी सिद्धि समझें ।।१६।।

अनुवाद–जहाँ पर न कोई शब्द (आवाज) हो, न क्षोभ है और निपात (उत्पातों) का निदर्शन है और रङ्ग की पूर्णता हो, अर्थात् रङ्गमञ्च दर्शकों से भरा हो, उसे दैवी सिद्धि समझना चाहिए ।।१७।।

अनुवाद–मैंने दैवी और मानुषी सिद्धियाँ कही हैं । अब मैं इसके बाद दैवोत्पन्न (दैवी) घातों का वर्णन करूँगा ।।१८।।

---

१. ग. देवीमपि तथा ।
२. ख. तथा सिद्धिं कीर्त्यमानां निबोधत ।
३. ख. सा सत्त्वातिशया ज्ञेया भावयुक्ता तथैव च ।
४. ग. सत्ययुक्ता ।
५. ख. नाट्ये सम्प्रेक्षकैर्ज्ञेया नित्यं सिद्धिस्तु दैविकी ।
६. ख. ग. घ. सा सिद्धिर्दैविकी स्मृता ।
७. ग. घ. एवं सिद्धिस्तु विज्ञेया प्रेक्षकैर्दिव्यमानुषी ।
८. ख. घातान् वै दिव्यमानुषान् ।

दैवात्मपरसमुत्था त्रिविधा घाता बुधैस्तु विज्ञेयाः[१] ।
औत्पातिकश्चतुर्थः कदाचिदथ[२] सम्भवत्येषु ।।१९।।
वाताग्निवर्षकुञ्जरभुजङ्गमण्डपनिपाताः ।
कीटव्यालपिपीलिकपशु[३]प्रवेशनाश्च दैवककृताः ।।२०।।
([४]घातानतः परमहं परयुक्तान् सम्प्रवक्ष्यामि ।
वैवर्ण्यं चाचेष्टं विभ्रमितत्वं स्मृतिप्रमोहश्च ।।२१।।
अन्यवचनं च काव्यं तथाङ्गदोषो विहस्तत्वम् ।
एते त्वात्मसमुत्था घाता ज्ञेयाः प्रयोगज्ञैः) ।।२२।।

अनुवाद–इस प्रकार बुधजनों को दैवकृत, आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ तीन प्रकार के घात समझने चाहिए । कभी-कभी औत्पत्तिक चतुर्थ घात भी हो सकता है ।।१९।।

दैवकृत घात–

अनुवाद–वात (आँधी), वर्षा, अग्निपात, हाथी, साँप के निकलने के स्थान तथा रङ्गमण्डप का निपात तथा कीटपतङ्ग (कीड़े-मकोड़े के स्थान), व्याल, पिपीलिका (चींटियों) के निकलने का स्थान, हिंसक पशुओं के प्रवेश कर जाने पर 'दैवीघात' समझना चाहिए ।।२०।।

अनुवाद–अब इसके बाद परप्रयुक्त घातों को कहूँगा ।

शत्रुकृत घात–

---

१. ख. घातका बुधैर्ज्ञेयाः ।
२. ख. कदाचिदपि सम्भवत्येव ।
ग. कादाचित्कः स विज्ञेयः ।
३. ख. पशुविशननानी दैविका घाताः ।
ग. पशुवेशनजास्तथैव ।
४. ख. पुस्तके श्लोकद्वयं नास्ति ।

मात्सर्याद् द्वेषाद्वा तत्पक्षत्वात्तथार्थभेदत्वात् ।

एते तु परसमुत्था[१] ज्ञेया घाता बुधैर्नित्यम् ।।२३।।

[२]अतिहसितरुदितविस्फोटितान्यथोत्कृष्टनालिकापाताः ।

गोमयलोष्ट[३]पिपीलिकविक्षेपाश्चारिसम्भूताः[४] ।।२४।।

पिपीलिकानिक्षेपः सुकुमारप्रकृतेः स्त्रीपात्रप्रायस्य त्रासनोत्पानेन सिद्धिविघातः ''औत्पातिकाश्च घाताः पशुवेगोन्मत्तलिङ्गकृता इति ।

अनुवाद–मात्सर्य से, द्वेष से, परपक्षीय होने से तथा अर्थभेदन से होने वाले पातों को विद्वानों को परसमुत्थ समझना चाहिए ।।२३।।

अनुवाद–अतिहसित (अत्यन्त हँसना), रुदित (रोना), विस्फोटन (बम फेंकना) और उत्कृष्ट रूप से तालिकापात, गोमय, मिट्टी का ढेला, पिपीलिका, विक्षेप (गिरना) ये सब शत्रुकृत घात हैं ।।२४।।

अनुवाद–मत्त (मतवाला) तथा उन्मत्त (पागल) का प्रवेश कर जाना तथा विवृत चिह्नों का होना ये औत्पत्तिक घात हैं । अब मैं आत्मसमुत्थ घातों का वर्णन करूँगा ।।२४।।

अभिनव--पिपीलिका का निक्षेप अर्थात् चीटियों का पात, सुकुमार प्रकृति वालों के लिए प्रायः स्त्रीपात्र के लिए भय का उत्पादक होने से सिद्धि का विघातक है ।

---

१. ख. ग. घ. एते परप्रयुक्ताः ।

२. ख. अभिरटितविस्फोटितानि विक्रुष्टतालिकापाताः ।
ग. अररितवामतविस्फुरितानाथोत्कृष्टतालिकापाताः ।

३. ख. ग. तृणोपलविक्षेपा ।

४. ख. स्युः चात्मसम्भूताः ।

औत्पातिकाश्च घाता मत्तोन्मत्तप्रवेशलिङ्गकृतः[1] ।
पुनरात्मसमुत्था ये घातास्तांस्तान् प्रवक्ष्यामि[2] ।।२५।।
वैलक्षण्यमचेष्टितविभूमिकत्वं स्मृतिप्रमोषश्च[3] ।
अन्यवचनं च काव्यं तथार्तनादो विहस्तत्वम् ।।२६।।

अशङ्कितं पशोः सिंहादेर्वेषं कृत्वा सुकुमारं प्रयोक्तारं भीषयति सामाजिकं वा । एवं मात्सर्यादुन्मत्तलिङ्गमपि कश्चित्करोति हासानयनेन प्रकृतप्रयोगविप्रसंवादनायेति वैलक्षण्ये लक्षणविस्मरणमन्यभूमिकोचितसत्त्वस्वीकारोऽपि विभूमिकस्तूष्णीकता । अन्येन पठनीयमन्यः पठतीत्यन्यवचनं काव्यमिति बहुव्रीहिः ।

आत्मसमुत्थ घात–

अनुवाद–अभिनय में विलक्षणता, निश्चेष्टता का शरीर में होना, उपयुक्त भूमिका को धारण न करना, स्मरणशक्ति का क्षीण होना (याद न रहना), अन्य के वचन का श्रव्य अर्थात् कहना कुछ और, सुनना कुछ और, आर्त्तनाद अर्थात् आर्त्त की तरह चिल्लाना, हस्तचेष्टाओं की न्यूनता अथवा बेहाथ होना, अतिशय हँसना, अतिशय रोना, स्वर में विकृति, पिपीलिका (चींटी), कीट और पशुओं की तरह चिल्लाना, मुकुट आदि आभूषण का टूटकर गिर जाना, मृदङ्ग आदि वाद्यों मे श्रव्य दोष होना, ये सब आत्मसमुत्थ घात हैं ।।२५-२६।।

अभिनव–पशु वेश और उन्मत्त पुरुषों द्वारा किये गये उत्पात औत्पत्तिक घात होते हैं । जिसके विषय में कभी कोई शङ्का नहीं की थी, ऐसे पशुओं के वेष को धारण कर सुकुमार सामाजिक अथवा प्रयोक्ता को डरा देता है । इस प्रकार मात्सर्य से उन्मत्त के चिह्न को भी कोई करता है । वह हास के लिए अथवा प्रकृत प्रयोग के विप्रसंवादन के लिए कराया जाता है । किन्तु विलक्षणता में लक्षण का विस्मरण नहीं करना चाहिए तथा अन्य भूमिका के उचित सत्त्व का स्वीकार भी भूमिकारहित के लिए चुप रहना है । अन्य के पठनीय के लिए जब अन्य पढ़ता है, तो उसे अन्य वचन काव्य कहते हैं, यहाँ बहुव्रीहि समास है ।

---

१. ख. औत्पातिकास्तथा स्युः क्षितिकम्पोलकादिवातनिर्घाताः ।
२. ग. घाताः लक्ष्या बुधैश्चापि ।
३. ख. प्रमोक्ष्याः स्युः ।

[१]अतिहसितरुदितविस्वरपिपीलिकाकीटपशुविरावाश्च ।
[२]मुकुटाभरणनिपाता पुष्करजाः काव्यदोषाश्च ।।२७।।
अति[३]हसितरुदितहसितानि [४]सिद्धेर्भावस्य दूषकाणि स्युः ।
कीटपिपीलिकपाताः सिद्धिं सर्वात्मना घ्नन्ति ।।२८।।

आर्तनाद इति । इतः प्रभृति परद्वेषप्रयुक्ताः सिद्धिविघाताः । आर्तत्वं हि छद्मना प्रदर्श्य नादं सिद्धिविघातकं करोति ।

एवं व्याधिदर्शनेन मुकुटाभरणनिपात इति नेपथ्यभ्रंशः ।

अन्यः पुष्करावाहितदोषा इत्यनेनेदमाह न केवलमभिनयानामेव समानीकरणं सामान्याभिनयानां यावदातोद्यगीतयोरप्यन्योन्यमभिनयैश्च समं मीलनं सोऽपि सामान्याभिनयः । अन्यदिति । गीतादि । तच्चाभिनयाश्चेति द्वन्द्वः । समशब्देन कर्मधारयः, तत्र भवः प्रयोग इति ।

आर्त्तनाद इति—यहाँ से लेकर परद्वेष से प्रयुक्त सिद्धि विघात है । आर्त्तत्व को छद्म से अर्थात् बहाने से दिखाकर सिद्धि का विघातक नाद (आवाज) करता है ।

अनुवाद—अत्यन्त हँसना, अत्यन्त रोना तथा विस्वर होना ये सिद्धि के दूषक हैं । कीड़े-मकोड़े और चींटियों का पात सब प्रकार से सिद्धि का विनाश करते हैं ।।२७।।

अभिनव—इस प्रकार व्याधि के दिखाने से मुकुटाभरण का निपात सिद्ध होता है ।

अनुवाद—स्वरों का अनुचित आलाप, ताल का न होना, वर्णों की स्वर-सम्पदा की क्षीणता, लय-स्थान का न जानना, इस प्रकार स्वरगत दोष सिद्धि का हनन करते हैं ।।२८।।

अभिनव—पुष्कर वाद्य में होने वाले श्रव्य दोष, इससे यह कहा गया है कि अभिनयों का समानीकरण केवल सामान्याभिनय नहीं है, अपितु आतोद्य एवं गीत का भी परस्पर अभिनय के समान मिलन है । वह भी सामान्याभिनय है । 'अन्यद् गीतादिः तच्च अभिनयाश्च' यह द्वन्द्व है । सम के साथ कर्मधारय समास

---

१. ख. पुनरात्मसमुत्था ये घातास्तापाद्याः ।
२. ग. उभयचरणनिपातः पुष्करवाततदोषाश्च ।
ख. मुकुटाभरणप्रपतनपुष्करवाग्भीतदोषाश्च ।
३. ग. रटित ।
४. ख. सिद्धिवादप्रणामकरणानि ।

विस्वरमजाततालं वर्णस्वरसम्पदा च परिहीणम् ।
अज्ञातस्थानलयं स्वरतगतमेवंविधं हन्यात्[1] ।।२९।।
मुकुटाभरणनिपातः प्रबद्धनादश्च नाशनो भवति ।
[2]पशुविशसनं तथा स्याद्बहुवचनघ्नं प्रयोगेषु ।।३०।।

नन्वञ्जितादिभिः को दोषो जायते इत्याह । भावस्य प्रयोगस्यानुभावादि-रूपस्य दूषणानि तेषु सत्सु तदवस्थावचनात् तत्र सर्वात्मने रसादिदोषाः । प्रथमेऽध्यायेऽत्राह—

त्रासं सञ्जनयन्ति स्म शेषा विघ्नास्तु नृत्यताम् ।

इति तत्र स एव सिद्धिविघाते प्रधानतमत्वेनोक्तः ।

विस्वरमजाततालमित्येव स्पष्टीकृतं वर्णेत्यादिना । एतत्स्वरूपं च वितत्य गेयाधिकारे निरूपयिष्याम इतीह नोक्तम् । एवंविधं स्वरगतं कर्तृहन्याद्विहन्ति प्रयोगं नाशयन्तीत्यर्थः ।

है (समे भवः प्रयोगः समप्रयोगः) । अब प्रश्न होता है कि 'अञ्चितादि से कौन दोष होता है' ? इस पर कहते हैं—अनुभावादिरूप भाव के प्रयोग के दोष होते हैं । उसके रहते उस अवस्था के कथन से वहाँ सब प्रकार रस दोष ही है । इस विषय में प्रथम अध्याय में कहा है—

"नृत्य करने वालों के लिए शेष विघ्न भास उत्पन्न करते हैं ।" इस प्रकार वहाँ त्रास को ही सिद्धि-विघात में प्रधानतम कहा है ॥२८॥

अनुवाद–मुकुटाभरण का गिरना अथवा मुकुट और आभूषणों का गिरना तथा आर्त्तनाद करना सिद्धि का नाशक होता है । पशुओं का पीटा जाना और बहुत बोलना प्रयोगों में दोष होता है ।।२९।।

अनुवाद–विषमता, प्रमाणविहीनता, मार्जन का न होना, आयुधों का प्रहार, पुष्करगत ग्रह और मोक्ष का विभाग न होना सिद्धि का हनन करते हैं ।।३०।।

अभिनव–'विस्वरमजाततालम्' इत्यादि को 'वर्णस्वरसम्पदापरिक्षीणम्' इत्यादि से स्पष्ट कर दिया है । इसके स्वरूप को गेयाधिकार में विस्तार से कहेंगे, इस-लिए यहाँ नहीं कहा है । इस प्रकार स्वरगत दोष 'हन्यात्' क्रिया का कर्त्ता होने से प्रयोग का नाश करता है ॥२९-३०॥

---

१. ग. एवंविधन्यायात् । २. ख. विशसनमपि ज्ञेयं बाधाजननं प्रयोगस्य ।

विषमं [२]मानविहीनं विमार्जनं [३]चाकुलप्रहारं च ।
अविभक्तग्रहमोक्षं पुष्करगतमीदृशं हन्ति ।।३१।।
पुनरुक्तो ह्यसमासो विभक्तिभेदो विसन्धयोऽपार्थः ।
त्रैलिङ्गजश्च दोषः प्रत्यक्षपरोक्षसम्मोहाः ।।३२।।
छन्दोवृत्तत्यागो गुरुलाघवसङ्करो यतेर्भेदः[१] ।
एतानि यथा स्थूलं घातस्थानानि काव्यस्य ।।३३।।

एवं पुष्करगतं कर्तृनियोज्यं विधिप्रयोगं हन्तीत्यकाव्यकृतघातस्य स्थानानि निमित्तानीत्यर्थः । काव्यजातामिति सप्तमी । प्रकृतिव्यसनेति । प्रकृतकृतिमनौचित्यमिति यावत् ।

अनुवाद–पुनरुक्त, समास न होना, विभक्ति का भेद करना, सन्धिहीनता अपार्थता, तीनों लिङ्गों का उचित प्रयोग न करना, प्रत्यक्ष और परोक्ष के विषय में व्यामोह, ये सब सिद्धि के दोष हैं ।।३१।।

अभिनव–'पुस्करगतदोष' 'हन्ति' क्रिया का कर्त्ता है और 'नियोज्यं विधि-प्रयोगं' कर्म है । अतः पुष्करगत दोष विधि प्रयोग का हनन करता है । यहाँ अकाव्यकृत घात का स्थान निमित्त है ।

अनुवाद–वृत्त के अनुकूल छन्द का परित्याग, गुरु एवं लघु वर्णों में साङ्कर्य, यति का भेद ये काव्य के मूलभूत घात स्थान हैं ।।३२।।

अनुवाद–प्रकृति व्यसनसमुत्थ और उत्कृष्टनालिकापात ये दोनों काव्य-गत प्रतिकाररहित घात समझने चाहिए ।।३३।।

अभिनव–'काव्यजातौ' में सप्तमी विभक्ति है । 'प्रकृतिव्यसनसमुत्थः' यहाँ प्रकृतिकृत अनौचित्य है । जैसा कि कहा है—

"अनौचित्य के विना रसभङ्ग का अन्य दूसरा कोई कारण नहीं है ।" शेषोदकनालिका से काल उपलक्षित होता है । उसका शेषत्व अर्थात् अन्य काल की व्याप्तियोग्यता । अतः जिस काल में जो अनुचित है, उस काल में उसके कारण अनौचित्य होता है । जैसे प्रातःकाल में राजा का नाटक देखना । यहाँ पर 'च' से देश का अनौचित्य समझना चाहिए । इसलिए देश-काल एवं स्वभावकृत जो अनौचित्य हैं, वे सब सिद्धि के विघातक हैं ।

---

१. ख. ग. मार्ग ।
२. ग. बहुलप्रहारं ख. कुलप्रकारं च ।
३. ग. उत्पातभेदाः ।

ज्ञेयौ तु काव्यजातौ[1] द्वौ घातावप्रतिक्रियौ नित्यम् ।
प्रकृतिव्यसनसमुत्थः शेषोदकनालिकत्वं च ।।३४।।
[2]अप्रतिभागं स्खलनं विस्वरमुच्चारणं च काव्यस्य ।
अस्थानभूषणत्वं पतनं मुकुटस्य विभ्रंशः[3] ।।३५।।
[4]वाजिस्यन्दनकुञ्जरखरोष्ट्रशिविकाविमानयानानाम् ।
[5]आरोहणावतरणेष्वनभिज्ञत्वं विहस्तत्वम् ।।३६।।
[6]प्रहरणकवचानामत्य[7]यथाग्रहणं विधारणं चापि ।
[8]अमुकुटभूषणयोगश्चिरप्रवेशोऽथवा रङ्गे ।।३७।।
एभिः स्थानविशेषैर्घाता लक्ष्यास्तु सूरिभिः कुशलैः ।
[9]यूपाग्निचयनदर्भस्त्रग्भाण्डपरिग्रहान् मुक्त्वा ।।३८।।

यत्रेदमाह—न शब्दो यत्र न क्षोभ इत्यादि । मूलत एव विघ्नानामसम्भवाद्वा यदाशयेनाह—यो भावातिशयोपेतेति ।

अनुवाद—यति के भाग का स्खलन होना, काव्य का स्वरहीन उच्चारण करना, अनुचित स्थान पर आभूषणों के धारण के लिए यत्न न करना, मुकुट का विभ्रंश (गिरना), हाथी, घोड़ा, रथ, खच्चर, ऊँट, पालकी, विमान और यान पर चढ़ने और उतरने में अनभिज्ञता, हस्ताभिनय की न्यूनता, प्रहरण (आयुध) और कवचों का अनुचित रूप से धारण करना अथवा गलत तरीके से ग्रहण करना, मुकुट और भूषण का अनुचित योग, पात्रों का रङ्गमञ्च पर देर से प्रवेश करना इन स्थान विशेषों से कुशल प्रयोक्तागण घातों को लक्षित करें । किन्तु यूप (यज्ञस्तम्भ), अग्निचयन, दर्भस्त्रक् तथा भाण्ड-परिग्रह अर्थात् यज्ञपात्रों के सम्बन्ध में विचार छोड़कर अन्य स्थानों के घातों पर विचार करें ।।३४-३७।।

---

१. ख. युक्तौ । २. ख. अप्रतिभासस्खलितं ।
३. ख. मुकुटनिपातश्च भूषणग्रहणम् ।
४. ग. व्याप्तिस्पन्दन ख. भ्रंशं रथनागवाजिकुञ्जर ।
५. ख. आरोहणवितरणेष्वनभिज्ञातया । ६. ग. प्रहरणमनेकवचनानम्यग्रहणं ।
७. ख. यथावद् ग्रहणसाधनं वापि । ८. ग. अस्फुटभूषणं... ।
९. ग. रूपाग्निवचनदर्भा ख. यूपानि चयनदर्भ...।

[१]सिद्ध्या मिश्रो घातस्सर्वगतश्चैकदेशजो वापि ।
[२]नाट्यकुशलैः सलेख्या सिद्धिर्वा स्याद्विघातो वा ।।३९।।
[३]नालेख्यो बहुदिनजः सर्वगतोऽव्यक्तलक्षणविशेषः ।
[४]यस्त्वैकदिवसजातस्स प्रत्यवरोऽपि लेख्यस्स्यात् ।।४०।।

स्थानविशेषैरिति । स्थानविशेषैरिति निमित्तैरित्यर्थः । यूपाग्निपावनेति । तच्चिह्नात् नटो दुर्लभश्च तत्र यथात्वं सर्वजनेन सुज्ञातं न च लोकवृत्तोपयोगिनीति भावः ।

सर्वत्र प्रयोग एकदेशज इत्यंशे बहुदिनजा.............वरुद्धत्यसौ सिद्धिविघातकः । अव्यक्त इति । प्रयोगान्तेऽस्य प्रयोगान्तरेण सम्बन्धो रङ्गे कार्य इत्यर्थः । एकदिवसजात इति । एकप्रयोगो लक्षणं प्रत्यपर इत्यन्वेति ।

सर्वगत इति ।

अभिनव–स्थानविशेष निमित्त है । यूप और अग्निचयन इन चिह्नों से नट का समझना दुर्लभ है । वहाँ यथार्थता सर्वजन से सुज्ञात है । यह लोकवृत्त के उपयोगी नहीं है ।

अनुवाद–सब स्थानों पर (सर्वगतः) अथवा किसी एक देश में सिद्धि के साथ यदि घात का मिश्रण हो, तो उसे सिद्धि समझें अथवा घात । नाट्यवेत्ताओं को इस विषय में आलेखन करना चाहिए अथवा समझना चाहिए ।।३९।।

अभिनव–सर्वगत: अर्थात् सभी स्थानों पर प्रयोग ।

अनुवाद–बहुत दिनों में होने वाला तथा अव्यक्त विशेष लक्षण सम्पन्न सर्वगत घात का सिद्धि से मिश्रण समझना उचित नहीं । जो एक दिन में होने वाला प्रयोग है, उसको प्रत्यवर (अत्यन्त अधम) समझना चाहिए ।।४०।।

अभिनव–बहुत दिनों में होने वाला प्रयोग प्रत्यवर (अत्यन्त अधम) होने से सिद्धि का विघातक है । अव्यक्त इति । प्रयोग के अन्त में प्रयोगान्तर से इसका

---

१. ख. सिद्धैर्मिश्रो घात: सर्वगतश्चैकदेशोऽपि ।
२. ख. नाट्यकुशलेन लेख्या नैव हि सिद्धिर्न घातस्य ।
ग. सिद्धिकुशलै: स लेख्य: सिद्धिर्वास्या विधानो वा ।
३. ख. सिद्धिर्वा घातो वा सर्वगतो व्यक्तलक्षणो बहुश: ।
ग. नालेख्या बहुदिनत: सर्वगतो यस्तु लक्षणविशेष: ।
४. ख. ग. यस्त्वेकदेशजातं न प्रत्यवरोहि लेख्यस्तु ।

[1]जर्जरमोक्षस्यान्ते सिद्धेर्मोक्षस्तु नालिकायास्तु ।
कर्तव्यस्त्विह सततं [2]नाट्यज्ञैः प्राश्निकैर्विधिना ।।४१।।
(दैन्ये दीनत्वमायान्ति ते नाट्ये प्रेक्षकाः स्मृताः ।
ये तुष्टौ तुष्टिमायान्ति शोके शोकं व्रजन्ति च) ।।४२।।
योऽन्यस्य [3]महे मूर्खो नान्दीश्लोकं पठेद्धि देवस्य[4] ।
[5]स्ववशेन पूर्वरङ्गे सिद्धेर्घातः प्रयोगस्य[6] ।।४३।।

जर्जरमोक्षस्यान्त इति पूर्वरङ्गप्रयोगोऽपि परीक्ष्य इति दर्शयति ।

तदेतदाहुर्यन्मुनिराह सिद्धिस्तु द्विविधा ज्ञेयेति । अत एवास्या रसः प्रत्यङ्गत्वान्नाट्याङ्गमध्ये रसावा इत्यत्र गुणाङ्गयुक्तं सामाजिकाश्रिता तु फलमाहुः ।

यत्तु भट्टनायकेनोक्तं ''सिद्धेरपि नटादेरङ्गत्वं व्रजन्त्यास्तत्पक्षेऽयमिति'' तेन नाट्याङ्गता समर्थितफलश्च पुरुषार्थत्वादिति केवलं जैमिनिरनुसृत इत्यलमनेन । वाङ्मनोऽङ्गसमुद्भवेति सर्वाभिनयैकीकारसम्पत्तिरपीत्यर्थः, मनोरूपत्वात् ।

सम्बन्ध रङ्गमञ्च पर करना चाहिए । एकदिवसजात इति । एक दिन में होने वाला प्रयोग अधम होने पर लेख्य है ।।३९।।

अनुवाद–जर्जर के मोक्ष के अन्त में नालिका की सिद्धि के मोक्ष का नाट्यवेत्ता नाट्य में प्राश्निकों को विधिपूर्वक करना चाहिए ।।४१।।

अभिनव–जर्जर मोक्ष के अन्त में अर्थात् पूर्वरङ्ग का प्रयोग भी परीक्ष्य है ।

अनुवाद–जो दर्शक दीनता में दीन हो जाते हैं, जो तुष्टि में तुष्ट होते हैं और जो शोक में शोकाकुल हो जाते हैं, वे नाटक में प्रेक्षक (सामाजिक) माने जाते हैं ।।४२।।

अनुवाद–जो मूर्ख पूर्वरङ्गरूपी उत्सव में अपने वश से अर्थात् मनमानी ढंग से अन्य देवता की स्तुति में नान्दी श्लोक का पाठ करता है, वह प्रयोग की सिद्धि का विघातक माना जाता है ।।४३।।

---

१. ख. जर्जरमोक्षस्यान्तर्नालीकसिद्धिश्च लेख्यसिद्धिश्च ।
२. ख. नाट्येऽस्मिन् प्राश्निकैः सम्यक् ।
३. ग. महेशमूढो ।   ४. ख. मूढस्य ।
५. ग. स्ववसन.......प्रयोक्तव्यः ।
ख. दैवस्य पूर्वरङ्गो घातस्तस्या विलेख्यः स्यात् ।
६. इतोऽग्रे ख. पुस्तके 'योऽन्यस्य' इत्यादिश्लोकद्वयमधिकं वर्तते ।

[१]यो देशभावरहितं भाषाकाव्यं प्रयोजयेद् बुद्ध्या ।
[२]तस्याप्यभिलेख्यः स्याद् [३]घातो देशः प्रयोगज्ञैः ।।४४।।
कः शक्तो नाट्यविधौ यथावदु[४]पपादनं प्रयोगस्य ।
[५]कर्तुं व्यग्रमना वा यथावदुक्तं परिज्ञातम्[६] ।।४५।।
तस्माद्गम्भीरार्थाः शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः[७] ।
सर्वजनेन ग्राह्यास्ते योज्या नाटके विधिवत् ।।४६।।

नाट्यविधौ यथावदुक्तं ज्ञातुं प्रयोगस्य चोपपादनं कर्तुमशक्तोऽपि व्यग्रमनस्कत्वाद् देशवेषाद्यनौचित्येन यो यं प्रयोगं कुर्यात्तस्य सर्वस्य घाताः ।

अनुवाद–जो मूर्ख अपनी बुद्धि से देश, भाव से शून्य अर्थात् प्रस्तुत प्रकरण की योग्यता से रहित भाषा-काव्य को पढ़ता है, उसके प्रयोग को नाट्यप्रयोगवेत्ता देशघात कहते हैं ।।४४।।

अनुवाद–विषयान्तर में व्यग्रचित्त कौन ऐसा है, जो नाट्य विधि के अनुसार प्रयोग का यथावत् उपपादन करने में समर्थ है अथवा आचार्यों द्वारा प्रोक्त तत्त्व को यथावत् जानने में समर्थ है ।।४५।।

अभिनव–नाट्यप्रयोग के विधान में जो कहा है, उसको जानने के लिए और प्रयोग का यथावत् उपपादन करने के लिए अशक्त भी व्यग्रमनस्क होने से देश, वेश आदि के अनौचित्य से जो जिस प्रयोग को करेगा, उन सबका घात होगा ।।४४।।

अनुवाद–जो गम्भीरार्थक शब्द लोक और वेद में सम्यक् प्रकार से सिद्ध है, सब लोग उसे ग्रहण करें और नाटक में उसकी विधिवत् योजना करें ।।४६।।

---

१. ग. यो देशवेषभाषारहितं काव्यं प्रयोजयेद्दुष्टम् ।
ख. यो देशवेशभाषाव्यपेतमपि च प्रयोजयेत्काव्यम् ।
२. ख. तस्यापि विलेख्यः ।
३. ख. घातो देशविधौ तज्ज्ञैः । ग. घातस्तज्ज्ञैरदोषजः ।
४. ख. उपपादने प्रयोगे च ।
५. ख. धृष्टो । ग. कर्त्तव्यं वाग्रसना ।
६. ख. ग. परिज्ञातुम् ।
७. ग. ये वेदलोकसंसिद्धाः ।

न च किञ्चिद्गुणहीनं दोषैः [1]परिवर्जितं न चाकिञ्चित् ।
तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नाट्यार्थतो ग्राह्याः ।।४७।।
[2]न च नादरस्तु कार्यो नटेन [3]वागङ्गसत्त्वनेपथ्ये ।
[4]रसभावयोश्च गीतेष्वातोद्ये लोकयुक्त्यां च ।।४८।।
एवमेतत्तु विज्ञेयं सिद्धीनां लक्षणं बुधैः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि [5]प्राश्निकानां तु लक्षणम् ।।४९।।
[6]चारित्राभिजनोपेताः [7]शान्तवृत्ताः कृतश्रमाः ।
यशोधर्मपराश्चैव मध्यस्थवयसान्विताः ।।५०।।

नन्वज्ञस्यैवेत्यार्याद्वयस्य योजना दोषप्रत्यर्थं न ग्राह्य इत्युक्ते प्रयोक्तुरवलेपोऽवतरेदित्याशयेनाह–न च नादस्त्विति । तज्ज्ञैरित्युक्तम् ।

अनुवाद–कोई भी वस्तु गुणों से हीन नहीं है और न कोई वस्तु दोषों से वर्जित है । इसलिए नाट्य के ज्ञाता लोग अर्थ से तथा नाट्यार्थ से समझें ।।४७।।

अनुवाद–नट लोग वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक एवं आहार्य अभिनयों में, रस और भाव में, गीतों में, आतोद्यों में और लोकयुक्ति में अनादर न करें ।।४८।।

अभिनव–इन आर्याद्वयों की योजना अज्ञेय है । अतः दोषपरिवर्जनीय होने से ग्राह्य नहीं है । ऐसा कहने पर प्रयोक्ता का गर्व अवतरित होगा, इस आशय से कहते हैं—न च नादस्तु इत्यादि ।

अनुवाद–बुधजनों को इसी प्रकार सिद्धियों के लक्षण को समझना चाहिए । अब इसके बाद प्रेक्षकों के लक्षण को कहूँगा ।।४९।।

---

१. ग. पाठैरवर्जितं ।
२. ख. नानादरस्तु ।
३. ख. गौणवागङ्गनेपथ्यैः ।
४. ख. रसभावनृत्तगीतैरातोद्यैर्लोकयुक्त्या तु ।
ग. रसभावगीतनृत्ये......................।
५. ख. प्रेक्षणानां तु ।
६. ग. चारित्र्याभिनयोपेता ।
७. ग. श्रान्तवृत्तश्रुतान्विता ख. शान्तिवृत्त..........।

षडङ्गनाट्यकुशलाः [१]प्रबुद्धाः शुचयः समाः ।
चतुरातोद्यकुशला [२]वृत्तज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ।।५१।।
देशभाषाविधानज्ञाः कलाशिल्पप्रयोजकाः[३] ।
[४]चतुर्थाभिनयोपेता रसभावविकल्पकाः ।।५२।।
शब्दच्छन्दोविधानज्ञा नानाशास्त्रविचक्षणाः ।
एवंविधास्तु कर्तव्याः [५]प्राश्निका दशरूपके ।।५३।।

प्रश्ने भवा मध्यस्थत्वेनाभिनयचतुष्कगीतातोद्ये चेति । षडङ्गत्वान्नाट्यं सन्तोष इत्यादिना विमलाशयत्वेन सहृदयत्वमेषां परमो गुण इति दर्शयति– कार्यमिति । तेन सह विचार्यमित्यर्थः । शीलमेव दर्शयति । तुष्यन्ति तरुणाः काम इत्यादिना । प्रविशेदिति साधारणीभावमेवं सूचयति तत्समीपे भवेदिति यावत् ।

प्राश्निक के लक्षण–

अनुवाद–चारित्र्य एवं कुलीनता से उपेत, शान्त चरित्र, विद्याभ्यास में श्रमी, यशस्वी, धर्म में परायण, मध्य अवस्था से युक्त, षडङ्ग नाट्य में कुशल (दो जङ्घाएँ, दो भुजाएँ, शिर और कटि इन षडङ्ग नाट्य में कुशल), प्रबुद्ध, शुचि (पवित्र), समबुद्धि, चार प्रकार के वाद्यों में कुशल, वृत्त के ज्ञाता, तत्त्वदर्शी, देश-भाषा-विधान के जानकार, कला और शिल्प के प्रयोजक, चार प्रकार के अभिनयों से उपेत (युक्त) तथा रस और भाव के रहस्य को जानने वाले अर्थात् रस और भाव के सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञाता, शब्द और छन्दो-विधान के जानकार, नाना प्रकार के शास्त्रों के विद्वान् दशरूपक के अनुसार प्राश्निक होने चाहिए ।।५०-५३।।

अभिनव–मध्यस्थ होने से अभिनय के चार प्रकार के गीत और आतोद्य में कुशल, षडङ्ग होने से नाट्य में 'शुचि' इत्यादि से दिखाते हैं कि विमलाशय होने से सहृदयत्व इनका परम गुण है ।

---

१. ग. अलुब्धाः । २. ख. नेपथ्यज्ञाः सुधार्मिकाः ।
३. ख. विचक्षणाः ।
४. ख. चतुराभिनयज्ञाश्च सूक्ष्मज्ञा रसभावयोः ।
ग. चतुर्धाभिनयज्ञाश्च.......................। ५. ख. प्रेक्षका नाट्यदर्शने ।

अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्ध ऊहापोहविशारदः ।
त्यक्तदोषोऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ।।५४।।
[1]न चैवैते गुणाः सम्यक् सर्वस्मिन् प्रेक्षके स्मृताः ।
विज्ञेयस्याप्रमेयत्वात्सङ्कीर्णानां च पर्षदि ।।५५।।
यद्यस्य शिल्पं नेपथ्यं कर्मचेष्टितमेव वा ।
तत्तथा तेन कार्यं तु स्वकर्मविषयं प्रति ।।५६।।
नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं विनिर्मितम् ।
उत्तमाधममध्यानां वृद्धबालिशयोषिताम् ।।५७।।
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयान्विते ।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षे चाथ विरागिणः ।।५८।।

यद्यपि भेदान्तरमप्यत्रानुप्रविष्टं तथापि बाहुल्यादभ्युत्थानेन व्यपदेश इति । एवं भेदात्क्रियते । द्वेषः सहजैवाप्रीतिर्मात्सर्यं तु कार्यार्थमेकद्रव्याभिलाषात् ।

अनुवाद–अव्यग्र अर्थात् विषयान्तर में व्यग्र न होने वाली इन्द्रियों से शुद्ध, ऊहापोह में विशारद, दोष-रहित, अनुरागी व्यक्ति को प्रेक्षक कहा गया है ।।५४।।

अनुवाद–ये सभी गुण सभी प्रेक्षकों में सम्यक् प्रकार से नहीं होते, क्योंकि सङ्कीर्ण व्यक्तियों की परिषद् ज्ञेय विषय अप्रमेय हैं ।।५५।।

अनुवाद–जिसका जो शिल्प है, वेश-भूषा है तथा कर्म और चेष्टाएँ हैं, उसे उसी प्रकार अपने कर्म के अनुसार करने चाहिए ।।५६।।

अनुवाद–उत्तम, मध्यम, अधम स्वभाव के बाल, वृद्ध और स्त्रियों की प्रकृतियाँ नाना शीलवाली होती हैं और शील पर ही नाट्य प्रतिष्ठित है ।।५७।।

अनुवाद–तरुण अर्थात् युवा लोग काम से तुष्ट होते हैं, विदग्धजन सिद्धान्त के उल्लेख से प्रसन्न होते हैं, अर्थ में तत्पर रहने वाले अर्थ से और विरागी लोग मोक्ष से सन्तुष्ट होते हैं ।।५८।।

---

१. ग. नवैवैते गुणाः सर्वे एकस्मिन् ।
ख. न चैते गुणाः सर्व एकस्मिन् ।

शूरास्तु वीररौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ।
धर्माख्याने पुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ।।५९।।
न शक्यमधमैर्ज्ञातुमुत्तमानां विचेष्टितम् ।
तत्त्वभावेषु सर्वेषु तुष्यन्ति सततं बुधाः ।।६०।।
बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा ।
यस्तुष्टो तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च ।।६१।।
क्रुद्धः क्रोधे भये भीतः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः ।
एवं भावानुकरणे[1] यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः ।।६२।।
[2]स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयो गुणैरेभिरलङ्कृतः ।
एवं हि प्रेक्षका ज्ञेयाः प्रयोगे दशरूपतः[3] ।।६३।।

अनुवाद–शूर पुरुष वीर और रौद्र रस में, नियुद्ध में, युद्ध में तथा वृद्ध लोक धर्म के आख्यान में और पुराणों में नित्य प्रसन्न होते हैं ।।५९।।

अनुवाद–अधम लोग उत्तम पुरुषों की चेष्टाओं को जानने में समर्थ नहीं होते । किन्तु बुद्ध लोग सभी सात्त्विक भावों में निरन्तर तुष्ट रहते हैं ।।६०।।

अनुवाद–बालक, मूर्ख और स्त्रियाँ हास्य रस और वेष-भूषा धारण में सदा प्रसन्न होते हैं ।।६१।।

अनुवाद–जो तुष्ट व्यक्ति को देखकर तुष्ट होता है, शोक में शोक को प्राप्त करता है, क्रोध में क्रुद्ध होता है, भय में भयभीत होता है, वह श्रेष्ठ प्रेक्षक कहा गया है ।।६२।।

अनुवाद–इस प्रकार जो मनुष्य जिस भाव के अनुकरण में प्रवेश करता है, जो इन गुणों से अलङ्कृत है, उसे वहाँ प्रेक्षक समझना चाहिए । इस प्रकार दशरूपक प्रयोग में उसे प्रेक्षक समझना चाहिए ।।६३।।

---

१. ख. करणैः ।
२. ख. प्रेक्षकस्तु स मन्तव्यो ।
३. ख. नाट्यसंश्रये ।

सङ्घर्षे तु समुत्पन्ने प्राश्निकान् सन्निबोधत ।
यज्ञविन्नर्तकश्चैव छन्दोविच्छब्दवित्तथा ।।६४।।
[1]अस्त्रविचित्रकृद्वेश्या गन्धर्वो राजसेवकः ।
यज्ञविद्यज्ञयोगे तु नर्तकोऽभिनये स्मृतः ।।६५।।
छन्दोविद्वृत्तबन्धेषु शब्दवित्पाट्यविस्तरे ।
[2]इष्वस्त्रवित्सौष्ठवे तु नेपथ्ये चैव चित्रकृत् ।।६६।।
कामोपचारे वेश्या च गन्धर्वः स्वरकर्मणि[3] ।
सेवकस्तूपचारे स्यादेते वै प्राश्निकाः स्मृताः ।।६७।।

एवं वस्तुमात्रविचारे विधिरुक्तः । प्रयोक्तॄणां परस्परकलहहेतु-विधिर्वक्तव्यः । स च कदाचिल्लक्ष्यमात्रविषयो भवति । कदाचिल्लक्षणविषयोऽपि पूर्वमधिकृत्याह ।

अनुवाद—संघर्ष अर्थात् विवाद उत्पन्न होने पर प्राश्निकों से पूछा जाना चाहिए । यज्ञवित् (याज्ञिक), नर्तक, छन्दोवित् (छन्दःशास्त्र का ज्ञाता), शब्द-शास्त्र का ज्ञाता (वैयाकरण), अस्त्रविद्या का ज्ञाता, चित्रकार, वेश्या, गान्धर्व तथा राजा का सेवक ये प्राश्निक कहे गये हैं ।।६४-६५।।

अभिनव—इस प्रकार वस्तु मात्र के विचार में विधि को कहा है, नाट्य-प्रयोक्ताओं में परस्पर कलह होने पर विधि बतलाना चाहिए । वह कलह कभी लक्ष्यमात्र के विषय में होता है और कभी लक्षण का विषय होता है ।

अनुवाद—यज्ञ-प्रक्रिया के विषय में यज्ञवित् (याज्ञिक), अभिनय के विषय में नर्त्तक (अभिनेता), वृत्तबन्ध (छन्दों के प्रयोग) में छन्दःशास्त्र का ज्ञाता, पाठ्य के विस्तार में वैयाकरण, युद्ध में बाण आदि अस्त्रों के ज्ञाता, नेपथ्य-विधान में चित्रकार, कामोपचार में वेश्या, स्वर-ताल आदि के प्रयोग के विषय में गन्धर्व तथा सेवा करने के विषय में राजसेवक ये प्राश्निक कहे गये हैं ।।६६-६७।।

---

१. ख. इष्वस्यचित्रविद्वेश्या ।
२. ख. पुस्तके पद्यार्धस्थाने 'विभूतिगुणा' इत्यादि श्लोकद्वयमधिकम् ।
३. ख. गान्धर्वस्वरतालयोः ।

[१]एभिर्दृष्टान्तसंयुक्तैर्दोषा वाच्यास्तथा गुणाः ।
[२]अशास्त्रज्ञा विवादेषु यथा प्रकृतिकर्मतः ।।६८।।
अथैते प्राश्निका ज्ञेयाः कथिता ये मयानघाः ।
[३]शास्त्रज्ञानाद्यदा तु स्यात्सङ्घर्षः शास्त्रसंश्रयः ।।६९।।
शास्त्रप्रमाणनिर्माणैर्व्यवहारो भवेत्तदा ।
[४]भर्तृनियोगादन्योऽन्यविग्रहात्स्पर्धयापि भरतानाम् ।।७०।।
अर्थपताका हेतोस्सङ्घर्षो नाम ाम्भवति ।
तेषां कार्यं व्यवहारदर्शनं[५] पक्षपातविरहेण ।।७१।।
कृत्वा पणं पताकां व्यवहारः स भवितव्यस्तु[६] ।
[७]सर्वैरनन्यमतिभिः सुखोपविष्टैश्च शुद्धभावैश्च ।।७२।।

भर्तृनियोगादिति ।

अनुवाद–इन व्यक्तियों के दृष्टान्तों के संयोग से गुण और दोषों को कहना चाहिए । अशास्त्रज्ञ अर्थात् जो शास्त्रों के ज्ञाता नहीं हैं, वे विवाद में अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करें ।।६८।।

अनुवाद–जिनको मैंने निर्दोष कहा है, उन्हें प्राश्निक समझना चाहिए । भरतों (अभिनेताओं) की पारस्परिक स्पर्द्धा से, उनके स्वामियों के नियोग से परस्पर विवाद हो, तो यदि शास्त्रज्ञान के विषय में संघर्ष हो, तो शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए और शास्त्रीय प्रमाणों के निर्माण (अन्वेषण) से व्यवहार (निर्णय) करना चाहिए ।।६९-७०।।

अभिनव–भर्त्ता (स्वामी) के नियोग से ।

अनुवाद–जब अर्थ और पताका के लिए संघर्ष होना सम्भव है, तो उसका पक्षपातरहित व्यवहार दर्शन (निर्णय) करना चाहिए ।।७१।।

अनुवाद–पताका के पण (प्रतिज्ञा) को करके सुख से बैठे हुए शुद्ध भाव से अनन्य मति से प्राश्निक व्यवहार का निर्णय करें ।।७२।।

---

१. ख. एभिर्धर्ममभिप्रेक्ष्य ।
२. ख. अशास्त्रज्ञे विवादो हि यदा भवति कर्मतः ।
३. ख. शास्त्रज्ञाने । ४. ख. निर्माणो ।
५. ख. तेषां व्यवहारगतावपक्षपातेन दर्शनं कार्यम् ।
६. ख. सव्यवहारं गमयितव्यम् । ७. ख. तैः सम्भावितमतिभिः ।

यैर्लेखकगमकसहायास्सह सिद्धिभिर्घाताः ।
नात्यासनैर्न दूरसंस्थितैः प्रेक्षकैस्तु भवितव्यम् ।।७३।।
तेषामासनयोगो द्वादशहस्तस्थितः कार्यः ।
यानि विहितानि पूर्वं सिद्धिस्थानानि तानि लक्ष्याणि ।।७४।।
घाताश्च लक्षणीयाः प्रयोगतो नाट्ययोगे तु[1] ।
[2]दैवाद्घातसमुत्थाः परोत्थिता वा बुधैर्नवैर्लेख्याः ।।७५।।
घाता नाट्यसमुत्था ह्यात्मसमुत्थास्तु लेख्याः स्युः ।
घाता यस्य त्वल्पाः संख्याताः सिद्धयश्च बहुलाः स्युः ।।७६।।

लेखको लिखति, गमकः पिण्डयति । द्वयोरपि यथैकस्य न घातः तेनायमस्याधिकारसिद्धिः ।

स चेत्याह—सिद्ध्यतिशयात्पताकेति । यदि तु न कुत्रचिदातिशयः । तदा कथमित्याह । इतिशब्दोऽध्याहार्यः । तत्तद्रसप्रधानं नाट्यं तत्र तत्र कालेषु रसः सम्भवतीत्यभिप्रायेणाह—देशकालाविति ।

अनुवाद—लेखक और गमक (पाठक) जहाँ सहायक हैं, ऐसे सिद्धि के साथ घात हैं, वहाँ प्रेक्षकगण न तो अत्यन्त पास बैठें और न अधिक दूर रहें ।।७३।।

अभिनव—लेखक लिखता है और गमक उसे संग्रह करता है । दोनों में कोई एक किसी एक का घात नहीं है, अतः यह इसका अधिकार से सिद्ध है ।।७३।।

अनुवाद—उनके आसन का योग बारह हाथ की दूरी पर रखना चाहिए और जिन सिद्धि-स्थानों को पहले बता आये हैं, उनको यहाँ समझें ।।७४।।

अनुवाद—इस प्रकार नाट्य प्रयोग में प्रयोग के अनुसार घातों को जानना चाहिए । जो घात दैव से समुत्थ हैं, उत्पन्न हैं अथवा शत्रु द्वारा पैदा किये गये हैं, बुधजन उनका उल्लेख न करें ।।७५।।

अनुवाद—किन्तु जो घात नाट्यसमुत्थ हैं और जो अपनी असावधानी से समुत्पन्न हैं, उनका उल्लेख या संग्रह करना चाहिए और जिस अभिनय के घात स्वल्प संख्या में हैं और सिद्धियाँ अधिक हैं, उन्हें जानकर राजा उसे ही पताका (पुरस्कार) प्रदान करे ।।७६।।

---

१. ग. वेदेषु । २. ग. दैवोत्पातसमुत्थास्तथा परोत्था ।

विदितं कृत्वा राज्ञस्तस्मै देया पताका हि ।
सिध्यतिशयात्पताका समसिद्धौ पार्थिवाज्ञया देया ।।७७।।
अथ नरपतिः समः स्यादुभयोरपि सा तदा देया[१] ।
एवं विधिज्ञैर्यष्टव्यो व्यवहारः समञ्जसाम् ।।७८।।
स्वस्थचित्तसुखासीनैः सुविशिष्टैर्गुणार्थिभिः ।
विमृश्य प्रेक्षकैर्ग्राह्यं सर्वरागपराङ्मुखैः ।।७९।।
साधनं दूषणाभासः प्रयोगसमयाश्रितैः ।
समत्वमङ्गमाधुर्यं पाठ्यं प्रकृतयो रसाः ।।८०।।

तदुक्तम्–

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।। इति ।

शेषोदकनालिकया काल उपलक्ष्यते । तस्य शेषत्वमन्यकालव्याप्तियोग्यता तेन यत्र काले यदनुचितं तत्र तन्निबन्धनम् । यथा प्रभाते सङ्गीतकदर्शनादि राज्ञः । चकारादेशादौचित्यमपि । तेन देशकालस्वभावकृतं यदनौचित्यं कार्ये तत्सर्वमेव सिद्धिविघातकमिति । उत्तमव्यतिक्रियामिति ।

अनुवाद–अधिक सिद्धि होने पर जिसकी सिद्धियाँ अधिक हों उसे पताका देनी चाहिए और सिद्धियों के समान होने पर राजा की आज्ञा से पताका देनी चाहिए । यदि राजा दोनों के लिए समान मत रखता है, तो दोनों को पताका देनी चाहिए । इस प्रकार विधि के जानकार लोगों को उचित ढंग से व्यवहार का निर्णय करना चाहिए ।।७७-७८।।

अनुवाद–स्वस्थचित्त, सुखपूर्वक बैठे हुए, गुणों के समझने में कुशल रागद्वेष से पराङ्मुख, दूषणाभास से रहित, प्रयोग के समय (सिद्धान्त) पर आश्रित सुविशिष्ट प्रेक्षकगण विचार कर व्यवहार (निर्णय) का ग्रहण करें ।।७८-७९।।

अनुवाद–नाट्य प्रयोक्ता को समता, अङ्गमाधुर्य, पाठ्य, प्रकृति, रस, गीत, वाद्य और नेपथ्य (वेषभूषा) को प्रयत्नपूर्वक समझना चाहिए ।।८०।।

---

१. ग. ज्ञेया ।

वाद्यं गानं सनेपथ्यमेतज्ज्ञेयं प्रयत्नतः ।
गीतवादित्रतालेन कलान्तरकलासु च ।।८१।।
यदङ्गं क्रियते नाट्यं समन्तात् सममुच्यते ।
अङ्गोपाङ्गसमायुक्तं[1] गीततालकलयान्वितम् ।।८२।।
[2]गानवाद्यसमत्वं च तद्बुधैः सममुच्यते ।
सनिर्भुग्नमुरः कृत्वा [3]चतुरस्रकृतौ करौ ।।८३।।
ग्रीवाञ्चिता तथा कार्या त्वङ्गमाधुर्यमेव च ।
पूर्वोक्तानीह शेषाणि यानि [4]द्रव्याणि साधकैः ।।८४।।
वाद्यादीनां पुनर्विप्रा लक्षणं सन्निबोधत ।
[5]वाद्यप्रभृतयो गानं वाद्यमाणानि निर्दिशेत् ।।८५।।

अनुवाद–कलान्तर कलाओं में गायन, वादन और ताल के साथ नाट्याङ्गों का जो समन्तात् प्रयोग किया जाता है, उसे 'सम' कहते हैं ।।८१।।

अनुवाद–अङ्गोपाङ्ग से समायुक्त, गीत, ताल एवं लय से युक्त तथा गान और वाद्य की समता से समन्वित जो प्रयोग है, उसे 'समत्व' कहते हैं ।।८२।।

अनुवाद–वक्षःस्थल को झुका कर, दोनों हाथों को चतुरस्र करके यदि ग्रीवा को अञ्चित दशा में रखा जाय तो 'अङ्गमाधुर्य' होता है ।।८३।।

अनुवाद–जो द्रव्य शेष हैं, साधक लोग उन्हें पूर्वोक्त के अनुसार समझें ।।८४।।

अनुवाद–हे विप्रों ! अब वाद्य आदि का लक्षण आप लोग समझें । वाद्य प्रभृति गीत के वाद्यमान वाद्यों का निर्देश करें ।।८५।।

---

१. ग. समायोगं ।
२. ख. ग. भाण्डवाद्यं समं चैव यस्मिंस्तत्सममुच्यते ।
३. ख. चतुरश्रयितौ भुजौ ।
४. ख. साध्यानि ग. प्रेक्ष्याणि ।
५. ग. वाद्यं प्रकृतयो गानं वक्ष्यमाणं विनिर्दिशेत् । ख. वाद्यप्रकृतयोऽङ्गानां ।

यानि स्थानानि सिद्धीनां तैः सिद्धिं तु प्रकाशयेत् ।
हर्षादङ्गसमुद्भूतां नानारससमुत्थिताम् ।।८६।।
[१]वारकालास्तु विज्ञेया नाट्यज्ञैर्विविधाश्रयाः ।
दिवसश्चैव रात्रिश्च [२]तयोर्वारान् निबोधत ।।८७।।
([३]पूर्वाह्णस्त्वथ मध्याह्नस्त्वपराह्णस्तथैव च ।
दिवा समुत्था विज्ञेया नाट्यवाराः प्रयोगतः) ।।८८।।
[४]प्रादोषिकार्धरात्रिश्च तथा प्राभातिकोऽपरः ।
नाट्यवारा भवन्त्येते रात्रावित्यनुपूर्वशः[५] ।।८९।।

तान् वशीकर्तुमाह—अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्राश्निकानां त्विति ।

अनुवाद—जो सिद्धियों के स्थान हैं, उनके द्वारा हर्ष से आङ्गिक अभिनय से समुद्भूत और नाना रसों से समुत्थित (उत्पन्न) सिद्धि को प्रकाशित करें ।।८६।।

अनुवाद—नाट्यवेत्ता लोगों को विविध क्रियाओं के आश्रय से वार (नाट्य प्रयोग का दिन और समय) का ज्ञान होना चाहिए । दिन और रात तथा उनके वारों को समझें ।।८७।।

अनुवाद—पूर्वाह्ण, मध्याह्न और उसी प्रकार अपराह्ण दिन में होने वाले नाट्य प्रयोग के वारों को समझें ।।८८।।

अनुवाद—प्रदोष काल, अर्धरात्रि तथा प्रभातकाल रात्रि में क्रमशः प्रयोग के अनुरूप नाट्य प्रयोग के वारों को समझें ।।८९।।

---

१. ख. पदकालश्च विज्ञेयो विविधो नाट्ययोक्तृभिः ।
२. ख. विशेषाश्चानयोः स्मृताः ।
३. ख. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।
४. ग. प्रदोषिकाऽर्धरात्रं । ख. प्रादोषिकोऽर्धरात्रं च तथा प्राभातिकोऽपि च ।
५. ख. रात्रगर्भसमाश्रिताः । ग. रात्रिजा ह्यनुपूर्वशः ।

एतेषां [1]यत्र यद्योज्यं नाट्यकार्यं रसाश्रयम् ।
तदहं सम्प्रवक्ष्यामि वारकालसमाश्रयम्[2] ।।९०।।
यच्छ्रोत्ररमणीयं स्या[3]द्धर्मोत्थानकृतं च यत् ।
[4]पूर्वाह्णे तत्प्रयोक्तव्यं शुद्धं वा विकृतं तथा ।।९१।।
सत्त्वोत्थानगुणैर्युक्तं वाद्यभूयिष्ठमेव च ।
पुष्कलं [5]सत्त्वयुक्तं च अपराह्णे प्रयोजयेत् ।।९२।।
कैशिकीवृत्तिसंयुक्तं शृङ्गाररससंश्रयम् ।
नृत्तवादित्रगीताढ्यं प्रदोषे नाट्यमिष्यते ।।९३।।

सङ्घर्षे त्विति । उपचार इति । राजोचित इति भावः । द्वितीयमधिकृत्याह–शास्त्रज्ञानात्त्विति ।

अनुवाद–जहाँ पर इनके रसाश्रित नाट्य-कार्य की जो योजना करनी चाहिए, वहाँ वार और समय के अनुसार मैं उनका वर्णन करूँगा ।।९०।।

अनुवाद–जो सुनने में श्रोत्र-रमणीय हो तथा जो धार्मिक आख्यान से युक्त हो, उसे पूर्वाह्ण में प्रयोग करना चाहिए, चाहे वह शुद्ध हो या विकृत हो ।।९१।।

अनुवाद–सत्त्वगुण के उत्त्थान से युक्त और वाद्यों की प्रचुरता से समन्वित तथा पुष्कल रूप से सिद्धि से युक्त प्रयोग को अपराह्ण में अभिनर्तन करना चाहिए ।।९२।।

अनुवाद–कैशिकी वृत्ति से समन्वित, शृङ्गार रस के आश्रय तथा नृत्त, गीत और वाद्य से समृद्ध अभिनय प्रदोष काल में प्रदर्शित करना चाहिए ।।९३।।

---

१. ख. तु यथायोग्यं ।
२. ख. वारं कालसमुत्थितम् ।
३. ख. धर्माख्यानकृतं तथा ।
४. ख. तत्पूर्वाह्णे बुधैः कार्यं शुद्धं तु ।
५. ग. सत्त्वसंयुक्तं ख. सिद्धियुक्तं तु ।

[1]यन्नर्महास्यबहुलं करुणप्रायमेव च ।
प्रभातकाले तत्कार्यं नाट्यं निद्राविनाशनम् ।।९४।।
[2]अर्धरात्रे नियुञ्जीत स मध्याह्ने तथैव च ।
सन्ध्याभोजनकाले च नाट्यं नैव प्रयोजयेत्[3] ।।९५।।
एवं कालं च देशं[4] समीक्ष्य च बलाबलम् ।
[5]नित्यं नाट्यं प्रयुञ्जीत यथाभावं यथारसम् ।।९६।।
अथवा देशकालौ च न परीक्ष्यौ प्रयोक्तृभिः[6] ।
[7]यथैवाज्ञापयेद्भर्ता तदा योज्यमसंशयम् ।।९७।।
[8]तथा समुदिताश्चैव विज्ञेया नाटकाश्रिताः ।
पात्रं प्रयोगमृद्धिश्च विज्ञेयास्तु त्रयो गुणाः ।।९८।।

अनुवाद–जो नर्महास्य की बहुलता से युक्त हो और करुण रस की प्रधानता हो, निद्रा का विनाश करने वाले उस अभिनय को प्रभातकाल में करना चाहिए ।।९४।।

अनुवाद–आधी रात और मध्याह्न तथा सन्ध्याकाल में और भोजन के समय नाट्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।।९५।।

अनुवाद–इस प्रकार देश और काल तथा बलाबल की समीक्षा करके रस और भावों के अनुसार (अनुकूल) नाट्य का प्रयोग नित्य करे ।।९६।।

अनुवाद–अथवा नाट्य प्रयोक्ताओं को देश और काल की परीक्षा नहीं करनी चाहिए । उसका स्वामी जैसी आज्ञा दे, वैसे निःसंशय प्रयोग करना चाहिए ।।९७।।

अनुवाद–पात्र, प्रयोग और उसकी समृद्धि ये नाट्याश्रित तीन गुण हैं । इन्हें पात्रों के समुदित समझना चाहिए ।।९८।।

---

१. ख. ग. यत्तु (यत्र) माहात्म्यसंयुक्तं ।
२. ग. न प्रयुञ्जीत मध्याह्ने नार्धरात्रे कथञ्चन ।
ख. अर्धरात्रे न युञ्जीत न मध्याह्ने तथैव च ।
३. ग. न नाट्यं सम्प्रयोजयेत् । ख. नाट्यं न च कदाचन ।
४. ख. 'वर्णनं च' इति भवेत् । प्रसमीक्ष्य ससंश्रयम् ।
ग. पर्णदं च समीक्ष्य तु ।
५. ख. नाट्यवारं प्रयुञ्जीत ।
६. ख. कदाचन ।
७. ग. यदा । ख. यत्र च ।
८. ख. यथा समुदयश्चैव प्रयोगाश्च समृद्धयः ।

[१]बुद्धिमत्वं सुरूपत्वं लयतालज्ञता तथा ।
रसभावज्ञता चैव वयस्स्थ[२]त्वं कुतूहलम् ।।९९।।
ग्रहणं धारणं चैव [३]गात्रा वैकल्यमेव च ।
[४]निजसाध्वसतोत्साह इति पात्रगतो विधिः ।।१००।।
सुवाद्यता सुगानत्वं सुपाठ्यत्वं तथैव च ।
शास्त्रकर्मसमायोगः प्रयोग इति संज्ञितः[५] ।।१०१।।
[६]शुचिभूषणतायां तु माल्याभरणवाससाम् ।
[७]विचित्ररचना चैव समृद्धिरिति संज्ञिता ।।१०२।।
यदा [८]समुदिताः सर्वे एकीभूता भवन्ति हि ।
अलङ्काराः [९]सकुतपा मन्तव्या नाटकाश्रयाः ।।१०३।।

अनुवाद–बुद्धिमत्ता, स्वरूपता, लय और ताल की जानकारी तथा रस और भाव का ज्ञाता, उचित अवस्था, कुतूहल, ग्रहण, धारण और शरीर की अविकलता, निर्भयता और उत्साह सम्पन्नता ये पात्रगत विधान हैं ।।९८-९९।।

अनुवाद–सुवाद्यता, मधुरगेयता, सुपाठ्यता और शास्त्रीय क्रिया के अनुसार विषयों का प्रयोग करना चाहिए ।।१०१।।

अनुवाद–शुद्ध (पवित्र) आभूषण का होना, पुष्पादि मालाओं, वस्त्र एवं आभरण का धारण करना, विचित्र रचना का प्रयोग (उचित चित्रकारी एवं वेष-भूषा का धारण करना) ये समृद्धि संज्ञक हैं ।।१०२।।

अनुवाद–ये सभी गुण जहाँ पर एक जगह समुदित होकर रहते हैं, वहाँ

---

१. ख. बुद्धिसत्त्वस्वरूपं च । ग. बुद्धिः सत्त्वं सुरूपत्वं ।
२. ग. स्वत्वकुतहूलम् ।
३. ख. गानं नाट्यकृतं तथा ।
४. ख. जितसाध्वसतोत्साहाविति । ग. जितसाध्वसतोत्साह ।
५. ग. सम्प्रकीर्तितः । ख. स तु संज्ञितः ।
६. ख. ग. सुविभूषणता या तु सुमाल्याम्बरता तथा ।
७. ख. यात्वङ्गरचना चैव ।
८. ख. सर्वे सुमुदिता । ग. समुदयाः सर्वे ।
९. ग. स तु तदा । ख. स तु तदा मन्तव्यो नाट्ययोक्तृभिः ।

[1]एतदुक्तं द्विजश्रेष्ठाः सिद्धीनां लक्षणं मया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्याम्यातोद्यानां च विकल्पनम्[2] ।।१०४।।

।। इति भरतीये नाट्यशास्त्रे सिद्धिव्यञ्जको नाम
सप्तविंशोऽध्यायः ।।२७।।

नेपथ्ये पाठः यत्कर्तुं जानाति तेन योग इति पात्रसम्पाद्यन्तर्भावोऽस्य । पात्रं हि रसप्रविष्टमेव ।

यदा समुदिता इति सामान्याभिनयत्वमाह । अध्यायपञ्चकेन हि तदेवोक्तम् । नाट्योत्पत्तिरिव पूर्वरङ्गान्तेनेत्युक्तम् ।

नृसिंहगुप्तापरनामधेय-
विद्यावदातः सुखलाभिधानः ।
यं देहविद्याभिरयुयुजत्सः
प्रयोगसिद्धिं कृतवान् महार्थाम् ।।

नाट्य-प्रयोक्ताओं को अलङ्कार समझना चाहिए ।।१०३।।

अनुवाद–हे द्विजश्रेष्ठ ! मैंने ये सिद्धि का लक्षण बताया है । अब इसके बाद आतोद्यों की विवेचना करूँगा ।।१०४।।

अभिनव–नेपथ्य में प्रयोग करना जो जानता है, उसके साथ समायोग है । इस प्रकार पात्र के द्वारा सम्पाद्य प्रयोग में इसका अन्तर्भाव है और पात्र रस में मग्न ही रहता है ।।

अभिनव–जब सभी समुदित हैं, इसे सामान्याभिनय कहते हैं । पाँच अध्यायों में इसे कहा है–नाट्योत्पत्ति से लेकर पूर्वरङ्ग पर्यन्त कहा है । अलङ्कार शोभा की पूर्णता का हेतु है ।।१०३।।

नृसिंह अब अवशिष्ट वक्तव्य की सूचना देते हैं ।

अभिनव–नृसिंहगुप्त अपर नामधारी विद्या से निर्मल (निर्मल विद्या का ज्ञाता) सुखद नामधारी जिसे शरीर विद्या से युक्त किया है, उस अभिनवगुप्त ने अभिनव प्रयोग-सिद्धि को महान् अर्थ से सम्पन्न किया ।।१०४।।

---

१. ख. एतदुक्तं मया सम्यक् सिद्धीनां लक्षणं द्विजाः ।
२. ख. ह्यातोद्यानां विकल्पनम् ।

वक्ष्यति च अलङ्कार इति शोभापूर्णतायाश्चतुरित्यर्थः ।
वक्तव्यशेषं सूचयति—अत ऊर्ध्वमित्यादि । इति शिवम् ।।

।। इति श्रीकाश्मीरमहामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्ताचार्यविरचितायाम्,
अभिनवभारत्यां नाट्यवेदवृत्तौ सिद्ध्यध्यायः सप्तविंशः ।।२७।।

।। इस प्रकार महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त-विरचित
अभिनवभारती में नाट्यवेदवृत्ति का सत्ताइसवाँ
सिद्धि अध्याय समाप्त हुआ ।।२७।।

।। इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र एवं
अभिनवगुप्त-विरचित अभिनव-भारती की
हिन्दी-व्याख्या सम्पूर्ण हुई ।।२७।।



श्लोकार्द्धानुक्रमणिका

इ

क्ष

ख

म

●



मुद्रक : श्रीजी प्रिण्टर्स